श्रीरामानन्दाचार्यविरचितः

श्रीवैष्णवमताब्जभास्करः

(हिन्दीभाष्यसहित)

भाष्यकार

स्वामी त्रिभुवनदास

ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ

श्रीवैष्णवमताब्जभास्करः

Shrivaishnavamatabjabhaskara

॥श्रीः॥

व्रजजीवन प्राच्यभारती ग्रन्थमाला
२०४

श्रीरामानन्दाचार्यविरचितः

श्रीवैष्णवमताब्जभास्करः

(हिन्दीभाष्यसहित)

भाष्यकार

स्वामी त्रिभुवनदास

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
दिल्ली

THE
VRAJAJIVAN PRACHYABHARATI GRANTHAMALA
204

Shrivaishnavamatabjabhaskara

of

Shri Ramanandacharya
(with Hindi Bhasya)

by
Swami Tribhuvandass

CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
DELHI

Publishers :
CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
38 U. A., Bungalow Road, Jawahar Nagar
Delhi 110007
Phone : (011) 23856391, 41530902

4842/24, Ansari Road, Darya Ganj
New Delhi - 110002
Phone : 42637180, 8800844221
E-mail : cspdel.sales@gmail.com
Website : www.chaukhambabooks.in

First Edition : 2018
Pages : 50+566
Price : ₹ 350.00

Also can be had from :
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
Chowk (Behind The Bank of Baroda Building)
Varanasi 221001

CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN
K. 37/117 Gopal Mandir Lane
Varanasi 221001

CHAUKHAMBA PUBLISHING HOUSE
4697/2, Ground Floor, Street No. 21-A
Ansari Road, Darya Ganj
New Delhi 110002

ISBN : 978-81-7084-790-8

Editorial Assistance - Rudranarayandass

Printed by :
A. K. Lithographers, Delhi

शुभाशीर्वाद

श्रीराम

वैदिक सनातन धर्म शाश्वत है, इसकी परम्परा भगवान् से ही चली आ रही है। इसी सनातन धर्म का पोषक एवं अंग श्रीरामानन्द सम्प्रदाय है। यह सम्प्रदाय पूर्ण वैदिक है। जगद्गुरु स्वामी श्रीरामानन्दाचार्य जी महाराज ने इसका विस्तार किया है। श्रीकबीरदास, रैदासजी और गोस्वामी तुलसीदासजी इत्यादि इसी सम्प्रदाय के अंग हैं।

श्रीस्वामी रामानन्दाचार्य जी ने साधु-सन्तों व भक्तों के लिए सरल-सुबोध भाषा में, गागर में सागर के समान श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर ग्रन्थ लिखा है। इसमें मुमुक्षुओं के लिए उपयुक्त सकल सामग्री का सांगोपांग विवेचन है, इसलिए मोक्षमार्ग के समस्त पथिकों के द्वारा यह ग्राह्य है। अत्यन्त हर्ष का विषय है कि स्वामी त्रिभुवनदास जी ने इसका विस्तृत भाष्य लिखा है। इन्होंने 'विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विस्तृत विवेचन' ग्रन्थ तथा उपनिषदादि की व्याख्याएँ लिखी हैं। हमारा आशीर्वाद इनके साथ है।

महान्त नृत्यगोपालदास
श्रीमणिरामदास की छावनी
अयोध्या

श्रीमते रामानन्दाचार्याय नमः

शुभसम्मति

अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक, सर्वेश्वर, परात्पर, परब्रह्म, निखिलहेयप्रत्यनीक, असंख्येयकल्याणगुणगणनिलय, सर्वज्ञ, सर्ववित्, शरणागतवत्सल, भक्तवत्सल, भक्तवाञ्छाकल्पतरु, सत्यसंकल्प भगवान् श्रीसीतारामचन्द्रजी के संकल्प से इस जगत् की उत्पत्ति, पालन तथा लय होता है। भगवान् नियन्ता हैं, चेतन जीव और अचेतन पदार्थ नियाम्य हैं। भगवान् सभी के अन्तरात्मा हैं, शरीरी हैं। चेतनाचेतन सम्पूर्ण जगत् उनका शरीर है। भगवान् दर्शन देकर और मधुर वार्तालापादि कर सभी जीवों को कृतार्थ करने के लिए विविध अवतार लेकर लीला करते हैं तथा अपने नाम, रूप, लीला, धाम से जीवों को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। **मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणम्।**(भा.5. 19.5)। इस श्रीहनुमद्वचन के अनुसार भगवान् वैदिक धर्माचरण कर अपने चरित्र के माध्यम से लोकशिक्षण कार्य भी करते हैं। श्रीरामचन्द्र सामान्य धर्म, श्रीलक्ष्मणजी विशेष धर्म, श्रीभरतजी विशेषतर धर्म तथा श्री शत्रुघ्न जी विशेषतम धर्म को अपने चरितं से अभिव्यक्त कर सर्वाङ्गीण धर्म की स्थापना करते हैं।

श्रीशुकाचार्यजी ने कहा है कि **यस्यामलं नृपसदस्सु यशोऽधुनापि गायन्त्यघघ्नमृषयो दिगिभेन्द्रपट्टम्। तं नाकपालवसुपालकिरीटजुष्ट-पादाम्बुजं रघुपतिं शरणं प्रपद्ये॥**(भा.9.11.21) अर्थात् श्रीरामचरित्र की निर्मलता दिग्गजेन्द्रों सहित सारे ब्रह्माण्ड को पवित्र कर निष्पाप बना रही है। करुणावरुणालय भगवान् श्रीराम जीवजगत् को कृतार्थ करने के लिए अनेक आत्मस्वरूप आचार्यों को कलिकाल में अवतरित करते हैं तथा प्रधान द्वादश महाभागवतों को अपने प्रधान द्वादश शिष्यों के रूप में प्रकट कर तीर्थराज प्रयाग में श्रीपुण्यसदनकुमार–सुशीलानन्दन आचार्यसम्राट यतिपतिदिनेश श्रीरामानन्दाचार्य के रूप में अवतरित होकर प्रपत्ति के द्वार सभी के लिए सुलभ होने की घोषणा करते हैं-**सर्वे प्रपत्तेरधिकारिणो मता।**(श्रीवै.भा.102)।

श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी श्रीवैष्णवहृत्पुण्डरीकविकसनार्थ श्रीनारदावतार सत्शिष्य श्रीसुरसुरानन्दाचार्यजी के प्रश्नों के समाधान के रूप में श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर ग्रन्थ को प्रस्तुत कर श्रीवैष्णवजगत् को कृतार्थ

करते हैं। आचार्यचरण की यह सर्वमान्य कृति वैष्णव ही नहीं अपितु मानवमात्र का परमहित करने वाली है, उनके अनुयायियों के लिए तो यह अत्यन्त उपादेय है। इसके अनुशीलन के विना वैष्णवता-साधुता परिष्कृत नहीं हो सकती। अनेक सम्प्रदायनिष्ठ महानुभावों ने इस ग्रन्थ की व्याख्याएँ लिखी हैं। समस्त अवतारस्वरूपों का अपने आराध्य के रूप में दर्शन करने वाले श्रीरामोपासक सभी वैदिक सम्प्रदायों के प्रति उदार दृष्टिकोण रखकर सभी को पल्लवित, पुष्पित व फलित होने का अवसर देते हुए महाभागवत भगवान् शिव के प्रति भी **शंकर भजन विना नर भगति न पावइ मोरि।** (रा.च.मा.7.45) ऐसी उदात्त भावना रखते हैं। श्रीबोधायनाचार्यपरम्परानुवर्ती विशिष्टाद्वैतवेदान्तसिद्धान्त के अनुयायी श्रीरामानन्दीय श्रीवैष्णवों का उपासना-सिद्धान्त पक्ष समन्वय पर आधारित है, इसके साथ ही इस सम्प्रदाय का प्रवर्तन तथा उसके स्वतन्त्र विकास का इतिहास भी अनेक प्रमाणों से पुष्ट है। इन तथ्यों का सम्यक् अध्ययन न होने से तथा अनेक अज्ञानमूलक पूर्वाग्रहों से प्रेरित होकर कुछ लोगों ने अनधिकार चेष्टा करते हुए श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर की टीका कराके उसमें अनेक शास्त्रविरुद्ध और इतिहासविरुद्ध कुतर्कों को प्रस्तुत किया है, जो कि अशोभनीय प्रसंग है। अब इस ग्रन्थ के विषय वस्तु को विवृत करने वाली एक टीका की आवश्यकता थी। **स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्।**(तै.उ.1.11.1) को अपनी जीवनचर्या में आत्मसात् करने वाले, दर्शनशास्त्रों के विद्वान्, तपस्स्वाध्यायपूतान्तःकरण हमारे परम प्रिय श्रीस्वामी त्रिभुवनदासजी ने आचार्यचरण जगद्गुरु भगवान् श्रीरामानन्दाचार्य की अनुपम कृति श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर का भाष्य लिखकर वैदिक वैष्णवजगत् की अनुपम सेवा की है। श्रीमदाचार्यचरण इन्हें आधिव्याधिविनिर्मुक्त निरामयताप्रदानपूर्वक श्रीसीतारामजी के चरणों में प्रतिक्षण वर्धमान प्रेम प्रदान करें। ये सुदीर्घावधि तक विराजकर सत्साहित्य सृजित कर आध्यात्मिक जगत् की सेवा करते रहें, ऐसी भगवान् श्रीसीताराम जी तथा आचार्यचरणों में प्रार्थना है।

दासानुदास

राजेन्द्रदास देवाचार्य

मलूकपीठ, वृन्दावन

आषाढ़ कृष्ण 2, वि.सं.2075
सत्संगशिविर गीताभवन
स्वर्गाश्रम, ऋषीकेश

स्वामी रामानन्दाचार्य

विगत बहुत वर्षों में ब्रह्मदर्शी, विलक्षण, विशिष्ट वैष्णवाचार्यों द्वारा भावमयी भक्ति की आधार भूमि तैयार करके बीजारोपण और उसे अंकुरित किया गया। इसे सिञ्चित, पल्लवित, पुष्पित और सर्वस्थान में प्रसारित करने के लिए यतीन्द्रकुलकमलभास्कर, सनातनवैदिकधर्मप्रसारक, कलिपावनावतार स्वामी श्रीरामानन्दाचार्य जी अवतरित हुए। इनकी अवतारभूमि पवित्रतम तीर्थ प्रयाग है। इनके पिता का नाम पं. श्रीपुण्य सदन शर्मा एवं माता का नाम श्रीमती सुशीला देवी था। ये दोनों वेदप्रतिपाद्य अनादि विशिष्टाद्वैत(सविशेषाद्वैत) वेदान्तसिद्धान्त के प्रवर्तक, महर्षि बादरायणप्रणीत ब्रह्मसूत्र की प्रथम व्याख्या बोधायनवृत्ति के प्रणेता एवं वीतरागी, भगवच्चरणकमलानुरागी श्रीव्यासशिष्य श्रीशुकदेव के साक्षात् शिष्य परमाचार्य महर्षिबोधायनद्वारा प्रतिपादित विवेक, वैराग्यादि साधन सप्तक का दृढ़ निष्ठा से आचरण करते हुए परब्रह्म श्रीसीताराम जी की उपासना में सतत् संलग्न रहते थे। प्रारम्भिक शिक्षा पैतृक गृह में प्राप्त करके विद्वान् पिता के द्वारा उपनयन संस्कार सम्पन्न होने पर शास्त्रों के गहन अध्ययन के लिए विद्याधिराज विश्वनाथ की काशीपुरी में जाकर वहाँ पञ्चगंगाघाट पर श्रीमठ में निवास करने वाले विश्ववन्द्य, विश्वविश्रुत, यतीन्द्रकुलचूड़ामणि श्रीमत्स्वामी राघवानन्दाचार्य जी महाराज से श्रीराममन्त्र की दीक्षा ग्रहण कर विविध शास्त्रों के अध्ययनमें एकाग्रता से लग गये। अनधिक अवधि में ही सर्वशास्त्रनिष्णात होकर **ब्रह्मचर्याद्वा प्रव्रजेत।**(जा.उ.4) इस जाबालश्रुति के अनुसार ब्रह्मचर्य आश्रम से ही मन्त्रोपदेष्टा महान् वैष्णवाचार्य स्वामी श्रीराघवानन्दाचार्यजी से ही संन्यास ग्रहण करके अपने ज्ञानवृद्ध, तपोवृद्ध और आयुवृद्ध पूज्य गुरुदेव की सेवा करते हुए उन्हीं की छत्रछाया में तीव्र साधना करके संप्राप्त सहज समाधि से सच्चिदानन्दघन परमात्मा श्रीसीतारामजी का साक्षात्कार किया। ऐसे सर्वसमर्थ सुयोग्य शिष्य को देखकर श्रीगुरुदेव की प्रसन्नता का पारावार उमड़ पड़ता था और वे उन्हें भगवत्सुधासिन्धु में ही सतत् अवगाहन करने के लिए प्रेरित करते थे। इस प्रकार आचार्य के अनुग्रह से उन्होंने साधना के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचे हुए योगी की **पद्मपत्रमिवाम्भसा।**(गी.5.10) गीता में वर्णित इस स्थिति को प्राप्त किया। पूज्य आचार्य के परमपद प्रस्थान के पश्चात् स्वामी रामानन्दाचार्यजी

ने अपने आचार्य के गुरुतर दायित्व का गौरव के साथ निर्वहण किया।

अनेक भगवत्तत्त्वजिज्ञासुओं ने श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ पूर्ण सद्गुरु स्वामी श्रीरामानन्दाचार्यजी[1] की शरण ग्रहण कर, उनसे ज्ञानोपदेश प्राप्त कर उपासना करते हुए अपने जीवन को कृतार्थ किया। शिष्य का प्रधान और चरम उद्देश्य परमात्मसाक्षात्कार की पूर्ति होने पर ही ये उससे सन्तुष्ट होते थे। इनका शिष्यसमुदाय विपुल था। उनमें प्रधान शिष्य निम्नलिखित हैं-1. श्रीस्वामी अनन्तानन्दजी 2.श्रीसुखानन्दजी 3.श्रीसुरसुरानन्दजी 4.श्रीनरहर्यानन्दजी 5.श्रीभावानन्दजी 6.श्रीगालवानन्दजी 8.श्रीयोगानन्दजी 8.श्रीकबीरदासजी 9. श्रीरैदासजी 10.श्रीधन्नाजी 11.श्रीसेनजी 12.श्रीपीपाजी 13.सुश्रीपद्माजी। इन त्रयोदश शिष्यों में सभी परिपूर्ण थे। श्रीस्वामी अनन्तानन्दजी की परम्परा में

टिप्पणी1.मौलाना रसीदुद्दीन नामक एक फकीर काशी में स्वामी(स्वामी रामानन्दाचार्य) जी के समकालीन हो गये हैं उन्होंने 'तज़कीर तुल फ़ुकरा' नामक पुस्तक लिखी है। जिसमें मुसलमान फकीरों की कथायें हैं। उसमें उन्होंने स्वामी रामानन्द का भी वर्णन किया है। वे लिखते हैं-काशी में प्रसिद्ध पंचगंगा घाट पर एक प्रसिद्ध महात्मा निवास करते हैं। वे तेजपुंज एवं पूर्ण योगेश्वर हैं। वे वैष्णवों के सर्वगान्य आचार्य हैं। सदाचारी एवं ब्रह्मनिष्ठ स्वरूप हैं। परमात्मतत्त्व रहस्य के पूर्ण ज्ञाता हैं। सच्चे भगवत्प्रेमियों एवं ब्रह्मविदों के समाज में उत्कृष्ट प्रभाव रखते हैं अर्थात् धर्माधिकार में हिन्दुओं के धर्म-कर्म के सम्राट हैं। केवल ब्राह्मवेला में अपनी पुनीत गुफा से गंगास्नान हेतु निकलते हैं। इस पवित्र आत्मा को स्वामी रामानन्द कहते हैं। उनके शिष्यों की संख्या 500 से अधिक है। उस शिष्यसमूह में द्वादश गुरु के विशेष कृपा पात्र हैं-1.अनन्तानन्द 2.सुखानन्द 3.सुरसुरानन्द 4.नरहर्यानन्द 5.योगानन्द(ब्राह्मण) 6.पीपा जी(क्षत्रिय) 7. कबीर जी(जुलाहा) 8.सेन(नाई) 9.धन्ना(जाट) 10. रैदास(चमार) 11.पद्मावती 12.सुरसरि(स्त्रियाँ)। इन्होंने ब्राह्मणों की भाँति अन्य जाति के लोगों को भी तारक मन्त्र की दीक्षा दी। उनके पाँच ब्राह्मण, पाँच तथाकथित निम्न वर्ग के और दो स्त्री शिष्यायें थी। इसके अतिरिक्त उनके और भी अधिक चेले थे। भागवतों के इस सम्प्रदाय का नाम वैरागी है। कहते हैं कि सम्प्रदाय की प्रवर्तिका श्रीसीता जी हैं। उन्होंने पहले हनुमान जी को उपदेश दिया था और उनसे संसार में इस रहस्य का प्रकाश हुआ। इस कारण इस सम्प्रदाय का नाम श्रीसम्प्रदाय है और इसके मुख्य मंत्र को राम तारक मंत्र कहते हैं। इस पवित्र मंत्र की गुरु शिष्य के कान में दीक्षा देता है। ऊर्ध्व पुण्ड्र तिलक ललाट पर लगाते हैं। पूर्णतया भजन में ही रहना इस सम्प्रदाय की रीति है। अधिकांश सन्त परमहंसी जीवन निर्वाह करते हैं।

(गीताप्रेस से प्रकाशित कल्याण के भक्तचरितांक पृष्ठ 393-94 से उद्धृत)

गालव तीर्थ(गलता), जयपुर में निवास करने वाले महान् योगी श्रीकृष्णदासजी पयोहारी, रसिकाचार्य श्रीस्वामी अग्रदासजी, भक्तमालकार श्रीनाभादासजी आदि आचार्य हुए। स्वामी सुरसुरानन्दजी के प्रश्न करने पर गुरुदेव स्वामी श्रीरामानन्दजी के द्वारा उपदिष्ट ग्रन्थ श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर नाम से प्रसिद्ध है। लोकप्रसिद्ध काव्य श्रीरामचरितमानस के रचयिता गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी के गुरु श्रीस्वामी नरहर्यानन्दजी हैं। स्वामी भावानन्दजी ही वारकरी सम्प्रदाय के प्रवर्तक महान् सन्त श्रीज्ञानेश्वर महाराज के पिता विट्ठलपन्तजी हैं। जगद्गुरु आचार्य के आराध्य ठाकुरजी की सेवा-पूजा करने वाले निष्णात योगी योगानन्दजी हैं। साम्प्रदायिक एकता के पोषक लोक प्रख्यात ब्रह्मज्ञानी सन्त श्रीकबीरजी हैं। भक्तिरस में ओत-प्रोत रहने वाली श्रीमीराबाईजी के गुरु प्रसिद्ध भक्तियोगी श्रीरैदासजी हैं। श्रीपीपाजी गागरौन गढ़ (राजस्थान) के सुप्रसिद्ध लोकरंजक राजा थे। ये सर्वस्व त्याग करके स्वामीजी के शिष्य बन गये थे। रीवा के महाराजा श्रीरघुराजसिंहकृत 'भक्तमाल रामरसिकावली' के अनुसार श्रीसेनजी बान्धव गढ़ के नरेश के यहाँ नापित का कार्य करते थे। पवित्र काव्य श्रीगुरुग्रन्थसाहिब में सेनजी का एक पद आया है। उसमें इन्होंने अपने गुरुदेव को श्रीराम भक्ति का मर्मज्ञ तथा पूर्ण परमानन्द का व्याख्याता बताया है। इतिहासप्रसिद्ध अनेक व्यक्ति श्रीस्वामीजी के शिष्य हुए हैं। श्रीभावानन्दजी(श्रीविट्ठल पन्त) के पुत्र श्रीज्ञानेश्वर महाराज का जन्मकाल वि.सं.1327 (मतान्तर से 1328) है। स्वामीजी की प्रौढावस्थामें ही सेन जी दीक्षित हुए थे। स्वामीजी के जीवनकाल के निर्णायक ये दोनों सबल साक्ष्य हैं अतः स्वामीजी का जन्मकाल वि.सं.1300 से कुछ पूर्व ठहरता है।

आचार्यश्री ने विद्वानों और शिष्यों के साथ समग्र भारत का परिभ्रमण किया। यात्रा के दौरान उनके द्वारा वैदिक सनातन धर्म की पुनः प्रतिष्ठा हुई। संसारानल से संतप्त मानवसमुदाय उनके पास आकर उनका दर्शन और उपदेश पाकर परमानन्द से आह्लादित हो जाता था। दक्षिण भारत में स्थित विजयनगर के महाराजा ने भी इनका शिष्यत्व स्वीकार किया। श्रीरंगम् और कांची के निवासियों ने स्वामीजी से नूतन प्रेरणाएँ प्राप्त कीं। महाराष्ट्र यात्रा के दौरान ही विट्ठलपन्त की पत्नी ने स्वामीजी के दर्शन किये थे। आचार्यचरण के जीवन का अधिक काल वाराणसी गंगा तट पर व्यतीत हुआ। सभी सम्प्रदायों के तत्त्वजिज्ञासु उपदेशश्रवणार्थ इनके चरणों

में बैठकर अपनी ज्ञानपिपासा शान्त करके परमानन्दित होते थे। इनके द्वार से कोई खाली हाथ नहीं गया। सभी निहाल होकर ही गये। इन सभी घटनाओं का विस्तृत वर्णन श्रीरामानन्ददिग्विजय तथा प्रसंगपारिजात आदि ग्रन्थों में विद्यमान है।

डॉ. गोवत्सकृत 'वैष्णवकबीर' में उद्धृत एक कथानक के अनुसार गजसिंह नामक एक राजपूत ने अयोध्या से काशी जाकर स्वामीजी के सम्मुख उपस्थित होकर कहा कि हे पतितपावन! अयोध्या के महाराजा हरिसिंहजी तुगलक के भय से वैसाख सुदी दशमी शनिवार वि.सं. 1381 को अयोध्या का राज्यसिंहासन छोड़कर तराई को चले गये। तुगलक ने बीस हजार राजपूतों को बलात् धर्म भ्रष्ट करके मुसलमान बना दिया। इस घटना को 50 वर्ष हो गये। इनकी संख्या में गुणात्मक वृद्धि हो रही है। पण्डितगण हम सभी को अशुद्ध, भ्रष्ट और पतित कहते हैं। प्रार्थना करने पर भी शुद्धि करने को तैयार नहीं हैं। मैं सब ओर से निराश होकर आपकी शरणमें आया हूँ, मेरा उद्धार कीजिए। स्वामीजी ने कहा कि आज से तीसवें दिन आप सभी प्रातःकाल अयोध्या में सरयूतट पर एकत्रित होइएगा, मैं वहीं पर आऊँगा। पूर्व निर्धारित समय के अनुसार बहुत बड़े जन समुदाय के सरयू तट पर समवेत होने पर पूज्य आचार्य वहाँ पधारे। सभी ने उन्हें साष्टांग प्रणाम किया। उनकी आज्ञा से सभी जनता कलिमलहरनि सरयूजी में स्नान करके शान्त भाव से खड़ी हो गयी। पूज्य आचार्य ने राममन्त्र का उच्चारण कर शंखध्वनि से सब को शुद्ध कर दिया।

एक समय मुस्लिम तान्त्रिकों द्वारा अयोध्या में लगाये गये यन्त्र के नीचे से निकलने वाले लोग हिन्दू से मुसलमान बन जाते थे। इस प्रकार वहाँ हजारों हिन्दूओं के मुसलमान बनने का समाचार काशी पहुँचने पर पूज्य आचार्य ने स्वामी अनन्तानन्दजी को अयोध्या भेजा। उन्होंने राममन्त्र से अभिमन्त्रित करके दूसरा यन्त्र पूर्वयन्त्र पर लगा दिया। जिससे पूर्व यन्त्र निष्प्रभावी तथा नूतन यन्त्र के नीचे से निकलने वाले मुसलमान लोग हिन्दू बन गये। इसका वर्णन भविष्यपुराण में इस प्रकार है-**रामानन्दस्य शिष्यो वै चायोध्यायामुपागतः। कृत्वा विलोमं तं वैष्णवांस्तानकारयत्॥ भाले त्रिशूलचिह्नं च श्वेतरक्तं तदाभवत्। कण्ठे च तुलसीमाला जिह्वा राममयी कृता॥ म्लेछास्ते वैष्णवाश्चासन् रामानन्दप्रभावतः। संयोगिनश्च**

ते ज्ञेया रामानन्दमते स्थिताः॥ आर्याश्च वैष्णवा मुख्या अयोध्यायां बभूविरे॥(भ.पु.3.21.52-55) इस प्रकार अपने घर वापस आए हिन्दू भाइयों को कुछ धर्मान्धों ने हिन्दू मानने से इन्कार कर दिया। इस सूचना को पाकर पूज्य आचार्यजी स्वयं अवध में आए और उन्हें समझाया कि वेदों की रक्षा कैसे होगी? देवताओं का पूजन कैसे होगा? श्राद्धादि कैसे सम्पन्न होंगे? तीर्थों का रक्षण कैसे होगा? गो आदि प्राणियों की रक्षा कैसे होगी? सती धर्म भी देखने को न मिलेगा। यह सभी स्मृति का विषय हो जायेगा। जिन लोगों का तुम त्याग कर रहे हो, वे दूषित नहीं है, क्योंकि वे यन्त्रबल से बलात् पतित बनाये गये हैं। बलात्कार का पातित्य पातित्य ही नहीं है- **कथं वा वेदरक्षा स्यात्कथं देवादिपूजनम्। कथं श्राद्धसदाचारः कथं तीर्थाभिरक्षणम्॥ गवादिप्राणिनां रक्षा कथंकारं भविष्यति। सतीत्वस्यापि नामात्र स्मर्तव्यपदवीं व्रजेत्॥ एते ये चाद्य युस्माभिस्त्यजन्ते ते न दूषिताः। बलात्कारेण पातित्यं पातित्यं तन्न संमतम्॥**(श्रीरा.दि.19.62-64)।

साम्प्रदायिक आधार पर प्राचीन समृद्ध एवं अखण्ड भारत की विखण्डन की प्रक्रिया स्वामीजी जैसे महनीय आचार्यों के उपदेशों को न मानने के कारण है। भगवत्पाद श्रीशंकराचार्य सैकड़ों वर्ष से बौद्ध बने लोगों को पुनः हिन्दू धर्म में वापस लाए। श्रीमध्वाचार्य, श्रीनिम्बार्काचार्य, श्रीकेशवकाश्मीरी भट्टाचार्य, श्रीचैतन्यमहाप्रभुजी एवं श्रीवल्लभाचार्य आदि सभी महापुरुषों को ऐसी शुद्धि मान्य है। यदि इनके उपदेशानुसार हिन्दू समाज आचरण करता तो आज राष्ट्र की यह स्थिति नहीं होती। आज निजी स्वार्थ और संकीर्ण विचारों को छोड़कर अपने पूर्वाचार्यों द्वारा प्रदर्शित विश्वबन्धुत्व की व्यापक और उदार विचारधारा को आत्मसात् करने की जरुरत है।

पूज्य स्वामी रामानन्दाचार्यजी ने अनेकों ग्रन्थों का प्रणयन किया। श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर ग्रन्थ इनकी बहुश्रुत, समुज्ज्वल कीर्ति का पावन स्मारक है। गीता, उपनिषत् और ब्रह्मसूत्र पर इनके भाष्य भी सम्प्रदाय में प्रसिद्ध हैं। इन ग्रन्थों के अध्ययन और तदनुसार आचरण करने से आध्यात्मिक जीवन में पूर्ण सफलता प्राप्त होती है। जो साधक बहुत शास्त्रों का अध्ययन नहीं करना चाहते, उनके लिए भी श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर अवश्य पठनीय है। यह प्रस्थानत्रयी तथा कर्तव्य आचार का सारसंग्रह है। इसमें मुमुक्षु को जीवनोपयोगी समग्र सामग्री प्राप्त हो जाती है।

सम्पादकीय

श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर ग्रन्थ का भाष्य आप जैसे प्रबुद्ध पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए प्रसन्नता हो रही है। इसमें श्लोक के पश्चात् अन्वय और श्लोक के पदों का अर्थ प्रस्तुत है, जिरासे सामान्य पाठकों को भी श्लोकार्थ सरलता से हृदयंगम हो सके। अर्थ के बाद गम्भीर, विस्तृत और हृदयग्राही भाष्य सन्निविष्ट है। विषय वस्तु को अवगत कराने के लिए इसे समुचित शीर्षकों से अलंकृत किया गया है। इसके अध्ययन से विषय अनायास ही हृदयपटल पर अंकित होता चला जाता है, अध्येता महानुभाव इसका स्वयं अनुभव करेंगे। मन्त्र के यथाश्रुत अर्थ का बोध कराना ही हमारे भाष्यकार आचार्य स्वामी जी को इष्ट है, फिर भी कुछ स्थलों में अन्य मतों की समालोचना हुई है, जो कि प्रासंगिक है। ग्रन्थ के अन्त में आवश्यक परिशिष्ट सन्निविष्ट हैं, जिससे यह ग्रन्थ शोधकर्ताओं के लिए भी संग्राह्य है। हमारा विश्वास है कि हिन्दी माध्यम से वेदान्तसिद्धान्त के अध्येता इस ग्रन्थ रत्न का आदर करेंगे।

रुद्रनारायणदास

आमुख

प्रस्तुत श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर ग्रन्थ मुमुक्षु के प्रश्न और ब्रह्मवेत्ता आचार्य के उत्तरों का संकलनरूप है, इसमें श्रीस्वामी रामानन्दाचार्य जी के शिष्य स्वामी सुरसुरानन्द जी प्रश्नकर्ता हैं और पूज्य आचार्यचरण उत्तरप्रदाता हैं। जैसे भक्त अर्जुन को निमित्त बनाकर भगवान् श्रीकृष्ण ने सकल जगत् के कल्याण के लिए उपदेश किया, वैसे ही स्वामी रामानन्दाचार्यजी ने सुरसुरानन्द जी को निमित्त बनाकर साधक जगत् के हितार्थ उपदेश किया। योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण का उपदेश श्रीमद्भगवद्गीता नाम से जगत् में विख्यात है और पूज्य आचार्य का उपदेश श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर नाम से विश्रुत है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में श्रीसुरसुरानन्द जी ने 'तत्त्व, जाप्य मन्त्र, ध्यान, मुक्ति का साधन, प्रधान धर्म, जीवात्मा के भेद, उनका लक्षण, साधक का निवासस्थान, कालक्षेप की रीति और प्राप्य' इन दश विषयों से सम्बन्ध रखने वाले प्रश्न किये है, आचार्यचरण ने सुन्दर रीति से इनके उत्तर प्रस्तुत किये हैं, जो कि मानवमात्र के लिए कल्याणकारक हैं। **श्रीवैष्णवानां मतानि अभिमतानि प्रमेयानि ज्ञेयविषयाः श्रीवैष्णवमतानि, तानि अब्जानि कमलानि इव इति श्रीवैष्णवमताब्जानि तेषां भास्करः प्रकाशकः बोधक इति श्रीवैष्णवमताब्जभास्करः** अर्थात् श्रीवैष्णवों के अभिमत प्रमेयों(ज्ञेय विषयों) को श्रीवैष्णवमत कहते हैं। कमलवत् श्रीवैष्णवमतों का सूर्य के समान प्रकाशक(बोधक) होने से प्रस्तुत ग्रन्थ श्रीवैष्णवमताब्ज भास्कर कहलाता है। जैसे भगवान् भुवनभास्कर रात्रि के अन्धकार को दूर कर कमल को विकसित करते हैं, वैसे ही प्रस्तुत ग्रन्थ जिज्ञासु पाठकों के हृदय के अज्ञानान्धकार को दूरकर वैष्णवमत के ज्ञानरूप कमल को निरन्तर विकसित करता है, अतः साधक आत्मकल्याणार्थ इसका अध्ययन करते हैं।

पूज्य गुरुदेव अनन्तश्रीविभूषित ब्रह्मविद्वरिष्ठ महान्त **श्रीस्वामी नृत्यगोपालदासजी महाराज** की पावन आज्ञा से प्रस्तुत श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर

ग्रन्थ का भाष्यलेखन सम्पन्न हुआ। अनन्तश्रीविभूषित श्रीमद्भागवतप्रवक्ता श्रीमलूकपीठाधीश्वर **श्रीराजेन्द्रदासजी महाराज** भी प्रस्तुत कार्य के प्रेरणास्रोत हैं, उन्होंने अत्यन्त व्यस्तता के समय भी कृपापूर्वक समग्र ग्रन्थ का अवलोकन कर उसे उपयोगी बनाने के लिए अनेक सत्परामर्श प्रदान किए। मैंने व्याकरण तथा वेदान्त के अप्रतिम विद्वान् **पण्डित श्रीरामवदनजी शुक्ल** और वीतराग-परमहंस, दार्शनिक सार्वभौम **स्वामी शंकरानन्द सरस्वती** जी से विशिष्टाद्वैत वेदान्तका अध्ययन किया था। इन सभी महात्माओं के पावन पादपद्मों में अनन्त प्रणति समर्पित हैं।

स्वामी भगवदाचार्य की व्याख्यासहित प्रस्तुत ग्रन्थ वि.सं.1886 में अहमदाबाद से प्रकाशित हुआ था तथा पं.रघुवरशरणशास्त्रिविरचित अर्थप्रकाशिका व्याख्या वाला संस्करण भी प्राचीन है। इनमें मूल श्लोकों का क्रम सुव्यवस्थित है। भाष्यलेखन के प्रायः अवसानकाल में ये दोनों ग्रन्थ दृष्टिगोचर हुए थे। मेरे द्वारा निर्धारित क्रम की उनसे पुष्टि होने पर मुझे अत्यन्त सन्तोष हुआ। **डॉ.महेशचन्द्र मासीवाल**(साहित्याचार्य, एम.एड., संस्कृत शिक्षक पी.वाई.डी.एस. लर्निंग ऐकेडेमी देहरादून) ने मूल श्लोकों का टंकण एवं **श्रीरुद्रनारायणदास**(स्वामी रामानन्दाश्रम, मायाकुण्ड ऋषीकेश) ने प्रस्तुत ग्रन्थ का सम्पादन कार्य सम्पन्न किया है तथा शास्त्रों के प्रचार-प्रसार के लिए कटिबद्ध **श्रीप्रवीण कुमार गुप्त**(चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली) ने तत्परता से इसे प्रकाशित किया है। इन सभी के सहयोग से प्रस्तुत ग्रन्थ प्रबुद्ध पाठकों के हाथों में प्रस्तुत है।

स्वामी त्रिभुवनदास
मङ्गलम् कुटीरम्, गंगालाइन
स्वर्गाश्रम(ऋषीकेश)
उत्तराखण्ड, पिन-249304
चलवाणी-8057825137
(रात्रि 8-9)

श्रीगङ्गादशहरा
वि.सं.2075

विषयानुक्रमणिका

मूलपाठः

श्रीमन्तं श्रुतिवेद्यमद्भुतगुणग्रामाग्र्यरत्नाकरं
प्रेयःस्वेक्षणसंसुलज्जितमहीजाताक्षिकोणेक्षितम्।
भक्ताशेषमनोऽभिवाञ्छितचतुर्वर्गप्रदं स्वर्द्रुमं
रामं स्मेरमुखाम्बुजं शुचिमहानीलाश्मकान्तिं भजे॥1॥

प्रत्यूहव्यूहभङ्गं विदधद् उरुबलश्शक्तिमान् सर्वकारी
भूरिश्रेयःप्रतापो मुनिवरनिकरैः स्तूयमानो विमानः।
रक्षोदैत्यादिनाशी क्षुभितजलनिधिर्लोकजिल्लोकमान्यो
धन्यो नो मङ्गलौघं सपदि स कुरुताद् रामशस्त्रास्त्रसंघः॥2॥

ऐश्वर्यं यदपाङ्गसंश्रयमिदं भोग्यं दिगीशैर्जग-
च्चित्रं चाखिलमद्भुतं शुभगुणा वात्सल्यसीमा च या॥
विद्युत्पुञ्जसमानकान्तिरमितक्षान्तिः सुपद्मेक्षणा
दत्तान्नोऽखिलसम्पदो जनकजा रामप्रिया साऽनिशम्॥3॥

तत्त्वं किं किञ्च जाप्यं परमिह विबुधैर्वैष्णवैर्ध्यानमिष्टं
मुक्तेः किं साधनं सत्सुमतिमतिमतो धर्म एकोऽस्ति कश्च।
धर्माणां वैष्णवास्ते गुरुवर कतिधा लक्षणं किञ्च तेषां
कालक्षेपः किमाप्यं कथमुरुशुभदं कुत्र कार्यो निवासः॥4॥

इत्थं पृष्टस्त्वया यः सकलहितकरः प्रश्नराशिर्गरिष्ठो
वेद्यः सर्वश्रुतीनां जगति सुरसुरानन्द सद्यो मया सः॥
प्राचीनाचार्यवर्यान् यतिपतिसहितान् सादरं सम्प्रणम्य
सम्यक् शास्त्रानुसारं गुरुनिरत समाधीयते' श्रूयतां तत्॥5॥

पृष्टानाम् एकमाद्यं त्रिकमपि शृणु तद्भेदतो नामभेदै-
र्नित्याऽज्ञाऽचेतना सा प्रकृतिरविकृतिर्विश्वयोनिश्शुभैका।
नानावर्णात्मिकाऽजा त्रिगुणसुनिलयाऽव्यक्तशब्दाभिधेया
निर्व्यापारा परार्था महदहमितिसूरुच्यते तत्त्वविद्भिः॥6॥

नित्यो ज्ञश्चेतनोऽजः सततपरवशः सूक्ष्मतोऽत्यन्तसूक्ष्मो
भिन्नो बद्धादिभेदैः प्रतिकुणपमसौ नैकधा सूरिवर्य्यैः।
श्रीशाक्रान्तालयस्थो निजकृतिफलभुक्तत्सहायोऽभिमानी
जीवः सम्प्रोच्यते श्रीहरिपदसुमते तत्त्वजिज्ञासुवेद्यः॥7॥

विश्वं जातं यतोऽद्धा यदवितमखिलं लीनमप्यस्ति यस्मिन्
सूर्यो यत्तेजसेन्दुः सकलमविरतं भासयत्येतदेषः।
यद्भीत्या वाति वातोऽवनिरपि सुतलं याति नैवेश्वरो ज्ञः
साक्षी कूटस्थ एको बहुशुभगुणवानव्ययो विश्वभर्ता॥8॥

श्रीमानर्च्यः शरण्यो बहुविधविबुधैर्योगिगम्याङ्घ्रिपद्मोऽ-
स्पृश्यः क्लेशादिभिः सत्समुदितसुयशाः सूरिमान्यो वदान्यः।
शश्वच्छ्रीरामचन्द्रः सुमहितमहिमा साधुवेदैरशेषै-
र्निर्मृत्युःसर्वशक्तिर्विकलुषविजरो गीर्मनोभ्यामगम्यः॥9॥

सञ्जाप्यस्तारकाख्यो मनुवर इह तैर्वह्निबीजं यदादौ
रामो ङेप्रत्ययान्तो रसमितशुभदस्वक्षरः स्यान्नमोऽन्तः।
मन्त्रो रामद्वयाख्यः सकृदिति चरमप्रान्वितो गुह्यगुह्यो
भूताक्ष्युत्संख्यवर्णः सुकृतिभिरनिशं मोक्षकामैर्निषेव्यः॥10॥

मन्त्राणां व्यापकानां भगवत इह चाव्यापकानान्तु मध्येऽ-
तिश्रेष्ठो व्यापकः स श्रुतिमुनिसुमतः शिष्टमुख्यैर्गृहीतः।
नित्यानामाश्रयोऽयं परित उरुशुभो राममन्त्रः प्रधानं
प्राप्योऽथ प्रापकश्च प्रचुरतरगुणज्ञानशक्त्यादिकानाम्॥11॥

यावद्वेदार्थगर्भं प्रणवि जगदुदाधारभूतं सविन्दु
प्रव्यक्तं रामबीजं श्रुतिमुनिगदितोत्कृष्टषड्व्याप्तिभेदम्।
रेफारूढत्रिमूर्ति प्रचुरतरमहाशक्ति विश्वोन्निदानं
शश्वत्संराजते यद्विविधसकलसम्भासमानप्रपञ्चम्॥12॥

तत्राद्येन पदेन रेण भगवान् सीतापतिः प्रोच्यते
श्रीरामो जगतां गुणैकनिलयो हेतुश्च संरक्षकः।
तच्छेषी पदतोऽप्यतो भगवतोऽनन्यार्हशेषत्वकम्
व्यावृत्तिस्तु सुरान्तरादिगतसत्तच्छेषताया मुहुः॥13॥

पितापुत्रत्वसम्बन्धो जगत्कारणवाचिना।
रक्ष्यरक्षकभावश्च रेण रक्षकवाचिना॥14॥

शेषशेषित्वसम्बन्धश्चतुर्थ्या लुप्तयोच्यते।
भार्याभर्तृत्वसम्बन्धोऽप्यनन्यार्हत्ववाचिना॥15॥

अकारेणापि विज्ञेयो मध्यास्थेन महामते।
स्वस्वामिभावसम्बन्धो मकारेणाथ कथ्यते॥16॥

आधाराधेयभावोऽपि ज्ञेयो रामपदेन तु।
सेव्यसेवकभावस्तु चतुर्थ्या विनिगद्यते॥17॥

नमः पदेनाखण्डेन त्वात्मात्मीयत्वमुच्यते।
षष्ठ्यन्तेन मकारेण भोग्यभोक्तृत्वमप्युत॥18॥

ज्ञानानन्दस्वरूपोऽवगतिसुखगुणो मेन वेद्योऽणुमानो
देहादेरप्यपूर्वो विविदितविविधस्तत्प्रियस्तत्सहायः।
नित्यो जीवस्तृतीयेन तु खलु पदतः प्रोच्यते स्वप्रकाशो
जिज्ञासूनां सदेत्थं शुभनतिसुमते शास्त्रवित्सज्जनानाम्॥19॥

मवाच्योऽहं रवाच्याय शेषभूतोऽस्मि सर्वदा।
इतीत्थमेव बोध्यो ज्ञैर्वाक्यार्थस्तद्विवित्सया॥20॥

रामायेति चतुर्थेन श्रिया देव्यास्तु सर्वदा।
चेतनाऽचेतनानाञ्च रमणाश्रयतेर्यते॥21॥

स सर्वविधबन्धुत्वं सर्वप्राप्यत्वमेव च।
सर्वप्रापकता तेन तथा चोभयलिङ्गता॥22॥

पदेनैवोच्यते सत्यानन्दचिद्रूपता तथा।
यावद्विभूतिनेतृत्वं रामपादाब्जसन्नते॥23॥

रागादिकारणे बन्धौ तेनैव विनिवर्त्यते।
बन्धुत्वप्रतिपत्तिश्च भासमानाविचारतः॥24॥

तच्चतुर्थ्या स्वानुरूपकैंकर्यप्रार्थनोच्यते।
विषयान्तरसेवाऽपि प्राप्ता सा विनिवर्त्यते॥25॥

पदेन नेनात्र तु पञ्चमेन प्रकथ्यतेऽथो तदनन्यशेषता।

हेयं तदन्यार्थमपि स्वतन्त्रता निवर्त्यतेऽतः सततं स्वकीया॥26॥

पदेन षष्ठेन म इत्यनेन स्वस्वाम्यनन्यार्हकशेषताऽपि।
समुच्यते चेतनवाचिना तु तत्किङ्करत्वैकफलत्वमेव॥27॥

उपायार्थपरेणासावखण्डनमसोच्यते।
उपायो हि मवाच्यस्य रवाच्यो राम एव सः॥28॥

बीजेनैवाथ जीवस्य स्वरूपं प्रतिपाद्यते।
रामायेति परस्यापि चतुर्थ्या तत्फलस्य च॥29॥

उपायस्य त्वखण्डेन नमःशब्देन उच्यते।
सखण्डे तु मकारेण षष्ठ्यन्तेन विरोधिनः॥30॥

तात्पर्यार्थोऽशेषवेदशास्त्राभिरुचिसंश्रयः।
वाक्यार्थः प्राप्यसम्बन्धिस्वरूपाभिनिरूपणम्॥31॥

तारकस्य प्रधानार्थः स्वस्वरूपनिरूपणम्।
सम्बन्धस्यानुसन्धानमनुसन्ध्यर्थ इष्यते॥32॥

उक्त्वेत्थं तारकार्थं तु द्वयार्थः प्रतिपाद्यते।
विमत्सराः प्रपश्यन्तु प्रगृह्णन्त्ववयन्तु च॥33॥

श्रीरामद्वयमन्त्रमद्भुततमं वाक्यद्वयं षट्पदं
वाणाक्षिप्रमिताक्षरन्तु खलु विद्धि त्वं दशार्थान्वितम्।
युक्तं तं त्रिपदेन तत्र सुमते पूर्वं शुभस्यास्पदं
वाक्यं पञ्चदशाक्षरं तदनु दिग्वर्णात्मकं तूत्तरम्॥34॥

सर्वाधीशेश्वरप्राप्तिहेतुस्तत्राभिधीयते।
सीतापुरुषकारार्था श्रीत्यनेन पदेन तु॥35॥

मता पुरुषकारस्य नित्यसम्बन्ध उच्यते।
रामचन्द्रेति पदतो वात्सल्यादिगुणस्य च॥36॥

चरणावित्यनेनैव वात्सल्यादिकसीतयोः।
विलक्षणस्य दिव्यस्य विग्रहस्याश्रयस्य च॥37॥

शरणेतिपदेनैवोपायस्तद्विग्रहो बुधैः।
उपायाध्यवसायस्तु प्रपद्य इति वर्ण्यते॥38॥

प्राप्यं मिथुनमेवेति श्रीमते पदतो मतम्।
रामचन्द्रेति पदतः स्वामित्वं प्रतिपाद्यते॥39॥

विभक्त्यायेति पदतः शेषवृत्तिर्महात्मभिः।
विरोधिनो निरासस्तु नमः शब्देन वर्ण्यते॥40॥

तात्पर्यार्थोऽस्य विज्ञेय आचार्यरुचिसंश्रयः।
वाक्यार्थस्तु मताभिज्ञैरेष निर्णीयते बुधैः॥41॥

प्राप्यप्रापकसम्बन्धस्वरूपाभिनिरूपणम्।
प्रधानार्थस्तु तद्युग्मकैंकर्यस्य प्रधानता॥42॥

स्वदोषाभ्यनुसन्धानमनुसन्ध्यर्थ उच्यते।
एवमेवानुसन्धेयं मोक्षकामैरहर्दिवम्॥43॥

प्रोक्ता वत्सक मन्त्ररत्नविवृतिः सन्मानसाभीष्टदं
सद्वेद्यं सकृदित्यवेहि चरमं निर्णीतवाक्यार्थकम्।
रामीयं हि तदीयमन्त्रनिरतैरुद्बोधनीयं परं
द्वात्रिंशत्प्रमिताक्षरं मनुपदं द्व्यर्द्ध जगद्विश्रुतम्॥44॥

अत्रोपायान्तरस्याथो निवृत्तिः प्रतिपाद्यते।
सकृदित्येवकारेणान्योपायनिरपेक्षता॥45॥

प्रपन्नायेति पदतस्तूपायस्थानमुच्यते।
उपायत्वं भगवतस्तवेति पदतस्तथा॥46॥

अस्मीत्यनेन चोपायस्वीकारः प्रतिपाद्यते।
समाप्त्यर्थेतिशब्देन तूपायानन्यतोच्यते॥47॥

चकारतोऽनुक्तसमुच्चयार्थतो निगद्यतेऽथान्य उपाय आत्मवित्।
उपायसंसेव्यधिकारिलक्षणं पदेन वै याचत इत्यनेन तु॥48॥

अथाभयमिति प्राप्यप्रतिबन्धकवारणम्।
सर्वभूतेभ्य इत्येव प्राप्यस्य प्रतिबन्धकम्॥49॥

ददामीति पदेनाथोपायस्याखिलशक्तिता।
एतदित्येव पदतोऽसंशयत्वमितीर्यते॥50॥

निर्भरत्वानुसन्धानं ममेति प्रतिपाद्यते।

पदेन व्रतमित्यत्र तद्वार्ढ्यमभिधीयते॥51॥

तात्पर्यार्थोऽस्य विज्ञेयः शरण्यरुचिसंश्रयः।
तत्प्रापकस्वरूपस्य वाक्यार्थोऽथ निरूपणम्॥52॥

प्रधानार्थः परेशस्य स्वरूपस्य निरूपणम्।
निर्भरत्वानुसन्धानमनुसन्ध्यर्थ उच्यते॥53॥

अथोच्यते महाप्रज्ञ ध्यानं ध्येयस्य चिन्तनम्।
बुधैरात्मरतैर्नित्यं जितप्राणैर्जितेन्द्रियैः॥54॥

विकचपद्मदलायतवीक्षणं विधिभवादिमनोहरसुस्मितम्।
जनकजादृगपाङ्गसमीक्षितं प्रणतसत्समनुग्रहकारिणम्॥55॥

मुनिमनःसुमधुव्रतचुम्बितस्फुटलसन्मकरन्दपदाम्बुजम्।
बलवदद्भुतदिव्यधनुःशरामहितजानुविलम्बिमहाभुजम्॥56॥

परार्ध्यहाराङ्गदचारुनूपुरं सुपद्मकिञ्जल्कपिशङ्गवाससम्।
लसद्घनश्यामतनुं गुणाकरं कृपार्णवं सद्धृदयाम्बुजासनम्॥57॥

प्रसन्नलावण्यसुभृन्मुखाम्बुजं जगच्छरण्यं शरणं नरोत्तमम्।
सहानुजं दाशरथिं महोत्सवं स्मरामि रामं सह सीतया सदा॥58॥

द्विभुजस्यैव रामस्य सर्वशक्तेः प्रियोत्तम।
ध्यानमेवं विधातव्यं सदा रामपरायणैः॥59॥

एवं तेऽभिहितं ध्यानं शृणु तन्मुक्तिसाधनम्।
मुमुक्षूणां परं वेद्यं विधेयं प्रिय सर्वदा॥60॥

तप्तेन मूले भुजयोः समङ्कनं शरेण चापेन तथोर्ध्वपुण्ड्रकम्।
श्रुतिश्रुतं नाम च मन्त्रमालिके संस्कारभेदाः परमार्थहेतवः॥61॥

परीक्ष्य शिष्यं समुपासकं गुरुर्वर्षं समभ्यर्च्य च वह्निदेवताम्।
चापादिभिर्हेतिवरैः सुतापितैर्दिने सुपुण्ये नियतः समङ्कयेत्॥62॥

तथोर्ध्वपुण्ड्रं सुमृदा विधाय वै रामादिदास्यान्तमथो समुच्चरेत्।
मन्त्रं तथैवोपदिशेद्विधानतो मालां वरां तां तुलसीसमुद्भवाम्॥63॥

एवं महान् भागवतः सुसंस्कृतो रामस्य भक्तिं परमां प्रकुर्यात्।
महेन्द्रनीलाश्मरुचेः कृपानिधेः श्रीजानकीलक्ष्मणसंयुतस्य वै॥64॥

उपाधिनिर्मुक्तमनेकभेदका भक्तिः समुक्ता परमात्मसेवनम्।
अनन्यभावेन मुहुर्मुहुः सदा गहर्षिभिस्तैः खलु तत्परत्वतः॥65॥

सा तैलधारासमसंस्मृतिप्रसन्तानरूपेशि परानुरक्तिः।
भक्तिर्विवेकादिकसप्तजन्या तथा यमाद्यष्टसुबोधकाङ्गा॥66॥

उदारकीर्तेः श्रवणं च कीर्तनं हरेर्मुदा संस्मरणं पदश्रितिः।
समर्चनं वन्दनदास्यसख्यान्यात्मार्पणं सा नवधेति गीयते॥67॥

एकादशीत्यादिमहाव्रतानि वै कुर्याद्विवेधानि हरिप्रियाण्यथ।
विद्धा दशम्या यदि साऽरुणोदये स द्वादशीं तूपवसेद् विहाय ताम्॥68॥

शुद्धा दशम्या सुयुतेति भेदतो ह्येकादशी सा द्विविधा च बुध्यताम्।
वेधोऽपि बोध्यो द्विविधोऽरुणोदये सूर्योदये वा दशमीप्रवेशतः॥69॥

स पञ्चपञ्चप्रमितो ह्युषो बुधैः कालस्तु षट्पञ्चमितोऽरुणोदयः।
प्रातस्तु सप्तेषुमितो निगद्यते सूर्योदयः स्यात्तु ततः परं तथा॥70॥

प्रातश्चतस्रो घटयोऽरुणोदयो विनिश्चयः कालविमर्शिभिः कृतः।
तथाऽत्र वेधप्रभृतेर्विपश्चितः प्राहुर्विभागांश्चतुरो विवेकतः॥71॥

घटीत्रयं सार्द्धमथारुणोदये वेधोऽतिवेधो द्विघटिस्तु दर्शनात्।
रविप्रभासस्य तथोदितेऽर्द्धके सूर्ये महावेध इतीर्यते बुधैः॥72॥

योगस्तुरीयस्तु दिवाकरोदये तेऽर्वाक् सुदोषातिशयार्थबोधकाः।
सर्वेऽपि वेधा मुनिभिर्विनिश्चिता निर्णेतृभिस्तस्य तु तत्त्वदर्शिभिः॥73॥

पूर्णेति सूर्योदयकालतः सा या प्राङ् मुहूर्तद्वयसंयुता च।
अन्या तु विद्धा परिकीर्तिता ज्ञैरेकादशी सा त्रिविधापि शुद्धा॥74॥

एका तु द्वादशीमात्राधिका ज्ञेयोभयाधिका।
द्वितीया च तृतीया तु तथैवानुभयाधिका॥75॥

तत्राद्या तु परैवास्ति ग्राह्या विष्णुपरायणैः।
शुद्धाप्येकादशी हेया परतो द्वादशी यदि॥76॥

उपोष्य द्वादशीं शुद्धां तस्यामेव च पारणम्।
उभयोरधिकत्वे तु परोपोष्या विचक्षणैः॥77॥

उन्मीलिनी वञ्जुलिनी सुपुण्याः सा त्रिस्पृशाऽथो खलु पक्षवर्धनी।
जया तथाष्टौ विजया जयन्ती द्वादश्य एता इति पापनाशनी॥78॥

आषाढभाद्रोर्जसितेषु सङ्गता मैत्रश्रवोऽन्त्यादिगतद्व्युपान्त्यकैः।
चेद् द्वादशी तत्र न पारणं बुधः पादैः प्रकुर्याद् व्रतवृन्दहारिणी॥79॥

मासे मधौ या नवमी सुयुक्ता शुक्लाऽदितीशेन शुभेन भेन।
कर्के महापुण्यतमा सुलग्ने जातोऽत्र रामः स्वयमेव विष्णुः॥80॥

तामष्टमीवेधयुतां विहाय व्रतोत्सवं तत्र वैष्णवश्चरेत्।
असङ्ख्यसूर्यग्रहतोऽधिका वै या केवला सा नवम्यप्युपोष्या॥81॥

अत्र प्रकुर्वीत मुदा व्रतोत्सवं रामार्चनं जागरणं महाफलम्।
अनेकजन्मार्जितपापनाशनं रामस्य कीर्तेः श्रवणं च कीर्तनम्॥82॥

पुष्यान्वितायां तु कुजे नवम्यां श्रीमाधवे मासि सिते हलेन।
कृष्टा क्षितिः श्रीजनकेन तस्याः सीताऽऽविरासीद् व्रतमत्र कुर्यात्॥83॥

स्वात्यां कुजे शैवतिथौ तु कार्तिके कृष्णेऽञ्जनागर्भत एव मेषके।
श्रीमान् कपीट् प्रादुरभूत् परन्तपो व्रतादिना तत्र तदुत्सवं चरेत्॥84॥

वैशाखमासीयचतुर्दशी सिता निशामुखे याऽनिलभेन संयुता।
सोमेऽवतारो नृहरेरभूदथो व्रतोत्सवं तत्र मुदा समाचरेत्॥85॥

स्मरेण विद्धा तु चतुर्दशी यदा भवेद्धनापत्यविनाशिनी तदा।
तत्रोपवासो न जनैर्विधीयतां महात्मभिर्विष्णुपरायणैरपि॥86॥

भाद्रेऽसिते निशीथेऽथ रोहिण्यामष्टमीतिथौ।
सिंहमर्के गते सौम्ये कृष्णो जातो विधूदये॥87॥

जन्माष्टमी सात्र मुदा व्रतोत्सवं कृष्णार्चनं जागरणं महाफलम्।
अनेकजन्मार्जितपापनाशनं कृष्णस्य कीर्तेः श्रवणं च कीर्तनम्॥88॥

त्याज्याष्टमी चेदथ वाजिविद्धा तथाग्निविद्धं विधिभं च हेयम्।
चेदष्टमी नो विधिभेन युक्ता महात्मभिर्विष्णुपरायणैस्तैः॥89॥

विद्धा जयन्ती यदि सप्तमीयुता शुद्धा तथा सा नवमीयुता यदि।
या रोहिणी वह्नियुता तु विद्धिका ज्ञेया च शुद्धा यदि सा परान्विता॥90॥

भाद्रेऽथ शुक्लेऽभिजिति प्रभुर्हरिर्या द्वादशी वैष्णवभेन संयुता।
तत्रादितावाविरभूच्च वामनो व्रतोत्सवं तत्र मुदा समाचरेत्॥91॥

स्पृशत्येकादशीं किं वा श्रवणं द्वादशी यदि।
विष्णुशृङ्खलयोगोऽसौ तत्रोपोष्य महत्फलम्॥92॥

तथा यथाकालमतन्द्रितैस्तै रथाधिरोपादिकमुत्सवादिकम्।
सदा विधेयं हरितोषणं परं शुभप्रदं तद् बहुशास्त्रसम्मतम्॥93॥

कर्मप्रवाहेण तु चेतनस्य संमग्नस्य संसारमहार्णवे चिरम्।
उपर्यहो संसरतोऽवशस्य सा कृपोद्भवत्येव हरेरहेतुका॥94॥

मोक्षे मुमुक्षोर्नहि तारतम्यं फले प्रपन्नस्य तु सत्प्रपत्तेः।
अस्त्येव तद्विष्णुकृपोपलब्धे पतिं श्रियोऽनन्तगुणार्णवं तम्॥95॥

भवन्त्युपायान्तर एव सर्वे स्वातन्त्र्यतो मुक्तिपदप्रदास्ते।
सुकर्मसंवेदनभक्तियोगाः प्रपत्तिनिष्ठैः समनुष्ठितास्तु॥96॥

अणुत्वतो निर्भरतापरैस्तैः श्रीव्याप्तिरार्यैरभिधीयते हि।
प्रपञ्चनिर्मातृविरिञ्चिहेतुश्रीरामपादाब्जनिविष्टचित्तैः॥97॥

नित्यं सा पुरुषकारभूता श्रीरनपायिनी।
अनुपायान्तरैर्विज्ञैरुच्यते तदुपायता॥98॥

विभोश्च वात्सल्यमहार्णवस्य वै वात्सल्यमिष्टं जनदोषभोगिता।
समुच्यते तैर्नृभिरस्वतन्त्रकैः सदा सदाचारपरायणैर्वरैः॥99॥

दयान्यदुःखस्य निगद्यते बुधैरप्राकृतैस्तैरसहिष्णुता स्तुता।
कृपामहाब्धेः समुदारकीर्तेर्विष्णोरचिन्त्याखिलवैभवस्य वै॥100॥

स्वीयप्रवृत्तेस्तु निवृत्तिरिष्टो न्यासोऽथ वेद्योऽपि बुधैः सदैव।
एकान्तिकैस्तत्त्वविचारदक्षैः परात्मनिष्ठैः परमास्तिकैस्तैः॥101॥

सर्वे प्रपत्तेरधिकारिणो मताः शक्ता अशक्ताः पदयोर्जगत्प्रभोः।
नापेक्ष्यते तत्र कुलं बलञ्च नो न चापि कालो न च शुद्धतापि वै॥102॥

धर्मत्यागोऽपि परमैकान्तिकैरुच्यते वरैः।
इत्थं हि कर्मणां त्यागः स्वरूपस्याखिलस्य च॥103॥

अथोपायान्तराण्येव प्रवदन्ति मनीषिणः।

विरोधीनि प्रपत्तेः सम्बन्धज्ञानस्वरूपिणः॥104॥

लोकसङ्ग्रहणार्थन्तु श्रुतिचोदितकर्मणाम्।
शेषभूतैरनुष्ठानं तत्कैङ्कर्यपरायणैः॥105॥

तन्यासाङ्गानुकूल्यादौ यस्य कस्य महात्मभिः।
शेषवृत्तिपरैर्हानौ प्रपत्तिन्यूनता न हि॥106॥

रामप्रसादहेतुर्हि न्यासोऽयं विनिगद्यते।
नित्यशूरैः सदाचारैर्हरिपादाब्जमानसैः॥107॥

कृतप्रपत्तिस्मरणं प्रायश्चित्तमथोच्यते।
परमाप्तैश्च तन्निष्ठैः कोविदैस्तैर्मुमुक्षुभिः॥108॥

उत्कृष्टवर्णैरपि वैष्णवैर्जनैर्निकृष्टवर्णः स तदीयसेवने।
तथानुसर्त्तव्य इतीष्यते बुधैः शास्त्रैर्विधेये विधिगोचरैः परैः॥109॥

अणुव्याप्तौ च भगवानणुषु त्वणुरुच्यते।
पराकाष्ठापरैर्विज्ञैर्मतविद्भिर्महात्मभिः॥110॥

आत्मारामैस्तथोपायस्वरूपज्ञानिभिश्च तैः।
मतज्ञैर्विरजापारं कैवल्यमिति मन्यते॥111॥

जितेन्द्रियश्चात्मरतो बुधोऽसकृत्सुनिश्चितं नाम हरेरनुत्तमम्।
अपारसंसारनिवारणक्षमं समुच्चरेद् वैदिकमाचरन् सदा॥112॥

एवं तेऽभिहितं वत्स प्रकृष्टं मुक्तिसाधनम्।
उत्तमं सर्वधर्माणां शृणु धर्मं सनातनम्॥113॥

दानं तपस्तीर्थनिषेवणं जपो न चास्त्यहिंसासदृशी शुभा कृतिः।
हिंसामतस्तां परिवर्जयेज्जनः सुधर्मनिष्ठो दृढधर्मवृद्धये॥114॥

श्रयन्ति धर्मास्तु तया पृथक् स्थितान् सुवक्रगाः सिन्धुमिवापि निम्नगाः।
काष्ठस्थवह्नेरिव घातको हरेश्चराचरस्थस्य च जन्तुहिंसकः॥115॥

जलस्थलोत्पन्नशरीरिहिंसया विवर्जयेन्मांसमुदारधीः सदा।
दयापरोऽधोगतिहेतुरूपयाऽचिराय लभ्यं भवभीनिवृत्तये॥116॥

शुभानि कर्माणि समर्पयेत्सदा रामाय भक्ष्यं च निवेद्य भक्षयेत्।
अहर्दिवं वीतभयः समुत्तमं विमुक्तधीः स्वाघनिवृत्तिकामनः॥117॥

अर्चावतारोऽपि च देशकालप्रकर्षहीनः श्रितसम्मतश्च।
सहिष्णुरप्राकृतदेहयुक्तः पूर्णोऽर्चकाधीनसमात्मकृत्यः॥118॥

स्वयंव्यक्तश्च दैवश्च सैद्धो मानुष एव च।
देशादौ हि प्रशस्ते स वर्तमानश्चतुर्विधः॥119॥

आवाहनासनाभ्यां च पादार्घ्याचमनैस्तथा।
स्नानवस्त्रोपवीतैश्च गन्धपुष्पसुधूपकैः॥120॥

दीपनैवेद्यताम्बूलप्रदक्षिणविसर्जनैः।
षोडशाऽर्चाप्रकारैस्तमेतैरर्चेत्सदा सुधीः॥121॥

जगत्पते श्रीश जगन्निवास प्रभो जगत्कारण रामचन्द्र।
नमो नमः कारुणिकाय तुभ्यं पादाब्जयुग्मे तव भक्तिरस्तु॥122॥

मनोमिलिन्दस्तव पादपङ्कजे रमार्चिते संरमतां भवे भवे।
यशः श्रुतौ ते मम कर्णयुग्मकं त्वद्भक्तसङ्गोऽस्तु सदा मम प्रभो॥123॥

उरःशिरोदृष्टिमनोवचःपदद्वयप्राजत्करयुग्मजानुना।
श्रद्धायुतस्तं प्रणमेन्महीतले दीर्घं कृती सत्कृतधीश्च दण्डवत्॥124॥

प्रसार्य बाहू चरणौ च साञ्जलिः स्तवैः स्तुवन्यश्च नमेद् रघूत्तमम्।
शतैः क्रतूनां तु सुदुर्लभां गतिं स चाप्नुयाद् विष्णुपरायणो जनः॥125॥

अथोच्यते वैष्णवभेद ईप्सितो ज्ञातुं च ते विष्णुपरायणैर्जनैः।
सुवेदनीयो बहुधा प्रियोत्तम सुनिश्चितो विज्ञवरैर्महर्षिभिः॥126॥

जीवो द्विधाऽमन्यत बद्धमुक्तभेदेन पूर्वैस्तु महर्षिवर्यैः।
बद्धोऽपि तत्र द्विविधो मुमुक्षुबुभुक्षुभेदाद् गदितो मतज्ञैः॥128॥

अनादिकर्मोत्करजातनानादेहाभिमानी सुगतोऽथ बद्धः।
स चाऽच्युताऽहेतुकृपाबलेनाविद्याक्रियावासरुचिप्रवृत्तेः॥129॥

विमोक्तुमिच्छुस्तु मुमुक्षुरुक्तः सम्बन्धतः प्राज्ञसुसंगतोऽयम्।
तथैव सांसारिकभोगमिच्छुर्बुभुक्षुरन्यः खलु कथ्यते ज्ञैः॥130॥

मुमुक्षवोऽपि द्विविधा महर्षिभिः प्रोक्ता अकामाः स्मृतिभक्तिशालिनः।
वेदोक्तवर्णाश्रमकर्मकारिणस्तूपासकादिप्रतिभेदभेदिताः॥131॥

स्वकर्मविज्ञानचयाधिसाधनं तथोररीकृत्य हि वत्स कञ्चन।

सम्प्राप्य सम्बन्धविशेषमुत्तमं सदा भवन्त्येव च मोक्षनिश्चयाः॥132॥

विहाय चान्यत्परमं कृपानिधिं प्राप्य समर्थं निरपायमीश्वरम्।
उपायमेतेऽध्यवसीय सुस्थिता ज्ञेयाः प्रपन्नाः सततं हरिप्रियाः॥133॥

पुरुषकारैकनिष्ठास्तु हरिस्वातन्त्र्यमैक्ष्य च।
कृपाप्रचुरमाचार्यं मत्वोपायमवस्थिताः॥134॥

ते चाचार्यकृपामात्रप्रपन्ना द्विविधा मताः।
तथा सेवातिरेकप्रपन्नाश्चेति सदा सताम्॥135॥

प्रपन्नश्चापि दृप्तः स तथा चार्त इति द्विधा।
शरीरस्थितिपर्य्यन्तमाद्योऽत्रैव यथोचितम्॥136॥

प्राप्तदुःखादिभुञ्जानः शरीरान्तेऽवसीय च।
महाबोधोऽतिविश्वासो मोक्षसिद्धिमवस्थितः॥137॥

अथाऽन्त्योऽसहमानस्तत्क्षणमेव तु संसृतिम्।
तथैव भगवत्प्राप्तौ सत्वरस्वान्त उच्यते॥138॥

श्रवणादिमात्रनिष्ठाः शुद्धभक्ताः प्रकीर्तिताः।
अन्तर्भाव्यास्तत्र तत्र तथानुक्ता मुमुक्षवः॥139॥

नित्यकादाचित्कभेदान्मुक्तद्वैविध्यमुच्यते।
नित्याः कदाचित्तत्रापि सिद्धाः सुपुरुषा वराः॥140॥

गर्भजन्मादिदुःखं येऽननुभूय स्थिताः सदा।
सीतारामप्रियाः शश्वत्ते हनुमन्मुखा मताः॥141॥

परिजनाः परिच्छदाः नित्यमुक्ता अपि द्विधा।
मारुत्याद्याः किरीटाद्याः क्रमात्ते च प्रकीर्त्तिताः॥142॥

भागवताः केवलाश्च कादाचित्का अपि द्विधा।
तत्र भागवता बोध्या ये तु ते भगवत्पराः॥143॥

भगवद्भोग्यभूत्यादिसाक्षात्कारसुखाश्रयाः।
श्रीराममानसा नित्यं तदनुध्यानतत्पराः॥144॥

केचिद् गुणानुसन्धानपराः कैङ्कर्यतत्पराः।
इत्थं महर्षिभिः प्रोक्ता द्विविधा भगवत्पराः॥145॥

द्विविधा केवला बोध्या दुःखाभावैकतत्पराः।
आत्मानुभूतिपरगा इति चोक्ता महर्षिभिः॥146॥

समुच्यते सम्प्रति लक्षणं सन्महात्मनां सद्गुणवैष्णवानाम्।
विरिञ्चिशम्भुश्रितरामचन्द्रपदारविन्दस्थितचेतसां तु॥147॥

धृतोर्ध्वपुण्ड्रस्तुलसीसमुद्भवां दधच्च मालाममलो हि कण्ठतः।
तज्जन्मकर्माणि हरेरुदाहरेद् गुणांश्च नामानि शुभप्रदानि सः॥148॥

धनुर्धरस्याशृणुयान्निरन्तरं कथां च गायेत्सुयशोऽङ्कितां मुहुः।
रूपं तदीयं च चराचरात्मकं पश्यन् सतां सङ्गमुदारधीश्चरेत्॥149॥

चापादिपञ्चायुधचिह्निताङ्गकान् समीक्ष्य हृष्टश्च हरिप्रियानसौ।
तथाविधान् भक्तिपरः समर्चयेत् सुवैष्णवाञ्जन्मफलादि संस्तुवन्॥150॥

पञ्चायुधाङ्का भुवि वैष्णवा ये मुखाग्रजक्षत्रियवैश्यशूद्राः।
स्त्रियस्तथाऽन्येऽपि च विष्णुरूपा जगत्पवित्रप्रपवित्रिणस्ते॥151॥

ते सर्वतीर्थाश्रयभूतदेहा देशे महाभागवता वसन्ति।
यत्रैव तद्दर्शनतत्स्थितिभ्यां जातं सुपुण्यं निखिलाघनाशनम्॥152॥

तदर्चनात् तत्पदनीरपानात् तताङ्गतेस्तत्प्रणतेर्विधानात्।
नृणां तदुच्छिष्टसुभोजनाच्च स्यात्कोटिजन्मार्जितपापनाशः॥153॥

तेषां निवासोऽथ निरूप्यतेऽधुना मोक्षप्रदः शास्त्रसुसम्मतोऽयम्॥
महामते वैष्णवभेदमुक्त्वा जिज्ञासुबोध्यं बहुधा विबुध्यताम्॥155॥

अशेषतीर्थेषु वसेत् समर्चयन् स तत्र तत्राविरभूदनुत्तमम्।
तथा तथा तं जगतामनन्यधीः पतिं चतुर्वर्गफलप्रदं हरिम्॥156॥

वैकुण्ठदेशे खलु वासुदेवमामोदसंज्ञे त्वथ कर्षणाह्वम्।
प्रद्युम्नमब्जाक्षमपि प्रमोदे सम्मोद ईशन्तु तथाऽनिरुद्धम्॥157॥

विष्णुं वरेण्यं शुभसत्यलोके पद्माक्षमित्थं त्वथ सूर्यमण्डले।
क्षीराब्धिमध्ये शुभशेषशायिनं श्वेते तथा द्वीपवरे च तारकम्॥158॥

तथा बदर्याभिध आश्रमे वरे सुरर्षिराजर्षिमहर्षिसेविते।
नारायणं तं निखिलाभिवन्द्यं मुनीशसेव्ये त्वथ नैमिषे हरिम्॥159॥

शालग्राममनोघदिव्यफलदं देवं हरिक्षेत्रतो-
ऽयोध्यायां रघुपुङ्गवं गुणनिधिं श्रीरामचन्द्रं प्रभुम्।
सत्स्थाने मथुराभिधाश्रमवरे श्रीबालकृष्णं परं
मायायां मधुसूदनं सुरनरध्येयांघ्रिपद्मं सदा॥160॥

काश्यां भोगिशयं सनातनमथावन्त्यामवन्तीपतिं
श्रीमद्द्वारवतीति नाम्नि शुभदे श्रीयादवेन्द्रं मुदा।
रम्ये श्रीव्रजनामके सुरनुतं गोपीजनानां प्रियं
ब्रह्मेशादिकिरीटसेवितपदाम्भोजं भुजङ्गाश्रयम्॥161॥

वृन्दावने सुन्दरनन्दसूनुं गोविन्दमेवं त्वथ कालियह्रदे।
गोवर्धने गोपसुवेषधारिणं तथा भवघ्नेऽपि च पद्मलोचनम्॥162॥

शौरिं तथा गोमत एव पर्वते तथा हरिद्वार ऋजुं जगत्पतिम्।
तीर्थे प्रयागे बत माधवाभिधं तथा गयायां तु गदाधरं परम्॥163॥

गङ्गासागरसङ्गमेऽतिशुभदे विष्णुं तथा राघवं
शश्वद् भूरिगुणालयं मुनिवृते श्रीचित्रकूटे विभुम्।
नन्दिग्राम उदारकीर्तिनिकरं श्रीराक्षसघ्नं प्रभुं
रम्ये श्रीमति विश्वरूपिणमथो क्षेत्रे प्रभासेऽमले॥164॥

श्रीकूर्मेऽचल उत्तमे च सदयं कूर्मं सुरेशेडितं
नीलाद्रौ पुरुषोत्तमं त्वथ महासिंहं च सिंहाचले।
श्रीमन्तं तुलसीवने तु गदिनं सर्वार्थदं तत्प्रिये
क्षेत्रे श्रीकृतशौचके तु सततं पापापहं चेश्वरम् ॥165॥

श्वेताद्रौ त्वथ सिंहरूपिणमथो श्रीधर्मपुर्यान्तथा
योगानन्दमशेषदेवसुनुतं श्रीकाकुले तु प्रभुम्।
देवैर्वन्द्यमथान्ध्रनायकमिह श्रीदं तथाऽहोबिले
तस्मिन् श्रीगरुडाद्रिसंज्ञ उचिते देवं हिरण्यार्दनम्॥166॥

श्रीविट्ठलं तं किल पाण्डुरङ्गे श्रीवेङ्कटाद्रौ तु रमासखञ्च।
नारायणं श्रीमति यादवाद्रौ नृसिंहमित्थं घटिकाचलेऽपि॥167॥

सुरेन्द्रवन्द्यं वरदं त्वहर्दिवं सुनिर्मले श्रीशुभवारणाचले।
काञ्च्यां तथा श्रीकमलायताक्षं समर्चनीयं बुधवैष्णवोत्तमैः॥168॥

तोताद्रिसंज्ञादिषु वैष्णवोत्तमैरेवं तथा तुङ्गशयाविकं प्रभुम्।
कार्यो निवासो नितरां शुभार्थिभिराराधयद्भिः सकलार्थदायिनम्॥169॥

कार्यो महात्मभिर्नित्यं कालक्षेपो मुमुक्षुभिः।
परमात्मपरैरित्थं वैष्णवैरथ कथ्यते ॥170॥

स्याच्चेदशक्तः शृणुयात्कुतश्चिद् ग्रन्थानमूञ्छुद्धतमाद् विशुद्धः।
श्रीरामसन्नामसुकीर्तनं च द्वयानुसन्धानमथो विदध्यात्॥172॥

दिव्येषु देशेषु सतां प्रसङ्गं तदीयकैङ्कर्यपरायणो वै।
यावच्छरीरान्तमहर्दिवं तत्कथामुदारां शृणुयाद् भवघ्नीम्॥173॥

तत्राप्शक्तास्तु कुटीरमात्रं विधाय कुर्युस्त्वथ राघवाद्रौ।
अन्यत्र वासं च गुरूपदिष्टान्मन्त्राञ्जपन्तोऽहंकारशून्याः॥174॥

भक्त्यादियुक्तस्य तथाऽनहङ्कृतेर्महात्मनस्तस्य निदेशपालनम्।
उपायमेतं चरमं निरन्तरं सुवैष्णवोऽयं विदधात्वतन्द्रितः॥175॥

तदर्थपुष्पप्रचयेन सन्ततं तथैव तन्मन्दिरमार्जनादिना।
तदीयनामाभ्यसनेन तन्मनाः क्षिपेत् स कालं नितरां निरालसः॥176॥

तीर्थेषु वासेन सतां महात्मनां समागमेनाथ तदर्चनेन।
जिज्ञासया तद्यशसः श्रवेण तच्छ्रवणेन स्मरणेन तस्य॥177॥

रामाय साङ्गाय सपार्षदाय सीतासमेताय सहानुजाय।
आम्नायवेद्याय विधाय शश्वत् कैङ्कर्यमीर्ष्यारहितः सुचित्तः॥178॥

तथाविधैस्तैः परमार्थभूतं सुवैष्णवैः प्राप्यमथोच्यते यत्।
जितेन्द्रियैरात्मरतैर्बुधाग्र्यैर्महत्तमैः स्वाभिमतार्थदोहम्॥179॥

श्रीमान् दिव्यगुणाब्धिरौपनिषदो हेतुः शरण्यः प्रभुः
देवेशो जगतामनादिनिधनो ब्रह्मादिदेवार्चितः।
तारार्कानलचन्द्रगोबहुमहः - सौदामिनीभासकोऽ-
जय्योवीरसपत्नशस्त्रनिचयैर्जेता च तेषां मुहुः॥180॥

नित्यो ब्रह्मविधायकश्च पुरुषस्तद्वेदबोधो बुधो
नित्यानां शरणं तपःप्रभृतिभिः सद्योगिनां दुर्लभः।
एकश्चेतनचेतनो भृतजगद् ध्येयः स्वतन्त्रो वशी स
प्राप्योऽस्ति मुमुक्षुभिः सुगुरुभिः सत्सङ्गिभिस्तत्परैः॥181॥

तथाविधं प्राप्यमथो सुवैष्णवः सुचिन्तयेन्नित्यमनुक्षणं प्रिय।
सदा सदाचाररतं गुरुं वरं ज्ञातुं भजेताखिलसंशयच्छिदम्॥182॥

सत्सङ्गतोऽसौ विगतस्पृहो मुहुः श्रीशं प्रपद्याऽथ गुरूपदेशतः।
कर्माखिलं सम्परिभुज्य चाऽऽत्मवान् प्रारब्धमेवं प्रहतान्यकर्म्मकः॥183॥

न्यासात् स्वतन्त्रेश्वरजातसद्दयानिर्लूनमायान्वय एव दैशिकः।
हार्दोत्तमानुग्रहलब्धमध्यसन्नाडीशुभद्वारबहिर्विनिर्गतः॥184॥

मार्ग ततः सोऽर्चिरुपैति मुक्तकस्तथाऽर्चिषोऽहो दिनतः सुरार्चितः।
आपूर्यमाणं विविधैस्तु वासरैः पक्षं प्रभूतोत्तमशर्मविज्वरः॥1185॥

पक्षादुदङ् मासमथो षडात्मकं तेभ्यश्च संवत्सरमब्दतो रविम्।
चन्द्रं ततश्चन्द्रमसोऽथ विद्युतं स तत्र तत्राखिलदेवपूजितः॥186॥

परं पदं सैवमुपेत्य नित्यममानवो ब्रह्मपथेन तेन।
सायुज्यमेव प्रतिलभ्य तत्र प्राप्यस्य सन्नन्दति तेन साकम्॥187॥

सीमान्तसिन्ध्वाप्लुत एव धन्यो गत्वा परब्रह्मसुवीक्षितोऽथ।
प्राप्यं महानन्दमहाब्धिमग्नो नाऽवर्तते जातु ततः पुनः सः॥188॥

सदानुसन्धेयमिमं त्रिकालं मुमुक्षुभिस्तत्परमार्थमित्थम्।
ज्ञात्वा न चैवास्ति सुवेदनीयं जिज्ञासुभिस्तैरवशिष्यमाणम्॥189॥

गुरुद्रुहे नो न शठाय चेदं न नास्तिकायोपदिशेत् कदाचन।
नावैष्णवायापि रहस्यमुत्तमं न दीनचित्ताय सुगोपनीयम्॥190॥

प्रशान्तचित्ताय जितेन्द्रियाय प्रहीणदोषाय यथोक्तकारिणे।
गुणान्वितायानुगताय सर्वदा प्रदेयमेतत्सततं मुमुक्षवे॥191॥

जितेन्द्रियः प्रपन्नस्तं बुध आत्मरतिर्हरिम्।
आप्नुयात् परमं स्थानं योऽनुतिष्ठेदिदं मतम्॥192॥

॥ इति॥

श्रीसीतारामाभ्यां नमः

श्रीस्वामिरामानन्दाचार्ययतिराजविरचितः

श्रीवैष्णवमताब्जभास्करः

मङ्गलाचरणम्

श्रीमन्तं श्रुतिवेद्यमद्भुतगुणग्रामाग्र्यरत्नाकरं
प्रेयःस्वेक्षणसंसुलज्जितमहीजाताक्षिकोणेक्षितम्।
[1]भक्ताशेषमनोऽभिवाञ्छितचतुर्वर्गप्रदं स्वर्द्रुमं
रामं स्मेरमुखाम्बुजं शुचिमहानीलाश्मकान्तिं भजे॥1॥

अन्वय

श्रुतिवेद्यम्, अद्भुतगुणग्रामाग्र्यरत्नाकरम्, प्रेयःस्वेक्षणसंसुलज्जितमहीजाताक्षिकोणेक्षितम्, भक्ताशेषमनोऽभिवाञ्छितचतुर्वर्गप्रदम्, स्वर्द्रुमम्, स्मेरमुखाम्बुजम्, शुचिमहानीलाश्मकान्तिम्, श्रीमन्तं रामं भजे।

अर्थ

मैं(स्वामी रामानन्दाचार्य) **श्रुतिवेद्यम्**-वेदों के द्वारा जानने योग्य **अद्भुतगुणग्रामाग्र्यरत्नाकरम्**[2]-आश्चर्यजनक, उत्तम गुणसमूहों के सागर **प्रेयःस्वेक्षणसंसुलज्जितमहीजाताक्षिकोणेक्षितम्**-प्रियतम श्रीराम के द्वारा देखे जाने से कुछ लज्जित सीता जी के कटाक्ष से निहारे जाते हुए **भक्ताशेषमनोऽभिवाञ्छितचतुर्वर्गप्रदम्**-भक्तों के मनोवाञ्छित धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्षरूप सभी फलों को प्रदान करने वाले **स्वर्द्रुमम्**-कल्पवृक्ष के समान **स्मेरमुखाम्बुजम्**[3]-कुछ खिले कमल के समान सुशोभित मुख वाले **शुचिमहानीलाश्मकान्तिम्**-स्वच्छ और उत्तम नीलमणि के तुल्य

1.भक्ताशेषमनोऽभिवाञ्छितचतुर्वर्गप्रदस्वर्द्रुमम् इति पाठान्तरम्। 2.अद्भुताः आश्चर्यजनकाः ये गुणाः, तेषां ग्रामाः समूहाः, अग्र्याः श्रेष्ठाः, अद्भुतगुणग्रामाः च ते अग्र्याः अद्भुतगुणग्रामाग्र्याः, तेषां रत्नाकरः समुद्रः इव। अद्भुतगुणग्रामाग्र्यरत्नाकरः, तम् अद्भुतगुणग्रामाग्र्यरत्नाकरम्। 3.स्मेरमुखाम्बुजम्-स्मेरम् ईषद्हास्यविशिष्टं मुखाम्बुजम्।

कान्ति से युक्त श्रीविग्रह वाले **श्रीमन्तम्**-श्रीसीता के सहित **रामम्**-श्रीरामचन्द्र का **भजे**-भजन(ध्यान) करता हूँ।

भाष्यकार का मङ्गलाचरण

येन व्याप्तमिदं सर्वं चेतनाऽचेतनात्मकम्।
विशुद्धसद्गुणौघं तं सीतारामं नमाम्यहम्।।1।।
सूत्रवृत्तिकृतौ नत्वा व्यासबोधायनौ मुनी।
भाष्यकर्तारमाचार्यं[1] प्रणमामि पुनः पुनः।।2।।

विद्याप्रदानथ गुरूंश्च कृतज्ञभावात् स्मृत्वा प्रणम्य पवनात्मजमातृगङ्गे।
कुर्वेऽस्मि वैष्णवमताम्बुजभास्करश्रीव्याख्यां यथामति वसन्तसमां सदाभाम्।।3।।

भाष्य

ध्येय भगवान् श्रीराम

ग्रन्थकार स्वामी रामानन्दाचार्य के द्वारा प्रस्तुत मंगलात्मक श्लोक में अपने आराध्य प्रभु श्रीसीतारामजी का ध्यान वर्णित है। श्लोक में आए पदों की व्याख्या क्रमशः प्रस्तुत है-

श्रुतिवेद्य

वेदों का वेदवेत्ता गुरु से ही अध्ययन करना चाहिए, प्रकारान्तर से नहीं। ब्रह्मचारी का गुरुमुख से सुनकर उच्चारण करना ही वेदाध्ययन कहलाता है-**गुरुमुखोच्चारणपूर्वकोच्चारणं वेदाध्ययनम्।** इसका फल वेदाख्य अक्षरराशि का ज्ञान है। इसके लिए 'वेदों को सदा गुरुपरम्परा से सुना जाता है' इसलिए उन्हें श्रुति कहते हैं-**'श्रूयते नित्यम् इति श्रुतिः।' मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्**(आ.श्रौ.सू.), इस श्रौतसूत्रवचन के अनुसार संहिता और ब्राह्मण दोनों ही वेद हैं। ऋक्, यजुष्, साम और अथर्व भेद से मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद के चार विभाग होते हैं। समग्र वेद जिस प्राप्य परब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं-**सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति।**(क.उ.1.2.15), सम्पूर्ण वेदों के द्वारा वेद्य मैं ही हूँ-**वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।**(गी. 15.15), जब वेदवेद्य, परब्रह्म, पुरुषोत्तम श्रीराम धराधाम पर दशरथनन्दन के रूप में अवतरित हुए, तब वेद स्वयं महर्षि वाल्मीकि को माध्यम

स्मेरं च तद् मुखं च स्मेरमुखम्। स्मेरमुखम् अम्बुजवत् यस्य सः स्मेरमुखाम्बुजः। विकसितकमलवत् मुखवान् इत्यर्थः, तं श्रीरामम्। 1. ब्रह्मसूत्रभाष्यकर्तारम् इत्यर्थः।

बनाकर श्रीमद्रामायण के रूप में प्रकट हुए-**वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे। वेदः प्राचेतसादासीत् साक्षाद् रामायणात्मना॥** इत्यादि शास्त्रवचन भगवान् श्रीमद्रामचन्द्र को वेदवेद्य कहते हैं।

वेदों का पूर्व भाग ब्रह्म के आराधनारूप कर्म का प्रतिपादन करता है और उत्तर भाग आराध्य ब्रह्म का प्रतिपादन करता है। पूर्व कर्मकाण्ड भाग में भी ब्रह्म के प्रतिपादक वाक्य हैं। पूर्वोत्तरविभाग तो प्रतिपाद्य विषय की अधिकता को लेकर किया गया है। पूर्वभाग में कर्म का अधिक प्रतिपादन होने पर भी वह प्रधान नहीं है। प्रधानता तो सर्वत्र ब्रह्म की ही है क्योंकि उसी को उद्देश्य करके सभी कर्म किये जाते हैं और उसके अनुग्रह से ही फल प्राप्त होते हैं इसलिए वहाँ भी प्रधान प्रतिपाद्य ब्रह्म ही है अतः 'पूर्वभाग का प्रधान प्रतिपाद्य कर्म है' यह कथन उचित नहीं। पूर्वभाग में कर्म का अधिक प्रतिपादन होने से प्रधान प्रतिपाद्य कर्म है, ऐसी भ्रान्ति होती है। पूर्वभाग में पठित मन्त्र कर्म में विनियुक्त होकर चरितार्थ हो जाते हैं तो वे ब्रह्म का प्रतिपादन कैसे कर सकते हैं? यह कथन निर्मूल है क्योंकि जैसे शीतनिवृत्ति करने पर भी अग्नि की दाहकता बनी ही रहती है। तृषानिवृत्ति के लिए लाया जा रहा जल से पूर्ण घट पथिक का मंगल करता ही है। वैसे ही कर्म में विनियुक्त होने पर भी मन्त्र ब्रह्म का प्रतिपादन करता ही है। पूर्वभाग में भी ब्रह्म के स्पष्ट बोधक अनेक वचन विद्यमान हैं।

वेदों का उत्तरवर्ती उपनिषद् भाग तो परमात्मा का प्रतिपादक है ही। कर्मकाण्डरूप पूर्वभाग में भी जो अग्नि, वायु, इन्द्र आदि देवताओं का प्रतिपादन है, वह अग्नि आदि देवताओं के अन्तरात्मा ब्रह्म का ही प्रतिपादन है, यह **तदेवाग्निस्तद् वायुः।**(तै.ना.उ.7) इस उपनिषद् वाक्य से ही ज्ञात होता है। इस प्रकार देवताओं के प्रतिपादक वचन तत्तद्देवता का प्रतिपादन करते हुए उनके अन्तरात्मा परमात्मा का प्रतिपादन करते हैं, इतना ही नहीं अपितु पूर्वभाग में भी परमात्मा के साक्षात् प्रतिपादक अनेक मन्त्र विद्यमान हैं।

कर्मभाग तथा ब्रह्मभाग ये दोनों व्याख्येय वेद के एक भाग हैं, इसलिए उनकी व्याख्यारूप कर्ममीमांसा और ब्रह्ममीमांसा ये दोनों एक ही शास्त्र हैं। व्याख्येय विषय के क्रम के अनुसार कर्ममीमांसा और ब्रह्ममीमांसा में

पूर्वापर क्रम होता है। ब्रह्मसूत्र के प्रथम वृत्तिकार महर्षि बोधायन ने कहा है कि जैमिनिविरचित षोडशाध्यायी[1] पूर्वमीमांसा के साथ महर्षि वेदव्यासविरचित चार अध्याय वाली उत्तरमीमांसा एक व्याख्येय वेद का व्याख्यान है, इसलिए उभय मीमांसा एक शास्त्र सिद्ध होते हैं-**संहितम् एतच्छारीरकं जैमिनीयेन षोडशलक्षणेन इति शास्त्रैकत्वसिद्धिः**।(बो.वृ)।

अप्राकृत गुणों के आश्रय

अद्भुत का अर्थ आश्चर्यजनक, गुणग्राम का अर्थ गुणसमूह, अग्र्य का अर्थ उत्तम और रत्नाकर का अर्थ समुद्र होता है। भगवान् श्रीरामचन्द्र के गुण अप्राकृत होने से अत्यन्त आश्चर्यजनक हैं, वे ऐसे उत्तम गुणों के सागर(आश्रय) होने से प्रस्तुत श्लोक में अद्भुतगुणग्रामाग्र्यरत्नाकर कहे जाते हैं। श्रीभगवान् के गुणग्राम का वर्णन आगे व्याख्या में किया जायेगा।

श्रीसीता के द्वारा दर्शनीय

भगवती श्रीसीताम्बा हल से क्षेत्र का कर्षण करते समय मही(पृथ्वी) से प्रकट हुई, इसलिए महीजाता कहलाती हैं। वे स्नेहाधिक्य के कारण अपने जीवनधन, प्राणप्रिय श्रीरामभद्र के मुखचन्द्र को सदा निहारती रहती हैं किन्तु प्रियतम की दृष्टि अपने ऊपर पड़ जाने से कुछ लज्जित हो जाती हैं, इस अवस्था में भी वे अपने कटाक्ष(आँख के कोने) से प्रेमास्पद का दर्शन करती रहती हैं, इस कथन से ग्रन्थकार ने युगल के विलक्षण स्नेह की प्रकर्षता को सूचित किया है। दर्शन की उत्सुकता की निवृत्ति सकृत् दर्शन से सम्भव है किन्तु दर्शन की पुनः पुनः अनुवृत्ति प्रेमास्पद की मुखमण्डलमाधुरी की अतिशय रमणीयता को अभिव्यक्त करती है। दृष्टि पड़ने पर नवविकसित कमल के समान श्रीरामचन्द्र की मुखछवि उत्तरोत्तर लावण्यमय प्रतीत होती है अतः श्रीकिशोरी जी को श्रीरघुनाथ जी के दर्शन से सतत नव नव आनन्दरस अनुभूत होता है, इसीलिए गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं कि जानकी जी जिस भाव से श्रीरघुनाथ जी को देख रहीं हैं,

---

1.आचार्य जैमिनि ने षोडशाध्यायी पूर्वमीमांसा की रचना की थी। शबरस्वामी ने द्वादशाध्यायी पर भाष्य लिखा था। शेष चार अध्याय संकर्ष (संकर्षण) काण्ड अथवा दैवत काण्ड कहे जाते हैं। शबरस्वामी भी मीमांसाभाष्य में **इति संकर्षे वक्ष्यते**।(शा.भा.10.4.32), **इति संकर्षे वक्ष्यति**।(शा.भा.12.2.11) इस प्रकार जैमिनिकृत संकर्षकाण्ड का उल्लेख करते हैं।

उस भाव का, स्नेह का और दर्शनजन्यसुख का वर्णन नहीं किया जा सकता-**रामहि चितव भायँ जेहि सीया। सो सनेहु सुखु नहिं कथनीया॥**(रा. च.मा.1.241.6)।

चतुर्वर्ग

भजनीय आराध्य प्रभु में अनुरक्ति को भक्ति कहते हैं और उसमें अनुरक्त को भक्त। भक्त को प्राप्त होने वाले धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चारों पुरुषार्थ चतुर्वर्ग कहलाते हैं। अब इनका वर्णन प्रस्तुत है-

पुरुषार्थ

पुरुष अपने अभिलषित पदार्थ की कामना करता ही रहता है, वह जिसकी कामना करता है, उसे पुरुषार्थ कहते हैं-**पुरुषेण अर्थ्यते प्रार्थयत इति पुरुषार्थः**। वह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष भेद से चार प्रकार का होता है।

1.धर्म

वेद के विधिवाक्यों से ज्ञात होने वाला कर्म ही धर्म कहलाता है-**चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः**(जै.सू.1.1.2)। अग्निहोत्र, तप, सत्यभाषण, वेदों का रक्षण, अतिथिसत्कार और बलिवैश्वदेव ये कर्म इष्ट कहलाते हैं। बावली, कूप, तालाव और देवमन्दिर का निर्माण तथा अन्नदान और उद्यान लगाना ये कर्म पूर्त कहलाते हैं-**अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चैव पालनम्। आतिथ्यं वैश्वदेवश्च इष्टमित्यभिधीयते॥ वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च। अन्नप्रदानमारामाः पूर्त्तमित्यभिधीयते॥**(अत्रि.सं.43-44) इस प्रकार वर्णित इष्टापूर्त्त कर्मों को धर्म कहा जाता है।

2.अर्थ

सुवर्ण, रजत, रुपया आदि को तथा इनसे प्राप्त होने वाले सभी प्रकार के भोग्य पदार्थों को अर्थ कहते हैं।

3.काम

सुख के भोग(अनुभव) को काम कहते हैं।

त्रिविध सुख

दुःख के समान सांसारिक सुख भी तीन प्रकार के होते हैं-1.आध्यात्मिक

सुख 2.आधिदैविक सुख 3.आधिभौतिक सुख।

आध्यात्मिक सुख

आध्यात्मिक सुख दो प्रकार के होते हैं- क. शारीरिक और मानसिक। वात, पित्त और कफ की समता के कारण शरीर के आरोग्य से होने वाले सुख शारीरिक सुख कहे जाते हैं तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या एवं द्वेष आदि विकारों के न होने पर मन के आरोग्य से होने वाले सुख मानसिक सुख कहे जाते हैं।

आधिभौतिक सुख

स्त्री, पुत्र, सेवक और पशु आदि से प्राप्त होने वाले सुख आधिभौतिक सुख कहलाते हैं।

आधिदैविक सुख

सर्दी, गर्मी, वर्षा और वायु से होने वाले तथा देवता के अनुग्रह से होने वाले सुख आधिदैविक सुख कहलाते हैं।

उक्त त्रिविध सुख देहात्मबुद्धि वाले प्राणियों की विषयों में भोग्यत्वबुद्धि उत्पन्न कर, उन्हें आकर्षित करते हुए बन्धन के हेतु होते हैं।

4.मोक्ष

प्रकृति के बन्धन से सर्वथा विनिर्मुक्त होकर निरतिशय आनन्दरूप परमात्मा का अनुभव करना ही मोक्ष कहलाता है।

उक्त चतुर्विध पुरुषार्थों में काम और मोक्ष सुखरूप होने से पुरुषार्थ होते हैं। धर्म और अर्थ तो सुख के साधन होने से पुरुषार्थ होते हैं, स्वरूपतः पुरुषार्थ नहीं होते अतः धर्म और अर्थ से काम और मोक्ष श्रेष्ठ हैं। उन दोनों में भी मोक्ष अधिक श्रेष्ठ है क्योंकि काम(भोग)रूप सुख दुःख से मिश्रित तथा विनाशी होता है और मोक्षरूप सुख दुःख के लेश से भी रहित तथा अविनाशी होता है। धर्म निष्कामभाव से अनुष्ठित होने पर अन्तःकरण की शुद्धिद्वारा मोक्ष का साधन होता है और सकाम भाव से अनुष्ठित होने पर भोग का साधन होता है। धर्म से अर्थ के द्वारा काम(वैषयिक सुख) प्राप्त होता है इसलिए काम से अर्थ निकट है अतः काम से पूर्व अर्थ का निर्देश करते हैं। धर्म से अर्थ की प्राप्ति होती है इसलिए अर्थ से भी पूर्व धर्म का

निर्देश होता है। उसकी अपेक्षा उत्तरोत्तर तीनों पुरुषार्थों की श्रेष्ठता होने पर भी उन सभी का मूल धर्म है अतः उसे प्रथम पुरुषार्थ माना जाता है और निरतिशय सुखरूप होने से मोक्ष को परम पुरुषार्थ।

मोक्ष का अव्यवहित साधन भक्तियोग ही है। कर्मयोग और ज्ञानयोग तो भक्ति के द्वारा मोक्ष के साधन होते हैं। परम पुरुषार्थ की प्राप्ति होने पर भक्ति फलरूप से सतत अबाधित गति से रहती है। कैसे? मुक्तावस्था में हेयप्रत्यनीक, कल्याणैकतान, सर्वात्मा ब्रह्म का अनुभव होता है। प्रिय वस्तु का अनुभव प्रीतिरूप होता है। ब्रह्म निरतिशय प्रिय है अतः उसका अनुभव भी निरतिशय प्रीतिरूप होता है, यह अनुभव ही भक्ति है। यह साधनावस्था में परोक्ष स्मृतिरूप होती है, इसके पश्चात् प्रत्यक्ष के समान आकार वाली और मुक्ति दशा में प्रत्यक्षस्वरूपा हो जाती है। इस अवस्था में परमात्म-अनुभव के प्रतिबन्धक बन्धनों का सर्वथा अभाव होने से मुक्तात्मा के लिए परमात्मा करतल आमलकवत् सदा प्रत्यक्ष ही रहते हैं, इसीलिए महाभारत में **मुक्तानां परमा गतिः।**(वि.स.ना.15) इस प्रकार भगवान् मुक्तों के परम आश्रय कहे गये हैं। निरतिशय प्रीतिरूपापन्न प्रत्यक्षात्मिका भक्ति से ही मुक्त के लिए भगवान् सदा प्रत्यक्ष रहते हैं।

फलप्रद

भगवान् श्रीरामचन्द्र ही आराधित होकर भक्तों को मनोवांच्छित धर्मादि चतुर्विध फल प्रदान करते हैं।

इन्द्र आदि देवताओं के सम्बन्धीरूप से प्रतीत होने वाले, अभी तक किये गये तथा आगे किये जाने वाले विविध प्रकार के श्रौत-स्मार्त सभी कर्मों को भगवान् अपनी आराधनारूप से स्वीकार करते हैं और इष्टफल देकर लोक के आश्रय होते हैं-**इष्टापूर्तं बहुधा जातं जायमानं विश्वं बिभर्ति भुवनस्य नाभिः।**(तै.ना.उ.6)। यह मन्त्र भगवान् को सभी कर्मों का फलप्रदाता कहता है। सभी कर्मों के द्वारा समाराध्य परमात्मा ही अग्नि हैं, वे वायु हैं, वे सूर्य हैं, वे चन्द्रमा हैं-**तदेवाग्निस्तद्वायुस्तत् सूर्यस्तदु चन्द्रमाः।**(तै.ना.उ.7)। यहाँ पर अग्नि आदि देवता भगवान् के शरीर होने के कारण देवताओं के वाचक अग्नि आदि शब्दों से भगवान् ही कहे गये हैं। जो जो भक्त मेरे शरीररूप जिस जिस देवता की श्रद्धापूर्वक अर्चना

करना चाहता है, मैं उस उस भक्त की श्रद्धा को उसमें ही अचल कर देता हूँ। वह उस श्रद्धा से युक्त होकर उस देवता की आराधना में प्रवृत्त होता है और उस आराधना के कारण मेरे द्वारा ही प्रदत्त फलों को प्राप्त करता है-**यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति। तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्। स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते। लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्॥**(गी.7.21-22), मैं सभी यज्ञों के द्वारा आराध्य हूँ और सभी कर्मों का फल प्रदान करने वाला हूँ-**अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।**(गी.9.24), हे नाथ! आप जिन स्वधर्मनिष्ठ मनुष्यों के द्वारा आराधित होते हैं, वे अपनी मुक्ति के लिए इस माया को पूर्णतः पार कर जाते हैं-**यैस्स्वधर्मपरैर्नाथ! नरैराराधितो भवान्। ते तरन्त्यखिलामेतां मायामात्मविमुक्तये।**(वि.पु.5.30.16), जिस परमात्मा से प्राणियों की उत्पत्ति आदि कार्य होते हैं, जिससे यह जगत् व्याप्त है, मनुष्य अपने कर्मों से उसकी आराधना करके उसकी प्राप्तिरूप सिद्धि को प्राप्त करता है-**यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्। स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥**(गी.18.46), यज्ञ और तप के द्वारा आराध्य मैं हूँ-**भोक्तारं यज्ञतपसाम्**(गी.5.29) इस विवेचन से सिद्ध होता है कि सभी कर्म इन्द्र आदि देवताओं के अन्तरात्मा भगवान् की आराधना रूप हैं। श्रीभगवान् सर्वज्ञ हैं इसलिए वे भक्तों के द्वारा की गयी अपनी आराधनाओं को जानते हैं। वे सर्वसमर्थ हैं, इसलिए फल देने का सामर्थ्य भी रखते हैं। जिस प्रकार स्वामी अपने शरीर की सेवा करने वाले सेवकों पर प्रसन्न होता है, उसी प्रकार श्रीभगवान् अपने शरीररूप इन्द्रादि देवताओं की आराधना करने वालों पर प्रसन्न होते हैं। इस प्रकार देवाराधनरूप कर्मों के द्वारा उनके अन्तरात्मा भगवान् स्वयं आराधित होकर उनके द्वारा अभीष्ट फल प्रदान करते हैं।

शंका-पूर्वकल्प में कर्मों के द्वारा आराधित देवता उस कल्प के अन्त में अपने अधिकार से च्युत हो जाते हैं। अन्य कल्प में उस पद पर स्थित जो देवताविशेष होते हैं, वे पूर्वकल्प में आराधित नहीं होते। आराधित देवता ही फलप्रदान करने वाले होते हैं, यह नियम है। अतः पूर्वकल्प में किये गये कर्म के फल की उत्तर कल्प में प्राप्ति कैसे संभव होती है?

समाधान-श्रुति और स्मृति मेरी ही आज्ञा हैं-**श्रुतिस्स्मृतिर्ममैवाज्ञा** इस प्रकार श्रुति और स्मृतिशास्त्र जिनके नियत आदेशरूप कहे गये हैं, वे एक परमात्मा ही सभी कर्मों में प्रधानतः समाराध्य हैं, पूर्वोत्तर कल्पों में विद्यमान सभी देवताओं के अन्तर्यामी हैं, वे कभी भी अपने अधिकार से च्युत नहीं होते अपितु सदा सर्वज्ञ और सर्वसमर्थ होकर ही रहते हैं। ऐसे सर्वेश्वर सर्वात्मा श्रीभगवान् ही पूर्वोत्तरकल्प में रहने वाले अधिकारी को फल प्रदान करते हैं अतः इस प्रसंग में उक्त शंका का अवकाश नहीं रहता।

भगवान् ही भक्तों को भोग और अपवर्गरूप सभी फल प्रदान करते हैं। सभी प्रकार के फल चाहने वाले भक्तों के आराध्य श्रीभगवान् हैं, ऐसा उन्होंने स्वयं गीता में कहा है। हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन! आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी ये चार प्रकार के पुण्यात्मा मनुष्य मेरा भजन करते हैं-**चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन। आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥**(गी.7.16)। नष्ट हुए भोगों को पुनः चाहने वाला भक्त आर्त कहलाता है। अप्राप्त भोगों की कामना करने वाला भक्त अर्थार्थी कहलाता है। प्रकृति के सम्बन्ध से रहित आत्मस्वरूप के अनुभव करने की इच्छा करने वाला जिज्ञासु भक्त कहलाता है। ब्रह्मात्मक आत्मस्वरूप को जानने वाला और उसे ही पर्याप्त न मानकर श्रीभगवान् को परम प्राप्य मानने वाला ज्ञानी भक्त कहलाता है। चारों भक्तों को श्रीभगवान् ही फल प्रदान करते हैं। श्रीभगवान् सकाम कर्म करने वालों को अभीष्ट विविध फलों की प्राप्ति कराते हैं, निष्काम कर्म करने वालों को अन्तःकरण की निर्मलतारूप फलप्रदान करते हैं। जिज्ञासु भक्त को ज्ञानयोग का फल आत्मानुभूति प्रदान करते हैं और ज्ञानी भक्त को भक्तियोग का फल मोक्ष प्रदान करते हैं। इस प्रकार कर्म, ज्ञान और उपासना का फलप्रदान करने वाले भगवान् ही हैं। भगवान् ही लौकिक और अलौकिक सभी प्रकार के आनन्द प्रदान करते हैं-**एष ह्येवानन्दयाति।**(तै.उ.2.7.1) यह श्रुति अलौकिक आनन्दरूप मोक्ष के भी दाता श्रीभगवान् को कहती है। **फलमत उपपत्तेः**(ब्र.सू.3.2.37) यह ब्रह्मसूत्र सर्वफलप्रदाता श्रीभगवान् को कहता है।

स्वर्द्रुम

स्वर्द्रुम का अर्थ कल्पवृक्ष होता है। फल देने में भगवान् श्रीराम कल्पवृक्ष के समान हैं, अतः प्रस्तुत श्लोक में वे स्वर्द्रुम कहे गये हैं। जैसे स्वर्द्रुम

अपनी छाया के आश्रित व्यक्ति को अभीष्ट पदार्थ प्रदान करता है, वैसे ही श्रीरामभद्र भी अपनी भक्ति के आश्रित व्यक्ति को सभी अभीष्ट प्रदान करते हैं। भगवान् श्रीराम कल्पवृक्षों के समूहरूप हैं इसलिए श्रीरामरक्षास्तोत्र में **आरामः कल्पवृक्षाणाम्।**(श्रीरा.स्तो.16) इस प्रकार उन्हें कल्पवृक्षों का उद्यान कहा गया है। कल्पवृक्ष त्रिवर्ग को देकर संसारबन्धन का ही हेतु होता है, वह आत्यन्तिक शान्ति नहीं दे सकता किन्तु श्रीरामचन्द्र भक्त के लिए उसे भी अनायास ही प्रदान करते हैं, यह उनका वैशिष्ट्य है।

स्मेरमुखाम्बुज

कुछ विकसित कमल के समान शोभायमान मुख वाले श्रीरामचन्द्र स्मेरमुखाम्बुज कहलाते हैं। श्रीमुख की उपमा पूर्ण विकसित कमल से न कहकर कुछ विकसित कमल से कहने पर ईषत् मन्द हास्य से युक्त कमलसदृश मुखमण्डल अर्थ द्योतित होता है। महर्षि वाल्मीकि ने कहा है कि श्रीरामभद्र मन्दहासपूर्वक सबसे पहले बोलते हैं-**स्मितपूर्वाभिभाषी।**(वा.रा.2.2.42), जैसे प्रातःकालिक सूर्य की किरणों से ईषत् विकसित कमल अत्यन्त रमणीय प्रतीत होता है, वैसे ही मन्द हास्य से विशिष्ट श्रीमुख अत्यन्त रमणीय प्रतीत होता है, अतएव निरतिशय आह्लाद की जनक मुखछवि को निहारते हुए प्रेमी भक्त अपनी सुधबुध भूलकर श्रीभगवान् के हाथों में सदा के लिए बिक जाते हैं।

श्रीरामभद्र प्रेमी भक्त को देखकर स्वागत करते हुए मन्दहास करते हैं। जिस प्रकार कमलपुष्प सूर्योदय होने पर धीरे धीरे दलों को खोलता हुआ खिलता है, उसी प्रकार श्रीभगवान् अत्यंन्त सुकुमार होने से धीरे धीरे मुख को खोलते हुए मन्दहास करते हैं। हास-काल में दन्तावली और अधर दोनो चमक उठते हैं। इस मन्दहास में शुक्ल दन्तपंक्ति की कान्ति अन्दर की ओर चमकती है और रक्त अधर की कान्ति बाहर चमकती है। सावधानी से देखने पर दन्तपंवित अपनी कान्ति से प्रेमीजनों के चित्त को हरने वाली उज्ज्वल मोतियों की पंक्ति जैसी प्रतीत होती है। आकाश में स्थित विद्युत क्षण भर चमक कर शान्त हो जाती है किन्तु मुखस्थ विद्युत लोकविलक्षण है क्योंकि यह स्थिर होकर सदा चमकती रहती है। यह बाहर लाल कान्ति को प्रसारित करती है और भीतर शुद्ध, स्वच्छ कान्ति ये युक्त होकर प्रकट होती है।

श्रीरामचन्द्र का मुखाम्बुज अत्यन्त नयनाभिराम है। पूर्णिमा के चन्द्रमण्डल से भी उसकी उपमा नहीं दी जा सकती। चन्द्रमण्डल चतुर्दिक प्रभा को फैलाता है, स्वयं तेज से व्याप्त होकर रहता है तथापि वह क्षय और कलंक से युक्त होता है। यदि वह क्षय और कलंक से रहित होकर चमके तो भी श्रीराम के मुखमण्डल के समान नहीं हो सकता क्योंकि उसका सौन्दर्य असीमित है और चन्द्रमण्डल का सीमित। श्रीरामभद्र के कमलवत् मुखमण्डल में कमल के समान दोनों नेत्र मुख की सुषमा में और भी वृद्धि करते हैं, उसमें मूंगे के समान अधर, धनुष के समान दोनों भौहें, स्वच्छ मोतियों के समान दन्तावली, पल्लवों के समान दोनों कान तथा अष्टमी की चन्द्र कला के समान शीतल और प्रशस्त ललाट ये सभी अंग अपनी असाधारण कान्ति से युक्त होकर प्रकाशित हो रहे हैं, जिससे मनोहार मुखमण्डल अत्यन्त आकर्षक प्रतीत होता है।

शुचिमहानीलाश्मकान्ति

भगवान् श्रीमद्रामचन्द्र भक्तों के चित्त का आलम्बन बनने के लिए सदा दिव्यमंगलविग्रह से युक्त होकर रहते हैं, उनका श्रीविग्रह विशुद्ध और उत्तम नीलमणि के समान मनोहर नील कान्ति से युक्त है, इसलिए वे शुचिमहानीलाश्मकान्ति कहे जाते हैं। शास्त्रों में श्रीविग्रह का वर्ण कहीं नील कहा जाता है और कहीं श्याम। विग्रह के लिय प्रयुक्त श्याम शब्द नील अर्थ में ही है, ऐसा जानना चाहिए। कहीं पर प्रगाढ नील वर्ण ही कृष्ण(श्याम) शब्द से कहा जाता है, तब नील वर्ण आकर्षक और प्रिय होने पर भी कृष्ण वर्ण वैसा नहीं होता। शास्त्रों में भगवान् के श्रीविग्रह का नव दूर्वादल, नव नीलनीरज, नव नीलनीरद और अतसीगुच्छ के सदृश नील वर्ण कहा जाता है, किन्तु इन सभी का नीलवर्ण कान्ति से युक्त नहीं होता, पर नीलाश्म(नीलमणि) का नीलवर्ण कान्ति से युक्त होता है, इसीलिए ग्रन्थकार नीलाश्म की कान्ति के समान श्रीरामभद्र का नील वर्ण कहते हैं।

श्रीमान्

नारियों में उत्तम श्रीसीताजी श्री की श्री, कीर्ति की कीर्ति और क्षमा की क्षमा हैं-**श्रियाः श्रीश्च भवेदग्र्या कीर्त्याः कीर्तिः क्षमाक्षमा।**(वा.रा. 2.44.15), **वसुधाया हि वसुधां श्रिया श्रीं भर्तृवत्सलाम्॥**(वा.रा.6.111.

21), **सतीं दीख कौतुक मख जाता। आगें रामु सहित श्रीभ्राता॥**(रा.च.मा.1.53.4)। **हंसे रामु श्री अनुज समेता। परम कौतुकी कृपा निकेता॥**(रा.च.मा.6.116.8)। **सिंहासन अति उच्च मनोहर। श्री समेत प्रभु बैठे ता पर॥**(रा.च.मा.6.118.4)। **यह बर मागऊँ कृपानिकेता। बसहु हृदयँ श्री अनुज समेता॥**(रा.च.मा.3.12.10) इत्यादि शास्त्रवचन 'श्री' शब्द से सीताम्बा का कथन करते हैं, उनसे सदा युक्त होने के कारण भगवान् श्रीराघव श्रीमान् कहे जाते हैं।

प्रथम मंगलश्लोक से श्रीराम की ध्येय छवि का निरूपण करके अब विघ्ननिवृत्तिपूर्वक मंगलप्राप्ति के लिए उनके आयुधों से प्रार्थना की जाती है-

[1]प्रत्यूहव्यूहभङ्गं विदधद् उरुबलश्शक्तिमान् सर्वकारी
भूरिश्रेयःप्रतापो मुनिवरनिकरैः स्तूयमानो विमानः।
रक्षोदैत्यादिनाशी क्षुभितजलनिधिर्लोकजिल्लोकमान्यो
धन्यो नो मङ्गलौघं सपदि [2]स कुरुताद् रामशस्त्रास्त्रसंघः॥2॥

अन्वय

शक्तिमान्, सर्वकारी, भूरिश्रेयःप्रतापः, मुनिवरनिकरैः स्तूयमानः, विमानः, रक्षोदैत्यादिनाशी, क्षुभितजलनिधिः, लोकजित्, लोकमान्यः, धन्यः उरुबलः सः रामशस्त्रास्त्रसंघः प्रत्यूहव्यूहभङ्गं विदधत् नः सपदि मङ्गलौघं कुरुतात्।

अर्थ

जो **शक्तिमान्**-शक्तियों से युक्त **सर्वकारी**-सभी कार्य करने वाला **भूरिश्रेयःप्रतापः**-प्रचण्ड, कल्याणमय प्रताप वाला **मुनिवरनिकरैः**-श्रेष्ठ मुनिवृन्दों के द्वारा **स्तूयमानः**-संस्तुत (तथा) **विमानः**-अभिमानरहित **रक्षोदैत्यादिनाशी**-राक्षस और दैत्यादि का नाशक **क्षुभितजलनिधिः**-सागर को भी क्षुभित करने वाला **लोकजित्**-सर्वलोकविजेता (और) **लोकमान्यः**-सभी लोक के निवासियों के द्वारा सम्मानित है, (ऐसा) **धन्यः**-धन्य **उरुबलः**[3]-अपरिमित वेग वाला **सः**-वह **रामशस्त्रास्त्रसंघः**[4]-श्रीराम का

1.अयं श्लोकः क्वचित् तृतीयश्लोकरूपेण पठ्यते। 2.अत्र सुकुरुताद् इति पाठान्तरः। 3.उरु महद् बलं वेगो यस्य स महावेगवानित्यर्थः।(प्रभा)। 4.शस्त्राणि च अस्त्राणि च शस्त्रास्त्राणि। रामस्य शस्त्रास्त्राणि रामशस्त्रास्त्राणि, तेषां संघः समुदायः, रामशस्त्रास्त्रसंघः।

शस्त्र और अस्त्र का समुदाय **प्रत्यूहव्यूहभङ्गम्**-विघ्नसमूह का नाश **विदधत्**-करते हुए **नः**-हम सभी का **सपदि**-शीघ्र **मङ्गलौघ**-मंगल **कुरुतात्**-करे।

भाष्य

श्रीरामचन्द्र के अस्त्र और शस्त्रों से प्रार्थना

प्रस्तुत श्लोक में उरुबलः, शक्तिमान् आदि पद 'रामशस्त्रास्त्रसंघः' के विशेषण हैं। **रामशस्त्रास्त्रसंघः** का अर्थ है-श्रीराम के अस्त्र और शस्त्रों का समूह अर्थात् उनके विविध प्रकार के आयुध। आयुध तीन प्रकार के होते हैं-1.हाथ में लेकर चलाये जाने वाले तलवार, भाला आदि। 2.हाथ से फेंककर चलाये जाने वाले चक्रादि। 3.यन्त्र से फेंककर चलाये जाने वाले बाणादि। उक्त मंगलात्मक श्लोक में समस्त भगवदायुधों के वाचक अस्त्र और शस्त्र ये दो शब्द प्रयुक्त हैं। 'असु क्षेपणे' धातु से निष्पन्न अस्त्र शब्द का अर्थ है-फेंककर चलाए जाने वाले सभी प्रकार के आयुध। अस्त्र से भिन्न सभी प्रकार के आयुध शस्त्र कहलाते हैं। श्रीराम के आयुध सामान्य नहीं हैं, भगवत्पार्षदों ने ही श्रीअंगों के शीतल-स्निग्ध स्पर्श को प्राप्त कर उनकी सेवा सम्पन्न करने के लिए दिव्य आयुधों को शरीररूप से स्वीकार किया है। वे सभी प्रकार से उनके वशवर्ती होकर आदेश की प्रतीक्षा करते रहते हैं और उनके आदेशानुसार कार्य सम्पन्न करके पुनः उनकी सेवार्थ वापस आ जाते हैं।

श्रीरघुनाथ जी के अस्त्र और शस्त्र विविध-विचित्र शक्तियों से युक्त हैं, इसी कारण अपने स्वामी के अभिप्रायानुसार अनेकरूप धारण करके भी शत्रुसंहारादि सभी प्रकार के कार्य करने वाले हैं। वे अमोघ हैं, उनका प्रयोग कभी निष्फल नहीं होता। उनका प्रताप प्रचण्ड है इसलिए कोई भी प्रतिकार नहीं कर सकता। प्रचण्ड प्रताप के कारण ही वालिवध से पूर्व उन्होंने सात ताल के वृक्षों को एक साथ वींध दिया और इसी कारण इन्द्रपुत्र जयन्त को इन्द्र, ब्रह्मा और शिव भी संरक्षण प्रदान नहीं कर सके। श्रीरघुवीर के आयुध प्रचण्ड प्रताप वाले होने पर भी अकल्याणकर नहीं हैं, वे सदा कल्याण ही करते हैं, अतः अन्ततः जयन्त को श्रीरामशरणागति भी प्राप्त हुई। यजुर्वेद में श्रीरामचन्द्र के धनुष का प्रताप इस प्रकार वर्णित

है-**सुपर्णं वस्ते मृगो अस्या दन्तो गोभिः संनद्धा पतति प्रसूता। यत्रा नरः सं च वि च द्रवन्ति तत्रास्मभ्यमिषवः शर्म यंसन॥**(य.सं.29.48)। **सुपर्णम्**-सुपूजित भगवदायुध बाण को **वस्ते**-धारण किया जाता है। **अस्याः**-इस बाण का **दन्तः**-अग्रभाग **मृगः**-शत्रुओं को खोज खोज कर मारने वाला है। यह बाण **गोभिः**-वेदमन्त्रों से **सन्नद्धाः**-युक्त और **प्रसूता**-भगवत्प्रेरित होकर **पतति**-शत्रुओं को मारने के लिए गिरता है। **यत्र**-जब **विद्रवन्ति**-शत्रु भाग जाते हैं **च**-और **नरः**-भक्तगण **संद्रवन्ति**-भक्ति के योग्य हृदय वाले बनते हैं, **तत्र**-तब **इषवः**-बाण **अस्मभ्यम्**-हम सभी भक्तों को **शर्म**-भगवद्दर्शनरूप आनन्द **यंसन**-प्रदान करें।

वीर श्रीराम के अस्त्र ने वाली के लिए साकेतधाम की प्राप्ति के मार्ग (साधन) तत्त्वज्ञान को प्रकाशित किया, उनके धनुष से छोड़े गये उस बाण ने उसे परम पद की प्राप्ति करायी-**तदस्त्रं तस्य वीरस्य स्वर्गमार्गप्रभावनम्। रामबाणासनक्षिप्तमावहत् परमां गतिम्॥**(वा.रा.4.17.8) इस प्रकार महर्षि वाल्मीकि श्रीराम के अस्त्र को ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति कराके मोक्ष का साधन कहते हैं, उनके आयुध शत्रुसंहारक ही नहीं अपितु सकल मनोवांछित पदार्थों की प्राप्ति के साधन हैं अतः **रामः शस्त्रभृतामहम्।** (गी.10.31) इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीरामचन्द्र के शस्त्रभृत्त्व(आयुध धारीपन) को विभूति कहा गया है। **शस्त्रभृतां रामः अहम्। शस्त्रभृत्त्वम् अत्र विभूति, अर्थान्तराभावात्।**(गी.रा.भा.10.31)श्रीराम और श्रीकृष्ण का अभेद है, अतः वे स्वयं अपनी विभूति नहीं हो सकते इसलिए यहाँ शस्त्रभृत्त्व को ही विभूति कहना अभीष्ट है।

भक्तों के विघ्ननिवारण के लिए जैसे भगवान् आराध्य होते हैं, वैसे ही उनके आयुध भी आराध्य होते हैं इसलिए श्रेष्ठ मुनिवृन्दों के द्वारा उनकी स्तुति की जाती है। यजुर्वेदसंहिता में श्रीराम के बाण की स्तुति इस प्रकार की गयी है-**ऋजीते परिवृङ्ग्धि नोश्मा भवतु नस्तनूः। सोमो अधिब्रवीतु नोऽदितिः शर्म यच्छतु॥**(य.सं. 29.49)। **ऋजीते**-हे सरल मार्ग में चलने वाले बाण! **नः**-हम सभी को **परिवृङ्ग्धि**-पापजनक कामादि शत्रुओं से बचाओ। **नः**-हम सबका **तनूः**-शरीर **अश्मा**-पाषाण के समान दृढ़ **भवतु**-होवे। **सोम**-चन्द्रमा के समान शीतल बाण **नः**-हम सब का **अधीब्रवीतु**-सम्यक् मार्ग दर्शन करे। **अदितिः**-सूर्य के समान गति वाला बाण **नः**-हम सभी को

शर्म-मोक्षरूप सुख **यच्छतु**-प्रदान करे।

अनन्त पराक्रमादि गुणों से सम्पन्न उक्त आयुध तीनों लोकों का नाश करने में समर्थ हैं, तथापि श्रीरामभद्र के अंग का संग होने से वे विगलित अभिमान हैं। 'रक्षतीति रक्षः, रक्षः एव राक्षसः **प्रज्ञादिभ्यश्च**(अ.सू.5.4.38) इति सूत्रेण स्वार्थेऽण्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार रक्षा करने वाले को राक्षस कहते हैं, इस विषय में श्रीमद्रामायण के उत्तरकाण्ड(4.9-13) में उपलब्ध कथा इस प्रकार है-सृष्टिकाल में ब्रह्मा जी ने प्राणियों को उत्पन्न किया, उनमें से कुछ ने उनसे कहा कि हम रक्षा करेंगे, तब सृष्टिकर्ता ने उन्हें राक्षस नाम प्रदान किया। इनका कर्तव्य रक्षा होने से ही श्रीविष्णुपुराण (2.10) में भगवान् भुवन भास्कर के रथ में ऋषि, यक्ष और गन्धर्वों के साथ राक्षस की भी उपस्थिति कही गयी है। इस विवरण से स्पष्ट है कि कालान्तर में तामस आचरण के कारण यह शब्द निन्दनीय अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। दिति की संतानें दैत्य कहलाती हैं और दनु की दानव। ये तीनों सुरविरोधी होने से असुर भी कहलाते हैं। इन कुलों में भी प्रह्लाद, बलि, विभीषण आदि दैवीसंपदासम्पन्न हरिभक्त हुए हैं किन्तु असुर सामान्यतः आसुरी सम्पदा से युक्त होते हैं और हरिभक्तों को त्रास देते रहते हैं, इसलिए भगवदायुध त्रासकर्ता असुरों के संहारक होते हैं।

परब्रह्म श्रीरामचन्द्र सदा दिव्य आयुधों से अलंकृत रहते हैं किन्तु लीला
अवतारकाल में श्रीविश्वामित्र आदि के द्वारा प्रदत्त आयुधों को भी ग्रह
करते हैं। श्रीविश्वामित्र के द्वारा अस्त्र-शस्त्रों को ग्रहण करने की व
श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण के बालकाण्ड(27-28 सर्ग) में वर्णित
जिसके सम्पर्क से प्रचण्ड अग्नि भी शान्त हो जाती है, जो किसी
क्षुभित नहीं होता, ऐसे विशाल, अगाध, अक्षोभ्य सागर को भी श्रीर
के आयुध क्षुभित कर देते हैं। उन्होंने लंका जाते समय समुद्र से
याचना की थी किन्तु उसके विफल हो जाने पर श्रीराम ने कु
कहा कि हे लक्ष्मण! तुम मेरे धनुष तथा विषधर सर्पों के सम
आओ, मैं समुद्र को सुखा डालूँगा, फिर वानरगण पैदल ही लं
मैं आज कुपित होकर अक्षोभ्य सागर को भी क्षुभित कर दूँगा।
तरंगें उठती रहती हैं फिर भी यह सदा अपने तट की मर्यादा
रहता है किन्तु मैं अपने बाणों से इसकी मर्यादा को नष्ट क

दानवों से भरे इस महासागर में हलचल मचा दूँगा-**चापमानय सौमित्रे शरांश्चाशीविषोपमान्। समुद्रं शोषयिष्यामि पद्भ्यां यान्तु प्लवंगमाः॥ अद्याक्षोभ्यमपि क्रुद्धः क्षोभयिष्यामि सागरम्। वेलासु कृतमर्यादं सहस्रोर्मिसमाकुलम्॥ निर्मर्यादं करिष्यामि सायकैर्वरुणालयम्। महार्णवं क्षोभयिष्ये महादानवसंकुलम्॥**(वा.रा.6.21.22-24) इत्यादि प्रकार से श्रीरामायण में श्रीराम के पराक्रमी बाणों द्वारा जलनिधि का क्षुभित होना वर्णित है।

श्रीरामचन्द्र के अस्त्र-शस्त्र त्रिलोकविजेता हैं, उन्होंने देवताओं के लिए भी अवध्य राक्षसराज रावण का वध करके अपने स्वामी को तीनों लोकों पर विजय दिलायी। वे असुरसंहार और भक्तपरित्राण करने से सभी लोक निवासियों के द्वारा सम्मानित होते हैं। वे श्रीराघवेन्द्र सरकार के अतिशय ' व कोमल करकमलों द्वारा धारण, स्पर्श, आकर्षण व छोड़े जाने होते हैं। श्रीराम के आयुधों का वेग असीमित है, वह एक क्षण का भी भेदन कर सकता है। वह दुर्धष है, उसका निवारण ' कर सकता।

चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति के प्रतिबन्धक होते हैं, उनकी गें का विनाश अनिवार्य है, उनके विनाशक श्रीरामचन्द्र प्त्र हैं इसलिए उनसे विघ्नविनाश की प्रार्थना की निवृत्त होने पर पुरुषार्थ की प्राप्ति अवश्यंभावी कभी न हो अतः श्रीराम के अस्त्र और शस्त्रों त्नप्राप्ति की प्रार्थना की जाती है। श्रीरामचन्द्र गचार्य और अध्येता छात्र सभी के विघ्नों करें। वेदों में उनके आयुधों का अंकन **ग गा धन्वनाऽऽजिं जयेम धन्वना कृणोति धन्वना सर्वाः प्रदिशो** ीरामायुध धनुषबाण से अंकित र के विरोधी पापों का नाश गादि समस्त विकारों को न्द्रियों को **जयेम**-जीतेंगे ..। प्राप्ति के मार्ग को

जयेम-प्राप्त कर लेंगे। **धनु**-हमारे प्रभु का धनुष ही **शत्रोः**-अनादि अज्ञान रूप शत्रु का कार्य **कामम्**-इच्छा का **अपकृणोति**-नाश करता है। हम सभी **धन्वना**-धनुरंकन के प्रभाव से **प्रदिशः**-सभी दिशाओं में विद्यमान नाना प्रकार की योनियों में जन्म देने में समर्थ सभी कर्मों का, **जयेम**-आत्यन्तिक नाश कर देंगे।

श्रीराम के आयुधों से प्रार्थना के उपरान्त अब निखिल सम्पदा प्रदान करने वाली जगदम्बा, जनककिशोरी, भगवती श्रीसीता जी से प्रार्थना की जाती है-

[1]ऐश्वर्यं यदपाङ्गसंश्रयमिदं भोग्यं दिगीशैर्जग-
च्चित्रं चाखिलमद्भुतं शुभगुणा वात्सल्यसीमा च या॥
विद्युत्पुञ्जसमानकान्तिरमितक्षान्तिः सुपद्मेक्षणा
दत्तान्नोऽखिलसम्पदो जनकजा रामप्रिया साऽनिशम्॥3॥

अन्वय

दिगीशैः भोग्यं चित्रम् अद्भुतम् ऐश्वर्यं च इदम् अखिलं जगत् यदपाङ्गसंश्रयम्। शुभगुणा, वात्सल्यसीमा, विद्युत्पुञ्जसमानकान्तिः, अमितक्षान्तिः च सुपद्मेक्षणा या रामप्रिया जनकजा, सा नः अनिशम् अखिलसम्पदः दत्तात्।

अर्थ

दिगीशैः-दिक्पालों के द्वारा **भोग्यम्**-भोगने योग्य **चित्रम्**-विचित्र **अद्भुतम्**-आश्चर्यमय **ऐश्वर्यम्**-वैभव **च**-और **इदम्**-यह **अखिलम्**-सम्पूर्ण **जगत्**-जगत् **यदपाङ्गसंश्रयम्**-जिनके कटाक्ष के अधीन है। **शुभगुणा**-दिव्य मंगल गुणों से युक्त **वात्सल्यसीमा**-वात्सल्य की पराकाष्ठा **विद्युत्पुञ्जसमानकान्तिः**-विद्युत्पुञ्ज के समान भास्वर कान्ति वाली **अमितक्षान्तिः**-अपरिमित क्षमा गुण से सम्पन्न **च**-और **सुपद्मेक्षणा**-कमल के समान सुन्दर नेत्रों वाली **या**-जो **रामप्रिया**-श्रीरामवल्लभा **जनकजा**-जनकनन्दिनी हैं, **सा**-वे **नः**-हम सभी को **अनिशम्**-सदा **अखिलसम्पदः**-सम्पूर्ण सम्पदाएँ **दत्तात्**-प्रदान करें।

भाष्य

श्रीसीताजी से प्रार्थना-श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण में **अहं वै लोकपालानां**

1.अयं श्लोकः क्वचिद् द्वितीयश्लोकरूपेण पठ्यते।

चतुर्थं स्त्रष्टुमुद्यतः। यमेन्द्रवरुणानां च पदं यत् तव चेप्सितम्॥(वा.रा.7. 3.17-18) इस प्रकार यम, इन्द्र, वरुण और कुबेर ये पूर्वादि चार दिशाओं के चार लोकपाल(दिक्पाल) कहे गये हैं। उक्त चार दिशाएँ और आग्नेयादि चार अवान्तर दिशाएँ मिलाकर आठ दिशाएँ होती हैं, इसलिए आठ दिक्पाल भी कहे जाते हैं। पूर्वादि दिशाओं के क्रम से इन्द्र, अग्नि, यम, नैर्ऋत, वरुण, मरुत्, कुबेर और शिव ये अष्ट स्वामी होते हैं-**इन्द्रो वह्निः पितृपतिर्नैर्ऋतो वरुणो मरुत्॥ कुबेर ईशः पतयः पूर्वादीनां दिशां क्रमात्।**(अ.को.1.3.2-3)। जो अत्यन्त पुण्यात्मा होते हैं, वे देवता होकर इन प्रतिष्ठित पदों को प्राप्त करते है। स्वर्ग के विषय विविध-विचित्र और आश्चर्यमय होते हैं। वे दिक्पालों के भोग्य होते हैं और पृथ्वीलोकवासियों को सर्वथा दुर्लभ होते हैं। यह समग्र जगत् और लोकपालों का लोकोत्तर साम्राज्य भगवती श्रीसीताम्बा के कृपाकटाक्ष के अधीन है, वे द्रवित होकर उन्हें अनायास ही प्रदान करती हैं। वे अशुभनिवृत्तिपूर्वक मंगलकारक शरणागतरक्षकत्वादि बहुत प्रकार के शुभ गुणों से अन्वित हैं, वात्सल्य की सीमा हैं। संसार की समस्त माताओं में अपनी संतानों के प्रति जो वात्सल्य भाव विद्यमान है, उससे कोटि गुना अधिक वात्सल्य जगज्जननी जानकी जी में विद्यमान है। इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं क्योंकि वे सभी की शाश्वत् माता हैं। देह को जन्म देने वाली सांसारिक माताएँ तो कर्मात्मिका अविद्यारूप उपाधि से प्राप्त होती हैं, वे शाश्वत् नहीं। श्रीसीताजी वात्सल्य के अतिरेक के कारण ही सभी के सर्वविध सुख की सदा कामना करती हैं। जीव अपने वास्तविक स्वरूप को विस्मृत करने के कारण ही संसार से तादात्म्य मानकर जन्ममरण के प्रवाह में बहता रहता है। यदि वह अपने वास्तविक स्वरूप को, अपने वास्तविक माता-पिता के साथ शाश्वत् सम्बन्ध को जान ले तो उसका दुःखों की आत्यन्तिकनिवृत्तिपूर्वक परम कल्याण निश्चित है।

भगवती सीता माता विद्युत्पुञ्ज के समान कान्ति वाले दिव्यमंगलविग्रह से सदा युक्त होकर रहती हैं, वे सर्वसमर्था होने पर भी असीमित क्षमा गुण से युक्त हैं, इस विषय में उनकी तुलना किसी से भी नहीं की जा सकती, वे सभी की माता हैं इसलिए सदा क्षमा ही करती हैं। लोक में पृथ्वी का क्षमा गुण प्रसिद्ध है। लोग पृथ्वी पर रहते हैं, खाते है, पीते हैं और सभी

प्रकार के उत्पात भी करते हैं फिर भी पृथ्वी उन्हें क्षमा ही करती है, कभी कुपित नहीं होतीं अतः श्रीवाल्मीकि मुनि ने **क्षमया पृथिवी समः**(वा.रा.1. 1.18) इस प्रकार श्रीरामभद्र को पृथ्वीसदृश क्षमा गुण वाला कहा है किन्तु श्री जी पृथ्वी की ही साक्षात् संतान हैं, इसलिए उनका क्षमा गुण श्रीराम से भी अतिशय है अतः **सीतायाश्चरितं महत्।**(वा.रा.1.4.7) ऐसा महामुनि ने कहा है। श्रीसीता जी की अकारण करुणा के कारण ही वे महामहिमा से मण्डित हैं। श्रीरामचन्द्र जीव के शरणागत होने पर कृपा करते हैं किन्तु श्रीसीता जी शरणागत हुए विना ही जीवों पर कृपावृष्टि करती हैं। अत्यन्त अपराधी जीवों पर भी करुणा करने के कारण ही श्रीभगवान् के चरित की अपेक्षा भगवती श्रीसीता जी का चरित महान् है। माता मैथिली जी ने तत्काल में अपराध करने वाली राक्षसियों की हनुमान् जी से रक्षा करके श्रीराम जी की क्षमा को भी लधुतर बना दिया क्योंकि जयन्त और विभीषण की श्रीराम ने तब रक्षा की जब उन्होंने शरणागति स्वीकार की किन्तु श्रीसीता जी ने विना शरणागति के ही राक्षसियों की रक्षा की। उन्होंने दिव्य क्षमा भाव से भावित होने के कारण ही हनुमान् जी से कहा था कि हे हनुमान्! कोई पापी हो या पुण्यात्मा अथवा वध के योग्य अपराधी प्राणी हो, श्रेष्ठ पुरुष को उन सभी पर दया ही करनी चाहिए क्योंकि संसार में ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है, जो अपराध न करता हो-**पापानां वा शुभानां वधार्हाणां प्लवंगम[1]। कार्यं कारुण्यमार्येण न कश्चिन्नापराध्यति॥**(वा. रा.6.113.45)।

श्रीसीता जी नूतन विकसित कमल के सदृश चारु नेत्रों वाली हैं, वे श्रीराम की प्राणप्रिया हैं, अतः श्रीराम का चित्त उनमें अनुरक्त रहता है और वे श्रीसीता जी के प्राणप्रिय हैं, अतः सीता का चित्त उनमें अनुरक्त रहता है। सम्पद् का अर्थ सम्पदा अर्थात् सम्पत्ति होता है और अखिलसम्पद् का अर्थ पूर्ण सम्पत्ति होता है। धर्म, अर्थ और काम ये त्रिवर्ग भी संपदा हैं। जनकनन्दिनी श्रीसीता जी भक्तों की भावना के अनुसार उन फलों को भी प्रदान करती हैं किन्तु वे अखिलसम्पदारूप नहीं हैं, आगमापायी हैं इसलिए श्रीसीता जी से अखिल सम्पदा की याचना की जाती है। श्रीरामभक्ति ही अखिलसम्पद्रूप है क्योंकि वह निखिल विपदाओं का नाशक है। वह

1.अत्र 'अथापि वा' इति पाठान्तरम्।

कभी क्षीण नहीं होती अपितु उत्तरोत्तर अभिवृद्धि को प्राप्त होती रहती है। यह पूर्व में कहा ही जा चुका है कि सकलबन्धनों की विनिवृत्तिपूर्वक परब्रह्म की प्रत्यक्षात्मिका भक्ति ही मोक्ष है, यही परम पुरुषार्थ है।

जिज्ञासु शिष्य के द्वारा जिज्ञास्यविषय में विविध प्रश्न प्रस्तुत किये जाते हैं-

तत्त्वं किं किञ्च जाप्यं [1]परमिह विबुधैर्वैष्णवैर्ध्यानमिष्टं
मुक्तेः किं साधनं सत्सुमतिमतिमतो धर्म एकोऽस्ति कश्च।
धर्माणां वैष्णवास्ते गुरुवर कतिधा लक्षणं किञ्च तेषां
कालक्षेपः किमाप्यं कथमुरुशुभदं कुत्र कार्यो निवासः॥4॥

अन्वय

गुरुवर! तत्त्वं किम्? इह विबुधैः वैष्णवैः जाप्यं परं किम्? च इष्टं ध्यानम्? मुक्तेः सत् साधनं किम्? च धर्माणां सुमतिमतिमतः एकः धर्मः कः अस्ति? ते वैष्णवाः कतिधा? च तेषां लक्षणं किम्? कुत्र निवासः कार्यः? कालक्षेपः कथम्? उरुशुभदम् आप्यं किम्?

अर्थ

गुरुवर-हे गुरुदेव! **तत्त्वम्**-तत्त्व **किम्**-क्या है? **इह**-इस संसार में **विबुधैः**-प्रबुद्ध **वैष्णवैः**-वैष्णवों के द्वारा **जाप्यम्**-जपने योग्य **परम्**-श्रेष्ठ (मन्त्र) **किम्**-क्या है? **च**-और (उनका) **इष्टम्**-अभीष्ट **ध्यानम्**-ध्यान क्या है? **मुक्तेः**-मुक्ति का **सत्**-उत्तम **साधनम्**-साधन **किम्**-क्या है? **च**-और **धर्माणाम्**-सभी धर्मों में **सुमतिमतिमतः**[2]-विद्वान् का अभिमत **एकः**-प्रधान **धर्मः**-धर्म **कः**-क्या **अस्ति**-है? **ते**-वे **वैष्णवाः**-वैष्णव **कतिधा**-कितने प्रकार के होते हैं? **च**-और **तेषाम्**-उनका **लक्षणम्**-लक्षण **किम्**-क्या है? उन्हें **कुत्र**-कहाँ **निवासः**-निवास **कार्यः**-करना चाहिए? **कालक्षेपः**-कालक्षेप **कथम्**-कैसे करना चाहिए? और उनका **उरुशुभदम्**-कल्याणप्रद **आप्यम्**-प्राप्य **किम्**-क्या है?

1.**परमिह विबुधैः** इत्यस्य स्थाने **रघुपतिशरणैः** इति पाठान्तरः। 2.सुष्ठु मतिः बुद्धिः सुमतिः, सा एव मतिर्यस्य सः सुमतिमतिः विद्वान् इत्यर्थः, तस्य मतः अभिमतः सुमतिमतिमतः। सुष्ठुमतिर्यस्य सः सुमतिः विद्वान् इत्यर्थः, तस्य मतिः सुमतिमतिः, तया मतः अभिमतः इति वा।

भाष्य

जिज्ञासा-प्रस्तुत श्लोक से दश प्रश्नों के द्वारा 'तत्त्व, जाप्य मन्त्र, ध्यान, मुक्ति का साधन, प्रधान धर्म, वैष्णव के भेद, उनका लक्षण, निवासस्थान कालक्षेप की रीति और प्राप्य' इन दश विषयों की जिज्ञासा की गयी है। आगामी श्लोक से श्रीसुरसुरानन्द को संबोधित करके उत्तर दिए गये हैं, इससे स्पष्ट है कि प्रश्नकर्ता स्वामी सुरसुरानन्द जी हैं, ये ग्रन्थकार स्वामी जी के द्वादश प्रधान शिष्यों में अन्यतम हैं। श्रीभक्तमालकार नाभा गोस्वामी जी ने अपने ग्रन्थ के 64 वें छप्पय में इनका परिचय दिया है। इन्होंने स्वामी रामानन्दाचार्य जी से दश प्रश्न किए हैं।

अब उक्त प्रश्नों के क्रमिक उत्तर प्रस्तुत किए जाते हैं-

इत्थं पृष्टस्त्वया यः सकलहितकरः प्रश्नराशिर्गरिष्ठो
वेद्यः सर्वश्रुतीनां जगति सुरसुरानन्द सद्यो मया सः[1]॥
प्राचीनाचार्यवर्यान्[2] यतिपतिसहितान् सादरं सम्प्रणम्य[3]
सम्यक् शास्त्रानुसारं गुरुनिरत समाधीयते[4] श्रूयतां तत्॥5॥

अन्वय

गुरुनिरत सुरसुरानन्द! जगति सकलहितकरः, सर्वश्रुतीनां वेद्यः यः गरिष्ठः प्रश्नराशिः त्वया इत्थं पृष्टः। सः मया यतिपतिसहितान् प्राचीनाचार्यवर्यान् सादरं सम्प्रणम्य शास्त्रानुसारं सद्यः सम्यक् समाधीयते, तत् श्रूयताम्।

अर्थ

गुरुनिरत[5]-हे गुरुसेवा में निरत! **सुरसुरानन्द**-सुरसुरानन्द! **जगति**-जगत् में **सकलहितकरः**-सकल प्राणियों के लिए हितकर **सर्वश्रुतीनाम्**-सभी वेदों का **वेद्यः**-प्रतिपाद्य **यः**-जो **गरिष्ठः**-अत्यन्त महान् **प्रश्नराशिः**-प्रश्नराशि **त्वया**-तुमने **इत्थम्**-इस प्रकार **पृष्टः**-पूछी है। **सः**-उसका **मया**-मैं **यतिपति-सहितान्**-यतिराज स्वामी राघवानन्दाचार्य जी के सहित **प्राचीनाचार्यवर्यान्**-सभी पूज्य पूर्वाचार्यों को **सादरम्**-आदर के सहित **सम्प्रणम्य**-श्रद्धापूर्वक

---

1. **सद्यो मया सः** इत्यस्य स्थाने **सद्यः स तुभ्यम्** इति पाठान्तरः। 2.अत्र **प्राचार्याचार्यवर्यान्** इति पाठान्तरम्। 3.अत्र **तान् प्रणम्य** इति पाठान्तरम्। 4. **गुरुनिरत समाधीयते** इति स्थाने **गुरुवर वचसा प्रोच्यते** इति पाठान्तरः। 5.गुरोः शुश्रूषा इति गुरुशुश्रूषा, तस्यां निरतः इति गुरुनिरतः, अत्र मध्यमपदलोपी समासः। 'गुरुनिरत' इति संबुद्धेः रूपम्।

प्रणाम करके **शास्त्रानुसारम्**-शास्त्रानुसार **सद्यः**-शीघ्र **सम्यक्**-सम्यक् **समाधीयते**-उत्तर देता हूँ, **तत्**-उसे **श्रूयताम्**-सुनो।

भाष्य

सुरसुरानन्द जी के द्वारा पूछे गये दश महत्त्वपूर्ण प्रश्नों के उत्तर समस्त श्रुतियों के प्रतिपाद्य हैं इसलिए उन प्रश्नों को सर्वश्रुति का प्रतिपाद्य कहा गया है, वे जगत् के सम्पूर्ण प्राणियों के लिए कल्याणकारक हैं। यहाँ पर ग्रन्थ प्रणेता के साक्षात् गुरु स्वामी राघवानन्दाचार्य जी यतिपति शब्द से कहे गये हैं, उनके पूर्वाचार्य श्रीरामचन्द्र से लेकर महर्षि बोधायन आदि हैं, इनकी समग्र गुरुपरम्परा यह है-1.श्रीरामचन्द्रजी 2.श्रीसीताजी 3.श्रीहनुमान्जी 4.श्रीब्रह्माजी 5.श्रीवशिष्ठजी 6.श्रीपराशरजी 7.श्रीवेदव्यासजी 8.श्रीशुकदेवजी 9.श्रीबोधायन पुरुषोत्तमाचार्यजी 10.श्रीगंगाधराचार्यजी 11.श्रीसदाचार्यजी 12.श्रीरामेश्वराचार्यजी 13.श्रीद्वारानन्दजी 14.श्रीदेवानन्दजी 15.श्रीश्यामानन्दजी 16.श्रीश्रुतानन्दजी 17.श्रीचिदानन्दजी 18.श्रीपूर्णानन्दजी 19.श्रीश्रियानन्दजी 20.श्रीहर्यानन्दजी 21.श्रीराघवानन्दजी 22.श्रीरामानन्दाचार्यजी।

स्वामी रामानन्दाचार्य अपने सद्गुरु तथा सभी पूर्वाचार्यों को श्रद्धाभक्तिसहित प्रणाम कर पूर्वोक्त प्रश्नों का शास्त्रानुसार उत्तर देते हैं, उन्हें हृदयंगम करने के लिए एकाग्र चित्त से सुनना चाहिए।

> **[1]पृष्टानाम् एकमाद्यं त्रिकमपि शृणु तद्भेदतो नामभेदै-**
> **र्नित्याऽज्ञाऽचेतना सा प्रकृतिरविकृतिर्विश्वयोनिश्शुभैका।**
> **नानावर्णात्मिकाऽजा त्रिगुणसुनिलयाऽव्यक्तशब्दाभिधेया**
> **निर्व्यापारा परार्था महदहमितिसूरुच्यते तत्त्वविद्भिः॥6॥**

अन्वय

पृष्टानाम् आद्यम्, शृणु तत् एकम् अपि भेदतः नामभेदैः त्रिकम्। प्रकृतिः सा नित्या अज्ञा अचेतना अविकृतिः एका विश्वयोनिः शुभा। अव्यक्तशब्दाभिधेया नानावर्णात्मिका, अजा, त्रिगुणसुनिलया, निर्व्यापारा, परार्था, महदहं सूः इति तत्त्वविद्भिः उच्यते।

अर्थ

पृष्टानाम्-तुम्हारे द्वारा पूँछे गये प्रश्नों में **आद्यम्**-प्रथम प्रश्न का उत्तर

1.प्रश्नानाम् इति पाठान्तरम्।

शृणु-सुनिये। **तत्**-तत्त्व **एकम्**-एक होते हुए **अपि**-भी **भेदतः**-प्रकारान्तर से **नामभेदैः**-भिन्न भिन्न नामों के द्वारा **त्रिकम्**-तीन कहा जाता है। उन तीनों में प्रथम जो **प्रकृति**-प्रकृति तत्त्व है, **सा**-वह **नित्या**-नित्य **अज्ञा**-अज्ञ **अचेतना**-अचेतन **अविकृतिः**-अविकृति और **एका**-एक है, वह **विश्वयोनिः**-सम्पूर्ण जगत् का कारण तथा **शुभा**-शुभ है। **अव्यक्त-शब्दाभिधेया**-अव्यक्त शब्द का वाच्य वह प्रकृति **नानावर्णात्मिका**-नाना वर्ण वाली **अजा**-अजन्मा **त्रिगुणसुनिलया**-तीनों गुणों का आधार **निर्व्यापारा**-निर्व्यापार तथा **परार्था**-पर के प्रयोजन के लिए है। वह **महदहम्**-महद्, अहंकार आदि कार्यों को **सूः**-उत्पन्न करने वाली है, **इति**-ऐसा **तत्त्वविद्भिः**-तत्त्ववेत्ताओं के द्वारा **उच्यते**-कहा जाता है।

भाष्य

तत्त्व-श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण और आगम के द्वारा प्रतिपादित एक ही तत्त्व परब्रह्म श्रीरामचन्द्र हैं। वे ही चेतन जीव और अचेतन प्रकृति से विशिष्ट अद्वैत तत्त्व हैं। जिस प्रकार दण्ड और कुण्डल दो विशेषणों से विशिष्ट देवदत्त एक ही होता है, उसी प्रकार जीव और प्रकृति से विशिष्ट ब्रह्म तत्त्व एक ही है।

देह, इन्द्रिय और विविधविषयरूप में भोक्ता जीवों के समक्ष उपस्थित प्रकृति ही अचित् या अचेतन पदार्थ कहलाती है। इससे भिन्न और इसे जानने वाले चेतन जीवात्मा को चित् कहते हैं। वह कभी चाहने पर भी कार्य नहीं कर पाता, कभी वह कुछ चाहता है किन्तु कुछ और ही हो जाता है, ऐसा क्यों? क्योंकि कोई सर्वशक्तिमान् वस्तु उसका नियामक है, वह चेतन जीव से भिन्न उसका अन्तरात्मा परमात्मा है, चेतन और अचेतन सभी पदार्थ उसके अधीन हैं। भोक्ता आत्मा, भोग्य प्रकृति और प्रेरक ईश्वर को जानकर-**भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा**।(श्वे.उ.1.12)। प्रकृति और जीवात्मा का स्वामी ईश्वर है, वह ज्ञानादि गुणों से पूर्ण है-**प्रधानक्षेत्रज्ञ-पतिर्गुणेशः**।(श्वे.उ.6.16)। क्षर प्रधान(अचित् प्रकृति) है। अमृत और अक्षर भोक्ता जीव(चित्) है। क्षर और अक्षर जीवात्मा पर शासन करने वाला एक देव ईश्वर है-**क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः**।(श्वे.उ.1.10) इत्यादि प्रकार से चित्, अचित् और ईश्वर(ब्रह्म) रूप तीन तत्त्वों का प्रतिपादन वेदान्त शास्त्र में किया जाता है। इन तीनों के

स्वरूप और स्वभाव भिन्न होने पर भी चित् और अचित् ब्रह्म के विशेषण हैं, इन दोनों से विशिष्ट ब्रह्म एक अद्वैत तत्त्व है। जैसे दण्ड और कुण्डल किसी मनुष्य के विशेषण होते हैं, वैसे चेतन और अचेतन ब्रह्म के विशेषण नहीं हैं क्योंकि दण्ड और कुण्डल कभी अपने आश्रय से पृथक् भी स्थित होते हैं किन्तु चेतन और अचेतन कभी भी अपने आश्रय से पृथक् स्थित नहीं होते। दण्ड और कुण्डल मनुष्य के पृथक्सिद्ध विशेषण होते हैं किन्तु चेतन और अचेतन ब्रह्म के अपृथक्सिद्ध विशेषण हैं।(इस स्थल में यह ध्यान देने योग्य है कि चेतनाचेतन और ब्रह्म के विशेषण-विशेष्यभाव का आधार उनका आत्मशरीरभाव है। चेतन और अचेतन ब्रह्म के शरीर हैं और ब्रह्म उनकी आत्मा। शरीर होने के कारण चेतन और अचेतन ब्रह्म के विशेषण होकर रहते हैं और ब्रह्म शरीरी आत्मा होने से विशेष्य होकर रहता है।) उक्त विशेषणों से विशिष्ट ब्रह्म एक ही है अतः एक तत्त्व कहा जाता है, यहाँ एक शब्द का प्रयोग उक्त दो विशेषणों से विशिष्ट वस्तु के लिए है अतः प्रकारान्तर से विचार करने पर विशेषण और विशेष्य के बोधक शब्द भिन्न होने से तीन तत्त्व कहे जाते हैं। अब इन तीनों में प्रथम प्रकृति का प्रतिपादन किया जाता है-

प्रकृति तत्त्व

परमात्मा जिससे कार्यों को उत्पन्न करता है, उसे प्रकृति कहते हैं-**प्रकरोति विकारान् उत्पादयति यस्या इति प्रकृतिः।** प्रकृति के स्वामी परमात्मा प्रकृति से इस विश्व का सृजन करते हैं-**अस्मान् मायी सृजते विश्वमेतत्।**(श्वे.उ.4.9)।

नित्य

भूतों को उत्पन्न करने वाली वह गोरूपा प्रकृति आदि-अन्त से रहित है-**गौरनाद्यन्तवती सा जनित्री भूतभाविनी।**(मं.उ.1.5)। सद्-असद्रूप त्रिगुणात्मक प्रकृति नित्य है-**यत् तत् त्रिगुणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम्।**(भा.3.26.10)। अनादि, अनन्त, नित्य, अविनाशी कारण प्रकृति है-**अनाद्यनन्तमव्यक्तं नित्यं कारणमव्ययम्।**(भा.12.4.19), परब्रह्म नित्य है और प्रकृति भी नित्य कही गयी है-**नित्यं तत्परमं ब्रह्म नित्या च प्रकृतिः स्मृता।**(ब्र.वै.पु.1.28.30), प्रकृति को सत्य कहा है, कार्यरूप विकार को अनृत कहा है-**प्रकृतिं सत्यमित्याहुर्विकारोऽनृतमुच्यते।**(ब्र.

पु.उ.3.85), प्रकृति नित्य है-**तदनन्तम्**।(वि.पु.2.7.26) इन प्रमाणों के आधार पर प्रकृति को नित्य स्वीकार किया जाता है।

शंका-यदि प्रकृति(माया) नित्य है तो श्वेताश्वतर उपनिषत् में **अन्ते विश्वमाया निवृत्तिः**।(श्वे.उ.1.10) इस प्रकार अन्त में प्रकृति की निवृत्ति किस अभिप्राय से कही है?

समाधान-मुक्तात्मा का प्रकृति से सम्बन्ध नहीं रहता, इस अभिप्राय से प्रकृति की निवृत्ति कही है। ब्रह्मज्ञान से बन्धन के मूलकारण कर्मरूप अज्ञान की ही निवृत्ति होती है, ईश्वराश्रित प्रकृति की नहीं अतः ज्ञान होने पर भी ब्रह्मात्मिका प्रकृति बनी ही रहती है।

जैसे जल को शीतल करने पर बर्फ बन जाता है और गर्म करने पर वाष्प हो जाता है, उसका विनाश नहीं होता, अपितु अवस्थान्तर होता है, वैसे ही प्रकृति का कभी विनाश नहीं होता, अवस्थान्तर ही होता है। सृष्टि के पूर्व वह कारणरूप से रहती है और बाद में विविध कार्यरूप में रहती है, फिर प्रलयकाल में वह कार्यरूप से नहीं रहती, इस प्रकार सदा विद्यमान रहने वाली प्रकृति नित्य है। जीवात्मा और ब्रह्म भी नित्य हैं। ब्रह्म सर्वथा अपरिणामी है। जीवात्मा के स्वरूप का कोई परिणाम नहीं होता किन्तु उसके ज्ञान गुण का बद्धावस्था में रागादिरूप से परिणाम होता है। प्रकृति का स्वरूपतः महद् आदि रूपो में परिणाम होता है अतः जीव और ब्रह्म कूटस्थ नित्य कहे जाते हैं तथा प्रकृति परिणामी नित्य कही जाती है।

अज्ञ

जानने वाले को ज्ञ कहते हैं-**जानाति इति ज्ञः**। चेतन आत्मा ज्ञ अर्थात् ज्ञाता होती है, उससे भिन्न जड़ प्रकृति है, वह ज्ञ नहीं हो सकती अतः उसे अज्ञ कहा जाता है।

अचेतन

स्वयं प्रकाश को चेतन कहते हैं और उससे भिन्न को अचेतन। जीव और ईश्वर ये दोनों ज्ञानरूप होने से स्वयं प्रकाश हैं, इसलिए चेतन कहे जाते हैं। इन दोनों से भिन्न जड़ प्रकृति परप्रकाश है इसलिए अचेतन कही जाती है। यहाँ प्रकाश का अर्थ ज्ञान है। जीवात्मा और ब्रह्म स्वयंप्रकाश हैं अर्थात् ये दोनों स्वयं को जानते हैं। जड़ वस्तु स्वयं को नहीं जान सकती,

वह परप्रकाश है अर्थात् दूसरे के द्वारा जानी जाती है।

अविकृति

प्रकृति का अर्थ कारण होता है और विकृति का अर्थ कार्य। जड़ प्रधान सभी कार्यों की प्रकृति ही है, वह किसी की विकृति नहीं इसलिए उसे अविकृति कहते हैं।

विश्वयोनि

सांख्य सिद्धान्त में प्रकृति स्वतन्त्र तत्त्व है, किन्तु वेदान्त सिद्धान्त में वह ईश्वर से अधिष्ठित है। ईश्वर ने संकल्प किया कि मैं बहुत हो जाऊँ-**तद् ऐक्षत बहु स्याम्**।(छां.उ.6.2.3) इस प्रकार किये गये श्रीभगवान् के संकल्प से प्रकृति कार्योन्मुख होती है और उसके गुणों में वैषम्य होता है। तब प्रकृति सृष्टि कार्य करने के लिए उन्मुख होती है, ऐसी कार्योन्मुख अवस्था वाली अव्यक्तसंज्ञक प्रकृति से महत् उत्पन्न होता है। महत् से अहंकार और उससे एकादश इन्द्रियाँ(चक्षु, श्रोत्र, रसना, घ्राण और त्वक् ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा एक मन) तथा पञ्चतन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं। उनसे आकाशादि पञ्चभूत उत्पन्न होते हैं। महत् से लेकर पृथ्वीपर्यन्त भूतों की सृष्टि समष्टिसृष्टि है, इसके पश्चात् भगवान् भूतों का पंचीकरण करके पंचीकृत भूतों से ब्रह्माण्ड का निर्माण करते हैं, ब्रह्माण्ड में अनेक प्रकार के भोग्य, भोगोपकरण और भोगस्थान होते हैं, इस प्रकार महदादि से लेकर भूत-भौतिक सकल प्रपञ्च कार्य है और उसका कारण ईश्वराधिष्ठित प्रकृति है। कार्य अनेक हैं और उन सभी का कारण प्रकृति एक ही है।

शुभ

सम्पूर्ण जगत् परमात्मा का शरीर है-**जगत् सर्वं शरीरं ते**।(वा.रा.6.117.25)। प्रकृति भी परमात्मा का शरीर है और वे प्रकृति की आत्मा। ब्रह्म जिसकी आत्मा(नियन्ता) है, उसे ब्रह्मात्मक कहते हैं-**ब्रह्म आत्मा नियन्ता यस्य सः ब्रह्मात्मकः**। ब्रह्म स्वशरीरभूत प्रकृति का आत्मा है इसलिए प्रकृति ब्रह्मात्मक है, उसमें अन्तरात्मारूप से ब्रह्म है। अतः प्रकृति शुभ[1]

1.प्रकृति बद्धावस्था में देहेन्द्रियादि के रूप में परिणत होकर अत्यन्त शुभ मोक्ष का साधन होती है, इसलिए भी उसे शुभ कहा जाता है।

अर्थात् अनुकूल ही है। बद्धावस्था में उसकी अशुभरूपता (प्रतिकूलता) आगन्तुक है। वह देहात्मभ्रम से होती है, उसके न होने पर नहीं होती।

जैसे प्रकृति का ब्रह्मात्मकत्वेन ज्ञान न होने पर(अर्थात् उसे स्वतन्त्र समझने पर) जो उसकी प्रतिकूलता अनुभव में आती है, उसका कारण देहात्मभ्रम और कर्म हैं, वैसे ही ब्रह्मात्मकत्वेन ज्ञान के न होने पर प्रकृति की अनूकूलता के कारण भी वही देहात्मभ्रम और कर्म हैं, ऐसा जानना चाहिए। भ्रम से ही भोक्ता जीव शरीर के लिए हितकर चन्दन, कुसुम, भोजन तथा औषध आदि को आत्मा के लिए अनुकूल मानता है। इस कारण माला, चन्दनादि का ज्ञान आनन्दरूप होता है। प्रतिबन्धक कर्म के कारण जब ब्रह्मात्मकत्वेन पदार्थों का अनुभव नहीं होता, उनका स्वतन्त्र(अब्रह्मात्मक)रूप से अनुभव होता है तब वे स्वतन्त्र पदार्थ कर्म के कारण ही अनुकूल प्रतीत होते हैं अतः वह अनुकूलता अल्प और अस्थायी होती है। प्रबल कर्म होने पर वे अधिक अनुकूल प्रतीत होते हैं और दुर्बल कर्म होने पर कम अनुकूल प्रतीत होते हैं। कर्म नष्ट होने पर उनमें अनुकूलता भी नहीं प्रतीत होती।

सभी पदार्थ ब्रह्मात्मक होने से ही उनकी अनुकूलता स्वाभाविक मानी जाती है। यदि इसके विना अनुकूलता को स्वाभाविक माना जाय तो किसी देश और किसी काल में किसी मनुष्य के लिए अनुकूल विषय अन्य देश और अन्य काल में उसके लिए ही प्रतिकूल नहीं होने चाहिए तथा जिस काल में एक व्यक्ति के अनुकूल जो विषय हैं, उसी काल में अन्य व्यक्ति के लिए वे प्रतिकूल नहीं होने चाहिए किन्तु ऐसा नहीं होता अपितु एक देश और एक काल में एक व्यक्ति के लिए अनुकूल चन्दन, कुसुमादि अन्य देश और अन्य काल में उसके लिए ही प्रतिकूल हो जाते हैं तथा वे विषय जिस काल में एक व्यक्ति के लिए अनुकूल होते हैं, उसी काल में अन्य व्यक्ति के लिए प्रतिकूल होते हैं। इससे सिद्ध होता है कि अज्ञानी के अनुभव में आने वाला अब्रह्मात्मक पदार्थ न तो अनुकूल है और न ही प्रतिकूल। अनुकूलता और प्रतिकूलता उसके कर्मों के कारण होती है। इसीलिए महर्षि पराशर ने कहा है कि क्योंकि एक ही वस्तु एक मनुष्य के दुःख का कारण, दूसरे के सुख का कारण, तीसरे की ईर्ष्या का कारण और चौथे के क्रोध का कारण हो जाती है इसलिए कोई वस्तु एक निश्चित

रूपवाली कैसे हो सकती है? अर्थात् वस्तु न तो सुखरूप है और न ही दुःखरूप-**वस्त्वेकमेव दुःखाय सुखायेर्ष्यागमाय च। कोपाय च यतस्तस्माद् वस्तु वस्त्वात्मकं कुतः॥**(वि.पु.2.6.47)। वस्तु की सुखरूपता और दुःखरूपता के कारण पुण्य-पाप कर्म हैं। भिन्न-भिन्न मनुष्यों के प्रति सुख-दुःख का कारण बनना वस्तु का स्वरूप नहीं है। पुण्य कर्म से वस्तु सुख का कारण बनती है और पाप से दुःख का कारण अर्थात् कर्मानुसार एक ही वस्तु किसी को सुख देती है और किसी को दुःख, इस प्रकार अव्यवस्था का वर्णन करके महर्षि पुनः कहते हैं कि एक ही वस्तु किसी मनुष्य के प्रति सुख का कारण बनकर पुनः उसी के दुःख का कारण बन जाती है। वही वस्तु उसी मनुष्य के कोप का कारण बनकर पुनः प्रसन्नता का कारण बन जाती है, इससे सिद्ध होता हे कि कोई भी वस्तु सुखात्मक नहीं है और दुःखात्मक भी नहीं-**तदेव प्रीतये भूत्वा पुनर्दुःखाय जायते। तदेव कोपाय यतः प्रसादाय च जायते॥ तस्माद् दुःखात्मकं नास्ति न च किञ्चिद् सुखात्मकम्।**(वि.पु.2.6.48-49) इस प्रकार विचार करने पर सिद्ध होता है कि एक वस्तु एक मनुष्य को सदा अनुकूल हो या सदा प्रतिकूल, ऐसा नहीं है इसलिए एक मनुष्य के प्रति भी एक समान व्यवस्था नहीं होती, इससे स्पष्ट है कि वस्तु पुण्यपाप कर्म से अनुकूलता और प्रतिकूलता का कारण बनती है, स्वरूपतः नहीं। उक्त विवरण से यह भी स्पष्ट है कि अज्ञानी का अनुभाव्य, अब्रह्मात्मक जगत् न तो सुखरूप है और न ही दुःखरूप तथा कर्म उपाधि से प्राप्त होने वाला सुख भी विनाशी है।

अव्यक्त

सृष्टि के पूर्व महदादि कार्यरूप में व्यक्त न होने वाली प्रकृति अव्यक्त कहलाती है। इस विषय को समझने में उपयोगी होने से उसके अविभक्ततम, विभक्ततम और अक्षररूपों का भी विवरण प्रस्तुत किया जाता है-जिस अवस्था में प्रकृति सर्वथा सृष्टिकार्य के अयोग्य होकर जल में विलीन लवण के समान भगवान् से अविभक्त होकर रहती है, उस अवस्था वाली प्रकृति अविभक्ततम कहलाती है। इसके पश्चात् अक्षरत्व अवस्था की प्राप्ति के लिए उन्मुख अविभक्ततम प्रकृति ही विभक्ततम कहलाती है। उक्त दोनों अवस्थाओं में 'यह अचित्(जड़ प्रकृति) है, यह चित्समष्टि (चेतन जीवों का समुदाय) है' इस प्रकार विवेचन नहीं हो सकता। इसके

पश्चात् अवस्थान्तर की प्राप्ति होने पर विभक्ततम प्रकृति 'यह अचित् है, यह चित्समष्टि है' ऐसे विवेचन के योग्य होती है, उस समय चेतन समष्टि से संयुक्त प्रकृति अक्षर कही जाती है। अक्षरत्वावस्था के पश्चात् गुणों की साम्यावस्था वाली प्रकृति ही कुछ और अवस्थान्तर को प्राप्त होकर अव्यक्त कहलाती है। साम्यावस्था के पश्चात् प्रकृति के गुणों में वैषम्य होता है, तब प्रकृति सृष्टि कार्य करने के लिए उन्मुख होती है, ऐसी कार्योन्मुख अवस्था वाली प्रकृति भी अव्यक्त कही जाती है। प्रकृति के इन चार रूपों का वर्णन सुबालोपनिषत्(2) में किया गया है।

नानावर्णात्मिका

शुक्ल, नील, पीतादि नाना वर्ण(रूप) वाली प्रकृति है। इस जगत् में दिखायी देने वाले विविध रूप प्रकृति के ही हैं आत्मस्वरूप और परमात्मस्वरूप के नहीं हैं क्योंकि वे रूपादि से रहित हैं। यहाँ वर्ण शब्द प्राकृत जगत् में विद्यमान् सभी प्रकार की विविधता का बोधक है, ऐसा जानना चाहिए।

अजा

जिसकी उत्पत्ति होती है, वह जा कहलाती है-**जायते इति जा**। प्रकृति की उत्पत्ति न होनेसे वह अजा कही जाती है-**न जायते इति अजा।** प्रकृति की उत्पत्ति न होने से ही **प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।**(गी.13.19) इस प्रकार उसे अनादि भी कहा है।

शंका-महाभारत शान्तिपर्व में कहा है कि परब्रह्म से अव्यक्त प्रकृति उत्पन्न हुई- **तस्मात्प्रसूतमव्यक्तम्।**(म.भा.शां.340.29) इस प्रकार महाभारतकार ने अनादि, उत्पत्तिरहित प्रकृति की उत्पत्ति किस अभिप्राय से कही है?
समाधान-वहीं शान्तिपर्व में **ऋता सत्यामरा।**(म.भा.शां.341.14) इस प्रकार ऋता, सत्या और अमरा शब्दों से प्रकृति को उत्पत्ति विनाश से रहित कहा है, इससे तथा ऊपर लिखे शास्त्रवचनों से विरोध न हो इसलिए "प्रलयावस्था के बाद सृष्टि के अनुकूल अभिव्यक्त होती है" इस अभिप्राय से ही उसकी उत्पत्ति कही है।

त्रिगुण

1.सत्त्व-सत्त्वगुण प्रकाश, सुख और लाघवादि का कारण होता है। यहाँ

प्रकाश शब्द का अर्थ है-वस्तु के यथार्थस्वरूप का ज्ञान। सत्त्वगुण का आधिक्य होने पर विषय-इन्द्रिय के सम्बन्ध से वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान होता है, सुख होता है और शरीर-इन्द्रियों में लघुता होती है अर्थात् शरीर आलस्य-प्रमाद से रहित होकर स्फूर्तियुक्त होता है एवं इन्द्रियाँ प्रसन्न हो जाती हैं। आरोग्य का कारण सत्त्वगुण है तथा ज्ञान में आसक्ति और सुख में आसक्ति का कारण भी सत्त्वगुण है।

सत्त्वगुण निर्मल है अर्थात् प्रकाश और सुख को आवृत्त करने के स्वभाव से रहित है तथा प्रकाश और सुख को नियत उत्पन्न करने के स्वभाव से युक्त है अतः वह प्रकाश और सुख का कारण होता है। सत्त्व गुण जीव की सुख में आसक्ति और ज्ञान में आसक्ति कराकर बाँधता है। यह अरोगता का भी कारण है-**तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम्। सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ॥**(गी.14.6), **प्रकाशसुखावरणस्वभावरहितता निर्मलत्वं प्रकाशसुखजननैकान्तस्वभावतया प्रकाशसुखहेतुभूतम् इत्यर्थः॥**(गी.रा.भा.14.6)। सांसारिक पदार्थों के ज्ञान और सुख में आसक्ति होने पर जीव उनकी प्राप्ति के हेतु लौकिक और वैदिक कर्मों में प्रवृत्त होता है, इसके परिणामस्वरूप उन कर्मों के फलानुभव की साधन विभिन्न योनियों में जन्म लेता है। इस प्रकार सत्त्वगुण ज्ञान और सुख में आसक्ति के द्वारा बन्धन का हेतु होता है।

जब ज्ञान के साधन चक्षु आदि इन्द्रियों में ज्ञेय वस्तु के यथार्थ स्वरूप को विषय करने वाला ज्ञान उत्पन्न होता है, तब ऐसा जानो कि देह में सत्त्वगुण बढ़ा है-**सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते। ज्ञानं यदा तदा विद्यात् विवृद्धं सत्त्वमित्युत॥**(गी.14.11) इस प्रकार भगवान् ने ज्ञान हेतु से उसके कारण सत्त्वगुण को अनुमेय कहा है। जब मनुष्य सत्त्वगुण की वृद्धिकाल में मृत्यु को प्राप्त होता है, तब वह आत्मा के यथार्थस्वरूप को जानने वालों के दोषरहित कुलों को प्राप्त करता है-**यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्। तदोत्तमविदां लोकानमलान् प्रतिपद्यते॥**(गी.14.14) और आत्मा के यथार्थस्वरूप को जानने वालों के कुल में जन्म लेकर आत्मसाक्षात्कार के साधन निष्काम कर्मों का अधिकारी होता है। सत्त्वगुण में स्थित मनुष्य क्रमशः संसारबन्धन से मुक्त हो जाते हैं-**ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः**(गी.14.18)। उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त सत्त्वगुण से मोक्ष का

साक्षात् साधन परमात्मा के यथार्थ स्वरूप का अपरोक्ष ज्ञान होता है-**सत्त्वात् संजायते ज्ञानम्।**(गी.14.17)।

2.रज

रजोगुण राग, तृष्णा, लोभ और प्रवृत्ति आदि का कारण होता है। स्त्री और पुरुष के परस्पर मिलने की इच्छा को राग कहते हैं। शब्दादि सभी विषयों की इच्छा को तृष्णा कहते हैं। अपने धन के त्याग न करने का स्वभाव लोभ कहा गया है। उपरामता के अभाव का और कर्मासक्ति आदि का कारण भी रजोगुण है। हे अर्जुन! रजोगुण को राग, तृष्णा और आसक्ति का कारण जानो। वह जीवात्मा की कर्म में आसक्ति उत्पन्न करके बन्धन करता है-**रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्। तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्।**(गी.14.7)। हे अर्जुन! रजोगुण बढ़ने पर लोभ, चंचलता, सकाम कर्मों का आरम्भ, शम का अभाव और विषय की इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं-**लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा। रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ॥**(गी.14.12)। रजोगुण की वृद्धि में मरा हुआ मनुष्य स्वर्गादि फल के लिए कर्म करने वालों के कुल में जन्म लेता है-**रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते॥**(गी.14.15), यह गुण कर्मानुष्ठान के द्वारा स्वर्ग आदि फलों की प्राप्ति कराने वाला है और दुःख का हेतु है।

3.तम

प्रमाद और मोह आदि का कारण तमोगुण होता है। असावधानी को प्रमाद कहा जाता है और विपरीतज्ञान को मोह। आलस्य, निद्रा, ज्ञान का अभाव और प्रमाद में आसक्ति आदि का कारण तमोगुण होता है। हे अर्जुन! तमोगुण को विपरीतज्ञान से(पापकर्म में प्रवृत्ति के द्वारा) उत्पन्न हुआ जानो और उसे सभी प्राणियों के विपरीत ज्ञान का जनक जानो। वह प्रमाद, आलस्य और निद्रा के द्वारा बन्धन को करने वाला है-**तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्। प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत॥**(गी.14.8)। कर्मों में प्रवृत्त न होने का स्वभाव आलस्य कहलाता है। हे कुरुनन्दन! तमोगुण के बढ़ने पर ज्ञानाभाव, अप्रवृत्ति, प्रमाद और मोह भी उत्पन्न होते हैं-**अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च। तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन॥**(गी.14.13)। तमोगुण की वृद्धि में मृत मनुष्य निम्न योनियों में

जन्म लेता है-**तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते॥**(गी.14.15)।

सत्त्वादि गुणत्रय सम्पूर्ण प्रकृति में व्याप्त रहते हैं और प्रकृति के अधीन बद्धपुरुष के कार्यों में हेतु होते हैं। ये स्वरूपतः अनित्य हैं किन्तु इनका प्रवाह सदा बना रहता है। ये प्रलयकाल में अन्त्यन्त साम्यावस्था में रहते हैं किन्तु सृष्टि और स्थितिकाल में वैषम्यावस्था में रहते हैं। रजोगुण सृष्टि में उपयोगी है, सत्त्व स्थिति में उपयोगी है और तम संहार में उपयोगी है। सत्त्वादि गुण अतीन्द्रिय होते हैं और कार्य के द्वारा उनका अनुमान किया जाता है, वे जड़ प्रकृति के गुण हैं और प्रकृति से सम्बन्ध रखने वाले जीव के गुण उपचार से कहे जाते हैं। सत्त्व जिस काल में सुख का जनक होता है, उस काल को उपचार से सात्त्विक कहा जाता है, इसी प्रकार राजस और तामस के विषय में जानना चाहिए।

प्राचीन कर्म और देह के पोषक आहार की विषमता से ईश्वरीय संकल्प के अनुसार सत्त्व आदि तीनों गुण एक-दूसरे का अभिभव करने वाले (दबाने वाले), एक-दूसरे की वृद्धि करने वाले एवं एक-दूसरे के सहायक होते हैं। हे अर्जुन! रज और तम को दबाकर सत्त्वगुण, सत्त्व और तम को दबाकर रजोगुण और ऐसे ही सत्त्व और रज को दबाकर तमोगुण वृद्धि को प्राप्त होता है-**रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत। रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा॥**(गी.14.10), जैसे-लोक में जब एक ही स्त्रीशरीर पति के सुख का कारण, सौत के दुःख का कारण तथा अन्य कामुक जनों के मोह का कारण बन जाता है, तब पति में सत्त्वगुण की वृद्धि और इतर गुणों का ह्रास, सौत में रजोगुण की वृद्धि और इतरगुणों का ह्रास एवं दूसरे कामुक में तमोगुण का आविर्भाव और इतरगुणों का अभिभव पति आदि के कर्मानुसार होता है।

सांख्यमत

सांख्यमत में त्रिगुण ही प्रकृति का स्वरूप है अर्थात् साम्यावस्था को प्राप्त सत्त्व, रज और तम ही प्रकृति है और इसी प्रकार विषमावस्था को प्राप्त सत्त्व, रज और तम ही महदादि कार्य द्रव्य हैं।

वेदान्तमत

त्रिगुण का आश्रय प्रकृति-सांख्यमत में जिस प्रकार प्रकृति को गुणों का

स्वरूप माना जाता है, वह वेदान्तमत में मान्य नहीं क्योंकि सत्त्व, रज और तम ये तीनों प्रकृति के गुण ही हैं, द्रव्य नहीं हैं। सभी प्रकार के कर्म प्रकृति के सत्त्वादि गुणों द्वारा किये जाते हैं-**प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः**।।(गी.3.27)। प्रकृति के गुणों से मोहित अल्पज्ञ मनुष्य गुणों के अनुसार कर्मों में प्रवृत्त होते हैं-**प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु**।(गी.3.29)। सत्त्व, रज और तम ये तीनों गुण प्रकृति के स्वाभाविक असाधारण धर्म हैं-**सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः**।(गी. 14.5)। सभी मनुष्य पूर्वकृत पुण्यपाप के संस्कारानुरूप वृद्धि को प्राप्त सत्त्वादि गुणों से परवश कर्मों में प्रवृत्त किये जाते हैं-**कार्यते ह्यवश कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः**।(गी.3.5) इत्यादि शास्त्रवचन स्पष्टरूप से सत्त्व, रज और तम को प्रकृति के गुण कहते हैं, इस विवरण से स्पष्ट है कि सत्त्वादि गुणों का आश्रय प्रकृति है अतः वे प्रकृति का स्वरूप नहीं हो सकते।

रचनानुपपत्तेश्च नानुमानं प्रवृत्तेश्च।(ब्र.सू.2.2.1) इस सूत्र के भाष्य में गुणत्रय के प्रकृति होने का निराकरण किया गया है। श्रीभगवान् में इन गुणों का अभाव होने से ही वे निर्गुण कहे जाते हैं। सत्त्व, रज और तम ये तीनों गुण प्रकृति के स्वरूप से सम्बन्ध रखने वाले और उसके स्वरूप का निरूपण करने वाले असाधारण धर्म हैं। इनके विना प्रकृति की कोई अवस्था नहीं होती, फिर भी प्रकृति धर्मी है, सत्त्व आदि गुण उसके धर्म हैं, इस प्रकार इन दोनों में धर्मधर्मिभाव सम्बन्ध होता है। जब तक प्रकृति रहती है, तब तक सत्त्वादि गुण रहते हैं। प्रकृति सदा रहती है इसलिए सत्त्वादि सदा रहते हैं।

निर्व्यापार

क्रिया को व्यापार कहा जाता है। भगवान् ही जगत् की रचना आदि व्यापारों को करते हैं। प्रकृति अचेतन होने से कुछ नहीं करती इसलिए वह निर्व्यापारा कही गयी है।

परार्थ

परमात्मा से अधिष्ठित यह प्रकृति परार्थ अर्थात् पर के प्रयोजन(उपयोग)के लिए ही है। इसका अपने लिए कोई प्रयोजन नहीं। यह जीव के कर्मफलभोग और मोक्षरूप प्रयोजन के लिए है। प्रकृति देह, इन्द्रिय और विषय के रूप

में परिणत होकर जीव के कर्मफल भोग में हेतु बनती है, इसके विना जीव के धर्म, अर्थ तथा कामरूप पुरुषार्थ की सिद्धि संभव नहीं। संसारबन्धन से सर्वथा रहित होकर श्रीभगवान् को प्राप्त करना ही मोक्ष है, इसकी प्राप्ति भी देह, इन्द्रिय आदि के विना सम्भव नहीं, इस प्रकार प्रकृति जीवात्मा के मोक्ष का भी हेतु बनती है।

प्रकृति महत्, अहंकार आदि कार्यों को उत्पन्न करने वाली है, इस विषय का विशद विवेचन विश्वयोनि शब्द की व्याख्या मे किया जा चुका है। प्रकृति का उक्तरीति से महर्षि पराशर, वेदव्यास और बोधायन आदि तत्त्ववेत्ता वर्णन करते हैं।

अचेतन प्रकृति के निरूपण के पश्चात् अब अचेतन देहादि से भिन्न चेतन जीवात्मा का निरूपण किया जाता है–

नित्यो ज्ञश्चेतनोऽजः सततपरवशः सूक्ष्मतोऽत्यन्तसूक्ष्मो
भिन्नो बद्धादिभेदैः प्रतिकुणपमसौ नैकधा सूरिवर्य्यैः।
श्रीशाक्रान्तालयस्थो निजकृतिफलभुक्तत्सहायोऽभिमानी
जीवः सम्प्रोच्यते श्रीहरिपदसुमते[1] तत्त्वजिज्ञासुवेद्यः॥7॥

अन्वय

श्रीहरिपदसुमते! जीवः सूक्ष्मतः अत्यन्तसूक्ष्मः, अजः, नित्यः, ज्ञः, चेतनः, सततपरवशः, बद्धादिभेदैः भिन्नः, प्रतिकुणपम् एकधा असौ न, अभिमानी। श्रीशाक्रान्तालयस्थः, तत्सहायः, निजकृतिफलभुक् तत्त्वजिज्ञासुवेद्यः, सूरिवर्य्यैः सम्प्रोच्यते।

अर्थ

श्रीहरिपदसुमते-श्रीरघुनाथ जी के चरणों में आसक्त मति वाले हे सुरसुरानन्द! **जीवः**-जीवात्मा **सूक्ष्मतः**-सूक्ष्म से भी **अत्यन्तसूक्ष्मः**-अति सूक्ष्म, **अजः**-अजन्मा, **नित्यः**-नित्य, **ज्ञः**-ज्ञाता (और) **चेतनः**-ज्ञानस्वरूप (तथा)**सततपरवशः**-सदा परमात्मा के अधीन है। वह **बद्धादिभेदैः**-बद्ध आदि भेदों से **भिन्नः**-विभिन्न प्रकार का है। **प्रतिकुणपम्**-प्रत्येक शरीर में **एकधा[2]**-एक (ही) **असौ**-जीव (विद्यमान) **न**-नहीं है। वह **अभिमानी**-अभिमान करने वाला है। **श्रीशाक्रान्तालयस्थः[3]**-श्रीसीतापति राम के द्वारा

1.**श्रीरघुपतिसुमते** इति पाठान्तरः। 2.अत्र स्वार्थे 'धा' प्रत्ययः। 3.श्रियः सीतायाः ईशः

व्याप्त शरीरस्थ जीव **तत्सहाय:**[1]-अपने सुहृद् स्वामी(श्रीराम) के साथ रहते हुए **निजकृतिफलभुक्**-स्वकृत कर्म के फल का भोक्ता होता है, इस प्रकार प्रतिपादित आत्मस्वरूप **तत्त्वजिज्ञासुवेद्य:**-तत्त्वजिज्ञासुओं के द्वारा जानने योग्य है, ऐसा **सूरिवर्य्यैः**-निष्णात विद्वानों के द्वारा **सम्प्रोच्यते**-कहा जाता है।

भाष्य

जीवात्म तत्त्व-जीवात्मा पूर्व में प्रतिपादित प्रकृति(देह, इन्द्रिय, मन, प्राण) और बुद्धि (धर्मभूतज्ञान) से भिन्न, अणुपरिमाण, नित्य, ज्ञाता और ज्ञानस्वरूप है, इसे जीव, आत्मा और प्रत्यगात्मा भी कहा जाता है, अब इस विषय का विस्तार से प्रतिपादन किया जाता है-

अणु परिमाण

स्वामी रामानन्दाचार्य जी ने आत्मा को **सूक्ष्मतोऽत्यन्तसूक्ष्मः** इस प्रकार अत्यन्त सूक्ष्म कहा है। चेतनाचेतनात्मक जगत् में सूक्ष्मता का विचार करने पर अत्यन्त सूक्ष्म परिमाण चेतन जीवात्मा का सिद्ध होता है, इसका अणु परिमाण है। प्रस्तुत श्लोक में सूक्ष्मतोऽत्यन्तसूक्ष्मः कहकर ग्रन्थकार ने आत्मा का अणु परिमाण प्रदर्शित किया है।

यह आत्मा अणु है, विशुद्ध मन से साक्षात्कार करने योग्य है। जिस आत्मा में प्राण, अपान आदि पाँच रूपों में विभक्त होकर मुख्य प्राण स्थित है-**एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश।** (मु.उ.3.1.9) इस श्रुति में आत्मा के परिमाण का वाचक अणु शब्द साक्षात् सुना जाता है। स्वरूपतः ही सूक्ष्म केश के सूक्ष्मतर अग्रभाग के सौ भाग करके उनमें भी एक भाग के सौ भाग करने पर उनमें एक भाग जितना छोटा है, उतना छोटा जीवात्मा है। वह मोक्षदशा में धर्मभूत ज्ञान के विकास से विभुरूप अनन्त(अपरिच्छिन्न) होता है-**वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते॥**(श्वे.उ. 5.9), सूई के अग्रभाग से भी सूक्ष्मतम आत्मा श्रुतियों में प्रतिपादित

स्वामी श्रीशः सीतापतिः, आलये देहे तिष्ठतीति आलयस्थः जीवः, श्रीशेन आक्रान्तः व्याप्तः इति श्रीशाक्रान्तः, सश्चासावालयस्थः श्रीशाक्रान्तालयस्थः। **1.**सः सीतानाथः सहायः उपकारकः सुहृद् यस्य सः जीवः तत्सहायः।

है-**आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः**।(श्वे.उ.5.8) इत्यादि श्रुतियों में अणु के समान वस्तु का उदाहरण देकर उसके समान आत्मा के परिमाण का कथन करने से उसका अणु परिमाण सिद्ध होता है। यह विषय **स्वशब्दोन्मानाभ्यां च**(ब्र.सू.2.3.23) इस सूत्र से प्रतिपादित है। मृत्यु के समय हृदय में रहने वाली यह आत्मा आँख से, मूर्धा (ब्रह्मरन्ध्र) से अथवा शरीर के अन्य स्थानों से उत्क्रमण करती है-**एष आत्मा निष्क्रामति चक्षुषो वा मूर्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः**।(बृ.उ.4.4.2), आत्मा के उत्क्रमण करने पर प्राण उत्क्रमण करता है, प्राण के उत्क्रमण करने पर सभी इन्द्रियाँ उत्क्रमण करती हैं-**तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति, प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति**।(बृ.उ.4.4.2) इत्यादि वाक्यों के द्वारा आत्मा की शरीर से उत्क्रान्ति[1] कही गयी है। जो इस लोक से ऊर्ध्व लोकों को जाने वाले होते हैं, वे सब चन्द्रलोक को ही जाते हैं-**ये वै के चास्माल्लोकात् प्रयन्ति, चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति**।(कौ.उ.1.9) इस श्रुति से आत्मा की गति (गमन) प्रतिपादित है। आत्मा कर्म करने के लिए स्वर्गलोक से पुनः इस लोक में आ जाती है-**तस्माल्लोकात् पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे**।(बृ.उ.4.4.6) इस श्रुति से आत्मा का आगमन कहा जाता है। आत्मा के विभुत्व पक्ष में श्रुतिप्रतिपादित उत्क्रान्ति, गति और आगति(आगमन)संभव संभव नहीं होती अतः उसका अणुपरिमाण ही स्वीकार करना चाहिए। •

जीवात्मा का अणु परिमाण होने पर भी **नित्यः सर्वगतः**।(गी.2.24) यह वचन नित्य जीवात्मा की सभी अचेतन पदार्थों से अत्यन्त सूक्ष्मता होने के कारण उनमें उस(जीवात्मा) का क्रमशः प्रवेश करने का सामर्थ्य होने से (जीवात्मा को) सर्वगत कहता है अथवा जीवात्मा अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण शिला आदि में भी उसके प्रवेश का प्रतिघात(रुकावट) संभव न होने से सर्वगत कहता है।

हृदय में स्थिति

अणु परिमाण वाली आत्मा हृदय में रहती है-**हृदि ह्येष आत्मा**।(प्र.उ.3.6), विज्ञानस्वरूप आत्मा हृदय के मध्य में विद्यमान है-**हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः**।(बृ.उ.4.3.7), जीवात्मा सभी इन्द्रियों के मूलस्थान हृदय में रहता है-**सर्वेन्द्रियकन्दभूते स्थानविशेषे वृत्तिः**(ब्र.सू.भा.1.2.18)। मनुष्य का

1.गति से पूर्वकालिक अवस्था उत्क्रान्ति कहलाती है।

हृदय अंगुष्ठपरिमाण है, इसलिए अणु जीव को अंगुष्ठमात्र भी कहा जाता है। जीवात्मा अंगुष्ठमात्र है, सूर्य के समान स्वयंप्रकाश है-**अंगुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः।**(श्वे.उ.5.8)। गले से नीचे तथा नाभि से एक वित्ता ऊपर जो अधोमुख कमलाकार स्थान है, उसे हृदय जानना चाहिए-**अधो निष्ट्या वितस्त्यां तु नाभ्यामुपरि तिष्ठति। हृदयं तद् विजानीयात्।**(तै.ना.उ.96)। अपरिच्छिन्न ज्ञान, शक्ति आदि गुणों से युक्त परमात्मा चेतन और अचेतन सम्पूर्ण जगत् को सब प्रकार से व्याप्त करके उपास्य बनने के लिये नाभि से दश अंगुल ऊपर हृदय में स्थित है-**स भूमिं सर्वतस्पृत्वात्यतिष्ठद् दशांगुलम्।**(य.सं.31.1) इन प्रमाणों से नाभि के ऊपर तथा कण्ठ से नीचे हृदय की स्थिति ज्ञात होती है।

शंका-अणु आत्मा शरीर के एक भाग हृदय स्थान में रहती है, ऐसा होने पर वह सम्पूर्ण शरीर मे होने वाले सुख दुःख का अनुभव कैसे करती है?

समाधान

धर्मभूतज्ञान के द्वारा आत्मा की सम्पूर्ण शरीर में व्याप्ति-अणु, ज्ञानरूप आत्मा के आश्रित एक ज्ञान रहता है। यह आत्मा का धर्म(गुण या विशेषण) होने से धर्मभूत ज्ञान कहलाता है। यद्यपि अणु आत्मा हृदय में ही रहती है फिर भी उसका ज्ञान गुण व्यापक है। यह ज्ञान अनादि कर्मरूप अविद्या से संकुचित होकर देहव्यापी हो जाता है। जिस प्रकार कमरे के एक स्थान में स्थित मणि या दीपक की प्रभा सम्पूर्ण कमरे में व्याप्त होकर रहती है, उसी प्रकार देह के एक भाग हृदय में रहने वाली आत्मा का धर्मभूत ज्ञान सम्पूर्ण देह में व्याप्त होकर रहता है और जिस प्रकार आकाश के एक भाग में स्थित सूर्य की प्रभा सम्पूर्ण संसार में व्याप्त होकर रहती है, उसी प्रकार शरीर के एक भाग में स्थित आत्मा का ज्ञान गुण सारे शरीर में व्याप्त होकर रहता है। इस विषय का **गुणाद् वालोकवत्**(ब्र.सू 2.3.26) इस सूत्र में प्रतिपादन किया गया है।

धर्मभूतज्ञान में प्रमाण

श्रुतिप्रमाण-ज्ञाता आत्मा के ज्ञान का लोप नहीं होता क्योंकि ज्ञाता आत्मा अविनाशी है-**नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्।**(बृ.उ. 4.3.30), द्रष्टा आत्मा की दृष्टि का लोप नहीं होता क्योंकि द्रष्टा आत्मा

अविनाशी है-**नहि द्रष्टुर्द्रष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्**।(बृ.उ.4.3.23) इन दोनों श्रुतियों से आत्मा का धर्मभूतज्ञान नित्य सिद्ध होता है। उक्त वाक्यों से ज्ञान के विनाश का अभाव ही प्रतीत होता है, उत्पत्ति का अभाव प्रतीत नहीं होता है, ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि स्वरूपतः अनादि भावपदार्थ[1] का नाश सम्भव नहीं, इस कथन से ही उसकी उत्पत्ति का भी अभाव सिद्ध हो जाता है। जिस भावपदार्थ की उत्पत्ति होती है, उसका नाश होता है। जिसका नाश होता है, उसकी उत्पत्ति होती है। धर्मभूतज्ञान का नाश सम्भव न होने से इसकी उत्पत्ति का अभाव ही सिद्ध होता है।

शंका-यहाँ श्रुति में **विज्ञातुः विज्ञातेः** इस प्रकार समानाधिकरण षष्ठी है, अतः उक्त श्रुतिका अर्थ है-ज्ञानस्वरूप ज्ञाता का लोप नहीं होता और ऐसा होने पर यह श्रुति आत्मा की नित्यता का ही प्रतिपादन करती है, उसके धर्मभूतज्ञान की नित्यता का प्रतिपादन नहीं करती।

समाधान-**नहि विज्ञातुः विपरिलोपो विद्यते** इतने कथन से ही ज्ञाता आत्मा की नित्यता सिद्ध हो जाती है अतः इस श्रुति से आत्मा के आश्रित रहने वाले ज्ञान की नित्यता स्वीकार न करने पर 'विज्ञातेः' यह विशेषणवाचक पद व्यर्थ होगा किन्तु श्रुति का कोई भी पद व्यर्थ नहीं होता अतः यह मानना चाहिए कि आत्मस्वरूप की नित्यता के प्रतिपादन में उक्त श्रुति का तात्पर्य नहीं है। 'विज्ञातुः विज्ञातेः' यहाँ व्यधिकरण षष्ठी है, ऐसा स्वीकार करने पर 'विज्ञातेः' पद की व्यर्थता नहीं होती और आत्मा के धर्मभूत ज्ञान की नित्यता सिद्ध होती है। यह श्रुति आत्मा के धर्मभूतज्ञान की नित्यता में आत्मा के अविनाशित्व को हेतु कहती है। इससे यह सिद्ध होता है कि धर्मी आत्मा नित्य होने से उसका धर्मभूतज्ञान भी नित्य है।

आत्मा अविनाशी होने से धर्मभूतज्ञान भी अविनाशी है। आत्मा के अविनाशित्व हेतु के सामर्थ्य से ज्ञान को अविनाशी बताने वाली इस श्रुति से यह सिद्ध होता है कि ज्ञान आत्मा का स्वरूपप्रयुक्त धर्म है। स्वरूपप्रयुक्त धर्म तब तक रहता है, जब तक उसका आश्रय रहता है। जैसे उष्णता अग्नि का स्वरूपप्रयुक्त धर्म है, यह तब तक रहता है, जब तक अग्नि रहती है, इसी प्रकार आत्मा का स्वरूपप्रयुक्त धर्म तब तक रहता है, जब

1.कर्मरूप अज्ञान भी अनादि भावपदार्थ है, इसका ब्रह्मविद्या से नाश होता है। यह अज्ञान प्रवाहतः अनादि है, स्वरूपतः अनादि नहीं है।

तक आत्मा रहती है। आत्मा नित्य होने के कारण सदा रहती है, अतः उसका स्वरूपप्रयुक्त धर्मभूतज्ञान भी सदा रहता है।

अरे! यह आत्मा अविनाशी है, इसका धर्मभूतज्ञान भी अविनाशी है- **अविनाशी वा अरेऽयमात्मा अनुच्छित्तिधर्मा**(बृ.उ.4.5.14) यह श्रुति अविनाशी पद से आत्मा को अविनाशी(नित्य) कहकर अनुच्छित्तिधर्मा पद से उसके धर्मभूतज्ञान को अविनाशी कहती है। जिस पदार्थ का उच्छित्ति अर्थात् विनाश नहीं होता है, वह ज्ञान अनुच्छित्ति अर्थात् अविनाशी कहलाता है-**न विद्यते उच्छित्तिः विनाशो यस्य तद् अनुच्छित्तिः ज्ञानम्**। जिसका धर्मभूतज्ञान अनुच्छित्ति है, वह आत्मा अनुच्छित्तिधर्मा कही जाती है-**अनुच्छित्तिः धर्मो यस्य सोऽयम् अनुच्छित्तिधर्मा** इस प्रकार बहुब्रीहिगर्भबहुब्रीहि समास से आत्मा का धर्मभूतज्ञान अविनाशी कहा जाता है, इससे ज्ञान गुण की नित्यता सिद्ध होती है। इस प्रकार आत्मा के धर्म की ही नित्यता होने पर **अविनाशी वा अरे अयम् आत्मा** इस प्रकार कही गई धर्मी आत्मा की नित्यता कैमुतिकन्याय[1] (कैमुत्यन्याय)से सिद्ध हो जाती है, इसलिए अनुच्छित्ति पद धर्म का विशेषण है।

शंका-न उच्छित्तिः=अनुच्छित्तिः इस प्रकार पहले नञ्तत्पुरुष समास करने पर अनुच्छित्ति का अर्थ अविनाशित्व(विनाश का अभाव) होता है, इसके पश्चात् जिसका अनुच्छित्ति विशेषण है-**अनुच्छित्तिः धर्मः यस्य** इस प्रकार बहुब्रीहि समास करने पर अनुच्छित्तिधर्मा पद का अर्थ अविनाशी आत्मा होती है, इस प्रकार श्रुति तत्पुरुषगर्भबहुब्रीहि समास से आत्मा के ही अविनाशित्व(नित्यत्व) का प्रतिपादन करती है, धर्मभूतज्ञान के नित्यत्व का प्रतिपादन नहीं करती।

शंका-अनुच्छित्तिधर्मा पद का उक्त रीति से अविनाशी आत्मा अर्थ स्वीकार करने पर धर्म पद की व्यर्थता का प्रसंग होता है क्योंकि केवल

1.**किं च तत् उत च, समाहारो वा किमुत। तस्य भावः इत्यर्थे ष्यञ्, कैमुत्यम्। तत्र भवः इत्यर्थे किमुतशब्दाद् अध्यात्मादित्वात् ठञ् कैमुतिकः इति।** जब एक पदार्थ का प्रतिपादन किया गया धर्म दूसरे में अनायास सिद्ध हो जाता है, तब इस न्याय की प्रवृत्ति होती है। जैसे गुणों की प्रधानता के प्रतिपादन से उसके आश्रय ब्रह्म की प्रधानता अनायास सिद्ध हो जाती है क्योंकि गुणों की प्रधानता ब्रह्म की प्रधानता के विना नहीं हो सकती अतः गुणों की प्रधानता के प्रतिपादन से उसके आश्रय ब्रह्म की प्रधानता अनायास सिद्ध हो जाती है।

अनुच्छित्ति पद से आत्मस्वरूप के विनाश का अभाव सिद्ध होता है। जिसका विनाश नहीं होता, वह आत्मा अनुच्छित्ति है-**न विद्यते उच्छित्तिः यस्य स अनुच्छित्तिः आत्मा।** इस प्रकार बहुव्रीहिसमास करने पर केवल अनुच्छित्ति पद से उक्त अर्थ निष्पन्न हो जाता है। अनुच्छित्तिधर्मा पद का अविनाशी आत्मा अर्थ करने पर पुनरुक्ति दोष भी होता है क्योंकि पूर्व में **अविनाशी वा अरे अयम् आत्मा** ऐसा कथन है।

सूत्र प्रमाण

ज्ञोऽत एव(ब्र.सू.2.3.19) सूत्र में आत्मा **ज्ञः=अविनाभूतज्ञानधर्मकः** एव इस प्रकार ज्ञान को चेतन आत्मा का स्वाभाविक धर्म कहा गया है। **यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात्**(ब्र.सू.2.3.30) इस प्रकार ज्ञान को यावद् आत्मभावी अर्थात् आत्मा की विद्यमानता पर्यन्त रहने वाला धर्म कहा गया है। आत्मा नित्य है इसलिए उसका धर्मभूतज्ञान भी नित्य सिद्ध होता है।

सुख-दुःख का अनुभव

जैसे मणि और दीपक अपनी प्रभा के द्वारा सब ओर पदार्थों को प्रकाशित करते हैं, वैसे ही आत्मा अपने धर्मभूत ज्ञान के द्वारा शरीर के प्रत्येक भाग में होने वाले सुखदुःख को प्रकाशित(अनुभव) करती है और जैसे आकाश के एक भाग में विद्यमान सूर्य अपनी प्रभा से सम्पूर्ण संसार को प्रकाशित करता है, वैसे ही शरीर के एक भाग में स्थित आत्मा अपने धर्मभूत ज्ञान से सम्पूर्ण शरीर को और उसमें विद्यमान सुखदुःख को प्रकाशित करती है-**यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः। क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥**(गी.13.33)। शिर में सुखद औषध को लगाने पर मेरे शिर में सुख है और पैर में चोट लग जाने पर मेरे पैर में दुख है(पीड़ा है), इस प्रकार आत्मा सम्पूर्ण शरीर में होने वाले सुख-दुःख का धर्मभूत ज्ञान के द्वारा अनुभव करती है।

देह के आरम्भक प्रारब्ध कर्म के कारण जीवात्मा का ज्ञान गुण एक देह में व्याप्त होकर रहता है, दूसरी देह में व्याप्त नहीं होता इसलिए आत्मा एक काल में एक शरीर को धारण करती है, यह कथन निर्विवाद है किन्तु एक ही शरीर में आत्मा रहने पर भी धर्मभूतज्ञान की व्याप्ति से योगी

अनेक शरीर धारण करते हैं। योगसिद्धि से योगियों के धर्मभूत ज्ञान का अनेक शरीर में प्रसार(व्याप्ति) होता है, जिससे वे अनेक शरीर से सुखदुःख का अनुभव करते हैं।

शरीर के जिस अवयव से भोग होता है, उस अवयव से होने वाले भोग के हेतु कर्म का नाश होने पर उस अवयव में ज्ञान की व्याप्ति नहीं रहती है, इसी अभिप्राय से 'हे सोम्य! जब जीव इस महान् वृक्ष की एक शाखा को छोड़ देता है, तब वह सूख जाती है'-**तस्य यदेकां शाखां जीवो जहाति, अथ सा शुष्यति।**(छां.उ.6.11.2) यह वचन प्रवृत्त होता है। ब्रह्मविद्या से ज्ञान के संकोच का हेतु कर्म का विनाश हो जाता है इसलिए मुक्तात्मा धर्मभूतज्ञान की व्याप्ति से ही स्वसंकल्पानुसार अनेक शरीरों को धारण करते हैं। अणु आत्मा मुक्तावस्था में धर्मभूतज्ञान के विकास से विभुरूप अनन्त होती है-**स चाऽनन्त्याय कल्पते।**(श्वे.उ.5.9) इस प्रकार मुक्तात्मा का धर्मभूतज्ञान व्यापक कहा गया है।

अजन्मा

शरीर का जन्म होता है, आत्मा का नहीं, इस कारण आत्मा को अज अर्थात् अजन्मा कहा जाता है। यह आत्मा अजन्मा है-**अजः।**(क.उ.1.2.18), आत्मा जन्म नहीं लेती, मरती भी नहीं-**न जायते म्रियते वा विपश्चित्।**(क.उ.1.2.18)।

नित्य

तीनों कालों में रहने वाली वस्तु को नित्य कहते हैं-**सर्वकालवर्तमानत्वं हि नित्यत्वम्।**(श्रीभा.1.1.1)। आत्मा भूत, वर्तमान और भविष्यत् इन तीनों कालों में विद्यमान रहती है, वह नित्य है। वह अनन्त भूत में थी, अभी है और अनन्त भविष्य में रहेगी। उसका अभाव न तो पहले था, अभी नहीं है और आगे भी नहीं होगा। उत्पत्ति और विनाश से रहित वस्तु को नित्य कहते हैं-**उत्पत्तिविनाशरहितत्वं नित्यत्वम्।** आत्मा अजन्मा है और नित्य है-**अजो नित्यः**(क.उ.1.2.18), आत्मा नित्यों में नित्य है-**नित्यो नित्यानाम्**(क.उ.2.2.13) यहाँ नित्यानाम् पद से नित्य जीवात्माएँ कही जाती हैं और नित्य पद से नित्य परमात्मा कहा जाता है। आत्मा जन्म नहीं लेती, मरती भी नहीं-**न जायते म्रियते वा विपश्चित्।**(क.उ.1.2.18)।

आत्मा न तो मारती है और न ही स्वयं मरती है-**नायं हन्ति न हन्यते।**(क. उ.1.2.19, गी.2.19), अरे! यह आत्मा अविनाशी है-**अविनाशी वाऽरेऽयमात्मा।**(बृ.उ.4.5.14), जिस चेतन आत्मतत्त्व से यह समस्त अचेतन जगत् व्याप्त है, उसे अविनाशी जानो एवं कोई भी इस अव्यय आत्मा का विनाश नहीं कर सकता है-**अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्। विनाशम् अव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्तुमर्हति॥**(गी.2.17), नित्य आत्मा के ये शरीर विनाशी हैं-**अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ता शरीरिण:।**(गी.2.18) इत्यादि वचन आत्मा के नित्यत्व का निरूपण करते हैं। जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को छोड़कर दूसरे नूतन वस्त्र धारण करता है, वैसे ही आत्मा जीर्ण शरीर को छोड़कर अन्य नूतन शरीर धारण करती है-**वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि। तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥**(गी.2.22) यह वाक्य एक आत्मा के पूर्व-पूर्व देह के परित्यागपूर्वक उत्तरोत्तर नाना प्रकार के नूतन देह के परिग्रह का वर्णन करता है। देहपात के पश्चात् प्राप्त होने वाले स्वर्गादि फल के साधन का विधान करने वाले वाक्य भोक्ता आत्मा के नित्यत्व के विना सिद्ध नहीं होते, इसलिए उनसे भी आत्मा के नित्यत्व की अनुमिति होती है।

नित्यता दो प्रकार की है-स्वरूपत: नित्यता और प्रवाहत: नित्यता। जीवात्मस्वरूप और परमात्मस्वरूप सदा यथावत् बने रहते हैं, उनके स्वरूप का कोई परिणाम नहीं होता इसलिए जीवात्मा और ब्रह्म की नित्यता स्वरूपत: नित्यता कही जाती है तथा प्रकृति के स्वरूप का महदादि रूपों में परिणाम होता है, इस प्रकार प्रकृति स्वरूपत: नित्य न होने पर भी उसका किसी न किसी रूप में प्रवाह सदा बना रहता है अत: उसकी नित्यता प्रवाहत: नित्यता कही जाती है। स्वरूपत: नित्यता को कूटस्थ नित्यता कहते हैं तथा प्रवाहत: नित्यता को परिणामी नित्यता कहते हैं।

'मैंने जिसे पहले देखा था, उसे ही अब देख रहा हूँ' इस प्रतिसंधान से भी पूर्वकालीन तथा वर्तमानकालीन द्रष्टा आत्मा की नित्यता(स्थिरता) सिद्ध होती है। आत्मा को अनित्य मानने पर यह प्रतिसन्धान संभव नहीं होगा।

जीवात्मा जीवनपर्यन्त कुछ न कुछ करती ही रहती है। इस जीवन के बाद या प्रलयकाल में इसका नाश स्वीकार करने पर कृतविप्रणाश दोष उपस्थित होता है। फल भोगे विना ही कर्मों का नाश होना कृतविप्रणाश दोष है। जीवात्मा पहले नहीं था, फिर उत्पन्न हुआ, ऐसा स्वीकार करने पर उसे ऐसे कर्मों का फल भोगना होगा, जिसे उसने किया ही नहीं। इस प्रकार अकृताभ्यागम दोष प्राप्त होता है। विना किये कर्मों का फल भोगना ही अकृताभ्यागम दोष है। इन दोषों का निराकरण आत्मा का नित्यत्व स्वीकार करने पर ही होता है। यह विषय **नात्मा श्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः**(ब्र.सू.2.3.18) इस सूत्र में प्रतिपादित है।

शंका-आत्मा को जन्म-मृत्यु से रहित नित्य स्वीकार करने पर शास्त्रों में कहे उसके जन्म और मृत्यु कैसे सम्भव होते हैं?

समाधान-आत्मा का नूतन देह के साथ संयोग ही आत्मा का जन्म है और आत्मा से पूर्वदेह का वियोग ही आत्मा की मृत्यु है, जैसे-प्राणी जन्म लेता है, इसका अर्थ है **'आत्मा का नूतन देह के साथ संयोग होता है'** और प्राणी मरता है, इसका अर्थ है कि आत्मा का पूर्व देह से वियोग होता है। जन्म और मृत्यु की ऐसी परिभाषा होने से शास्त्रों में वर्णित आत्मा के नित्यत्वप्रतिपादक उक्त वचन सार्थक होते हैं तथा जिससे सभी प्राणी(बद्ध आत्माएँ) जन्म लेते हैं-**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते**।(तै.उ.3.1.1)। हे सोम्य! ये सभी प्राणी सत् वस्तु से उत्पन्न हुए हैं, सत् में स्थित हैं और सत् में लीन(मृत्यु को प्राप्त) होने वाले हैं-**सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः**।(छां.उ.6.8.4)। परमात्मा ने प्राणियों की रचना की-**प्रजापतिः प्रजा असृजत**।(ग.पू.उ.1.2) इत्यादि आत्मा के जन्म-मरण के बोधक वचन भी सार्थक होते हैं। आत्मा का स्वरूपतः जन्म नहीं होता और मृत्यु भी नहीं होती अतः आत्मा के जन्म और मृत्यु का निषेध करने वाले वचन उसके स्वरूपतः जन्म और मृत्यु का निषेध करते हैं किन्तु बद्धावस्था में आत्मा का उत्तर देह के साथ संयोगरूप जन्म और पूर्वदेह का वियोगरूप मृत्यु जो कर्म उपाधि के कारण होती है, उसका शास्त्र निषेध नहीं करते।

ज्ञाता और ज्ञानरूप आत्मा

प्रस्तुत श्लोक में ज्ञ पद से ज्ञान का आश्रय अर्थात् ज्ञाता आत्मा कही

जाती है और चेतन पद से वही आत्मा ज्ञानरूप कही जाती है।

आत्मा चेतन है, चेतन वस्तु स्वयंप्रकाश होती है, जड़ वस्तु स्वयंप्रकाश नहीं होती। यहाँ स्वयंप्रकाश का अर्थ है-स्वयं को जानने वाला। स्वयंप्रकाश होने के कारण आत्मा ज्ञानस्वरूप कही जाती है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, इसका अर्थ है-आत्मा स्वरूपभूत ज्ञान से अपने को जानती रहती है। जैसे अन्धकार में स्थित घटादि को जानने के लिए प्रकाश की अपेक्षा होती है किन्तु प्रकाश को जानने के लिए अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं होती, वैसे ही ज्ञानरूप आत्मा को जानने के लिए अन्य ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती अतः आत्मा स्वयं प्रकाश कही जाती है। धर्मभूतज्ञान का आश्रय होने से आत्मा ज्ञाता कही जाती है, धर्मभूतज्ञान विषय का प्रकाशक होता है। प्रकाशित होने वाली वस्तु जिसके लिए प्रकाशित होती है, वह ज्ञाता होता है। ज्ञान से प्रकाशित होने वाले घट आदि पदार्थ आत्मा के लिए प्रकाशित होते हैं और अपने से प्रकाशित होने वाला वह ज्ञान भी आत्मा के लिये प्रकाशित होता है इसलिए आत्मा ज्ञाता कही जाती है। आत्मा का स्वरूपभूत ज्ञान केवल आत्मस्वरूप का प्रकाशक होता है और धर्मभूतज्ञान विषय को तथा अपने को प्रकाशित करते हुए अपने आश्रय आत्मा का भी प्रकाश करता है। जैसे मैं घट को जानता हूँ - 'घटज्ञानवानहम्' इस प्रकार ज्ञान घट विषय का अपना और अपने आश्रय ज्ञाता आत्मा का प्रकाश करता है। वह अपने आश्रय आत्मा के लिए विषय का तथा अपना प्रकाश करता है, इसीलिए आत्मा विषय का तथा ज्ञान का भी ज्ञाता होती है।

प्रकाशित होने वाली वस्तु जिसके लिए प्रकाशित होती है, उसे ज्ञाता कहते हैं-**भासमानं वस्तु यस्मै भाति, स हि ज्ञाता।**(श्रु.प्र.2.3.19) घटादि पदार्थ ज्ञान से प्रकाशित होते हैं और ज्ञान स्वयं प्रकाशित होता है। इस प्रकार विषय और ज्ञान ये दोनों ही प्रकशित होते हैं। ज्ञान से घटादि विषय आत्मा के लिए प्रकाशित होते हैं इसलिए आत्मा उनका ज्ञाता होती है। उनको विषय करने वाला ज्ञान भी आत्मा के लिए प्रकाशित होता है इसलिए ज्ञान का भी ज्ञाता(अनुभविता) आत्मा होती है। आत्मा की ज्ञानरूपता स्वाभाविक है। ज्ञातृत्व विकार(आगन्तुक धर्म) नहीं है क्योंकि ज्ञानगुणाश्रयत्व ही ज्ञातृत्व है। ज्ञान नित्य आत्मा का स्वाभाविक धर्म है इसलिए आत्मा का ज्ञानाश्रयत्वरूप ज्ञातृत्व भी स्वाभाविक है। ज्ञाता के

धर्मभूत ज्ञान का लोप नहीं होता-**न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते।** (बृ.उ.4.3.30) इत्यादि श्रुतियाँ आत्मा के आश्रित रहने वाले धर्मभूतज्ञान को स्वाभाविक कहती हैं। ज्ञान के स्वाभाविक होने से आत्मा का ज्ञानाश्रयत्व रूप ज्ञातृत्व भी स्वाभाविक ही है।

शंका-आत्मा को ज्ञान स्वरूप ही मानना चाहिए, ज्ञान का अधिकरण नहीं।

समाधान-यदि आत्मा केवल ज्ञानस्वरूप होती, ज्ञान का आधार नहीं होती तो 'मैं ज्ञान हूँ' ऐसा ही अनुभव होना चाहिए। 'मैं जानता हूँ' ऐसा अनुभव नहीं होना चाहिए किन्तु 'मैं घट को जानता हूँ', 'मैं पट को जानता हूँ' ऐसा भी सभी का अनुभव होता है, इससे सिद्ध होता है कि आत्मा केवल ज्ञानस्वरूप नहीं है, वह ज्ञानस्वरूप के साथ ज्ञाता भी है।

नैयायिक विद्वान् आत्मा को ज्ञान का आश्रय मानते हैं, ज्ञानस्वरूप नहीं मानते। निर्विशेषाद्वैती विद्वान् आत्मा को ज्ञानस्वरूप मानते हैं, ज्ञान का आश्रय नहीं मानते किन्तु बोधायनमतानुयायी सविशेषाद्वैत(विशिष्टाद्वैत) वेदान्ती श्रुतियों के अनुसार आत्मा को ज्ञानस्वरूप तथा ज्ञान का आश्रय दोनों ही मानते हैं। जो यह जानता है कि मैं इसे सूँघूँ, वह आत्मा है-**अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा।**(छां.उ.8.12.4)। जिस परमात्मा से अनुगृहीत हुआ आत्मा सबको जानता है-**येनेदं सर्वं विजानाति।**(बृ.उ.2.4. 14) ब्रह्मदर्शी सबको जानता है-**सर्वं ह पश्यः पश्यति।**(छां.उ.7.26.2) इत्यादि श्रुतियाँ आत्मा को ज्ञाता कहती हैं। जो परमात्मा ज्ञानरूप आत्मा में रहता हुआ-**यो विज्ञाने तिष्ठन्**(बृ.उ.3.7.26) इत्यादि श्रुतियाँ आत्मा को ज्ञानरूप कहती हैं। यह रूप का ज्ञाता, स्पर्श का ज्ञाता, शब्द का ज्ञाता, गन्ध का ज्ञाता, रस का ज्ञाता, मनन का आश्रय, ज्ञान का आश्रय, कर्ता तथा ज्ञानरूप आत्मा है-**एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः।**(प्र.उ.4.9)। यह श्रुति आत्मा को ज्ञाता तथा ज्ञानरूप दोनों कहती है। इसमें विज्ञानात्मा पद से आत्मा को ज्ञानरूप कहा जाता है। बोद्धा पद से आत्मा को सामान्यरूप से ज्ञाता कहा जाता है और द्रष्टा आदि पदों से विशेषरूप से ज्ञाता कहा जाता है।

ब्रह्मदर्शी सभी का अनुभव करता है-**सर्वं ह पश्यः पश्यति।**(छां.उ.7. 26.2), जिस परमात्मा से अनुग्रहीत हुआ जीवात्मा सभी को जानता है-**येनेदं सर्वं विजानाति।** इस प्रकार मुक्त के सर्वविषयकज्ञातृत्व का

प्रतिपादन किया जाता है। ब्रह्मदर्शी मृत्यु का अनुभव नहीं करता, रोग का अनुभव नहीं करता, प्रतिकूलता का अनुभव नहीं करता-**न पश्यो मृत्युं पश्यति, न रोगं नोत दुःखताम्।**(छां.उ.7.26.2) इस प्रकार कर्मजन्य जो मृत्यु आदि पदार्थ होते हैं, मुक्तावस्था में उनके प्रति आत्मा के ज्ञातृत्व का निषेध किया जाता है। सर्वथा आत्मा के ज्ञातृत्व का निषेध नहीं किया जाता अतः आत्मा सर्वदा ज्ञाता और ज्ञानस्वरूप है। आत्मा में विद्यमान ज्ञातृत्व की सुषुप्ति आदि में अनुभूति न होना **पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात्** (ब्र.सू.2.3.31) इस सूत्र से सिद्ध है।

शंका-आत्मा तथा उसके धर्म की ज्ञानरूपता समान होने पर उन दोनों में आश्रय-आश्रयीभाव कैसे संभव है?

समाधान-दोनों की ज्ञानरूपता समान होने पर भी आत्मा प्रत्यक्(स्वस्मै स्वयं भासमान) तथा धर्म पराक्(परस्मै स्वयं भासमान) है अतः किसी रूप से समानता होने पर भी उनमें आश्रय--आश्रयी भाव सम्भव होता है। किञ्चिद् समानता को भी आश्रय-आश्रयीभाव का विरोधी मानने पर प्रमेयत्वेन सब की समानता होने से द्रव्य और गुण में भी आश्रय-आश्रयीभाव सिद्ध नहीं होगा। नैयायिक अवयव और अवयवी दोनों के द्रव्य होने पर भी उनमें आश्रय-आश्रयी भाव मानते हैं। वैसे ही स्वरूप और धर्म दोनों के द्रव्य होने पर आश्रय-आश्रयी भाव संभव होता है।

जिस प्रकार दीपक और प्रभा ये दोनों तेज पदार्थ होने पर भी प्रभा का आश्रय दीपक होता है तथा सूर्य और उसकी प्रभा दोनों तेज पदार्थ होने पर भी प्रभा का आश्रय सूर्य होता है, उसी प्रकार आत्मा और धर्मभूतज्ञान ये दोनों ज्ञान होने पर भी धर्मभूतज्ञान का आश्रय आत्मा होती है। जैसे दीपक और सूर्य का अपृथक्सिद्ध धर्म प्रभा है वैसे ही आत्मस्वरूप का अपृथक्सिद्ध धर्म ज्ञान है। इन दोनों में यह भेद है कि आत्मा का स्वरूपभूत ज्ञान केवल आत्मस्वरूप को प्रकाशित करता है तथा धर्मभूतज्ञान विषय का, अपना (ज्ञान का) और अपने आश्रय आत्मा का भी प्रकाश करता है। मैं घट को जानता हूँ- 'घटज्ञानवानहम्' इस प्रकार ज्ञान घट विषय का अपना और अपने आश्रय ज्ञाता आत्मा का प्रकाश करता है। वह अपने आश्रय आत्मा के लिए विषय का तथा अपना प्रकाश करता है। धर्मभूतज्ञान ही विषयों को प्रकाशित करता है, अन्य कोई नहीं क्योंकि दीपक होने पर भी ज्ञान के

विना विषयों का प्रकाश नहीं होता। इन्द्रियाँ ज्ञान की उत्पत्ति में साधन हैं किन्तु उनसे विषय का प्रकाश नहीं होता। इन्द्रियसम्बन्ध आदि सहायक सामग्री होने पर ही ज्ञान विषय का प्रकाश करता है, इनके न होने पर प्रकाश नहीं करता। आत्मा का धर्मभूत ज्ञान द्वारा मन से सम्बन्ध होता है, मन का चक्षु आदि इन्द्रिय से, इन्द्रिय के द्वारा धर्मभूत ज्ञान घटादि विषय से सम्बन्धित होकर, विषयाकार होकर विषय को प्रकाशित करता है। धर्मभूत ज्ञान का घटाकार परिणाम ही घट ज्ञान है, पटाकार परिणाम ही पटज्ञान है। इसे(ज्ञान के विषयाकार परिणाम को) ही वृत्ति कहते हैं, इस प्रकार आत्मा धर्मभूत ज्ञान द्वारा विषयों को प्रकाशित (अनुभव) करती है। ज्ञानयोग में प्रवृत्त होने पर ज्ञान ब्रह्मात्मक आत्मस्वरूप को प्रकाशित करता है तथा आत्मसाक्षात्कार के अनन्तर भक्तियोग में प्रवृत्त होने पर भक्तिरूपापन्न ज्ञान परमात्मा को भी प्रकाशित करता है।

शंका-जिस विशिष्टाद्वैत वेदान्ती के मत में आत्मा की तरह उसका धर्मभूतज्ञान भी नित्य है, उसके मत में विषयप्रकाशक, नित्य धर्मभूतज्ञान से ही सभी व्यवहारों का निर्वाह हो जाता है इसलिए उस ज्ञान के आश्रय ज्ञाता आत्मा की कल्पना नहीं करनी चाहिये।

समाधान-यदि हमारे मत में प्रत्यभिज्ञा की असिद्धि आदि दोषों के कारण धर्मभूतज्ञान एवं उसके आश्रय आत्मा की कल्पना की जाती तो आपकी शंका का औचित्य होता। हम तो श्रुति के अनुसार पदार्थों को स्वीकार करने वाले हैं। **नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते।**(बृ.उ.4.3.30) इस श्रुति में **विज्ञातुर्विज्ञातेः** इस अंश के द्वारा आत्मा का ज्ञानाश्रयत्वरूप ज्ञातृत्व कहा जाता है। **विज्ञातुः** यहाँ आयी हुई षष्ठी विभक्ति के द्वारा ज्ञान और ज्ञाता का भेद कहा जाता है और **विपरिलोपो न विद्यते** इस अंश के द्वारा धर्मभूतज्ञान की नित्यता का प्रतिपादन किया जाता है। **अविनाशी वा अरेऽयमात्मा अनुच्छित्तिधर्मा।**(बृ.उ.4.5.14) इस श्रुति के द्वारा आत्मा और उसके धर्मभूत ज्ञान की नित्यता का प्रतिपादन किया जाता है। इस प्रकार हम ज्ञान तथा उसके आश्रय आत्मा का नित्यत्व स्वीकार करते हैं। इसका विस्तार 'विशिष्टाद्वैत वेदान्त का विस्तृत विवेचन' ग्रन्थ में धर्म भूतज्ञान विवेचन के नित्यत्व प्रसंग में देखना चाहिए। श्रुतिप्रमाण के अनुसार पदार्थों को स्वीकार करने वाले सविशेषाद्वैत वेदान्तमत में लाघव-गौरव को लेकर

भी कोई शंका नहीं की जा सकती।

आत्मा विज्ञानघन होने पर भी उसमें श्रुत्यन्तर से सिद्ध ज्ञातृत्व आदि धर्मों के होने में कोई विरोध नहीं है। जैसे सैन्धवघन(नमक का टुकड़ा) रसना इन्द्रिय से ज्ञात रसघन होने पर भी उसमें चक्षु आदि इन्द्रियों से ज्ञात रूप तथा कठोरता आदि के होने में कोई विरोध नहीं है। रस वाले आम्र आदि फलों में त्वक्(छिलका) आदि स्थानभेद से रसभेद होता है किन्तु जैसे सैन्धवघन सर्वत्र एकरस ही है, वैसे आत्मा सर्वत्र विज्ञानस्वरूप ही है। ज्ञानमात्र को आत्मा स्वीकार करने पर उसका श्रोता भी दुर्लभ होगा क्योंकि ज्ञानमात्र को श्रोता कोई भी नहीं मानता। अहंकार को श्रोता मानने पर मोक्ष में उसका नाश होने के कारण स्वनाशक श्रवण आदि में किसी की भी प्रवृत्ति नहीं होगी। इस विवरण से स्पष्ट है कि आत्मा ज्ञानमात्र नहीं है, अपितु ज्ञाता भी है।

प्रस्तुत श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर ग्रन्थ में जीवात्मा ज्ञाता (ज्ञानाश्रय) कहा गया है, इस कथन से ही आत्मा कर्ता है और भोक्ता है, इसका भी कथन हो जाता है क्योंकि कर्तृत्व और भोक्तृत्व ज्ञान की अवस्थाविशेष हैं। अब प्रसंगवश सुखादि का वर्णन किया जाता है–

सुख

अनुकूलरूप से अनुभव में आने वाला ज्ञान ही सुख कहलाता है।

दुःख

प्रतिकूलरूप से अनुभव में आने वाला ज्ञान ही दुःख कहलाता है।

काम

अनुकूल विषय को प्राप्त करने की इच्छा ही काम कही जाती है।

इच्छा

अपेक्षात्मक ज्ञान ही इच्छा कहा जाता है। इसी प्रकार कृति (प्रयत्न) भी अवस्थाविशेष को प्राप्त किया हुआ ज्ञान ही है।

कर्तृत्व

कृति अर्थात् प्रयत्न का आश्रय कर्ता कहलाता है–कृतिमत्त्वं कर्तृत्वम्।

प्रयत्न का आश्रय चेतन आत्मा होती है, जड़ पदार्थ नहीं होता। जानता है, इच्छा करता है, प्रयत्न करता है और कार्य करता है-जानाति, इच्छति, यतते, करोति च, इस सुव्यवस्थित वाक्यप्रयोग के अनुसार ज्ञान तथा चिकीर्षा(करने की इच्छा) पूर्वक ही प्रयत्न होता है। अतः ज्ञानचिकीर्षा-पूर्वक प्रयत्न करने वाले को कर्ता कहते हैं-**ज्ञानचिकीर्षापूर्वककृतिमत्त्वं कर्तृत्वम्।** ज्ञान, इच्छा तथा प्रयत्न पूर्व में होने पर ही सभी कार्य किये जाते हैं। क्रिया की अपेक्षा प्रयत्न आन्तरिक है, प्रयत्नत्व धर्मभूत ज्ञान की अवस्थाविशेष है। प्रयत्न के पश्चात् क्रिया सम्पन्न होती है। जैसे-ग्रामं गच्छति, यहाँ गमन क्रिया के अनुकूल (ज्ञानचिकीर्षापूर्वक) प्रयत्न का आश्रय चेतन आत्मा है इसलिए उसमें ही कर्तृत्व है। 'रथो गच्छति' इत्यादि प्रयोगों में धातु(गम् धातु) का अर्थ व्यापार(गमन क्रिया) का आश्रय अचेतन रथ होने के कारण उसे उपचार से कर्ता कहा जाता है।

ज्ञानचिकीर्षापूर्वककृति शब्द से मतुप् प्रत्यय करने पर ज्ञानचिकीर्षापूर्वक-कृतिमत् तथा इससे भाव में त्व प्रत्यय करने पर 'ज्ञानचिकीर्षापूर्वककृतिमत्त्वम्' शब्द बनता है। ज्ञानचिकीर्षापूर्वककृतिमत् का अर्थ है-ज्ञानचिकीर्षापूर्वककृति का आश्रय। कृति का आश्रय आत्मा होती है। कृतिमत्त्व का अर्थ है-कृति के आश्रय आत्मा में रहने वाला। कृति के आश्रय आत्मा में कृति रहती है। इस प्रकार ज्ञानचिकीर्षापूर्वककृतिमत्त्व का अर्थ है-ज्ञानचिकीर्षापूर्वककृति अर्थात् ज्ञानचिकीर्षापूर्वककृति ही कर्तृत्व है और इसका आश्रय होने से आत्मा को कर्ता कहते हैं। कर्तृत्व ज्ञान की अवस्थाविशेष है इसलिए आत्मा को ज्ञाता कहने पर कर्ता का भी कथन हो जाता है।

सांख्यमत

गुणों का कर्तृत्व-सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण हैं। त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही सब कुछ करती है। उस अचेतन त्रिगुणात्मिका प्रकृति का ही कर्तृत्व है, आत्मा निर्विकार है, निर्धर्मक है, उसका कर्तृत्व नहीं हो सकता।

त्रिगुणात्मिका प्रकृति से त्रिगुणात्मिका बुद्धि (महत्) उत्पन्न होती है। जैसे मिट्टी से उत्पन्न घट को मिट्टी कहा जाता है, वैसे ही प्रकृति से उत्पन्न बुद्धि को भी प्रकृति कहा जाता है। कर्तृत्व बुद्धि का स्वाभाविक धर्म है, आत्मा का नहीं। जैसे-स्फटिक स्वच्छ होती है किन्तु वह जपाकुसुम(गुडहल का पुष्प) उपाधि के निकट विद्यमान् होने से रक्त

प्रतीत होती है, वैसे ही कर्तृत्वादि से रहित आत्मा है किन्तु वह बुद्धि उपाधि के सन्निहित होने पर कर्ता प्रतीत होती है। जैसे स्फटिक में लाल रंग औपाधिक (कल्पित या आरोपित) है, वैसे ही आत्मा में कर्तृत्व औपाधिक है।

वेदान्तमत

आत्मा का कर्तृत्व-अचेतन पदार्थ का कर्तृत्व नहीं हो सकता, वह आत्मा का ही धर्म है। जपाकुसुम में पहले से लाल रंग विद्यमान है। वही स्फटिक में भासता है इसलिए स्फटिक का लाल रंग औपाधिक माना जाता है किन्तु बुद्धि जड़ होने से उसमें कर्तृत्व है ही नहीं, तो उसके सम्बन्ध से आत्मा में भी कर्तृत्व नहीं हो सकता। चेतन आत्मा के सम्बन्ध के विना बुद्धि में कर्तृत्व स्वीकार करने पर आत्मा को स्वीकार करने की आवश्यकता ही नहीं और ऐसा होने पर चार्वाक मत विजयी होगी क्योंकि वह अचेतन पदार्थ का कर्तृत्व स्वीकार करता है। इन दोषों के कारण आत्मा का ही स्वाभाविक कर्तृत्व स्वीकार करना चाहिए।

शंका-जिस प्रकार केवल लेखनी लेखक (लेख का कर्ता) नहीं होती है, केवल देवदत्त लेखक नहीं होता है अपितु लेखनीविशिष्ट देवदत्त लेखक होता है। उसी प्रकार केवल बुद्धि कर्ता नहीं है, केवल आत्मा कर्ता नहीं है अपितु बुद्धिविशिष्ट आत्मा कर्ता है।

समाधान-यह कहना उचित नहीं क्योंकि विचार करने पर करणत्व लेखनी में तथा कर्तृत्व देवदत्त में ज्ञात होता है उसी प्रकार करणत्व बुद्धि में तथा कर्तृत्व आत्मा में ज्ञात होता है। अतः इस दृष्टान्त के द्वारा भी आत्मा में कर्तृत्व का निषेध नहीं हो सकता है।

शंका-कार्यकारणकर्तृत्वे[1] हेतुः प्रकृतिरुच्यते। पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते।(गी.13.20) इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता में प्रकृति को कर्ता और आत्मा को भोक्ता कहा गया है तो आप आत्मा को कर्ता कैसे स्वीकार करते हैं?

समाधान-गीता के उक्त श्लोक में ही आत्मा को भोक्ता कहा गया है, कर्ता फल का भोक्ता होता है। शास्त्र में कहे गये स्वर्गादि फल कर्म के

1.अत्र **कार्यकरणकर्तृत्वे** इति पाठान्तरम्।

कर्ता को प्राप्त होते हैं **शास्त्रफलं प्रयोक्तरि**(मी.सू.3.7.18) यह नियम है इसलिए आत्मा को भोक्ता कहे जाने से उसे ही कर्ता स्वीकार करना चाहिए। श्लोक में प्रकृति को कर्ता कहे जाने से प्रकृति को ही कर्ता स्वीकार करना चाहिए, ऐसी शंका करना व्यर्थ है क्योंकि वैसा श्लोक का अर्थ नहीं है। श्लोक का अर्थ इस प्रकार है-**कार्यकारणकर्तृत्वे**=क्रिया का उत्पादक देह और इन्द्रिय होने में अर्थात् देह-इन्द्रिय से सम्पन्न होने वाली क्रियाओं में **प्रकृति**=देहेन्द्रियरूप में परिणत प्रकृति हेतु है। देहेन्द्रिय के विना उनसे सम्पन्न होने वाली क्रियाएँ नहीं हो सकतीं अतः उन क्रियाओं का हेतु देहेन्द्रिय को कहा गया है, इससे आत्मा के धर्म कृत्याश्रयत्वरूप कर्तृत्व का निषेध नहीं होता।

शास्त्र प्रवर्तक होता है। **स्वर्गकामो यजेत** तथा **आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः**।(बृ.उ.2.4.5, 4.5.6) इत्यादि शास्त्र अपने अर्थ का बोध कराकर अभीष्ट फल के साधन में मनुष्य की प्रवृत्ति के जनक होते हैं। फलभोग का इच्छुक ही फल के साधन कर्म को करता है। इससे फल का भोक्ता ही कर्ता सिद्ध होता है इसलिए निषिद्ध कर्मों के फल अनिष्ट नरकादि से बचने के लिए तथा विहित कर्मों के अभीष्ट फल की प्राप्ति के लिए मनुष्य शास्त्रवश्य=शास्त्र के अधीन रहने वाला अर्थात् शास्त्र के अनुसार आचरण करने वाला होता है। यदि गुणों(बुद्धि) को ही कर्ता माना जाय तो आत्मा(मनुष्यदेहधारी आत्मा) का शास्त्रवश्यत्व=शास्त्र के अधीन रहना सिद्ध नहीं होता क्योंकि बुद्धि जड़ है, इसलिए शास्त्र उसे बोध नहीं करा सकते। शास्त्र से जिसे बोध होता है, वही फल के साधन में प्रवृत्त हो सकता है। मनुष्य शास्त्रवश्य है, उससे भिन्न पशु, पक्षी, कीट आदि शास्त्रवश्य नहीं हैं। सुखदुःख का भोक्तृत्व आत्मा में ही प्रसिद्ध है, वह तभी संभव है, जब आत्मा का कर्तृत्व हो। यदि आत्मा का कर्तृत्व न स्वीकार किया जाए, बुद्धि का कर्तृत्व स्वीकार किया जाए तो आत्मा का भोक्तृत्व भी संभव नहीं होगा, अतः आत्मा के शास्त्रवश्यत्व और भोक्तृत्व की सिद्धि के लिए उसका कर्तृत्व स्वीकार करना चाहिए।

गुणसंसर्गकृत सासांरिक कर्मों में आत्मा का कर्तृत्व

पुण्य-पाप के जनक सांसरिक कर्म करने में आत्मा का कर्तृत्व उसके(आत्म) स्वरूप के कारण नहीं है अपितु गुणों के संसर्ग के कारण

है और (आत्मा का) कर्तृत्व ईश्वर के अधीन है।

अनादि पुण्यपापात्मक कर्मों के कारण जीव का गुणों(गुणमयी प्रकृति के कार्य देहेन्द्रिय) से संसर्ग होता है। इससे मिथ्या ज्ञान (1.देह को आत्मा समझना, 2.जो पदार्थ अपना नहीं है उसे अपना समझना और 3.ब्रह्मात्मक अर्थात् ब्रह्म से नियाम्य पदार्थ को स्वतन्त्र समझना) होता है। मिथ्या ज्ञान होने पर आत्मा मोक्ष के साधन में प्रवृत्त न होकर पुण्यपाप के जनक सांसारिक कर्मों में प्रवृत्त होती है, इससे पुनः गुणों के साथ संसर्ग होता है। इस प्रकार संसार चक्र चलता रहता है। सांसारिक कर्मों के करने में आत्मा का कर्तृत्व स्वरूपतः नहीं है, वह तो पूर्वकर्ममूलक गुणों के संसर्ग के कारण है-**सांसारिकप्रवृत्तिषु जीवस्य कर्तृत्वं सत्त्वादिगुणसंसर्गकृतं न स्वरूपप्रयुक्तम्।**(ब्र.सू.आ.भा.2.3.34), सांसारिक कर्मों को करने में गुणों का संसर्ग निमित्त (उपाधि) है। मुक्तावस्था में उपाधि के न रहने से औपाधिक कर्मों का कर्तृत्व नहीं रहता। ब्रह्मानुभव के प्रति आत्मा का जो स्वाभाविक कर्तृत्व है, वह कभी भी निवृत नहीं होता। कर्मरूप अज्ञान बद्धावस्था में ब्रह्मानुभव का प्रतिबन्धक होता है। ब्रह्मसाक्षात्कार से इसकी निवृत्ति होने पर सदा ब्रह्मानुभव होता रहता है। जब द्रष्टा गुणों से भिन्न कर्ता को नहीं देखता अर्थात् सत्त्वादि गुणों की उत्कर्षता के अनुसार होने वाले भिन्न भिन्न प्रकार के कर्मों में उन गुणों को ही कर्ता देखता है तथा गुणों से पर अकर्ता आत्मा को जानता है, वह मेरे साधर्म्य को प्राप्त होता है-**नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति। गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति।।**(गी.14.19)। कहने का अभिप्राय यह है कि स्वतः परिशुद्ध स्वभाववाली आत्मा का विविध सांसारिक कर्मों के प्रति कर्तृत्व पूर्वपूर्वकर्ममूलक गुणों के संसर्ग के कारण है, स्वभाविक नहीं।

ईश्वराधीन कर्तृत्व

जीवात्मा का कर्तृत्व ईश्वर के अधीन है, यह श्रुति से सिद्ध है-**परात्तु तच्छ्रुतेः**(ब्र.सू.2.3.40)। ईश्वर सभी आत्माओं के अन्दर प्रवेश करके उन पर शासन करता है-**अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा।**(तै.आ.3.11.3)। ईश्वर आत्मा के अन्दर रहकर उसका नियमन करता है-**य आत्मानम् अन्तरो यमयति।**(बृ.उ.मा.पा.3.7.26), इससे सिद्ध होता है कि आत्मा कर्ता अर्थात् करने वाला है और ईश्वर कारयिता अर्थात् कराने वाले हैं।

कारयिता होने से वे प्रेरक कहलाते हैं। जीव में जो कर्तृत्व ज्ञात होता है, वह परमेश्वराधीन है तथा(सांसारिक कर्मों के प्रति कर्तृत्व) औपाधिक है- **जीवे यत् कर्तृत्वम्[1] आभाति, तत्परमेश्वराधीनम् औपाधिकं च।**(बृ.उ. आ.भा.4.3.7), **जीवस्य कर्तृत्वं परमात्मायत्तमिति सांसारिककर्मकर्तृत्वम् औपाधिकम् इति च दर्शितम्।**(बृ.उ.रं.भा.4.3.7)।

ब्रह्मात्मक

जीवात्मा सदा परमात्मा के अधीन रहता है-सततपरवशः, इस प्रकार ग्रन्थकार ने सततपरवश शब्द से जीव को ब्रह्मात्मक कहा है। ब्रह्म जिसका आत्मा(नियन्ता अर्थात् अन्तरात्मा) है, उसे ब्रह्मात्मक कहते हैं-**ब्रह्म आत्मा नियन्ता यस्य स ब्रह्मात्मकः।** जीव कभी भी स्वतन्त्र नहीं रह सकता। सहस्रों माता पिता से भी बढ़कर प्यार करने वाले, परमकृपालु, ईश्वर के अधीन रहने में सुख ही सुख है। जीव को प्राप्त होने वाले दुःखों का कारण तो अज्ञानमूलक स्वतन्त्रता है। सर्वात्मा ब्रह्म सभी आत्माओं के अन्दर रहकर शासन(नियमन) करता है-**अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा।**(तै. आ.3.11.3), जो आत्मा में रहते हुए आत्मा के अन्दर है, जिसे आत्मा नहीं जानती, जिसका आत्मा शरीर है, जो आत्मा के अन्दर रहकर उसके प्रवत्तिनिवृत्तिरूप व्यवहार का नियमन करता है, वह निरुपाधिक भोग्य ब्रह्म तुम्हारा अन्तर्यामी है-**य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद, यस्यात्मा शरीरम्, य आत्मानमन्तरो यमयति, स त आत्मान्तर्याम्यमृतः।**(बृ. उ.मा.पा.3.7.26) इस प्रकार जीव का अन्तरात्मा ब्रह्म को कहा जाता है। जीव अपनी अन्तरात्मा के रूप में ब्रह्म को सदैव लिये रहता है। अपनी अन्तरात्मा के रूप में ब्रह्म को लेकर रहने वाला जीवात्मा ब्रह्मात्मक कहलाता है। ब्रह्मात्मक वस्तु ब्रह्म के द्वारा नियाम्य, धार्य और शेष होती है, अब प्रसंगानुसार इनका भी वर्णन किया जाता है-

नियाम्य

जिसका नियमन(नियन्त्रण या शासन) किया जाता है, उसे नियाम्य कहते हैं। यह दृश्य शरीर नियाम्य है, जीवात्मा नियामक है, इसी प्रकार जीवात्मा नियाम्य है, परमात्मा नियामक है। **अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां**

1.कर्तृत्व को विस्तार से समझने के लिए तैत्तिरीयोपनिषत् की तत्त्वविवेचनी व्याख्या का अवलोकन करना चाहिए।

सर्वात्मा।(तै.आ.3.11.3) और **य आत्मनि तिष्ठन्...**(बृ.उ.मा.पा.3.7.26) इत्यादि रीति से परमात्मा को नियमन करने वाला अर्थात् नियामक कहा जाता है और आत्मा को उसके द्वारा नियाम्य कहा जाता है। आत्मा मन से, वाणी से और शरीर से विविध प्रकार की प्रवृत्ति(कर्म) करती रहती है, उसकी सभी प्रवृतियाँ परमात्मा की इच्छा के अधीन हैं, उसकी इच्छा के विना वह कोई भी प्रवृत्ति नहीं कर सकती, इस प्रकार ईश्वरेच्छा के अधीन होने वाली सभी प्रवृत्तियों का आश्रय आत्मा नियाम्य है। जीवात्मा का स्वाभाविक नियामक परमात्मा है किन्तु जीवात्मा अपने शरीर का स्वाभाविक नियामक नहीं है, अनादि कर्मरूप अज्ञान से नियामक है। परमात्मा चेतन आत्मा और अचेतन प्रकृति सभी का नियमन करते हैं। वे आत्मा का साक्षात् नियमन करते हैं और अचेतन का साक्षात् तथा चेतन आत्मा के द्वारा भी नियमन करते हैं।

धार्य

जिसे धारण किया जाता है, उसे धार्य कहते हैं और जो धारण करता है, उसे धारक कहते हैं। यह दृश्य शरीर धार्य है, जीवात्मा धारक है, इसी प्रकार जीवात्मा धार्य है, परमात्मा धारक है क्योंकि जीवात्मा के विना शरीर रह ही नहीं सकता और परमात्मा के विना जीवात्मा भी नहीं रह सकता। परमात्मा का अपृथक्सिद्ध विशेषण आत्मा है और परमात्मा विशेष्य। परमात्मा के स्वरूप के अधीन आत्मा की सत्ता है क्योंकि आश्रित (अपृथक्सिद्ध विशेषण) की सत्ता आश्रय(विशेष्य) के स्वरूप के अधीन होती है। यहाँ आश्रित है-आत्मा और आश्रय है-परमात्मा। आत्मा की सत्ता सदा रहने वाली है। यह सत्ता परमात्मा के संकल्प के भी अधीन है क्योंकि आत्मा की सत्ता सदा बनी रहे, ऐसा परमात्मा का अनादि संकल्प है। इस प्रकार परमात्मा के स्वरूप और संकल्प से आत्मा की सत्ता है। परमात्मा सभी को धारण करने वाला सेतु है-**एष सेतुर्विधरणः।**(बृ.उ.4.4.22), इस परमात्मा में सभी प्राण, सभी लोक, सभी देवता, सभी भूत और ये सभी आत्माएँ स्थित हैं-**अस्मिन्नात्मनि सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि सर्व एत आत्मानः समर्पिताः।**(बृ.उ.2.5.15) इत्यादि वचन परमात्मा को धारक तथा अन्य सभी को धार्य कहते हैं। परमात्मा का धारकत्व स्वाभाविक है और आत्मा का धारकत्व स्वाभाविक नहीं है, वह

अनादि कर्मरूप उपाधि के कारण है। परमात्मा के प्रति आत्मा का धार्यत्व स्वाभाविक है और आत्मा के प्रति उसके शरीर का धार्यत्व स्वाभाविक नहीं है। परमात्मा चेतन आत्मा और अचेतन प्रकृति सभी को धारण करते हैं। वे आत्मा को साक्षात् धारण करते हैं और अचेतन को साक्षात् तथा चेतन आत्मा के द्वारा भी धारण करते हैं।

शेष

भोक्ता अपनी इच्छा के अनुसार जिसका उपभोग कर सके, उस पदार्थ को शेष कहते हैं और उसके धर्म को शेषत्व-**यथेष्टविनियोगार्हः शेषः, तस्य भावः शेषत्वम्।** दूसरे के उपयोग में आना ही शेष का स्वरूप है, उसका अपना कोई स्वार्थ नहीं होता। भोक्ता अपनी इच्छा के अनुसार चन्दन का लेपन करे, पुष्प और वस्त्र को धारण करे, ताम्बूल का भक्षण करे। उपयोग में आने वाले इन चन्दनादि का कभी भी कोई स्वार्थ नहीं होता। इच्छानुसार उपयोग के योग्य-यथेच्छविनियोगार्ह होने से चन्दनादि शेष कहलाते हैं और इनका उपयोग करने वाला शेषी कहलाता है। जैसे आत्मा के शेष चन्दनादि हैं और शरीर भी उसका शेष है, वैसे ही भगवान् का शेष आत्मा है, भगवान् जैसा चाहें, वैसा इसका उपयोग कर सकते हैं। इस प्रकार यथेच्छ उपयोग के योग्य होने से आत्मा शेष है और उपयोग करने वाले भगवान् शेषी हैं।

आत्मा का भगवान् के प्रति शेषत्व स्वाभाविक है, अतः आत्मा के रहते यह कभी नष्ट नहीं हो सकता। आत्मा नित्य है, इसलिए उसका भगवच्छेषत्व धर्म भी नित्य है। संसार में जीवात्मा माता-पिता आदि का शेष बन कर रहता है किन्तु माता-पिता आदि के प्रति उसका शेषत्व स्वाभाविक नहीं है, बल्कि कर्मकृत है क्योंकि पूर्वकृत पुण्यपापरूप कर्मों के कारण ही वह इनका शेष बनकर रहता है। लोक में लोग वेतन देकर दूसरे को अपना नौकर(शेष) बना लेते हैं, वैसा यहाँ नहीं है क्योंकि भगवान् ने कुछ देकर आत्मा को शेष नहीं बनाया और आत्मा भी कुछ लेकर शेष नहीं बनी। आत्मा अपने स्वभाव से ही भगवान् का शेष है। जैसे वेतन न मिलने पर मनुष्य दूसरे की नौकरी छोड़ देता है, स्वतन्त्र हो जाता है। वैसा यहाँ नहीं है क्योंकि आत्मा का शेषत्व स्वभाव से है इसलिए वह कभी भी शेषत्व को छोड़ नहीं सकती, कभी स्वतन्त्र भी नहीं हो सकती। जीव जब संसार

में दूसरों का शेष बनकर रहता है, तब भी वह भगवत्-शेषत्व से रहित नहीं हो सकता। जब कोई व्यक्ति दूसरे की नौकरी करता है, तब उसकी इच्छा से ही उसका शरीर दूसरे की सेवा में लगता है, दूसरे की सेवा करते समय भी वह शरीर आत्मा के शेषत्व से छुटकारा नहीं पा सकता, उस समय भी वह शरीर आत्मा का शेष होकर रहता है, वैसे ही दूसरों की सेवा करते समय आत्मा भगवत्-शेषत्व से छुटकारा नहीं पा सकती क्योंकि कर्मानुसार भगवदिच्छा से ही वह दूसरों की सेवा करती है, वह भगवान् का स्वाभाविक शेष होने के कारण दूसरों की सेवा करते समय भी भगवान् का शेष बनकर रहती है।

परमात्मा चेतनाचेतन सभी पदार्थों के स्वाभाविक शेषी हैं और आत्मा अपने शरीर आदि का स्वाभाविक शेषी नहीं है। बद्धात्मा का अपने शरीर आदि के प्रति शेषित्व कर्म उपाधि के कारण है। उसके शेष जो गृह, क्षेत्र, पुत्र और पत्नी आदि हैं, उनकी आत्मा से पृथक् स्थिति और पृथक् प्रतीति होती है, वे आत्मा से पृथक् स्थिति और पृथक् प्रतीति के योग्य हैं, उन गृहादि के समान परमात्मा से पृथक्स्थिति और पृथक्प्रतीति के योग्य आत्मा नहीं है किन्तु जैसे शरीर आत्मा से पृथक्स्थिति और पृथक्प्रतीति के अयोग्य है, वैसे ही आत्मा परमात्मा से पृथक्स्थिति और पृथक्प्रतीति के अयोग्य है। परमात्मा सबका शेषी है-**पतिं[1] विश्वस्य**(तै.ना.उ.92), परमात्मा अचेतन प्रधान और चेतन जीव का शेषी है तथा गुणों का आश्रय है-**प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः**।(श्वे.उ.6.16) लक्ष्मण जी कहते हैं कि हे रघुनाथ जी! आपके रहते मैं सैकड़ों वर्ष तक आपका शेष हूँ-**परवानस्मि काकुत्स्थ त्वयि वर्षशतं स्थिते**।(वा.रा.3.15.7) ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा परमात्मा का शेष है-**ज्ञानानन्दमयस्त्वात्मा शेषो हि परमात्मनः**।(पां.सं.) इत्यादि प्रमाणों से परमात्मा का शेषित्व तथा आत्मा का शेषत्व सिद्ध होता है।

कर्मबन्धन से रहित मुक्तात्मा का अप्राकृत शरीर होता है। इस शरीर के प्रति मुक्तात्मा का शेषित्व कर्म उपाधि के कारण नहीं है। सभी के प्रति ईश्वर का शेषित्व निरतिशय शेषित्व है और अपने शरीर के प्रति मुक्तात्मा

1.पा रक्षणे धातु से निष्पन्न होने के कारण पतिशब्द रक्षक का वाचक है, शेषी का वाचक नहीं है, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि पति शब्द शेषी में रूढ है। यहाँ

का शेषित्व सातिशय(ईश्वराधीन) शेषित्व है। यह इन दोनों में भेद है।

शेषभूत पदार्थ की स्थिति पृथक्सिद्ध और अपृथक्सिद्ध भेद से दो प्रकार की होती है। जिन पदार्थों की शेषी के साथ ही विद्यमानता और शेषी के साथ ही प्रतीति होती है, वे अपृथक्सिद्ध शेष होते हैं। इनसे भिन्न पृथक्सिद्ध शेष होते हैं। देह आत्मा के साथ ही विद्यमान होता है, आत्मा के साथ ही प्रतीत होता है, आत्मा के विना एक क्षण भी अविकृत होकर नहीं रहता। आत्मा और देह के सम्बन्धत्याग के काल से ही उसमें विकार उत्पन्न होने लगते हैं इसलिए शरीर आत्मा का अपृथक्सिद्ध शेष ज्ञात होता है। गृहादि भी आत्मा के शेष हैं किन्तु उनकी आत्मा से पृथक् विद्यमानता और पृथक् प्रतीति होती है, इसलिए वे पृथक्सिद्ध शेष होते हैं। आत्मा भी परमात्मा का अपृथक्सिद्ध शेष है, यह परमात्मा के साथ ही विद्यमान रहता है और साथ ही प्रतीत होता है। शेषत्व चेतन और अचेतन दोनों का धर्म है तथा दासत्व केवल चेतन का धर्म है।

जीव और ब्रह्म का आत्मशरीरभाव सम्बन्ध

पूर्व में ब्रह्म के द्वारा नियाम्य जीव ब्रह्मात्मक कहा गया। ब्रह्मात्मक का अर्थ है-ब्रह्म का शरीर। जीव ब्रह्म का शरीर है और ब्रह्म उसकी आत्मा। जो ब्रह्म जीवात्मा में रहते हुए जीवात्मा के अन्दर रहता है, जीव जिसे

रूढि स्वीकार न करने पर-**गमेर्डोः**(उ.सू.2.68) इस सूत्र के द्वारा गम् धातु से निष्पन्न गो शब्द को गतिमान् मनुष्यादि प्राणियों का वाचक होने का भी प्रसंग होगा किन्तु गतिमान् सभी पदार्थों के लिए गो शब्द का प्रयोग नहीं होता और बैठी हुई गो के लिए भी गो शब्द का प्रयोग होता है, इसलिए गोशब्द की पशु विशेष में रूढि मानी जाती है। वृद्ध मातापिता, साध्वी भार्या और बाल-बच्चों का किसी भी प्रकार भरण करना चाहिए, ऐसा मनु ने कहा है-**वृद्धौ च मातापितरौ साध्वी भार्या सुतः शिशुः। अप्यकार्यशतं भर्तव्या मनुरब्रवीत्॥**(प.पु.1.38.34), इस प्रकार पिता-माता के संरक्षक पुत्र में पिता आदि की अपेक्षा पतिशब्द का प्रयोग न होने से तथा गृहादि का रक्षक न होने पर भी स्वामी में पति शब्द का प्रयोग होने से पतिशब्द शेषी अर्थ में रूढ है। पति आदि शब्दों का अभाव होने पर भी **व्रीहीन् प्रोक्षति** इस वाक्य में द्वितीया श्रुति के द्वारा जैसे प्रोक्षण व्रीहि का शेष ज्ञात होता है, वैसे ही **यस्य आत्मा शरीरम्** (बृ. उ.मा.पा.3.7.26) इत्यादि वाक्यों से जगत् को ब्रह्म का शरीर ज्ञात होने से और शरीररूप संघात को पर के लिए होने से जगत् और ब्रह्म का शेषशेषिभाव ज्ञात होता है।

नहीं जानता, जीवात्मा जिसका शरीर है तथा जो अन्दर रहकर जीवात्मा का नियमन करता है, वही निर्दोष, परम भोग्य अन्तर्यामी तुम्हारा आत्मा है-**य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद, यस्यात्मा शरीरं, य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मा अन्तर्याम्यमृत:।**(बृ.उ.मा.पा.3.7.26) इस घटकश्रुति से जीव और ब्रह्म में शरीरात्मभाव सम्बन्ध सिद्ध होता है। जैसे इस जड़शरीर और जीवात्मा में भेद है, वैसे ही जीवात्मा और ब्रह्म में भी भेद है। भेदश्रुतियाँ[1] इस भेद का प्रतिपादन करती हैं। शरीर और जीवात्मा में भेद रहने पर भी लोक में यह व्यवहार होता है कि मनुष्य जानता है, देवता सुखी है इत्यादि। इन दोनों वाक्यों का क्रमश: यह अर्थ है कि मनुष्यशरीर वाली आत्मा जानती है, देवताशरीर वाली आत्मा सुखी है। इस प्रकार के व्यवहार में देव, मनुष्यादि शब्द विशेषण के रूप में शरीर का बोध कराते हुए विशेष्य के रूप में शरीर में रहने वाली जीवात्मा का भी बोध कराते हैं। जैसे यहाँ अचेतन शरीर के वाचक मनुष्यादि शब्द मनुष्यादिशरीर से विशिष्ट आत्मा के बोधक हैं, वैसे ही 'तत्त्वमसि' इस अभेद वाक्य में जीवात्मा का वाचक 'त्वम्' शब्द सामने उपस्थित चेतन जीवात्मा से विशिष्ट ब्रह्म का बोध कराता है और 'तत्' शब्द **सदेव सोम्य**(छां.उ.6.2.1) इस प्रकार उपक्रम में कहे जगत्कारण ब्रह्म का बोध कराता है। अत: 'तत्त्वमसि' यह वाक्य जीवात्मशरीरक ब्रह्म और जगत्कारण ब्रह्म के अभेद का बोधक है, जीव और ब्रह्म की स्वरूप-एकता का

1.भोक्ता जीव, भोग्य जड़ पदार्थ तथा प्रेरक परमात्मा को जानकर मैंने सम्पूर्ण त्रिविध ब्रह्म को बता दिया-**भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्।**(श्वे उ.1.12), जीव का अन्तर्यामी होकर रहना, जड पदार्थ का अन्तर्यामी होकर रहना तथा स्वस्वरूप से भी रहना, यही ब्रह्म की त्रिविधता है। जीवात्मा और प्रेरक परमात्मा को अलग-अलग पदार्थ समझ कर साधक परमात्मा की प्रीति का विषय बनता है तथा बाद में उस भेदज्ञान से मोक्ष प्राप्त करता है-**पृथगात्मानं प्रेरितारञ्च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति।**(श्वे.उ.1.6), ईश्वर प्रकृति और जीवात्मा का स्वामी एवं ज्ञानादि छ: गुणों से पूर्ण है-**प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेश:।**(श्वे.उ.6.16), जन्म न लेने वाले दो तत्त्व हैं, उनमें एक ईश्वर और दूसरा उससे भिन्न जीव है, ईश्वर सर्वज्ञ है किन्तु जीव अज्ञ अर्थात् अल्पज्ञ है-**ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशौ**(श्वे.उ.1.9), समान गुण वाले और साथ रहने वाले जीवात्मा और परमात्मरूप दो पक्षी हैं-**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया**(मु.उ.3.1.1) इत्यादि श्रुतियाँ जगत् और ब्रह्म के भेद का प्रतिपादन करती हैं।

बोधक नहीं है। उक्त घटक श्रुतियों[1] के द्वारा जीव और ब्रह्म में शरीरात्मभाव सम्बन्ध ज्ञात होने से भेदश्रुतियों और अभेदश्रुतियों में आपाततः प्रतीयमान विरोध निवृत्त हो जाता है।

जीवात्मविभाग

जीवात्मा का ब्रह्मानन्दरूप निरतिशय सुख का अनुभव करने में स्वतः अधिकार है। जिस प्रकार पैतृकसम्पत्ति को प्राप्त करने में पुत्र का अधिकार होता है, उसी प्रकार ब्रह्मानन्दरूप सुख का अनुभव करने में जीव का अधिकार है। ब्रह्मानन्द का अनुभव करना आत्मा का स्वाभाविक धर्म है, ऐसा होने पर भी यह जीवात्मा कर्मरूप उपाधि के कारण संसार में सुख-दुःख भोगता रहता है। स्वामी श्रीरामानन्दाचार्य जी ने प्रस्तुत ग्रन्थ में **जीवो द्विधाऽमन्यत बद्धमुक्तभेदेन पूर्वैस्तु महर्षिवर्यैः।**(श्रीवै.भा.128) इस प्रकार बद्ध और मुक्त के भेद से जीवात्माओं के दो विभाग किये हैं, इसका विस्तार उसी प्रसंग में द्रष्टव्य है।

अब जीव के बन्धन के कारण कर्म का प्रसंगानुसार विवेचन किया जाता है-

कर्म

ईश्वर की प्रीति और कोप के जनक जीव के द्वारा किये जाने वाले पुण्य-पाप को कर्म कहते हैं। निषिद्ध और काम्य कर्म बन्धन के जनक हैं,

1. लोक में देखा जाता है कि जब दो पक्ष आपस में विवाद करते हैं तब कुछ मध्यस्थ पुरुष आकर परस्पर में समझौता कराते हैं, इन्हें घटक पुरुष कहा जाता है। इसी प्रकार उपनिषत् में भी कुछ ऐसे वाक्य हैं, जो भेदप्रतिपादक और अभेदप्रतिपादक उपनिषद्-वाक्यों में समन्वय स्थापित करते हैं, इन्हें ही घटक श्रुति कहते हैं। जैसे 'परमात्मा सभी जनों के भीतर प्रविष्ट होकर शासन करने वाला सर्वात्मा है'-**अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा।**(तै.आ. 3.11.3), तथा 'जो विज्ञान में रहता हुआ विज्ञान के अन्दर है, जिसे विज्ञान नहीं जानता, विज्ञान जिसका शरीर है, जो अन्दर रहकर विज्ञान का नियमन करता है, वह तुम्हारा निरतिशय भोग्य अन्तरात्मा है'-**यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञानं शरीरं यो विज्ञानमन्तरो यमयति।**(बृ. उ.3.7.26) यहाँ पर विज्ञान शब्द से जीवात्मा लिया गया है क्योंकि माध्यन्दिनी शाखा के अन्तर्यामी ब्राह्मण में विज्ञान के स्थान में आत्मशब्द का उल्लेख है, जो इस प्रकार है-**य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः।** (बृ.उ.मा.पा.3.7.26)।

इनसे जीव एक योनि से दूसरी योनि में जाकर विविध प्रकार के सुख-दुःख भोगता रहता है। फलेच्छा से रहित होकर किये गये कर्म अन्तःकरण की निर्मलता के द्वारा ज्ञानोत्पत्ति में सहायक होते हैं। कर्म तीन प्रकार के होते हैं-

क्रियमाण कर्म

वर्तमान जन्म में किये जाने वाले कर्मों को क्रियमाण कर्म कहते हैं।

संचित कर्म

जिन कर्मों ने अभी फल देना आरम्भ नहीं किया है, ऐसे पूर्व के अनेक जन्मों में किये गए कर्म संचित कहे जाते हैं।

प्रारब्ध कर्म

जिन कर्मों का फल भोगने के लिए वर्तमान शरीर प्राप्त हुआ है, वे प्रारब्ध कहे जाते हैं। मानव योनि कर्मयोनि है, अन्य योनि भोगयोनि हैं अतः मानवशरीर से किये कर्मों को ही भोगने के लिए विविध योनियाँ प्राप्त होती हैं। कभी-कभी मानव शरीर के पश्चात् पुनः एक बार मानवशरीर प्राप्त होता है, इससे कहा जा सकता है कि प्रारब्ध एक ही शरीर का जनक होता है किन्तु कभी बालक उत्पन्न होकर मर जाता है, उसने शुभाशुभ कोई कर्म किया ही नहीं, फिर भी उसका पुनर्जन्म होता है, इससे सिद्ध होता है कि प्रारब्ध अनेक शरीरों का जनक होता है। परमात्मा का साक्षात्कार किये हुए वशिष्ठादि कारक पुरुषों के अनेक जन्म सुने जाते हैं, इससे भी सिद्ध होता है कि प्रारब्ध अनेक शरीरों का जनक होता है।

श्रुतियों में कहा गया जीवात्माओं का भेद स्वाभाविक है, अब इस कथन से सहमत न होने वाले विद्वानों का मत कहा जाता है-

औपाधिक भेद

निर्विशेषाद्वैतमत के अनुसार श्रुतिप्रोक्त जीवात्मभेद औपाधिक है, स्वाभाविक नहीं, औपाधिक भेदवाद के दो प्रकार हैं-1.नानाजीववाद 2. एकजीववाद।

1.नानाजीववाद

चेतन आत्मा एक है, अन्तःकरण उपाधि से युक्त आत्मा को ही जीव कहा जाता है। जिस प्रकार आकाश एक है, घटादि उपाधियाँ नाना हैं इस

लिये महाकाश एक होने पर भी घटावच्छिन्न आकाश नाना हैं। उसी प्रकार चेतन आत्मा एक है, अन्तःकरण उपाधियाँ नाना हैं, इसलिए नाना अन्तःकरण उपाधियों से अवच्छिन्न आत्मा नाना हैं। शुद्ध आत्मस्वरूप ही ब्रह्म है, इस प्रकार आत्माओं का भेद स्वाभाविक नहीं है किन्तु औपाधिक है अतः श्रुतियों में जहाँ आत्माओं का भेद प्रदर्शित है, उसे औपाधिक मानना चाहिए। आत्माओं का अभेद ही स्वाभाविक है। निर्विशेषाद्वैत मत में स्वीकृत यह वाद नानाजीववाद कहलाता है।

निराकरण-औपाधिक नानाजीववाद युक्तियुक्त नहीं क्योंकि दृष्टान्त असंगत है। दृष्टान्त में आकाश एक कहा गया है। वस्तुतः आकाश एक नहीं है क्योंकि जिस प्राकृत पदार्थ की उत्पत्ति सुनी जाती है, वह स्वरूपतः एक नहीं होता इसलिए आकाश भी स्वरूपतः एक नहीं है। श्रुतिप्रमाणवादी आकाश को कभी भी एक नहीं कह सकते अतः आकाश स्वरूपतः ही भिन्न हैं। जिस प्रकार नाना पृथ्वी पृथ्वीत्वेन ही एक हैं, स्वरूपतः भिन्न-भिन्न हैं, उसी प्रकार आकाश को समझना चाहिए। निरवयव वस्तु का विभाग नहीं हो सकता। पञ्चीकरण प्रक्रिया से आकाश का विभाग कहा जाता है अतः आकाश सावयव सिद्ध होता है। सावयव पदार्थ की जातित्वेन एकता होती है, स्वरूपतः नहीं, इस प्रकार आकाश को एक समझना श्रुतिविरुद्ध है अतः आकाश दृष्टान्त से आत्माओं का औपाधिक भेद नहीं कहा जा सकता इसलिए श्रुतिप्रतिपादित 'आत्मभेद' स्वाभाविक ही मानना चाहिए।

'चैत्र, मैत्रादि नाना शरीरों में एक ही आत्मा है' ऐसा स्वीकार करने पर जैसे सौभरि आदि योगी नाना शरीरों को धारण करके उन सभी शरीरों से विषयानुभव करते हैं इसलिए मैं ही सभी शरीरों से विषयानुभव करता हूँ, ऐसा प्रतिसन्धान उनको होता है, वैसे ही नाना शरीरों में एक ही आत्मा होने से चैत्र, मैत्रादि सभी के अनुभवों का एकाश्रयत्वेन प्रतिसन्धान होना चाहिए तथा एक शरीराऽवच्छेदेन आत्मा में किसी विषय का अनुभव होने पर अन्य(अन्यशरीराऽवच्छेदेन उसी आत्मा) को उसका स्मरण होना चाहिए किन्तु ऐसा नहीं होता इससे सिद्ध होता है कि उपाधिभेद से आत्माओं का भेद नहीं है, उनका भेद स्वाभाविक है। यदि ऐसा कहना चाहें कि यद्यपि सभी शरीरों में आत्मा एक ही है फिर भी उन शरीरों में अन्तःकरण

भिन्न-भिन्न हैं इसलिए जिस अन्तःकरण से अवच्छिन्न आत्मा ने अनुभव किया है, उसी को स्मृति होगी अन्य को नहीं, यह कहना उचित नहीं क्योंकि कुछ जातिस्मर (जन्मान्तर का स्मरण करने वाले) होते हैं। उन्हें एक कल्प में अनुभव किये गये विषय की दूसरे कल्प में भी स्मृति होती है। कल्पभेद से इनके अन्तःकरण भिन्न-भिन्न होते हैं, फिर भी स्मृति होती है, इससे ज्ञात होता है कि अन्तःकरण का भेद उक्त व्यवस्था का नियामक नहीं है। जैसे शरीर और बाह्येन्द्रिय के भेद से उक्त व्यवस्था संभव नहीं, वैसे ही अन्तःकरण के भेद से भी व्यवस्था संभव नहीं। जैसे चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना और त्वक् ये पाँचों एक ही आत्मा के करण होते हैं अतः एक ही आत्मा को इन सबसे ज्ञान होता है, वैसे ही निर्विशेषाद्वैती के अनुसार सभी अन्तःकरण एक ही आत्मा के हैं अतः अन्तःकरण भिन्न-भिन्न होने पर भी आत्मा को सभी अन्तःकरणों से ज्ञान होना चाहिए किन्तु ऐसा नहीं होता इसलिए अन्तःकरण भिन्न होने पर भी उक्त व्यवस्था संभव नहीं। अन्तःकरण के भेद से व्यवस्था स्वीकार करने पर बाह्येन्द्रिय के भेद से भी व्यवस्था स्वीकार करनी होगी और ऐसा होने पर चक्षु के द्वारा किसी विषय का अनुभव होने के पश्चात् चक्षु नष्ट होने पर उस अनुभव का प्रतिसन्धान नहीं होना चाहिए किन्तु प्रतिसन्धान होता है, इससे सिद्ध होता है कि बाह्येन्द्रिय के भेद से व्यवस्था नहीं हो सकती, इसी प्रकार अन्तःकरण के भेद से भी व्यवस्था संभव नहीं अतः आत्मभेद स्वाभाविक ही मानना चाहिए।

2.एकजीववाद

एक ही ज्ञानरूप आत्मा है। वह शुद्ध, मुक्त तथा ज्ञानस्वरूप है। अविद्या उपाधि से कल्पित होकर यही जीव कही जाती है। अविद्या एक होने के कारण अविद्या कल्पित जीव भी एक है, यह वाद एकजीववाद कहलाता है। जैसे कोई स्वप्नद्रष्टा मनुष्य स्वप्न में अनेक प्राणियों को देखता है। कभी-कभी ये नाना प्राणी स्वप्न में दुःखी दिखाई देते हैं। यहाँ स्वप्नद्रष्टा जीव मुख्य है और सभी आभासमात्र हैं। इन सभी की दुःखनिवृत्ति का एक ही उपाय है-स्वप्नद्रष्टा का स्वप्न भंग होना। इसी प्रकार जगत में एक ही मुख्यजीव है और सभी जीवाभास हैं। मुख्य जीव के अज्ञान से ही सम्पूर्ण प्रपञ्च है, सभी के दुःखों की आत्यन्तिकी निवृत्ति नहीं होगी, जब मुख्य

जीव की अविद्यानिवृत्ति होगी। यह अविद्यानिवृत्ति मुख्य जीव के ज्ञान द्वारा होगी। अपनी आत्मा का ज्ञान होने पर अविद्या और उसका कार्य समस्त प्रपंच ध्वस्त हो जायेगा। अभी तक जगत बना हुआ है अतः यह स्वीकार किया जाता है कि अभी तक किसी की मुक्ति नहीं हुई। **शुको मुक्तः, वामदेवो मुक्तः** इत्यादि वाक्य अर्थवादमात्र हैं। अब इस विषय का विस्तार से प्रतिपादन किया जाता है-

ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है अतः स्वयंप्रकाश है। स्वयंप्रकाश वस्तु का अज्ञान नहीं हो सकता इसलिए उसका बन्धन भी नहीं हो सकता। स्वयंप्रकाश ब्रह्म सदा मुक्त ही है इस कारण यह मानना पड़ता है कि जीव और ब्रह्म एक ही है क्योंकि 'तत्त्वमसि' इत्यादि अभेदबोधक वाक्य जीव-ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन करते हैं, इससे यह सिद्ध होता है कि नित्य, मुक्त, स्वप्रकाश ब्रह्म ही अविद्या से तिरोहित होकर जीवभाव को प्राप्त होता है तथा विविध भेदभ्रम का अनुभव करते हुए संसारबन्धन में फँस जाता है। वह ब्रह्मात्मैकत्वज्ञान के द्वारा संसार से मुक्त हो जाता है। यहाँ यह शंका होती है कि जिस प्रकार वेदप्रतिपाद्य होने के कारण जीव और ब्रह्म का अभेद माना जाता है, उसी प्रकार वेदप्रतिपाद्य होने से सविशेष ब्रह्म एवं उसके द्वारा नियाम्य चेतनाचेतनप्रपंच इत्यादि भेदों को भी मानना चाहिए, इसका निर्विशेषाद्वैती विद्वान् इस प्रकार समाधान देते हैं कि वेदप्रतिपाद्य भेदों को मिथ्या मानना चाहिए तभी अभेदप्रतिपादक वाक्यों का प्रामाण्य अक्षुण्ण रहेगा इसलिए यह स्वीकार करना चाहिए कि निर्विशेष चिन्मात्र ब्रह्म को छोड़कर सम्पूर्ण जगत् मिथ्या है। जिसमें ईश्वर और ईशितव्य आदि अनन्त भेद निहित हैं। एकजीववाद में आत्मा एक मानी जाती है, आत्मभेद नहीं माना जाता। 'अनेक जीव मुक्त हो गये, अनेक संसारबन्धन में पड़े हैं' यह बद्ध-मुक्त व्यवस्था है, यह शास्त्र से सिद्ध है। आत्मभेद मानने पर इस व्यवस्था की संगति होती है। आत्मभेद न मानने पर इसकी संगति नहीं होगी। इस प्रश्न का उत्तर एकजीववादी इस प्रकार देता है कि कोई जीव बद्ध है, कोई मुक्त है, यह व्यवस्था सर्वथा अमान्य है क्योंकि आत्मैक्य ही सिद्धान्त है। **शुको मुक्तः, वामदेवो मुक्तः** इत्यादि वचन सुने जाते हैं, वे अर्थवाद हैं[1], मिथ्या हैं।

1.अर्थवाद हैं अर्थात् एकजीववाद पक्ष में मोक्ष के साधन में रुचि उत्पन्न करने के लिए कहे गये हैं अतः मिथ्या हैं।

प्रश्न-सभी शरीरों में विद्यमान आत्माएँ भिन्न-भिन्न हैं। एक सुखी है, दूसरा दुःखी है। एक के सुख, दुःख का ज्ञान दूसरे को नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि प्रत्येक शरीर में पृथक्-पृथक् आत्माएँ रहती हैं, ऐसा होने पर बद्ध-मुक्त व्यवस्था भी संभव हो जाती है।

उत्तर-सभी शरीरों में भिन्न-भिन्न आत्माएँ स्वीकार करने में कोई प्रमाण नहीं है। एक शरीर ही जीववाला है, अन्य सभी शरीर निर्जीव हैं। एक मनुष्य स्वप्न में अनेक लोगों को देखता है। वह जिस शरीर में स्थित होकर स्वप्न को देखता है, वह शरीर जीव वाला है, अन्य सभी शरीर निर्जीव हैं। उसी प्रकार ब्रह्म जिस शरीर में स्थित होकर संसारस्वप्न देख रहा है, वह शरीर ही सजीव है। स्वप्न में दृश्यमान अन्य शरीर निर्जीव हैं, इससे सिद्ध होता है कि वस्तुतः आत्मभेद नहीं है। इस संसारस्वप्न में ब्रह्म को दिखाई देने वाले अनेक शरीर मिथ्या हैं, उनमें प्रतीत होने वाले जीव भी मिथ्या हैं इसलिए वे सभी शरीर निर्जीव हैं। जिस शरीर में ब्रह्म जीवरूप से स्थित होकर संसार स्वप्न को देख रहा है, वह शरीर ही जीव वाला है, यह वाद एक जीववाद कहलाता है। एक ही शरीर सजीव मान्य होने से अन्य शरीरों में होने वाले सुख-दुःख का अनुसन्धान क्यों नहीं होता? यह प्रश्न भी खण्डित हो जाता है क्योंकि जब वह अन्य शरीरों में है ही नहीं, तब उक्त अनुसन्धान का प्रश्न ही नहीं उठता। दृश्यमान अनेक शरीरों में किसी एक शरीर में रहने वाला जीव संसारस्वप्न देख रहा है। अन्य शरीर निर्जीव होने पर भी सजीव के समान स्वप्नदर्शी जीव को दिखाई दे रहे हैं, यह सिद्धान्त है। एक शरीर में ब्रह्म जीव बनकर स्वप्न देख रहा है। अभी तक उसे अद्वैतज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ इसलिए संसार स्वप्न बना हुआ है। वह ऐसा भी देखता है कि जीवाभासों में(हमको प्रतीत होने वाले इन जीवों में) एक जीव दूसरे जीव को अद्वैत तत्त्व का उपदेश देता है, दूसरा जीव अद्वैतज्ञान को प्राप्त करता है। जब तक वह स्वयं अद्वैतज्ञान प्राप्त नहीं करेगा, तब तक संसार स्वप्न बना ही रहेगा। जीवाभास के ज्ञान से बन्धन निवृत्त नहीं होगा। संसारस्वप्न द्रष्टा मुख्यजीव को ही ज्ञान होने पर बन्धन निवृत्त होगा।

निराकरण-इस वाद में यह दोष आता है कि इसके अनुसार मोक्ष के उपाय (साधन) श्रवण, मनन और निदिध्यासन में किसी की प्रवृत्ति नहीं हो

सकती क्योंकि मुख्य जीव कौन है? इसका निर्णय करना कठिन है। जिस प्रकार अभी तक मोक्ष के साधन में प्रवृत्त होने वाले शुकदेव और वामदेव जैसे महापुरुष भी मुक्त नहीं हुए, उसी प्रकार आज भी मोक्षसाधन में लगने का सभी का प्रयास व्यर्थ ही होगा। मोक्ष के साधन में लगने वाले मुख्य जीव से अतिरिक्त उपदेशक गुरु भी जीवाभास ही होगा अतः उससे ज्ञानार्थ उपदेश प्राप्त करना भी संभव नहीं होगा, फिर भी यदि कोई उससे उपदेश ग्रहण करे तो उससे मुक्ति भी नहीं होगी क्योंकि अज्ञानी से प्राप्त हुआ ज्ञान कल्याणकारक नहीं हो सकता।

निर्विशेषाद्वैतमत के अनुसार एक ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है-अविद्या से कल्पित है। जिस प्रकार जागते ही स्वप्नदृष्ट प्रपंच का बाध हो जाता है, उसी प्रकार तत्त्वज्ञान से ब्रह्मभिन्न प्रपंच का बाध हो जाता है, एक ब्रह्म ही अबाधित रहता है। इस मत से विरुद्ध उनका एकजीववाद है क्योंकि इस मत के अनुसार ब्रह्म की जीवभाव से जिस शरीर में स्थिति मानी गई है, वह शरीर मिथ्या है, उसमें जीव का ब्रह्मभाव भी मिथ्या है। यह ब्रह्म से भिन्न होने के कारण मिथ्या है। तत्त्वज्ञान से वह शरीर तथा उसमें ब्रह्म का जीवभाव भी बाधित होने से यह सिद्ध होता है कि वह शरीर तथा उसमें ब्रह्म का जीवभाव भ्रम से ब्रह्म को प्रतीत होता है, वास्तव में वह सब है ही नहीं, इससे यह सिद्ध होता है कि भ्रम से दिखाई देने वाला वह शरीर भी निर्जीव है। जिस प्रकार संसार स्वप्न में ब्रह्म को प्रतीत होने वाले अन्य शरीर निर्जीव हैं, उसी प्रकार वह शरीर भी निर्जीव है अतः यह कथन उचित नहीं कि एक शरीर सजीव है, अन्य शरीर निर्जीव हैं, इससे वादी के अनुसार भले ही निर्जीववाद सिद्ध हो, एकजीववाद सिद्ध नहीं हो सकता। जाग्रत दशा में बाधित होने के कारण स्वप्नदृष्ट शरीर निर्जीव माने जा सकते हैं तथा जिस शरीर में रहकर मनुष्य स्वप्न देखता है, उसे सजीव माना जा सकता है किन्तु जिस शरीर में ब्रह्म जीवभाव को प्राप्त होकर स्वप्न देखता है, वह शरीर तथा उसमें जीवभाव तथा अन्य सभी शरीर भी बाधित हो जाते हैं, ऐसी स्थिति में सभी शरीर निर्जीव ही सिद्ध होते हैं। इस प्रकार एकजीववादी के सिद्धान्त के अनुसार ही उक्त मत खण्डित हो जाता है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि औपाधिक नानाजीववाद और एकजीववाद ये दोनों ही श्रुति और युक्ति से विरुद्ध होने से त्याज्य हैं। जीवात्मा

औपाधिक सिद्ध नहीं होता अतः उसे स्वाभाविक ही मानना चाहिए। इनका भेद भी औपाधिक सिद्ध नहीं होता अतः शास्त्रों में आत्मभेद का प्रतिपादन करने वाले वचन स्वाभाविक भेद का ही प्रतिपादन करते हैं, इसी भेद का ग्रन्थकार ने 'प्रत्येक शरीर में विद्यमान आत्मा भिन्न है'- **प्रतिकुणपम् एकधा असौ न** इस प्रकार कथन किया है। आत्माओं का स्वाभाविक भेद न मानने पर निम्न दोष भी प्राप्त होते हैं-

शुकदेव और वामदेव आदि ज्ञानी महापुरुष मुक्त हो गये-**शुको मुक्तः वामदेवो मुक्तः** ऐसा शास्त्रों में सुना जाता है तथा बुभुक्षु सांसारिक कर्म करके बन्धन में पड़ा रहता है, इस प्रकार बन्धन और मोक्ष की व्यवस्था एक आत्मा को स्वीकार करने वाले पक्ष में नहीं होती है। इस पक्ष में एक काल में एक ही आत्मा के बन्धन और मोक्ष दोनों की प्राप्ति का प्रसंग होता है, जो कि उचित नहीं है। मुमुक्षु शिष्य त्रिताप से व्यथित होकर ज्ञान प्राप्ति के लिए गुरु की शरण में जाता है और श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ आचार्य उस शिष्य को उपदेश देते हैं। इस प्रकार एक आत्मवाद मत में शिष्य और आचार्य की व्यवस्था भी सम्भव नहीं होती। 'कोई सुखी है, कोई दुःखी है। किसी का मनुष्य शरीर से सम्बन्ध है, किसी का पशुशरीर से। कोई जन्म से स्वस्थ है, कोई जन्म से रोगी' इस प्रकार की विषमसृष्टि भी एकात्मवाद में सम्भव नहीं।

जीवात्माओं का स्वाभाविक भेद स्वीकार करने पर बन्धन और मोक्ष की व्यवस्था, शिष्य और आचार्य की व्यवस्था तथा विषम सृष्टि भी सम्भव होती है क्योंकि भिन्न भिन्न आत्माओं के भिन्न भिन्न प्रकार के कर्मों से उनका भिन्न भिन्न शरीरों से सम्बन्ध, ज्ञान-अज्ञान, आरोग्य-रोग एवं सुख-दुःख आदि होते हैं। प्रत्येक शरीर में रहने वाली आत्मा भिन्न है, सौभरि आदि योगी इस विषय के अपवाद हैं क्योंकि योगबल से एक ही आत्मा अनेक देहों को धारण करती है। सामान्यतः प्रत्येक शरीर में भिन्न भिन्न आत्माएँ रहती हैं।

स्वाभाविक भेद

जीवात्माएँ नाना (अनेक) हैं। नाना होने से उनका भेद (अनेकत्व या बहुत्व) स्वतः सिद्ध है। नित्य, चेतन परमात्मा असंख्य, नित्य चेतनों को

अभीष्ट पदार्थ प्रदान करता है-**नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्**।(क.उ.2.2.13, श्वे.उ.6.13) इस श्रुति में एकवचनान्त पद परमात्मा के बोधक हैं तथा बहुवचनान्त पद जीवात्मा के बोधक हैं। चेतनानाम् के विशेषण नित्यानाम् और बहूनाम् पद हैं। यह श्रुति जीवात्माओं के परस्पर भेद का प्रतिपादन करती है। इस परमात्मा के एक पाद(भाग) सम्पूर्ण प्राणी हैं-**पादोऽस्य विश्वा भूतानि**।(ऋ.सं.8.4.17, य.सं.31.3, तै. आ.3.12.3) इस मन्त्र में **विश्वा भूतानि** इस प्रकार बहुवचनान्त पदों का प्रयोग होने से जीवात्माओं का भेद सिद्ध होता है। आत्माओं का यह पारस्परिक भेद स्वाभाविक ही है, औपाधिक नहीं क्योंकि शास्त्रवचन मुक्तावस्था में उपाधि न रहने पर भी भेद का प्रतिपादन करते हैं। सूरिगण सदा परमात्मा का साक्षात्कार करते रहते हैं-**सदा पश्यन्ति सूरयः**।(तै.सं. 1.3.6.2, सु.उ.6) इत्यादि श्रुतियाँ सकल उपाधियों के अभाव की दशा में भी सूरयः इत्यादि बहुवचनान्त पदों के द्वारा आत्मा के भेद का प्रतिपादन करती हैं। इस ज्ञान का आश्रय लेकर जो मेरी समता को प्राप्त हो गये हैं, वे सृष्टिकाल में उत्पन्न नहीं होते हैं और प्रलय में व्यथित नहीं होते-**इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः। सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च**॥(गी.14.2) यहाँ मुक्तों के लिए 'आगताः' 'नोपजायते' 'न व्यथन्ति' इस प्रकार बहुवचनान्त पदों का प्रयोग होने से मुक्तावस्था में भी जीवात्माओं का भेद सिद्ध होता है। श्रीभगवान् मुक्तों के परम आश्रय हैं-**मुक्तानां परमा गतिः**।(वि.स.15) यहाँ 'मुक्तानाम्' इस बहुवचनान्त पद से मुक्तों का भेद सिद्ध होता है। आत्मविषयक ज्ञान से जिनका आवरणभूत अज्ञान नष्ट हो गया है, उनका असंकुचित ज्ञान आदित्य की प्रभा के समान सभी को प्रकाशित करता है-**ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः। तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्**॥(गी.5.16)। यहाँ 'तेषाम्' इस प्रकार विनष्ट अविद्या उपाधि वाले आत्मस्वरूप के अनेकत्व का कथन होने से आत्माएँ अनेक सिद्ध होती हैं। जीवात्माओं का अनेकत्व उपाधि के कारण है, ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि अज्ञान के अभाव वाली आत्मा में उपाधि का लेश भी नहीं हो सकता। स्वाभाविक भेदवाद शास्त्रसम्मत है। इसमें बद्ध-मुक्तव्यवस्था तथा सुख-दुःखादि की व्यवस्था सुगमता से सिद्ध होती है।

जीवात्माओं में दो प्रकार के भेद ज्ञात होते हैं-1.देवत्व, मनुष्यत्व आदि

बाह्य भेद। 2.सुखित्व, दुःखित्व आदि आन्तरिक भेद। इनमें प्रथम प्रकृति के कार्य देह उपाधि के कारण आत्मा में प्रतीत होता है और दूसरा प्रकृति के कार्य अन्तःकरण उपाधि के कारण आत्मा में प्रतीत होता है अतः ये दोनों भेद औपाधिक हैं, स्वाभाविक नहीं क्योंकि उपाधियों के निवृत्त हो जाने पर ये भेद आत्मा में प्रतीत नहीं होते। देह और अन्तःकरण उपाधि के साथ आत्मा के सम्बन्ध का कारण कर्म है। ब्रह्मविद्या से कर्म की पूर्णतः निवृत्ति हो जाने पर उपाधि के साथ आत्मा का सम्बन्ध भी नष्ट हो जाता है। उस समय आत्मा में औपाधिक भेद नहीं रहते। देवत्व, मनुष्यत्व, तिर्यक्त्व तथा स्थावरत्वरूप चार प्रकार के बाह्य भेद तथा सुखित्व, दुःखित्वरूप आन्तर भेद मिथ्याज्ञान(आत्मविषयक भ्रान्तिज्ञान) के कारण प्रतीत होते हैं। देवत्वादिरूप भेद का नाश होने पर सुखित्वादिरूप भेद भी नहीं रहते क्योंकि उस समय जीवात्मा कर्मरूप उपाधि से रहित होती है-**चतुर्विधोऽपि भेदोऽयं मिथ्याज्ञाननिबन्धनः। देवादिभेदेऽपध्वस्ते नास्त्येवानावरणो हि सः॥**(वि. ध.), जो आत्मा प्राकृत धर्मों से रहित एवं निर्विकार है, वह प्रकृति के संग के कारण अहंकार(देहात्मबुद्धि) तथा ममकार(ममता) आदि दोषों से दूषित होकर देवत्व आदि तथा सुखित्वादि इन प्राकृत(प्रकृतिसंग के कारण होने वाले) धर्मों को अपना धर्म मान लेती है-**तथात्मा प्रकृतेः संगाद् अहंमानादिदूषितः। भजते प्राकृतान् धर्मानन्यस्तेभ्यो हि सोऽव्ययः॥**(वि. पु.6.7.24), हे राजन! यह आत्मा न देव है, न मनुष्य है, न पशु है, न वृक्ष है। ये भेद शरीर की आकृति(अवयवसंस्थान)रूप हैं तथा कर्मजन्य हैं-**पुमान् न देवो न नरो न पशुर्न च पादपः। शरीराकृतिभेदास्तु भूपैते कर्मयोनयः॥**(वि.पु.2.13.98), यह आत्मा आनन्दरूप, ज्ञानरूप तथा निर्मल है, दुःख, अज्ञान और मल प्रकृति के धर्म हैं, आत्मा के धर्म नहीं-**निर्वाणमय एवाऽयमात्मा ज्ञानमयोऽमलः। दुःखाज्ञानमलाः धर्माः प्रकृतेस्ते तु नात्मनः॥**(वि.पु.6.7.22)। सभी आत्माएँ ज्ञानानन्दस्वरूप हैं, वे शरीरों में रहने पर भी शरीरकृत भेदों से रहित हैं।

देवता, तिर्यक्, मनुष्य और स्थावर भेद वाले चार प्रकार के शरीर प्रकृति के परिणाम हैं। जिस प्रकार विभिन्न प्रकार के काष्ठों से अग्नि सम्बद्ध रहती है, उसी प्रकार देव, मनुष्य आदि शरीरो से आत्मा सम्बद्ध रहती है। जिस प्रकार जपाकुसुम में विद्यमान लालिमा स्फटिक में प्रतीत होती है,

उसी प्रकार शरीर में विद्यमान देवत्व और मनुष्यत्व धर्म आत्मा में प्रतीत होते हैं। जिस प्रकार वक्रत्व(टेढ़ापन) और ऋजुत्व(सीधापन) अग्नि के धर्म नहीं हैं, अग्नि का वक्र काष्ठ और ऋजु काष्ठ से सम्बन्धमात्र है, उसी प्रकार देवत्व आदि आत्मा के धर्म नहीं हैं, आत्मा का देवादि शरीर से सम्बन्धमात्र है। शरीर के संसर्ग के कारण होने वाले सुख और दुःख आत्मा के औपाधिक धर्म हैं, स्वाभाविक धर्म नहीं। सभी शरीरों में विद्यमान जीवात्मा का स्वाभाविकरूप ज्ञानानन्दमय है।

देवत्व, मनुष्यत्व आदि भेद आत्माओं में नहीं रहते, वे शरीर की आकृतिरूप होने के कारण शरीरों में ही रहते हैं। देहसम्बन्ध के कारण होने वाले वे भेद मुक्तात्मा में भी नहीं रहते क्योंकि उस समय कर्मजन्य देहसम्बन्ध नहीं रहता। शास्त्रप्रतिपादित आत्माओं का स्वरूपतः भेद मुक्तावस्था में भी बना रहता है।

जिस प्रकार सुवर्ण से बने अनेक घट सुवर्णत्वेन एक होने पर भी परस्पर भिन्न ही होते हैं, उसी प्रकार सभी आत्माएँ ज्ञानत्वेन एक होने पर भी परस्पर भिन्न ही होती हैं। देव, मनुष्य आदि शब्दों से कर्मकृत औपाधिक भेद ही व्यक्त किये जाते हैं। देव, मनुष्य आदि शब्दों से स्वाभाविक भेद व्यक्त नहीं किया जा सकता। स्वाभाविक भेद स्वसंवेद्य है, स्वरूपभूतज्ञान का विषय है तथा ज्ञान, आत्मा आदि शब्दों का वाच्य है। सभी आत्माओं का ज्ञान ही एक स्वरूप है, ज्ञानत्व ही एक आकार(प्रकार या धर्म) है, इसलिए सभी आत्माओं की ज्ञानैकाकारत्वेन समानता है।

जिस प्रकार समान आकार वाले अनेक घट, अनेक ब्रीहि(धान) और अनेक रत्न होने पर यह एक घट है, एक ब्रीहि है और एक रत्न है, ऐसा अभेदव्यवहार होता है, उसी प्रकार अनेक आत्माएँ होने पर आत्मा एक है, ऐसा अभेदव्यवहार होता है। यहाँ ज्ञानत्व आकार की एकता के कारण भिन्न आत्माओं में भी एकत्वव्यवहार होता है। यहाँ सादृश्यमूलक एकत्व का व्यवहार है, इसलिए जीवाद्वैतबोधक वचनों को जीव के प्रकार की एकता का बोधक जानना चाहिए। आत्माओं का स्वरूप-ऐक्य नहीं हो सकता किन्तु उनका साम्य है, जो भगवद्गीता के निम्न वचनों से स्पष्ट है–अपनी और अन्य की आत्माओं में ज्ञानरूपत्व समानता के कारण पुत्रजन्मादि से होने वाले सुख और उनकी मृत्यु आदि से होने वाले दुःख का

अपनी और अन्य सभी आत्माओं में असम्बन्ध है। इस असम्बन्धरूप समानता के कारण जो सुख और दुःख को सम देखता है, वह योग की पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ माना जाता है-**आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन। सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥**(गी.6.32), ब्रह्मदर्शी प्रकृति के सम्बन्ध से रहित होकर ब्रह्म के साथ परम समता को प्राप्त करता है-**निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति।**(मु.उ.3.1.3), इस श्रुति से और **मम साधर्म्यमागताः।**(गी.14.2) इस गीतावचन से मुक्तावस्था में जीव की परमात्मा के साथ परम समता कही गई है, जब जीव की परमात्मा से परम समानता है तो जीवों की परस्पर में परम समानता अवश्य है।

आत्मभेद लोकसिद्ध नहीं

जीवों का परस्पर भेद लोकसिद्ध है इसलिए वह शास्त्रप्रतिपाद्य नहीं हो सकता, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि 'अहं सुखी, अहं दुःखी' इस प्रकार जीवों का जो लोकसिद्ध भेद है, वह औपाधिक है। स्वाभाविक भेद लोकसिद्ध नहीं है, वह तो शास्त्रप्रतिपाद्य(अलौकिक) है। जैसे शरीर और आत्मा का भेद प्रामाणिक है, वैसे ही आत्माओं का परस्पर भेद भी प्रामाणिक है, इसलिए वेदान्त सिद्धान्त में उसका निषेध नहीं किया जाता, अपितु आत्मा में अप्रामाणिक देवत्वादिरूप भेद का निषेध किया जाता है।

ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य में कहा है-अन्यवादी तो जीवात्मा का पारमार्थिकरूप ही मानते हैं और कुछ हमारे पक्ष के भी ऐसा ही मानते हैं-**अपरे तु वादिनः पारमार्थिकमेव जैवं रूपमिति मन्यन्ते, अस्मदीयाश्च केचित्।**(ब्र.सू.शां.भा.1.3.19)। श्रीशंकराचार्य के इस वर्णन से भी जीवभेदवाद की प्राचीनता स्पष्ट है।

आत्मा और परमात्मा का भेद

इस परमात्मा का एक अंश सम्पूर्ण जीवात्माएँ हैं-**पादोऽस्य विश्वा भूतानि।**(ऋ.सं.8.4.17, य.सं.31.3, तै.आ.3.12.3) इस मन्त्र से अंश आत्मा और अंशी परमात्मा का भेद स्पष्ट ज्ञात होता है। जो नित्यों में नित्य है, चेतनों में चेतन है, वह एक परमात्मा बहुत आत्माओं को अभीष्ट पदार्थ अनायास प्रदान करता है-**नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्॥**(क.उ.2.2.13)। यहाँ एकवचनान्त पद परमात्मा के

और बहुवचनान्त पद जीवात्माओं के बोधक हैं। इस श्रुति से जीव और परमात्मा का भेद स्पष्ट है। नित्य और असंकुचित ज्ञानवाला परमात्मा तथा संकुचित ज्ञानवाला जीवात्मा ये दोनों अजन्मा हैं। इन दोनों में प्रथम नियन्ता है, दूसरा नियाम्य है-**ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशौ**।(श्वे.उ.1.9), समान गुण वाले, साथ रहने वाले, पक्षी के समान जीव और ईश्वर वृक्ष की तरह छेदनयोग्य एक शरीर में रहते हैं। उनमें जीव परिपक्व कर्मफल को भोगता है तथा परमात्मा कर्मफल को न भोगते हुए प्रकाशित होता रहता है-**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति**॥(ऋ.सं.2.3.17, मु.उ.3.1.1, श्वे.उ. 4.6), सर्वात्मा परब्रह्म सभी जीवात्माओं के अन्दर प्रवेश करके उन पर शासन करता है-**अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा**।(तै.आ.3.11.3), जो आत्मा के अन्दर रहता है, आत्मा के अन्दर रहने पर भी आत्मा जिसे नहीं जानती, आत्मा जिसका शरीर है, जो आत्मा के अन्दर प्रविष्ट होकर उसके प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप व्यवहार का नियमन करता है, वह निरुपाधिक अमृतस्वरूप, भोग्य परमात्मा तुम्हारा अन्तर्यामी है-**य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद, यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति, स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः**।(बृ.उ.मा.पा.3.7.26), जीव सुषुप्तिकाल में अपने परमप्रिय, सुहृद् परमात्मा के द्वारा गाढ़ आलिंगन को प्राप्त होता है-**प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तः**।(बृ.उ.4.3.21), जीव सर्वज्ञ परमात्मा से सम्बन्धविशेष को प्राप्त होकर इस शरीर को छोड़कर जाता है-**शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनान्वारूढः उत्सर्जन् याति**।(बृ.उ.4.3.35) इत्यादि श्रुतियों में जीवात्मा से भिन्न परब्रह्म कहा जाता है।

जीव से भिन्न ब्रह्म है क्योंकि श्रुतियों में स्पष्टरूप से उन दोनों के भेद का कथन है-**अधिकं तु भेदनिर्देशात्**(ब्र.सू.2.1.22)। काण्व और माध्यन्दिन इन दोनों शाखाओं का अध्ययन करने वाले वैदिक विद्वान् जीव से भिन्न परमात्मा को अपनी शाखाओं में पढ़ते हैं-**उभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते**(ब्र. सू.1.2.21), जीव से परमात्मा के भेद का **अन्यमीशम्**।(श्वे.उ.4.7) इस श्रुति से स्पष्ट प्रतिपादन होने से यह ज्ञात होता है कि द्युपृथिवी आदि का आधार परब्रह्म ही है, जीव नहीं-**भेदव्यपदेशात्**(ब्र.सू.1.3.4) इत्यादि वचनों में जीव से भिन्न परमात्मा का वर्णन किया गया है।

मुक्तात्मा का परमात्मा से भेद

मैं इस कर्मकृत शरीर को छोड़कर परब्रह्म को प्राप्त करूँगा-**एतमितः प्रेत्याऽभिसंभवितास्मि।**(छां.उ.3.14.4)। यहाँ मुक्तावस्था में प्राप्य ब्रह्म और प्रापक जीवात्मा का भेद वर्णित है। मुक्ति में जीव और ब्रह्म के भेद का प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियाँ गौणमुक्तिविषयक हैं, परममुक्तिविषयक नहीं हैं, यह शंका निर्विशेषाद्वैतवादी को नहीं करनी चाहिए क्योंकि ब्रह्मवेत्ता परब्रह्म और उसके कल्याणकारक गुणों का साथ ही अनुभव करता है-**सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति।**(तै.उ.2.1.1) जब ब्रह्मदर्शी जगत् के अभिन्ननिमित्तोपादानकारण, नियन्ता, देदीप्यमान दिव्यमंगलविग्रह से युक्त, परब्रह्म का साक्षात्कार करता है, तब वह विद्वान् पुण्यपाप को त्यागकर प्रकृति के सम्बन्ध से रहित होकर परब्रह्म के साथ परम समता को प्राप्त करता है-**यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्। तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति॥**(मु.उ.3.1.3), समता भिन्न वस्तुओं में ही होती है। जीव और ब्रह्म की नित्यत्व और चेतनत्व धर्म से सदा समानता है किन्तु मुक्तावस्था में जीवात्मा के अपहतपाप्मत्वादि गुणों का आविर्भाव होने से उसकी परब्रह्म के साथ अत्यन्त समानता है। इस ज्ञान का आश्रय लेकर जो मेरी समता को प्राप्त हो गये हैं, सभी प्राणियों की सृष्टि होने पर भी वे उत्पन्न नहीं होते हैं तथा प्रलयकाल में व्यथित नहीं होते-**इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः। सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥**(गी.14.2)। मुण्डकश्रुति के उपबृंहणभूत इस वचन में श्रीभगवान् ने ही परम समता के अर्थ में साधर्म्य शब्द का प्रयोग किया है। जैसे अपने उत्पत्तिस्थान से निकलकर नीचे की ओर प्रवहित होने वाली गंगादि नदियाँ गंगा, यमुना, सरस्वती आदि नामों को तथा शुक्लत्व, नीलत्व आदि रूपों को छोड़कर समुद्र में लीन हो जाती हैं, वैसे ही विद्वान् जीवनकाल में विद्यमान देवदत्त आदि नाम तथा देवत्व, मनुष्यत्व आदि रूप(आकृति) को छोड़कर परात्पर परब्रह्म को प्राप्त करता है-**यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय। तथा विद्वान्नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥**(मु.उ.3.2.8) इत्यादि श्रुतियों में वादी का अभिमत परमुक्ति में भी जीव-ब्रह्म का भेद प्रतिपादित है। यहाँ मुक्तावस्था में औपाधिक भेद का ही

त्याग कहा गया है, स्वाभाविक भेद का त्याग नहीं कहा, वह तो सर्वदा बना ही रहता है। जैसे समुद्र में मिलने से पूर्व शुक्लत्वादि रूपों तथा गंगा, यमुनादि नामों से नदियाँ उपलब्ध होती हैं, वैसे ही ब्रह्मप्राप्ति से पहले देवत्व, मनुष्यत्वादिरूप तथा देवदत्तादि नामों से जीवात्माएँ उपलब्ध होती हैं। जैसे समुद्र में लीन होने के बाद नदियाँ पूर्व नामरूपों से उपलब्ध नहीं होतीं, वैसे ही परमात्मा में लीन(अपृथक्स्थित) आत्माएँ अपने पूर्व नामरूपों से उपलब्ध नहीं होतीं। जैसे पूर्व नामरूपों को छोड़कर नदी समुद्र में है ही। नदी समुद्र में नहीं है, ऐसा नहीं कह सकते, वैसे पूर्व नामरूप को छोड़कर मुक्तात्मा परब्रह्म में है ही, वह परब्रह्म में नहीं है, ऐसा नहीं कह सकते। नदी का समुद्र से वैधर्म्य नदीत्व है, समुद्र के संसर्ग से इसका त्याग होकर समुद्र के साथ परम समता होती है। आत्मा का परमात्मा से वैधर्म्य प्रकृति के साथ सम्बन्ध है। परमात्म-प्राप्ति से इसका त्याग होकर परमात्मा के साथ परम समता होती है। यहाँ भेदक नामरूपों का अभाव ही वर्णित है, स्वरूप-एकता वर्णित नहीं है, परमसमता वर्णित है। मुक्तावस्था में उपाधि का अभाव होने पर उक्त वचनों से सिद्ध जीव और ब्रह्म का भेद औपाधिक नहीं हो सकता है, स्वाभाविक ही होता है। यह विषय **कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च**(ब्र.सू.1.2.4), **भोगमात्रसाम्यलिंगाच्च**(ब्र.सू.4.4.21), **मुक्तोपसृप्यव्यपदेशाच्च**(ब्र.सू.1.3.2) इन सूत्रों में प्रतिपादित है।

लोक में क्षर और अक्षर ये दो पुरुष प्रसिद्ध हैं। क्षरण स्वभाववाली अचेतन प्रकृति से सम्बद्ध ब्रह्मादि से लेकर कीटपर्यन्त सभी भूत क्षर कहलाते हैं। प्रकृति के संसर्ग से रहित मुक्तात्मा कूटस्थ अक्षर कहलाता है-**द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च। क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥**(गी.15.16), श्रुतियों में परमात्मा इस नाम से कहा जाने वाला उत्तमपुरुष तो क्षर और अक्षर शब्द से निर्दिष्ट बद्ध और मुक्त पुरुष से अन्य है-**उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।**(गी.15.17) इस गीतावचन से भी बद्ध और मुक्त आत्मा से भिन्न परमात्मा सिद्ध होता है। कुछ विद्वान् विनाशी घटादि सभी पदार्थों को क्षर और माया को अक्षर कहते हैं, यह कथन **द्वाविमौ पुरुषौ** श्रीकृष्ण के इस उपक्रम वाक्य से विरुद्ध है क्योंकि शरीर में निवास करनेवाले चेतन को पुरुष कहते हैं-**पुरि शरीरे शेते इति पुरुषः**। यहाँ घटादि पदार्थ क्षर पद के अर्थ हो ही नहीं सकते

क्योंकि **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते**(तै.उ.3.1.1) इस तैत्तिरीय श्रुति में भी 'भूत' पद बद्ध जीव का वाचक है, इससे भिन्न मुक्तात्मा का वाचक अक्षर पद है। जो अव्यय परमात्मा अचेतन प्रकृति, इससे संसृष्ट बद्ध जीव तथा इसके सम्बन्ध से रहित मुक्तात्मारूप तीनों लोकों में प्रवेश करके उन्हें धारण करता है-**यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः।**(गी.15.17), यह गीतावचन मुक्तात्मा और परमात्मा के भी भेद का प्रतिपादन करता है।

अभिमान का कर्ता

देह को आत्मा समझना **देहात्मबुद्धि** है, इसे अभिमान कहा जाता है और इसे करने वाले जीव को अभिमानी। यह(अभिमान) सभी के अनुभव से सिद्ध है और बन्धन का कारण है। यह बुद्धि अज्ञान से जन्य है। अग्नि का कार्य जलाना है, लोहे का नहीं। अग्नि का रंग लाल होता है, लोहे का नहीं, फिर भी 'लोहा जलाता है' 'लोहा लाल है' ऐसी प्रतीतियाँ होती हैं। ये प्रतीतियाँ भ्रम हैं क्योंकि अग्नि के दाहकर्तृत्व तथा लाल रंग की लोहा में प्रतीति होती है। इसी प्रकार 'अग्नि भारी है' 'अग्नि वक्र है' ये प्रतीतियाँ भी भ्रम हैं क्योंकि लोहे का भारीपन और टेढ़ापन अग्नि में प्रतीत हो रहा है। यहाँ अग्नि के धर्म लोहा में प्रतीत हो रहे हैं तथा लोहा के धर्म अग्नि में प्रतीत हो रहे हैं। इन भ्रमात्मक प्रतीतियों का कारण लोहा और अग्नि का तादात्म्य(गाढ़ सम्बन्ध) है, इसी प्रकार देह और आत्मा का तादात्म्य होने से देहात्मबुद्धि होती है। 'मैं स्थूल हूँ, मैं कृश(पतला) हूँ' इस प्रकार देह की स्थूलता और कृशता की आत्मा में प्रतीति होती है, इसलिए ये प्रतीतियाँ भ्रम हैं। दुःखादि धर्मभूतज्ञान के परिणाम हैं। ये शरीररूप उपाधि (निमित्त) के कारण होते हैं अतः ये आत्मा के स्वाभाविक धर्म नहीं हैं, औपाधिक धर्म हैं तथापि इनका अधिकरण आत्मा ही है। 'मेरे शिर में दुःख है' इस प्रकार आत्मा में विद्यमान दुःख शिर में प्रतीत होता है इसलिए यह प्रतीति भी भ्रम है। बाह्य पदार्थों में भिन्न-भिन्न प्रकार के रूप, रस तथा गन्धादि होते हैं इसलिए उनका भेद स्पष्ट ज्ञात होता है किन्तु आत्मा में ऐसे भेदक धर्म नहीं होते इसलिए आत्मा और देह में अभेदभ्रम होता है। इसका कारण सादृश्य(समानता) दोष भी है। जिस प्रकार शुक्ति में रजतबुद्धि का कारण सादृश्य दोष है, उसी प्रकार देहात्मबुद्धि का कारण सादृश्य दोष है। शुक्ति और रजत में चाकचिक्य(चमकीलापन) सादृश्य है। देह और आत्मा

में क्रिया सादृश्य है। आत्मा में जानना क्रिया है, अणु होने से आना-जाना क्रियाएँ भी हैं तथा उठना-बैठना आदि क्रियाएँ शरीर में हैं, इस सादृश्य के कारण भ्रम होता है।

शंका-यदि आत्मस्वरूप का ज्ञान न होता तो भ्रम संभव होता, वेदान्तमत में आत्मस्वरूप सर्वदा स्वयंप्रकाश है, स्वयंप्रकाश वस्तु कभी अज्ञात नहीं रहती, ज्ञात ही रहती है, ऐसी स्थिति में यह देहात्मबुद्धिरूप भ्रम कैसे संभव होता है?

समाधान-भ्रमस्थल में अधिष्ठान का साधारण आकार से भान होने पर ही दोषवशात् भ्रम होता है। असाधारण आकार से भान होने पर भ्रम निवृत्त होता है। जिस प्रकार रजतभ्रम स्थल में अधिष्ठान का इदन्त्वरूप सामान्याकार से भान होने पर ही दोषवशात् रजत का भ्रम होता है, असाधारण आकार शुक्तित्व(नीलपृष्ठ, त्रिकोणत्व) रूप से भान होने पर रजतभ्रम निवृत्त होता है, उसी प्रकार आत्मस्वरूप स्वयंप्रकाश होने पर भी उसका साधारण आकार(अहन्त्वेन) से सर्वदा ज्ञान होने पर ही देहात्मभ्रम होता है। असाधारण आकार ज्ञातृत्वादि रूप से ज्ञान होने पर देहात्मभ्रम निवृत्त हो जाता है। इस प्रकार सामान्यरूप से ज्ञान भ्रम का विरोधी नहीं है इसलिए आत्मा स्वयंप्रकाश होने पर भी देहात्मभ्रम संभव होता है।

सभी भ्रमों में विशेष्य ज्ञात होता है किन्तु उसमें विद्यमान असाधारण धर्म ज्ञात नहीं होते। आत्मा स्वयंप्रकाश होने से सर्वदा ज्ञात है। देहात्मभ्रमस्थल में विशेष्यत्वेन आत्मा ज्ञात होती है अतः आत्मस्वरूप में विप्रतिपत्ति नहीं है किन्तु शास्त्र से उसका विवेक किया जाता है अर्थात् स्वरूप कभी भी अज्ञात नहीं है, इसलिए आत्मस्वरूप के बोधक वेदवाक्य अज्ञात आत्मस्वरूप का बोध नहीं कराते किन्तु मानसप्रत्यक्ष से सिद्ध आत्मा का देहेन्द्रियमनप्राण-बुद्धि भिन्नत्वेन बोध कराते हैं।

जिस प्रकार लोहे में अग्नि की व्याप्ति होने से लोहे में अग्निबुद्धि होती है, उसी प्रकार देह में आत्मा की व्याप्ति होने से देह में आत्मबुद्धि होती है। प्रथम आत्मा का संक्रमण(सम्बन्ध) बुद्धि(धर्मभूतज्ञान) में होता है इसलिए आत्मा के प्रत्यक्त्व और चेतनत्वरूप आकारसे बुद्धि भासित होती है। फिर बुद्धि के द्वारा आत्मा का संक्रमण प्राण में, इसी प्रकार बुद्धि और प्राण के द्वारा मन में, फिर बुद्धि आदि के द्वारा इन्द्रियों में तथा बुद्धि मन,

प्राण और इन्द्रियों के द्वारा देह में संक्रमण होता है इसलिए लौकिक मनुष्यों की प्रथम देह में ही आत्मबुद्धि होती है। इस प्रकार सबसे अन्दर विद्यमान प्रत्यगात्म तत्त्व बुद्धि और प्राण में संक्रान्त(व्याप्त) होकर उनमें अहंबुद्धि (प्रत्यगात्मभ्रम) का कारण होता है, अत एव जिसके संक्रमण से इतर पदार्थ भी प्रत्यगात्मा जैसे भासित होते हैं, उसका ही प्रत्यगात्मत्व स्वाभाविक है, अन्य का औपाधिक है। मैं देह नही हूँ, ऐसा निश्चय होने पर अतीन्द्रिय इन्द्रियों में आत्मबुद्धि होती है। मै इन्द्रिय नही हूँ, ऐसा निश्चय होने पर मन में आत्मबुद्धि होती है। मैं मन नहीं हूँ, ऐसा निश्चय होने पर प्राण में आत्मबुद्धि होती है और मैं प्राण नही हूँ, ऐसा निश्चय होने पर बुद्धि में आत्मबुद्धि होती है। इसके बाद मैं बुद्धि नहीं हूँ, ऐसा निश्चय होने पर प्रत्यगात्मा में आत्मबुद्धि होती है, इस प्रकार प्रत्यगात्मचैतन्य ही सर्वत्र अहं प्रत्यय का हेतु होता है। आत्मा ज्ञानगुण के द्वारा प्राण, मन, इन्द्रिय और देह इन सभी में व्याप्त है इसलिए इनमें ज्ञाताबुद्धि भी होती हैं।

लोहा जलाता है, यह व्यवहार दो प्रकार का होता है-एक लोहा और अग्नि का भेद जानने वाले विवेकी मनुष्यों का व्यवहार और दूसरा भेद न जानने वाले अविवेकियों का व्यवहार। प्रथम व्यवहार का जनक ज्ञान आरोप है, इसलिए आरोपजन्य प्रथम व्यवहार औपचारिक है, वह बाधित नहीं होता। दूसरे व्यवहार का जनक ज्ञान भ्रम है, उससे जन्य व्यवहार बाधित होता है। 'मैं मोटा हूँ'-'स्थूलोऽहं', 'मैं पतला हूँ'-'कृशोऽहम्' इत्यादि व्यवहार ज्ञानी-अज्ञानी सभी करते हैं। 'मैं(आत्मा) स्थूल शरीर वाला हूँ, कृश शरीर वाला हूँ' इस अभिप्राय से देह और आत्मा का भेद जानने वाला ज्ञानी व्यवहार करता है। मैं(आत्मा) स्थूल हूँ, मै कृश हूँ, इस अभिप्राय से भेद न जानने वाला अज्ञानी व्यवहार करता है। व्यवहार का हेतु अज्ञानी का ज्ञान भ्रम है। यह कहा जा चुका है कि आत्मा स्वयंप्रकाश होने के कारण अविवेकियों के लिए भी प्रकाशित होती है और शरीर से आत्मा के भेदक आकार आत्मा में विद्यमान जो नित्यत्व, ज्ञानत्व और सूक्ष्मत्वादि धर्म हैं, उनका प्रकाश न होनेसे आत्मा का देह से पृथक् ज्ञान नहीं होता, इस कारण उन्हें देह और आत्मा की एकता का भ्रम होता है। ज्ञानी का ज्ञान भ्रम नहीं हैं, वह ज्ञान अपृथक्सिद्धि सम्बन्ध के कारण होता है और प्रमा ही होता है। जैसे-शुक्लः घटः का अर्थ शुक्लरूप वाला घट है,

वैसे ही स्थूलोऽहम्, कृशोऽहम् का अर्थ मैं स्थूलशरीर वाला हूँ, मैं कृश शरीर वाला हूँ। ये ज्ञान अबाधित व्यवहार के हेतु होने से प्रमा(यथार्थ) ही हैं।

ज्ञानियों के व्यवहार तीन प्रकार के होते हैं- 'ब्रह्मात्मकोऽहम्' यह व्यवहार केवल आत्मविषयक है, 'मम शरीरम्' यह व्यवहार शरीरविषयक है और 'अहं वदामि', 'अहं गच्छामि' ये व्यवहार शरीरविशिष्टात्मविषयक हैं।

भगवान् से व्याप्य

परब्रह्म श्रीराम व्यापक हैं और जीवात्मा व्याप्य है। सर्वव्यापक परब्रह्म चेतनाऽचेतन सभी वस्तुओं के अन्दर रहता है और उन सभी के बाहर भी रहता है-**तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वास्यास्य बाह्यतः।**(ई.उ.5)। किसी भी वस्तु का कोई भी भाग ऐसा नहीं है, जिसमें भगवान् न रहते हों। वे तिल में तेल की तरह समस्त वस्तुओं के अन्दर व्याप्त होकर रहते हैं। वे जैसे पदार्थों के अन्दर रहते हैं, वैसे ही उनके अभाव स्थान में भी रहते हैं, इसे तैत्तिरीय श्रुति भी स्पष्टरूप से कहती है। इस जगत् में जो कुछ पदार्थ दिखाई देता है या सुनाई देता है, उस सभी को अन्दर और बाहर से व्याप्त करके नारायण स्थित है-**यच्च किंचिज्जगत्यस्मिन् दृश्यते श्रूयतेऽपि वा। अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः॥**(तै.ना.उ.94)। घर के अन्दर रहने वाली वस्तुएँ उसी काल में घर के बाहर नहीं रहतीं और बाहर रहने वाली वस्तुएँ भीतर नहीं रहतीं किन्तु परमात्मा युगपद् सभी पदार्थों के अन्दर और बाहर रहते हैं। यह परमात्मा की विलक्षणता है। 'कोई भी स्थान ऐसा नहीं है, जिसमें परमात्मा न हो' इस अभिप्राय से अणु आत्मा में भी उनका रहना संभव होता है। सभी वस्तुओं में अन्दर और बाहर से परमात्मा की व्याप्ति का अर्थ है-परमात्मा से अव्याप्त प्रदेश का अभाव। इस प्रकार अन्दर और बाह्य प्रदेश के अभाव वाले निरवयव, अणु आत्मा में भी उनकी व्याप्ति संभव होती है।

परमात्मा आत्मा में रहता है, आत्मा के अन्दर रहता है, जिसे आत्मा नहीं जानती, आत्मा जिसका शरीर है, जो आत्मा के अन्दर रहकर उसका नियमन करता है, वह निरतिशय भोग्य परमात्मा तुम्हारा अन्तर्यामी है-**य**

आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद, यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति। स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः।(बृ.उ.मा.पा.3.7.26) यह श्रुति अणु आत्मा में परमात्मा की व्याप्ति को कहती है। यहाँ **य आत्मनि तिष्ठन्** इस प्रकार आत्मा में परमात्मा की व्याप्ति को कहकर **आत्मनोऽन्तरः** यह पुनः कथन उसमें परमात्मा की बहिर्व्याप्तिमात्र का निषेध करने के लिए है। यहीं पर प्रत्यगात्मा में अन्दर प्रवेश करके परमात्मा की नियन्तारूप से स्थिति का प्रतिपादन करके प्रत्यगात्मा और परमात्मा के शरीरशरीरिभाव का प्रतिपादन करने से भी अणु प्रत्यगात्मा में परमात्मा की अन्तर्व्याप्ति सिद्ध होती है। परमात्मा अत्यन्त सूक्ष्म है इसलिए उसकी सभी में अन्तर्व्याप्ति होती है। इस प्रकार भगवान् श्रीराम से व्याप्त जीवात्मा है, वह अपने पुण्यपापात्मक कर्मो के अनुसार शरीर को प्राप्त कर उसमें रहता है।

भगवान् के साथ विद्यमान

समान गुण वाले, साथ रहने वाले, पक्षी के समान जीव और ईश्वर एक शरीर में रहते हैं। उन दोनों में जीव परिपक्व कर्मफल को भोगता है और ईश्वर कर्मफल न भोगते हुए खूब प्रकाशित(आनन्दित) रहता है-**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥**(ऋ.सं.2.3.17, मु.उ.3.1.1, श्वे.उ. 4.6), यह ऋग्वेदमन्त्र शरीर में जीव और ब्रह्म दोनों के साथ रहने का प्रतिपादन करता है और 'हे अर्जुन! ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय स्थान में निवास करता है'-**ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।**(गी.18.61) यह गीतावचन जीव के निवास स्थान हृदय में परमात्मा की स्थिति का प्रतिपादन करता है।

यह आत्मा पापरहित, जरारहित, मृत्युरहित, शोकरहित, क्षुधारहित, पिपासारहित, सत्यकाम और सत्यसंकल्प है-**य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः।**(छां.उ.8. 7.1) इस प्रकार प्रजापतिविद्या मे अपहतपाप्मत्वादि जीवात्मा के गुण कहे गये हैं और **एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सो-ऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः।**(छां.उ.8.1.5) इस प्रकार दहरविद्या में वे ब्रह्म के गुण कहे गये हैं। अपहतपाप्मत्वादि दोनों के समान गुण हैं किन्तु

बद्धावस्था में अनादि कर्मात्मिका अविद्या से जीव के गुण तिरोहित हो जाते हैं और ब्रह्म के गुण कभी भी तिरोहित नहीं होते। जीव और ब्रह्म दोनों साथ रहने वाले सखा हैं। वृक्ष में पक्षी निवास करते हैं। शरीररूप वृक्ष में निवास करने वाले ये दोनों पक्षी के समान हैं। एक शरीर नष्ट हो जाने पर दोनों दूसरे शरीर में रहने चले जाते हैं।

भोक्ता

भोग का आश्रय होना भोक्तृत्व है-**भोगवत्त्वं भोक्तृत्वम्**। सुख-दुःख का साक्षात्कार ही भोग है। सुख, दुःख ज्ञानरूप ही हैं अतः स्वयंप्रकाश हैं, वे जीवात्मा के लिए प्रकाशित होते हैं। आत्मा के लिए इनका स्वरूपभूत प्रकाश ही भोग है। यह प्रकाश(ज्ञान) रूप भोग आत्मा के लिए होने से आत्मा भोक्ता कहलाती है।

जीव अनादिकाल से नाना प्रकार के शुभाशुभ कर्मों को करता आया है। प्रत्येक जन्म में किये गए कर्मों का फल उसी जन्म में नहीं भोगा जा सकता क्योंकि उसके लिए अपेक्षित देश, काल और परिस्थितियाँ उसी जन्म में उपलब्ध नहीं हो सकतीं। ईश्वर से प्रेरित वे अवसर जब जब मिलते रहते हैं, तब तब कर्मों का फल भोगा जाता है। शरीर में अपने सर्वविध हितैषी परमात्मा के साथ रहने वाला जीव कर्म के परिपक्व फल को भोगता है और दूसरा ईश्वर कर्मफल न भोगते हुए प्रकाशित होता रहता है-**तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति**।(मु.उ. 3.1.1)।

ज्ञातृत्व जीवात्मा का स्वाभाविक धर्म है। आत्मा का सुखादि के प्रति भोक्तृत्व स्वाभाविक नहीं है, औपाधिक है। पुण्यपापात्मक कर्मरूप अविद्या उपाधि का अभाव होने पर आत्मा सुखादि का भोक्ता नहीं होती। जीवात्मा में ब्रह्मविषयक अनुभवरूप भोग का कर्तृत्व स्वाभाविक ही है।

देह, इन्द्रिय, मन, प्राण और बुद्धि से भिन्न जीवात्मा का बन्धन अनादि कर्मरूप अज्ञान के कारण है, स्वाभाविक नहीं। ज्ञानानन्दस्वरूप, ब्रह्मात्मक आत्मा स्वाभाविकरूप से निरतिशय आनन्दस्वरूप, सर्वात्मा ब्रह्म का अनुभव करने वाला है। निखिल श्रुति-स्मृति से प्रतिपादित तत्त्वत्रय के अन्तर्गत प्रस्तुत व्याख्येय श्लोक से निरूपित आत्म तत्त्व भी तत्त्वजिज्ञासु मुमुक्षु के द्वारा वेद्य है।

आत्म तत्त्व के निरूपण के पश्चात् उक्त दोनों तत्त्वों का आश्रय और नियन्ता ईश्वर तत्त्व का दो श्लोकों से प्रतिपादन किया जाता है-

विश्वं जातं यतोऽद्धा यदवितमखिलं लीनमप्यस्ति यस्मिन[1]
सूर्यो यत्तेजसेन्दुः सकलमविरतं भासयत्येतदेषः।
यद्भीत्या वाति वातोऽवनिरपि सुतलं याति नैवेश्वरो ज्ञः
साक्षी कूटस्थ एको बहुशुभगुणवानव्ययो विश्वभर्ता॥8॥

श्रीमानर्च्यः शरण्यो बहुविधविबुधैर्योगिगम्याङ्घ्रिपद्मोऽ-
स्पृश्यः क्लेशादिभिः सत्समुदितसुयशाः सूरिमान्यो वदान्यः।
शश्वच्छ्रीरामचन्द्रः सुमहितमहिमा साधुवेदैरशेषै-
र्निर्मृत्युःसर्वशक्तिर्विकलुषविजरो गीर्मनोभ्यामगम्यः॥9॥

अन्वय

यतः अद्धा अखिलं विश्वं जातम्, यदवितम्, यस्मिन लीनम् अपि अस्ति। यत्तेजसा एषः सूर्यः अविरतम् एतत् सकलं भासयति, इन्दुः। यद्भीत्या वातः वाति। अवनिः अपि सुतलं याति एव न। ज्ञः, साक्षी, कूटस्थः, बहुशुभगुणवान्, अव्ययः, विश्वभर्ता, एकः बहुविधविबुधैः अर्च्यः, योगिगम्याङ्घ्रिपद्मः, सत्समुदितसुयशाः, अशेषैः साधुवेदैः सुमहितमहिमा, क्लेशादिभिः अस्पृश्यः, निर्मृत्युः, विकलुषविजरः, गीर्मनोभ्याम् अगम्यः। शश्वत् सूरिमान्यः, सर्वशक्तिः, वदान्यः, शरण्यः, श्रीमान् ईश्वरः श्रीरामचन्द्रः।

अर्थ

यतः-जिनसे **अद्धा**-सत्य(वास्तविक) **अखिलम्**-सम्पूर्ण **विश्वम्**-जगत् **जातम्**-उत्पन्न होता है, **यदवितम्**-जिनके द्वारा स्थित(रक्षित) रहता है और **यस्मिन्**-जिनमें **लीनम्**-लीन **अपि**-भी **अस्ति**-हो जाता है। **यत्तेजसा**-जिनके तेज से **एषः**-यह **सूर्यः**-सूर्य **अविरतम्**-सृष्टि के आरम्भ से लेकर अब तक **एतत्**-इस **सकल**-समग्र संसार को **भासयति**-प्रकाशित कर रहा है (और) **इन्दुः**-चन्द्र(भी प्रकाशित कर रहा है।) **यद्भीत्या**-जिनके भय से **वातः**-वायु **वाति**-चलती है और **अवनिः**-पृथ्वी **अपि**-भी **सुतलम्**-रसातल को **याति**-जाती **एव**-ही **न**-नहीं, वे **ज्ञः**-सर्वज्ञ **साक्षी**-साक्षी **कूटस्थः**-कूटस्थ **बहुशुभगुणवान्**-अनेक शुभगुणों के आश्रय **अव्ययः**-उपचय-अपचय से

टिप्पणी1. **लीनमप्यस्ति यस्मिन्** इत्यस्य स्थाने **लीयते यत्र चान्ते** इति पाठान्तरम्।

रहित **विश्वभर्ता**-विश्व का भरण करने वाले **एकः**-एक **बहुविध-विबुधैः**-विविध देवताओं के द्वारा **अर्च्यः**-अर्चनीय **योगिगम्याङ्घ्रिपद्मः**-योगियों के द्वारा ध्येय चरणकमल वाले **सत्समुदितसुयशाः**-सत्पुरुषों के द्वारा गायी गयी उज्ज्वल कीर्ति वाले **अशेषैः**-सम्पूर्ण **साधुवेदैः**-उत्तम वेदों के द्वारा (वर्णित) **सुमहितमहिमा**-सम्मानित महिमा वाले **क्लेशादिभिः**-क्लेशादि विकारों से **अस्पृश्यः**-असंस्पृष्ट **निर्मृत्युः**-मृत्यु से रहित **विकलुषविजरः**-जरा अवस्था से रहित और अन्य दोषों से रहित **गीर्मनोभ्याम्**-मन और वाणी से **अगम्यः**-पर **शश्वत्**-सदा **सूरिमान्यः**-नित्य सूरियों के द्वारा सेवित **सर्वशक्तिः**-सर्वशक्तिमान् **वदान्यः**-अत्यन्त दयालु **शरण्यः**-शरण प्रदान करने में कुशल **श्रीमान्**-सीता जी के साथ सर्वदा सुशोभित **ईश्वरः**-ईश्वर **श्रीरामचन्द्रः**-श्रीरामचन्द्र हैं।

भाष्य

ईश्वर तत्त्व

उत्पत्ति आदि का कारण-सम्पूर्ण जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय के कारण परब्रह्म श्रीरामचन्द्र हैं। श्रीरामानन्द स्वामी जी ने **लीनमप्यस्ति यस्मिन्** इस प्रकार अपि शब्द के प्रयोग से उनके मोक्षकारण होने का भी निरूपण किया है। तैत्तिरीय श्रुति कहती है कि ये सभी प्राणी जिससे उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न हुए प्राणी जिससे जीवनधारण करते हैं और प्रयाण को प्राप्त करते हुए जिसमें लीन हो जाते हैं, उसे जानो, वह ब्रह्म है-**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभि संविशन्ति। तद् विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति।**(तै.उ.3.1.1) प्रस्तुत श्रुति ब्रह्म का लक्षण करते हुए **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते** इस वाक्य से जगत् के प्रति ब्रह्म का उत्पत्तिकारणत्व, **येन जातानि जीवन्ति** से स्थितिकारणत्व और **यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति** से लयकारणत्व कहती है। जगत् की उत्पत्ति आदि का कारण ब्रह्म है, उसी से सभी उत्पन्न होते हैं। आत्मा के विना कोई जीवित नहीं रहता। ब्रह्म सभी का आत्मा है, उसी से सभी जीवित रहते हैं। मृत्यु को प्राप्त होते हुए सभी उसी में लीन हो जाते हैं। अभिसंविशन्ति यहाँ पर सम् उपसर्ग एकीकरण अर्थ में है। एकीकृत होकर(अभिन्नत्वेन) जो प्रवेश होता है, वह संवेश अर्थात् प्रलय कहलाता है अथवा प्रयन्ति पद से मोक्ष कहा जाता है और अभिसंविशन्ति पद से

प्रलय। ब्रह्म का लक्षण जगज्जन्मादिकारणत्व है।

कारण के भेद

उपादान, सहकारी और निमित्त भेद से कारण तीन प्रकार का होता है-

उपादानकारण

कार्यरूप से परिणाम को प्राप्त होने वाली वस्तु उपादान कारण कही जाती है-**कार्यरूपेण परिणममानं वस्तु उपादानम्**। जैसे-घट का उपादान कारण मिट्टी है, पट का उपादान कारण तन्तु है।

निमित्तकारण

उपादानकारण का कार्यरूप से परिणाम करने वाली वस्तु निमित्त कारण कहलाती है-**कार्यतया परिणामयितृ निमित्तकारणम्।** निमित्तकारण चेतन कर्ता होता है। जैसे-मिट्टी का घटरूप से परिणाम करने वाला कुलाल घट का निमित्तकारण है, तन्तुओं का पटरूप से परिणाम करने वाला जुलाहा पट का निमित्तकारण है।

सहकारी कारण

कार्य की उत्पत्ति का सहयोगी कारण सहकारी कारण कहा जाता है-**कार्योत्पत्त्युपकरणं वस्तु सहकारिकारणम्।** जैसे-घट के सहकारी कारण दण्ड, चक्र तथा कालादि हैं।

परमात्मा सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टरूप से चेतनाचेतनात्मक जगत् का उपादान कारण है। **सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति।**(तै.उ.2.6.2) इस प्रकार कथित संकल्पविशिष्टरूप से निमित्त कारण है और काल के अन्तर्यामीरूप से सहकारी कारण है।

अभिन्ननिमित्तोपादानकारण

जगत् का उपादान और निमित्त कारण एक परमात्मा ही है। लोक में घटादि कार्यों के उपादान और निमित्त कारण भिन्न-भिन्न देखे जाते हैं। जैसे-घट का उपादान कारण मृत्तिका होती है और निमित्त कारण कुलाल। पट का उपादान कारण तन्तु होता है और निमित्त कारण जुलाहा किन्तु जगत् के उपादान और निमित्त कारण भिन्न-भिन्न नहीं हैं। अभिन्न निमित्तोपादानकारणत्व का अर्थ उपादान कारण और निमित्त कारण की

एकता नहीं है किन्तु उपादानकारणत्व और निमित्तकारणत्व के आश्रय की एकता है। लोकदृष्ट कार्यों के उपादान और निमित्त पृथक्-पृथक् सिद्ध हैं किन्तु जगत् का उपादान और निमित्त पृथक्-पृथक् सिद्ध नहीं है। श्रुतियाँ सृष्टि के पूर्व एक ब्रह्म के ही सद्भाव का वर्णन करती हैं। हे सोम्य! सृष्टि के पूर्वकाल में एक सद् ब्रह्म ही था-**सदेव सोम्येदेम् अग्र आसीत्।**(छां. उ.6.2.1), **ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्।**(बृ.उ.1.4.10), **आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्।**(ऐ.उ.1.1) इत्यादि श्रुतियाँ पूर्व में विद्यमान उस ब्रह्म से ही जगत् की उत्पत्ति बताती हैं। सृष्टि से पूर्व प्रलयकाल में ब्रह्म कारणत्वावस्था को प्राप्त सूक्ष्मचेतनाचेतन से विशिष्ट होकर रहता है। सृष्टिकाल में वह कार्यत्वावस्था को प्राप्त स्थूलचेतनाचेतन से विशिष्ट होकर रहता है इससे स्पष्ट है कि सूक्ष्मचेतनाचेतनविशिष्ट ब्रह्म ही सृष्टिकाल में स्थूलचेतनाचेतन-विशिष्ट हो जाता है। यह स्थूलचेतनाचेतनविशिष्ट ब्रह्म ही जगत् है। ब्रह्म(सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म) ने स्वयं को जगत् (स्थूलचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म)रूप में किया-**तदात्मानं स्वयमकुरुत।**(तै.उ.2.7.1) यह श्रुति ब्रह्म को ही कारण तथा कार्य कहती है। इससे जगद्रूप में परिणाम को प्राप्त होने वाला ब्रह्म ही उपादानकारण सिद्ध होता है। 'हे सोम्य! प्रत्यक्ष दिखाई देने वाला यह जगत् सृष्टि के पूर्वकाल में निमित्तान्तर से रहित एक सद् ब्रह्म ही था-**सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।**(छां.उ.6.2.1) यह श्रुति 'इदम्' पदसे जगत् का निर्देश करती है। जगत्=नामरूप के विभाग से युक्त बहुत्व अवस्था वाला स्थूलचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म। एकम्=नामरूप के विभाग से रहित एकत्व अवस्थावाला सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म। नामरूप के विभाग वाली अवस्था स्थूलावस्था कही जाती है। सृष्टि के पूर्व में नामरूप का विभाग न होने से एकत्व अवस्था होती है। 'एकमेव' पद से नामरूपविभाग से रहित ब्रह्म कहा जाता है। सृष्टि के पूर्व यह जगत् सत्(सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म) ही था। इससे एकत्व अवस्था वाला सद् उपादानकारण तथा बहुत्व अवस्था वाला जगत् कार्य सिद्ध होता है। लोक में घट कार्य की उत्पत्ति के लिए उपादान कारण से अतिरिक्त निमित्त कारण की अपेक्षा होती है। यहाँ पर सद् वस्तु उपादान कारण है तो निमित्तकारण कौन है? इस शंका के समाधान के लिए 'अद्वितीयम्' पद कहा गया है। इसका भाव यह है कि जगत् का निमित्तकारण भी सद् ब्रह्म ही है, दूसरी वस्तु नहीं। घट का उपादान कारण जो मृत्पिण्ड है, वह

संकल्प का आश्रय न होने से निमित्त कारण नहीं हो सकता अतः कार्य की उत्पत्ति के लिए जड़ उपादान कारण अपने से भिन्न चेतन निमित्तकारण की अपेक्षा करता है। उपादानकारण ब्रह्म चेतन है अतः उसे अपने से भिन्न निमित्तकारण की अपेक्षा नहीं होती। ब्रह्म में सभी प्रकार की शक्तियाँ निहित हैं, इसलिए वह संकल्पमात्र से अपने को जगद्रूप में परिणत करता है। कार्यरूप में परिणत होने का सामर्थ्य कुलाल में नहीं है, इसलिए वह केवल निमित्तकारण है, उपादान कारण नहीं। इस प्रकार सकल इतर पदार्थों से विलक्षण ब्रह्म जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण होता है।

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्(ब्र.सू.1.4.23) इस ब्रह्मसूत्र का यह अर्थ है कि ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है क्योंकि उपनिषदों में इस प्रतिज्ञा का वर्णन किया गया है कि एक के ज्ञान से सभी का ज्ञान होता है। इस प्रतिज्ञा के समर्थक मृत्तिका और उसके कार्य घट, शरावादि दृष्टान्त हैं। उपादानकारण ही अवस्थान्तर को प्राप्त होकर कार्य कहा जाता है। घटादि का उपादान कारण मृत्तिका है। मिट्टी ही घटत्व आदि अवस्थाओं को प्राप्त होकर घट आदि कार्य कही जाती है। मृत्तिका ही घट आदि कार्य के रूप में परिणत होती है, इसलिए मिट्टी और घटादि पदार्थ एक ही वस्तु है अतः मिट्टीरूप कारण को जानने से घटादि मिट्टी ही हैं, इस प्रकार घटादि सभी कार्य जाने जाते हैं। उसी प्रकार यहाँ समझना चाहिए कि उपादानकारण ब्रह्म ही कार्य जगत् के रूप में परिणत होता है अतः ब्रह्म और जगत् एक ही वस्तु है इसलिए उपादानकारण ब्रह्म को जानने से जगत् ब्रह्म ही है, इस रीति से सम्पूर्ण जगत् जाना जाता है। इस प्रकार प्रतिज्ञा और पूर्वोक्त दृष्टान्त से जगत् का उपादानकारण ब्रह्म सिद्ध होता है इसलिए एक के विज्ञान से सब के विज्ञान की प्रतिज्ञा करके मृदादि दृष्टान्त कहे जाते हैं।

नामरूप के विभाग से रहित अवस्था सूक्ष्मावस्था है और नामरूप के विभाग से युक्त अवस्था स्थूलावस्था। चेतनाचेतन में रहने वाली ये अवस्थाएँ उनसे विशिष्ट ब्रह्म में कही जाती हैं। जैसे शरीर में रहने वाले बालत्व, युवत्व आदि धर्म शरीरविशिष्ट जीव में कहे जाते हैं, यह कथन औपचारिक नहीं है क्योंकि अन्य मुख्य कथन यहाँ संभव नहीं। घट, पट आदि नाम तथा घटत्व, पटत्वादि रूप सृष्टि के पूर्वकाल में नहीं रहते। अर्थ

का बोधक शब्द नाम कहा जाता है तथा आकृति को रूप कहा जाता है। इन नामरूपों का विभाग(पार्थक्य) सृष्टि के पूर्व में नहीं रहता। सूक्ष्मावस्था वाला ब्रह्म कारण होता है तथा स्थूलावस्था वाला ब्रह्म कार्य होता है। द्रव्य नित्य होने पर भी अवस्था भेद से वही कारण होता है और वही कार्य होता है। कार्य बनने वाले उत्पत्तिरहित प्रधान और पुरुष का कारण ईश्वर है- **प्रधानपुंसोरजयोः कारणं कार्यभूतयोः**।(वि.पु.1.9.37) इस श्लोक में जीव और प्रकृति को अजन्मा कहने से सृष्टि के पूर्व कारणावस्था में भी उनकी विद्यमानता सिद्ध होती है। इस वाक्य में इन दोनों को कार्य भी कहा गया है। ये दोनों नित्य तत्त्व जब सूक्ष्मावस्था से स्थूलावस्था को प्राप्त करते हैं, तब कार्य कहे जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि एक ही द्रव्य को पूर्वावस्था होने से कारण एवं उत्तरावस्था होने से कार्य कहा जाता है। सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टत्वेन परमात्मा जगत् का कारण होता है। सूक्ष्मचिदचिद्-विशिष्टत्व का अर्थ है-सूक्ष्मावस्था वाले चिदचिद् का नियमनकर्तृत्व। स्थूलचिदचिद्विशिष्टत्वेन परमात्मा कार्य जगत् होता है। स्थूलचिदचिद्विशिष्टत्व का अर्थ है-स्थूलावस्था वाले चिदचिद् का नियमनकर्तृत्व। अन्य विकार विशेषण अंश में विद्यमान होने पर भी उक्त विशिष्टत्वरूप अवस्थाएँ(विकार) साक्षात् परमात्मा में ही रहती हैं। इस कारण विशेष्य परमात्मस्वरूप को भी साक्षात् कार्य और कारण कहा जाता है। ब्रह्म सदा चेतन और अचेतन से विशिष्ट ही रहता है। विशिष्ट ब्रह्म में रहने वाला वैशिष्ट्य धर्म दोनों अवस्थाओं में स्थित चेतन-अचेतन का नियमन करनारूप है। सूक्ष्म चेतनाचेतन का नियमन करने वाला ब्रह्म कारण कहा जाता है और स्थूलचेतनाचेतन का नियमन करने वाला वही ब्रह्म कार्य कहा जाता है। ये अवस्थाएँ(वैशिष्ट्य) ही ब्रह्म को साक्षात् कार्य और कारण कहने का हेतु हैं। सूक्ष्मचेतनाचेतन का नियमन करनारूप अवस्था होने से उसे कारण कहा जाता है तथा स्थूलचेतनाचेतन का नियमन करनारूप अवस्था होने से कार्य कहा जाता है। जगत् परमात्मा से अपृथक्सिद्ध है, इसलिए जगत् परमात्मा ही है। इस व्यवहार का हेतु भी विशिष्टत्व है।

श्रुति में वर्णित अव्याकृतनामरूपवत्त्व(नामरूपविभाग से रहित सूक्ष्मावस्था) कारणावस्था है। यह कारणव्यवहार का प्रयोजक है। व्याकृतनामरूपवत्त्व (नामरूपविभाग से युक्त स्थूलावस्था) कार्यावस्था है। यह कार्यव्यवहार

का प्रयोजक है। ये सद्वारक अवस्थाएँ है, ये परमात्मा को परम्परया कार्य और कारण कहने में हेतु हैं। पूर्व में कही गयी सूक्ष्म और स्थूल चिदचिदनियमनकर्तृत्वरूप अवस्थाएँ अद्वारक(साक्षात्) अवस्थाएँ है।

चेतन-अचेतन सर्वदा ब्रह्म के शरीर बनकर रहने के कारण उनके प्रकार(विशेषण) होते हैं। ब्रह्म कदाचित् नामरूपविभाग के अयोग्य सूक्ष्मावस्था को प्राप्त चेतनाचेतन से विशिष्ट होकर रहता है, उसे कारणावस्था वाला ब्रह्म कहते हैं और कभी नामरूपविभाग के योग्य स्थूलावस्था को प्राप्त चेतनाचेतन से विशिष्ट होकर रहता है, उसे कार्यावस्थावाला ब्रह्म कहते हैं। शब्दादि से रहित अचेतनप्रकृति को भोग्य बनने के लिए शब्दादि के आश्रयरूप से उसके स्वरूप का अन्यथाभावरूप विकार होता है। प्रलयकाल में चेतन जीवों का ज्ञानगुण अत्यन्त संकुचित रहता है। श्रीभगवान् सृष्टिकाल में उन्हें शरीर-इन्द्रिय प्रदान करते हैं, जिससे कर्मफल भोगने के अनुरूप उनके ज्ञानगुण का विकासरूप विकार होता है। दोनों प्रकारों (सूक्ष्म चेतनाचेतन और स्थूल चेतनाचेतन) से विशिष्ट नियन्ता ब्रह्म में अवस्था(सूक्ष्मत्व और स्थूलत्व अवस्था) से विशिष्ट चिदचिद् की विशिष्टता-रूप(वैशिष्ट्य) विकार होता है। कारणत्वावस्था वाले (सूक्ष्मचेतनाचेतन से विशिष्ट) ब्रह्म का अवस्थान्तर (कार्यत्वावस्था) की प्राप्तिरूप जो विकार होता है, वह दोनों प्रकारों चेतनाचेतन तथा प्रकारी ब्रह्म में समानरूप से होता है। अचेतन प्रकृति का परिणाम तथा चेतन को शरीरेन्द्रियप्रदानपूर्वक उनके ज्ञान का विकास ही ईश्वर के द्वारा की जाने वाली सृष्टि है।

आगन्तुक, अपृथक्सिद्ध धर्म अवस्था कहलाता है-**आगन्तुकोऽपृथक्-सिद्धधर्मोऽवस्था।**(श्री.प्र.च.), साक्षात् अथवा परम्परया अवस्था का आश्रय उपादान कहलाता है-**अवस्थाश्रय उपादानम्।**(न्या.सि.), जैसे मिट्टी चूर्णत्व, पिण्डत्व, घटत्व आदि अवस्थाओं का आश्रय है, वैसे ही ब्रह्म अपने विशेषण चेतन और अचेतन के द्वारा सूक्ष्मत्व और स्थूलत्व अवस्था का आश्रय होता है। सूक्ष्मचेतनाचेतन से विशिष्ट ब्रह्म जगत् का उपादान कारण होता है। उसमें अचेतन अंश साक्षात् अवस्थान्तर का आश्रय है तथा चेतन अंश संकोच-विकास वाले ज्ञानगुण के द्वारा अवस्थान्तर का आश्रय है। ये दोनों ही अवस्थाएँ परम्परा सम्बन्ध से ब्रह्म में रहती हैं, इसलिए ब्रह्म उपादानकारण है। **बहु स्यां प्रजायेयेति।**(तै.उ.2.6.2, छां.उ.6.2.3) इस

प्रकार कहे गये बहुत होने के संकल्प से विशिष्ट ब्रह्म निमित्तकारण है। प्रकृति के स्वरूप का अन्यथाभावरूप तथा जीव के धर्मभूतज्ञान का संकोचविकासरूप जो परमात्मा की सद्वारक अवस्थाएँ हैं, वे परमात्मा की मुख्य अवस्थाएँ ही हैं, गौण नहीं। जैसे पूर्वमीमांसकमत में फल का जनक परमापूर्व[1] होता है, वह याग से जन्य होता है और परमापूर्व का साक्षात् शेष याग होता है, व्रीहि आदि द्रव्य तो याग के साक्षात् शेष होते हैं और याग के द्वारा परमापूर्व के शेष होते हैं। अवघात, प्रोक्षण आदि व्रीहि के साक्षात् शेष होते हैं। वे व्रीहि आदि के द्वारा परमापूर्व के शेष होते हैं। जिस प्रकार परमापूर्व के सद्वारक शेष भी मुख्य शेष ही माने जाते हैं, उसी प्रकार परमात्मा की सद्वारक अवस्थाएँ भी मुख्य अवस्थाएँ ही मानी जाती है।

शंका-लोक में कार्य के उपादान एवं निमित्त कारण भिन्न-भिन्न देखे जाते हैं। ऐसी स्थिति में एक ही ईश्वर को जगत् का उपादान एवं निमित्त कारण स्वीकार करना उचित नहीं।

समाधान-लोक में भी किसी कार्य का उपादान और निमित्त कारण एक ही देखा जाता है। जैसे घट उत्पन्न होने पर उसका विभु ईश्वर के साथ संयोग हो जाता है। यह संयोग ईश्वर में समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होता है इसलिए इस संयोग का समवायिकारण ईश्वर है। नैयायिकमतानुसार कार्यमात्र के प्रति कर्ता ईश्वर निमित्त कारण है। इस प्रकार यहाँ नैयायिकमत में भी ईश्वर अभिन्ननिमित्तोपादान कारण सिद्ध होता है। यदि कार्यमात्र का कर्ता ईश्वर को न माना जाय तो क्षिति, अंकुरादि कर्ता से जन्य हैं, कार्य होने से-**क्षित्यंकुरादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात्** इस अनुमान में व्यभिचार दोष उपस्थित होगा क्योंकि घटेश्वरसंयोग का ईश्वर कर्ता न होने से उसमें सकर्तृकत्व साध्य नहीं रहता, कार्यत्व हेतु तो रहता है। इस प्रकार साध्याभाव के अधिकरण में हेतु के रहने से व्यभिचार दोष होने के कारण ईश्वरसाधक अनुमान व्यर्थ हो जायेगा। जब जीवात्मा अपने में बुद्धिपूर्वक

1.स्वर्गादिफल की प्राप्ति के लिए यागादि कर्म किये जाते हैं। स्वर्गादि के कारण यागादि होते हैं। कारण को कार्य के अव्यवहित पूर्व तक रहना चाहिए किन्तु यागादि क्षणिक होने से शीघ्र नष्ट हो जाते हैं अतः ये फल के जनक नहीं हो सकते, इसलिए पूर्वमीमांसक कर्म से जन्य अपूर्व की कल्पना करते हैं। वह फल का जनक होता है। अपूर्व अनेक प्रकार के होते हैं। इनमें फल का साक्षात् जनक परमापूर्व होता है।

ज्ञान और सुख को उत्पन्न करता है, तब बुद्धिपूर्वक उत्पन्न करने के कारण वह ज्ञान और सुख का निमित्त कारण तथा जीवात्मा में ही उत्पन्न होने के कारण समवायिकारण भी होता है। इस प्रकार यहाँ नैयायिकमत में भी जीवात्मा अभिन्ननिमित्तोपादान कारण होता है। 'रथ जाता है' इत्यादि स्थलों में गमनक्रिया का कर्तारूप निमित्त कारण तथा उपादान दोनों एक ही रथ होता है, ऐसा नैयायिकों को भी मान्य है। **मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम्।**(श्वे.उ.4.10)यह श्रुति प्रकृति को उपादान कारण तथा ईश्वर को निमित्त कारण कहती है। ऐसी शंका करना उचित नहीं क्योंकि यह श्रुति विकार का आश्रय जो प्रकृति है, तद्शरीरक ईश्वर को जगत् का उपादान कहती है तथा उसके नियमन द्वारा ईश्वर को निमित्त कारण कहती है, अतः उपादान और निमित्त भिन्न-भिन्न ही होते हैं, यह कथन भ्रान्तिमूलक है।

शंका-ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण मानने पर उसमें परिणामरूप विकार भी मानना होगा, ऐसा होने पर उसके विनाशी होने का प्रसंग होगा तथा **अविकाराय शुद्धाय**(वि.पु.1.2.1) इत्यादि निर्विकारत्व के प्रतिपादक शास्त्रवचनों से विरोध होगा अतः उसे उपादानकारण स्वीकार करना उचित नहीं।

समाधान-विशिष्ट ब्रह्म में चेतन और अचेतन विशेषण हैं, उनके अन्तर्यामी रूप से रहने वाला ब्रह्म विशेष्य है। सूक्ष्मचिदचिद् विशेषण से विशिष्ट परमात्मा का जगद्रूप से परिणाम होने पर भी उसके विशेष्यस्वरूप में कोई विकार नहीं होता। विशेषण अंश में ही विकार होता है। जैसे-मकड़ी जाले का उपादान कारण होने पर भी उसके विशेष्यस्वरूप में विकार नहीं होता, विकार तो उसके विशेषणभूत शरीर में होता है। शरीर विशेषण के द्वारा मकड़ी का विकार होता है। ब्रह्म का विशेषण के द्वारा जगद्रूप में परिणाम(विकार) होता है। बृहदारण्यक के अन्तर्यामी ब्राह्मण में **यस्य पृथिवी शरीरम्।**(बृ.उ.3.7.7), **यस्य आत्मा शरीरम्।**(बृ.उ.3.7.26)इत्यादि प्रकार से चेतन और अचेतन सभी ब्रह्म के शरीर कहे गये हैं। इन शरीररूप विशेषणों में ही विकार होते हैं, विशेष्य ब्रह्म में नहीं होते। इस प्रकार चेतनाचेतन के द्वारा ब्रह्म उपादानकारण होता है, अतः उसमें विकार की प्रसक्ति नहीं होती। यद्यपि बालत्व, युवत्व आदि धर्म शरीर में रहते हैं,

आत्मा में नहीं रहते, फिर भी जैसे बालक युवक होता है, ऐसा कथन होने पर शरीरद्वारा जीवात्मा का उपादानत्व मान्य है, वैसे ही चेतनाचेतनरूप विशेषणों के द्वारा एक ब्रह्म का ही उपादानत्व मान्य है। ऐसा स्वीकार न करके केवल शरीर को उपादान स्वीकार करने पर शरीर में जीवात्मा न रहने पर भी 'बालक युवक होता है' यह व्यवहार होना चाहिए किन्तु यह व्यवहार नहीं होता, इससे सिद्ध होता है कि केवल शरीर उपादान नहीं है, बल्कि शरीरविशिष्ट आत्मा उपादान है। निर्विकारत्वप्रतिपादक शास्त्र विशेष्य ब्रह्मस्वरूप को निर्विकार कहते हैं। विशिष्ट ब्रह्म में विकार मानना सिद्धान्त में इष्ट है। जिस प्रकार स्वरूपतः निर्विकार जीवात्मा मनुष्यादि शरीर से विशिष्ट होने पर बालत्व, युवत्व और वृद्धत्वरूप विकार को प्राप्त करता है, उसी प्रकार स्वरूपतः निर्विकार ब्रह्म चेतनाचेतनविशिष्टरूप से विकार को प्राप्त करता है। पूर्वरूप के उपमर्दनपूर्वक जो अन्यथाभावरूप विकार होता है, उसके होने से वस्तु विनाशी होती है, वह ब्रह्म में नहीं है। निर्विकारत्वप्रतिपादक शास्त्र ब्रह्म में पूर्वरूप के उपमर्दनपूर्वक होने वाले विकार के अभाव का प्रतिपादन करते हैं।

शंका-शास्त्र में कहीं-कहीं ब्रह्म के विशेषण जीव और प्रकृति को जगत्कारण कहा गया है, अतः ब्रह्म को जगत् का मुख्य कारण न मानकर गौण कारण ही मानना चाहिए।

समाधान-कार्य और कारण दोनों अवस्थाओं वाले जीव और प्रकृति उसी प्रकार परमात्मा के विशेषण होते हैं, जिस प्रकार जाति व्यक्ति का विशेषण होती है और गुण द्रव्य का विशेषण होता है। जाति और गुण की तरह सदा विशेषण बनकर रहने के कारण जीव और प्रकृति अपृथक्सिद्ध विशेषण कहलाते हैं। जिस प्रकार अपृथक्सिद्ध विशेषण जाति और गुण के वाचक शब्द मुख्यवृत्ति से ही अपने आश्रय द्रव्य तक का बोध कराते हैं, उसी प्रकार अपृथक्सिद्ध विशेषण जीव और प्रकृति के वाचक शब्द मुख्यवृत्ति से ही अपने आश्रय परमात्मा तक का बोध कराते हैं इसलिए कारणत्वेन कहे गये जीव और प्रकृति के वाचक शब्द मुख्यवृत्ति से ही परमात्मा को कारण कहते हैं, गौणरूप से नहीं कहते।

शंका-चिदचिद् और ब्रह्म का भेद स्वीकार करने पर उनमें कार्य-कारण (उपादान-उपादेय) भाव संभव नहीं होगा तथा इनका अभेद स्वीकार करने

पर आत्मशरीरभाव संभव नहीं होगा।

समाधान-उक्त शंका उचित नहीं क्योंकि वेदान्तसिद्धान्त में विशेषण और विशेष्य का भेद स्वीकार किया जाता है। ब्रह्म के विशेषण चिद्, अचिद् हैं तथा ब्रह्म विशेष्य है। कार्य-कारणभाव विशिष्ट में ही स्वीकार किया जाता है। सिद्धान्त में ऐसा नहीं माना जाता कि ब्रह्म कारण है, जीव और प्रकृति कार्य हैं बल्कि 'ब्रह्म ही कारण है, ब्रह्म ही कार्य है' ऐसा माना जाता है। सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म को कारण तथा स्थूलचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म को कार्य माना जाता है। कारण ब्रह्म ही अवस्थाविशेष से विशिष्ट होने पर कार्य होता है। इस प्रकार विशेषण चिद्-अचित् और विशेष्य ब्रह्म का भेद होने पर विशिष्ट ब्रह्म में कार्यकारणभाव संभव होता है। कार्यकारण का अभेद होने पर भी विशेषण और विशेष्य में परस्पर भेद होने से आत्मशरीरभाव (शरीरशरीरीभाव)संभव होता है। भेद श्रुतियाँ आत्मशरीरभाव का प्रतिपादन करने के लिए उपयोगी चिद्, अचिद् और ब्रह्म के भेद का प्रतिपादन करती हैं। इस प्रकार भेदश्रुतियाँ भी आत्मशरीरभाव का प्रतिपादन करने के लिए होती हैं। आत्मशरीरभाव तथा उपादान-उपादेयभाव के ज्ञान का फल श्रुतिप्रतिपाद्य सविशेष अद्वैत ब्रह्म का ज्ञान है, उसका प्रतिपादन करने वाली अभेदश्रुतियाँ हैं। इस प्रकार सभी वेदान्तवाक्यों का उपादान ब्रह्म के ज्ञान में ही उपयोग होता है। **कारणं तु ध्येयः**।(अ.शि.उ.2.17) इस प्रकार श्रुति जगत्कारण को ध्येय कहती है। ध्यान साक्षात्कारात्मक होकर मोक्षफल देने वाला होता है। इस प्रकार जगत् के अभिन्ननिमित्तोपादानकारणत्व का प्रतिपादन ध्येय के ज्ञान में उपयोगी है।

शंका-सूक्ष्मचिदचिद्शरीरक ब्रह्म जगत् का कारण है। सूक्ष्म का अर्थ होता है-नामरूपविभाग के अयोग्य। नामरूपविभाग के अयोग्य वस्तु के लिए सूक्ष्म चिदचित् नाम(शब्द) का प्रयोग कैसे संभव होता है?

समाधान-जगत्(स्थूलचिदचिद्शरीरक ब्रह्म)रूप से परिणाम के योग्य सूक्ष्मावस्था को प्राप्त सब कुछ सृष्टि के पूर्वकाल में रहता है। इसलिए नामरूपविभाग के अयोग्य वस्तु के लिए भावी दृष्टि से सूक्ष्म चिदचित् शब्द का प्रयोग संभव होता है। उस समय सूक्ष्मावस्थापन्न चिदचित् पदार्थ परब्रह्म से अविभक्त होकर रहते हैं। इस रूप में रहने वाले को भावी दृष्टि से सूक्ष्म कहा जाता है।

'कार्य और कारण दोनों अवस्थाओं वाले चेतन और अचेतन शरीर होने से परमात्मा के प्रकार हैं। उन प्रकारों से विशिष्ट परमात्मा ही कार्य और कारण रूप से स्थित है।' इस अर्थ की बोधक कुछ श्रुतियाँ जगत् ब्रह्म ही है, ऐसा कहती हैं-हे सोम्य! पृथक्-पृथक् नामरूप होने से बहुत्व अवस्था वाला यह जगत् सृष्टि के पूर्वकाल में नामरूपविभाग न होने से एकत्व अवस्था वाला और अन्य निमित्तकारण से रहित सद् ब्रह्म ही था-**सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकम् एवाद्वितीयम्।**(छां.उ.6.2.1), परब्रह्म ने संकल्प किया कि चेतनाचेतनात्मक व्यष्टि जगद्रूप से मैं ही बहुत हो जाऊँ, उसके लिए तेज, अप आदि समष्टिरूप से उत्पन्न होऊँ, उसने तेज को उत्पन्न किया-**तदैक्षत, बहु स्यां, प्रजायेयेति। तत्तेजोऽसृजत्।**(छां.उ.6.2.3) इस प्रकार आरम्भ करके आगे कहा जाता है 'हे सोम्य! अचित् से संसृष्ट ये सभी जीव सत् शब्द के वाच्य ब्रह्म से उत्पन्न होते हैं, ब्रह्म के द्वारा धारण किये जाते हैं तथा ब्रह्म में ही लीन हो जाते हैं'-**सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः।**(छां.उ.6.8.4)। प्रमाण से ज्ञात यह चेतनाऽचेतनात्मक जगत् उपादान[1] और अन्तर्यामी ब्रह्म से व्याप्त है, वह इन सबका नियन्ता है, हे श्वेतकेतु! जगत्कारण ब्रह्म तुम्हारा अन्तरात्मा है-**ऐतदात्म्यमिदं सर्वं। तत्सत्यम्[2]। स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो।**(छां.उ.6.8.7) परमात्मा ने संकल्प किया कि मैं देवमनुष्यादि रूप से बहुत हो जाऊँ, उसके लिए आकाशादि रूप से उत्पन्न होऊँ। उसने रचे जाने वाले पदार्थों का संकल्परूप तप किया। उसने तप करके सम्पूर्ण जगत् की रचना की-**सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत।**(तै.उ.2.6.2) यहाँ से आरम्भ करके 'सत्य परमात्मा ही अविकारी चेतन तथा विकारी अचेतनरूप हो गया'-**सत्यं चाऽनृतं च सत्यमभवत्।**(तै.उ.2.6.2) इत्यादि कहा गया है। अब आगे छान्दोग्य और तैत्तिरीय में श्रुत्यन्तर से सिद्ध चेतन, अचेतन और परमपुरुष के स्वरूप का विवेचन किया जाता है-मैं अभिमानी देवताओं से अधिष्ठित तेज, जल तथा पृथ्वी इन तीन भूतों में जीव के अन्तर्यामीरूप से अनुप्रवेश करके नामरूप का विभाग करूँ-**हन्ताऽहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनाऽऽत्मनानुप्रविश्य**

1.'मृदा कुम्भादिकं यथा' इत्युपादानस्यापि व्यापकत्वप्रसिद्धेः।(छां.उ.रं.भा.6.8.1)। 2. **सत्यम्**-प्रमाणप्रतिपन्नम्, **तदिदं सर्वम्**-जगत्, **ऐतदात्म्यम्**-अनेन ब्रह्मणा व्याप्तमित्यर्थः। (छां.उ.रं.भा.6.8.1)

नामरूपे व्याकरवाणि।(छां.उ.6.3.2)। ब्रह्म चराचर जगत् को उत्पन्न करके उसमें अनुवृत्तरूप से प्रवेश कर गया, उसमें अनुप्रवेश करके निर्विकार चेतन तथा विकारी अचेतनरूप हो गया तथा गोत्वादि जाति और शुक्लत्वादि गुणों का आश्रय अचेतन तथा इनसे रहित चेतनरूप हो गया। अचेतन वर्ग का आधार चेतन तथा आश्रित अचेतनरूप हो गया। अजड़स्वरूप चेतन तथा जड़स्वरूप अचेतन हो गया। सत्य परमात्मा ही सत्य चेतन तथा अनृत अचेतनरूप हो गया-**तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्। निरुक्तञ्चानिरुक्तञ्च। निलयनञ्चानिलयनञ्च। विज्ञानं चाविज्ञानं च, सत्यञ्चानृतञ्च सत्यम् अभवत्।**(तै.उ.2.6.2)। यहाँ पर उद्धृत **अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य** यह छान्दोग्यवाक्य और **तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्** यह तैत्तिरीय वाक्य एक ही विषय का प्रतिपादन करते हैं अतः **अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य** इस श्रुति से कहा गया जीव का ब्रह्मात्मकत्व आत्मशरीरभावमूलक है। इसी प्रकार नामरूप का विभाग बृहदारण्यक में कहा जाता है। सृष्टि के पूर्व यह सम्पूर्ण जगत् नामरूपविभाग के अभाववाला अव्याकृत(सूक्ष्मचिदचित्) शरीरक ब्रह्म था। वही नामरूप से व्याकृत(विभक्त) हुआ-**तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्। तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत।**(बृ.उ.1.4.7) इसलिए कार्यत्वावस्था वाला(स्थूलचिदचिद्-वस्तुशरीरक) तथा कारणत्वावस्था वाला (सूक्ष्मचिदचिद्वस्तुशरीरक) ब्रह्म ही है अतः कार्य और कारण का अभेद है इसलिए एक कारण ब्रह्म के ज्ञान से सभी कार्य ज्ञात होते हैं। इस प्रकार एक के ज्ञान से सभी के ज्ञात होने की प्रतिज्ञा संभव होती है। **अहमिमास्तिस्त्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि।**(छां.उ.6.3.2) यहाँ **तिस्त्रो देवता** इस प्रकार सभी अचिद् वस्तुओं का निर्देश करके उसमें ब्रह्मात्मक जीव के अनुप्रवेश से नामरूप का विभाग कहा जाता है। इसलिए नामरूप वाले कार्य और इनके अभाव वाले कारण के वाचक शब्द अचेतन का बोध कराकर उससे विशिष्ट जीव का बोध कराते हुए जीवविशिष्ट ब्रह्म का बोध कराते हैं, इस प्रकार कारणावस्था वाले ब्रह्म के वाचक शब्द का और कार्यावस्था वाले ब्रह्म के वाचक शब्द का सामानाधिकरण्य मुख्यवृत्ति से ही होता है। इसलिए स्थूलसूक्ष्मचिदचित्प्रकारक ब्रह्म ही कार्य है और ब्रह्म ही कारण है। इस प्रकार जगत् का उपादान ब्रह्म ही सिद्ध होता है। **शंका**-जगत् का उपादान और निमित्तकारण ईश्वर ही है। इस विषय का

प्रतिपादन मुण्डकोपनिषत्(1.1.8) के ऊर्णनाभि(मकड़ी) दृष्टान्त से नहीं होता क्योंकि उपादान के नाश से कार्य का नाश होता है इसलिए जाल का उपादान यदि मकड़ी होती तो उसके नाश से जाल का नाश हो जाना चाहिए किन्तु नहीं होता, इससे सिद्ध होता है कि चेतन मकड़ी केवल निमित्तकारण है और उसका जड़शरीर(उदरस्थ पदार्थ) उपादान कारण।

समाधान-उपादान और निमित्त कारण के भेद का दृष्टान्त घट है। यहाँ उपादान मृत्तिका है और निमित्त कुलाल है। ये दोनों भिन्न हैं किन्तु ऊर्णनाभि दृष्टान्त में उपादान शरीर की निमित्तकारण चेतन से पृथक् स्थिति नहीं है। श्रुति में शरीरविशेष से विशिष्ट जीव को ऊर्णनाभि कहा गया है। जैसे मृत्तिका कुलाल से पृथक् रहती है, वैसे शरीर निमित्तकारण चेतन से पृथक् नहीं रहता। जैसे कुलाल घट निर्माण के लिए अपने से भिन्न मृत्तिका की अपेक्षा करता है, वैसे ऊर्णनाभि अपने से भिन्न किसी उपादान की अपेक्षा नहीं करती। जिस प्रकार कुम्भकार मृत्तिका से अलग रहकर मृत्तिका को घटरूप में परिणत कर देता है, उस प्रकार परब्रह्म चिदचिद् से अलग रहकर उसे जगद्रूप में परिणत कर देता है, ऐसी बात नहीं क्योंकि परब्रह्म प्रकृति का अन्तरात्मा है इसलिए प्रकृति से अलग नहीं रहता और प्रकृति भी उससे अलग नहीं रहती। वह उसका आश्रय लेकर ही रहती है, वह परमात्मा का आश्रय लेते हुए जगद्रूप में परिणत होती है। प्रकृति एवं उसमें होने वाले सभी विकार परमात्मा का आश्रय लेकर ही स्वरूप को प्राप्त करते हैं। प्रकृति का अन्तरात्मा ब्रह्म ही उससे होने वाले कार्यों का अन्तरात्मा है।

स्वभाव का असंकर

सूक्ष्मचेतनाचेतनशरीरक ब्रह्म ही जगत् का उपादान कारण है। इस प्रकार जगत् का उपादान ब्रह्म होने पर भी समुदाय उपादान है इसलिए चेतनाचेतन और ब्रह्म के स्वभाव का संकर(मिश्रण) नहीं होता। जैसे शुक्ल, कृष्ण और रक्त तन्तुओं का समुदाय चित्रपट का उपादान होने पर भी उस पट के उन-उन तन्तुस्थानों में ही शुक्लत्वादि रंग का सम्बन्ध होता है और इस प्रकार कार्यावस्था में भी रंग का संकर नहीं होता, वैसे ही भोक्ता चेतन, भोग्य अचेतन और नियन्ता ईश्वर का समुदाय जगत् का उपादान होने पर जगत् की कार्यावस्था में भी भोक्तृत्व, भोग्यत्व तथा नियन्तृत्व आदि धर्मों

का संकर नहीं होता। पृथक्-पृथक् रहने की योग्यता वाले तन्तु ही कर्ता की इच्छा से कभी मिलाये जाने पर कारण और कार्य होते हैं किन्तु यहाँ सभी अवस्थाओं वाले चेतनाचेतन परमपुरुष का शरीर होने के कारण उनके विशेषण होकर ही रहते हैं इसलिए उनसे विशिष्ट परमपुरुष ही कारण और कार्य होते हैं। वे ही सदा सभी शब्दों के वाच्य होते हैं। यह दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में भेद है किन्तु स्वभाव का भेद और उनका अमिश्रण दोनो में समान है।

स्थितिकारण

जिस प्रकार जल पेड़-पौधों, लता आदि के अन्दर प्रवेश करके वहीं स्थित होकर उन्हें जीवनप्रदान करता है, उसी प्रकार परमात्मा अपने रचे गए पदार्थों में प्रवेश करके वहीं स्थित होकर उन्हें जीवनप्रदान करते हैं। इस प्रकार चराचर जगत् को जीवन प्रदान करना ही स्थिति करना है। उत्पन्न हुए प्राणी जिससे स्थित(जीवित) रहते हैं, वह ब्रह्म है-**येन जातानि जीवन्ति।**(तै.उ.3.1.1) इस प्रकार तैत्तिरीयोपनिषत् में स्थिति का कारण ब्रह्म कहा गया है।

लयकारण

जिस प्रकार हितैषी पिता कुमार्ग पर चलने वाले उद्दण्ड पुत्र को उससे विरत करने के लिए रस्सी से बाँध देता है, उसी प्रकार परमहितैषी परमात्मा विषयोन्मुख, पतित जीव को विषयों से विरत करने के लिए उसकी देह, इन्द्रिय और सभी भोग्यपदार्थों का संहार कर देते हैं। यह संहार ही लय कहा जाता है। प्रयाण को प्राप्त होते हुए प्राणी जिसमें लीन हो जाते हैं-**यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।**(तै.उ.3.1.1) इस प्रकार श्रीभगवान् लय के कारण कहे जाते हैं। 'जीव इस बार सुधर जायेगा' यह विचारकर श्रीभगवान् मनुष्य जन्म देते हैं। इसी प्रकार 'आगे भी सुधर जायेगा' इस आशा से प्रलयपर्यन्त यथासमय मनुष्य जन्म देते रहते हैं किन्तु जीव दुराचरण करके अपनी वासनाओं को बढ़ाता ही रहता है, तब भगवान् इसके दुराचरण और दुर्वासनाओं को दबाने के लिए प्रलय कर देते हैं।

भगवान् श्रीरामचन्द्र स्वयं ब्रह्माण्ड की उत्पत्तिपर्यन्त समष्टि सृष्टि करते हैं। इसके बाद ब्रह्मा को उत्पन्न करके उनके द्वारा सृष्टि करते हैं। वे काल

और रुद्र के अन्तर्यामी होकर उनके द्वारा जगत् का संहार(लय) आरम्भ करते हैं। बाद में रुद्र का भी संहार करके साक्षात् जगत्[1] का संहार करते हैं। **तात राम नहिं नर भूपाला। भुवनेश्वर कालहु कर काला॥**(रा.च.मा. 5.38.1) इस प्रकार श्रीभगवान् जगत् की उत्पत्ति और लय को साक्षात् तथा परम्परया दोनों प्रकार से करते हैं, किन्तु जगत् में अनुप्रवेश करके उसकी स्थिति स्वयं करते हैं।

जगज्जन्मस्थितिलयकारणत्व ब्रह्म का उपलक्षण होकर लक्षण होता है अथवा विशेषण होकर लक्षण होता है, इस विषय का निरूपण आगे किया जायेगा

जगत् का सत्यत्व

भगवान् श्रीराम जिसकी उत्पत्ति, स्थिति और लय के कारण हैं, वह जगत् सत्य है, प्रस्तुत ग्रन्थ में इस(सत्य) अर्थ का सूचक श्रीरामानन्दाचार्य जी ने 'अद्धा' पद का प्रयोग किया है, इससे मतान्तर में प्रसिद्ध जगत् के मिथ्यात्व पक्ष का निराकरण हो जाता है। सत्यसंकल्प और सर्वशक्तिमान् श्रीभगवान् के द्वारा होने वाली जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय सत्य ही हैं, मिथ्या नहीं। मतान्तर में जगत की उत्पत्ति को सत्य नहीं माना जाता, उसके अनुसार जगत् की उत्पत्ति आदि होती ही नहीं, वह अज्ञान से कल्पित है औरं जगत् भी कल्पित है।, वह उचित नहीं क्योंकि श्रुतियाँ ब्रह्म को जगत् का अभिन्ननिमित्त उपादान कारण कहती हैं, उस सत्यसंकल्प और सर्वशक्तिमान् कारण का कार्य कल्पित नहीं हो सकता। जिन उपनिषदों पर आचार्यों ने भाष्य लिखे हैं, उनमें कहीं भी अज्ञान को जगत् का कारण नहीं कहा गया है। जगत् को कल्पित भी नहीं कहा है।

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत् प्रयन्त्यभि संविशन्ति। तद् विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति।(तै.उ.3.1.1) यह श्रुति ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति आदि का प्रतिपादन करती है। श्रुतिसिद्ध जगत् की उत्पत्ति आदि मिथ्या नहीं हैं, सत्य ही हैं। ब्रह्म(सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म) कारण है। जगत्(स्थूल चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म) कार्य है। इस प्रकार जगत् और ब्रह्म में कार्यकारणभाव है। वेदान्तमत में कारण ही कार्यरूपता

1.यहाँ जगत् पद से रुद्र की रचना से पूर्व रचित जगत् को लिया जाता है।

को प्राप्त होता है इसलिए जगत् और ब्रह्म का अभेद है। सत्य परमात्मा ही चेतनाऽचेतन जगत्रूप हो गया-**सत्यञ्चानृतञ्च सत्यमभवत्।**(तै.उ.2.6.2) परमात्मा ने स्वयं को जगत्रूप में किया-**तदात्मानं स्वयमकुरुत।**(तै.उ.2.7.1) यह जगत् ब्रह्मात्मक है, वह सत्य है-**ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम् तत्सत्यम्।**(छां.उ. 6.8.7)। परब्रह्म श्रीराम सत्य हैं, उनसे भिन्न कुछ भी नहीं है इसलिए रामरूप यह जगत् सत्य है, सत्य है-**रामः सत्य परं ब्रह्म रामात् किञ्चन न विद्यते। तस्माद् रामस्वरूपं हि सत्यं सत्यम् इदं जगत्।**(रा.स्त.92) इन शास्त्रवचनों से जगत् सत्य सिद्ध होता है।

स्वरूपतः और गुणतः विकार से रहित वस्तु सत्य कहलाती है। **सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म।**(तै.उ.2.1.1)इस श्रुति में आया 'सत्यम्' पद निर्विकार ब्रह्म का प्रतिपादन करता है, उससे स्वरूपतः विकार वाले अचेतन पदार्थ और उससे सम्बद्ध बद्ध जीव की व्यावृत्ति होती है-**तत्र सत्यपदं निरुपाधिकसत्तायोगि ब्रह्माह। तेन विकारास्पदमचेतनं तत्संसृष्टश्चेतनश्च व्यावृत्तः।**(श्रीभा.1.1.2) ब्रह्म की सत्ता किसी के अधीन नहीं है किन्तु चेतन और अचेतन पदार्थों की सत्ता ब्रह्म के अधीन है। वे पदार्थ देश, काल आदि उपाधियों से अवस्थान्तर को प्राप्त होते हैं। किसी परिणामविशेष के कारण भिन्न-भिन्न अवस्था वाले पदार्थ की सत्ता सोपाधिक सत्ता कही जाती है। इसका अर्थ है-विकारित्व और इससे भिन्न निरुपाधिक सत्ता का अर्थ है-निर्विकारत्व। निरुपाधिक सत्ता वाली वस्तु स्वरूपतः और धर्मतः निर्विकार होती है इसलिए सत्य पद से स्वरूपतः विकार वाले अचेतन एवं उससे सम्बद्ध चेतन बद्धजीव का ग्रहण नहीं हो सकता। कार्यावस्था (स्थूलावस्था) होने से चेतन और अचेतन को स्थूल एवं कारणावस्था (सूक्ष्मावस्था) होने से सूक्ष्म कहा जाता है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न नामों से कहने योग्य उनकी दो अवस्थाएँ होती हैं। अवस्थान्तर वाले होने से वे सोपाधिक सत्ता वाले अर्थात् विकारी होते हैं। प्रकृति का कार्यावस्था में महत् से लेकर भूत-भौतिक पदार्थों के रूप में परिणाम होता है, यह प्रकृति के स्वरूप का परिणाम(विकार) है। कार्यावस्था में बद्ध जीव के धर्मभूत ज्ञान का कामना आदि विविध वृत्तियों के रूप में परिणाम होता है। जीव का स्वरूपभूत ज्ञान सदा एकरूप ही रहता है, उसका कोई परिणाम नहीं होता, इस प्रकार जीव का प्रकृति जैसा स्वरूपतः परिणाम नहीं होता

किन्तु धर्मतः परिणाम होता है। सत्य पद स्वरूपतः और गुणतः विकार से रहित ब्रह्म का बोध कराता है। सभी विकारों से रहित होने के कारण ब्रह्म सत्यस्वरूप है-**सत्यपदं स्वरूपतो गुणतश्च विकारराहित्यं बोधयति। सर्वविकाररहित्वात् सत्यस्वरूपं ब्रह्म।**(तै.उ.आ.भा.2.1.1)। परमात्मा के धर्मभूतज्ञान का भी सिसृक्षा आदिके रूपमें परिणाम होता है तो परमात्मा भी धर्मतः विकारी है, ऐसी शंका करना उचित नहीं क्योंकि यहाँ कर्मकृत धर्मतः परिणाम विवक्षित है। वह परमात्मा में नहीं है, अतः वह धर्मतः अविकारी कहा जाता है। प्रकृति का स्वरूपतः परिणाम होता है। जीवात्मा का स्वरूपतः परिणाम नहीं होता इसलिए प्रकृति की अपेक्षा जीवात्मा सत्य है। जीवात्मा का धर्मतः परिणाम होता है, परमात्मा का धर्मतः भी परिणाम नहीं होता इसलिए जीवात्मा की भी अपेक्षा परमात्मा सत्य है। **सत्यस्य सत्यम्।**(बृ.उ.2.3.6) इस प्रकार बृहदारण्यक श्रुति ही सत्य पदार्थों के तारतम्य को कहती है। इस विषय को न समझने के कारण 'जगत् मिथ्या है' यह धारणा प्रचलित हुई। ब्रह्म का नाम 'सत्य का सत्य है' जीवात्मा सत्य है, उससे भी बढ़कर ब्रह्म सत्य है-**अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यमिति। प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्।**(बृ.उ.2.3.6)। त्रिगुणात्मिका अचेतन प्रकृति के स्वरूप में विकार होता रहता है। जीव के धर्मभूत ज्ञान में विकार होने पर भी स्वरूप में विकार नहीं होता, इसलिए जीव सत्य कहा जाता है। ब्रह्म के स्वरूप में विकार नहीं होता है और धर्म में भी विकार नहीं होता इस कारण जीव से भी बढ़कर ब्रह्म सत्य(निर्विकार) सिद्ध होता है इसलिए ब्रह्म को सत्य का सत्य कहा जाता है। इस प्रकार विशेष्य परमात्मस्वरूप अविकारी होता है। सत्य परमात्मा ही सत्य निर्विकार चेतन जीव तथा अनृत विकारी अचेतनरूप हो गया-**सत्यञ्चानृतञ्च सत्यमभवत्।**(तै.उ.2.6.2) यह जगत्कारण ब्रह्म सूक्ष्मचेतनाचेतन से विशिष्ट है। प्रस्तुत तैत्तिरीय श्रुति में द्वितीय सत्य पद से तीनों को सत्य कहा जाता है। प्रथम सत्य पद से जड़ जगत् की अपेक्षा जीवात्मा को सत्य कहा गया है तथा जीव की अपेक्षा प्रकृति को अनृत कहा गया है। इस प्रकार श्रुतियों से ही सत्यत्व में तारतम्य सिद्ध है। यद्यपि जगत् मिथ्या नहीं है, फिर भी यदि मिथ्या शब्द का परिणामी(विकारी) अर्थ में प्रयोग किया जाय तो इससे हमारा कोई विरोध नहीं । संसार में आसक्ति न हो, इसलिए कुछ विद्वान् भी उसे मिथ्या कह देते हैं। वस्तुतः आसक्ति का हेतु सुखप्रदत्वबुद्धि है, सत्यत्वबुद्धि नहीं।

ब्रह्म निरुपाधिक सत्य है, जगत् ब्रह्म जैसा सत्य नहीं है। सत्य पद का प्रवृत्तिनिमित्त अबाधितत्व है। देशकाल की अपेक्षा ब्रह्म से भिन्न जगत् का भी अबाधितत्व है अतः ब्रह्म से भिन्न जगत् का सत्यत्व सोपाधिक सत्यत्व है, ब्रह्म का ऐसा सोपाधिक सत्यत्व नहीं है इसलिए जगत् ब्रह्म जैसा सत्य नहीं है, इस दृष्टि से उसे असत्य कह सकते हैं। इस प्रकार ब्रह्म की अपेक्षा जगत् का जो असत्यत्व है, वह ब्रह्मविलक्षणत्वरूप है, मिथ्यात्वरूप नहीं।

सूर्य और चन्द्र का भगवत्प्रदत्त तेज

परमात्मा ने पूर्व कल्प के अनुसार सूर्य और चन्द्रमा की रचना की- **सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्।**(ऋ.सं.8.8.48, तै.आ.10.1.14)। मुण्डक श्रुति कहती है कि परमात्मा के प्रकाश से सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, तारे और अग्नि सभी का प्रकाश होता है-**तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।**(मु. उ.2.2.11)। जैसे आभूषण धारण में रुचि रखने वाला मनुष्य कदाचित् दूसरे के द्वारा प्रदत्त आभूषण से सुशोभित होता है, वैसे ही परमात्मा के द्वारा प्रदत्त प्रकाश से सूर्यादि प्रकाशित होते हैं। सूर्य में विद्यमान जो तेज समग्र जगत् को प्रकाशित करता है, जो तेज चन्द्रमा में है और जो तेज अग्नि में है, उस सब को मुझ परमात्मा का ही समझो-**यदादित्यगतं तेजो जगद् भासयतेऽखिलम्। यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥**(गी. 15.12)। जीव भगवान् की आराधना करके ही सूर्य, चन्द्रादि देवता बनते हैं। आराधना से आराधित भगवान् ही उनको तेज प्रदान करते हैं, इसलिए उनका तेज स्वाभाविक नहीं है, वह तो वस्तुतः भगवान् का ही है इसीलिए ग्रन्थकार ने कहा है कि भगवान् के ही तेज से सूर्य सृष्टि के आरम्भ से लेकर आज तक निरन्तर समग्र जगत् को प्रकाशित कर रहा है और चन्द्र भी प्रकाशित कर रहा है-**सूर्यो यत्तेजसेन्दुः सकलमविरतं भासयत्येतद् एषः।** इस कारण श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण में कहा है कि श्रीरामचन्द्र सूर्य के भी सूर्य हैं, अग्नि के भी अग्नि हैं और नियामक ईश्वर के भी ईश्वर हैं-**सूर्यस्यापि भवेत्सूर्यो ह्यग्नेरग्निः प्रभोः प्रभुः।**(वा.रा.2.44.15)। श्रीराम का दिव्यमङ्गलविग्रह प्रकाशित होने के पश्चात् सूर्यादि का प्रकाश होता हैं-**तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्।**(मु.उ.2.2.11)इस प्रकार मुण्डकोपनिषत् में पूर्वापरभाव कहे जाने से कार्यकारणभाव भी ज्ञात होता है, परमात्मा का प्रकाश कारण है और सूर्यादि का प्रकाश कार्य है। परमात्मा के चक्षु से सूर्य

उत्पन्न हुआ-**चक्षोस्सूर्योऽजायत।**(पु.सू.12) इस प्रकार जीव के चक्षु के अधिष्ठाता देवता सूर्य की परमात्मा के चक्षु से उत्पत्ति कही जाती है। सूर्यादि के प्रकाश के उपादान द्रव्य जो सूर्यादि हैं, उनका भी कारण परमात्मा है-**हेतु कृसानु भानु हिमकर को।**(रा.च.मा.1.18.1) इसलिए भी परमात्मा के प्रकाश को सूर्यादि के प्रकाश का कारण कहा जाता है। सूर्यमण्डल के मध्य में कमनीय कान्ति वाला परमात्मा दिखाई देता है-**अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते।**(छां.उ.1.6.6) इस प्रकार सूर्यमण्डल में विद्यमान परमात्मा का वर्णन किया जाता है, उससे अनुगृहीत होकर सूर्य और उसके अधीन प्रकाशवाले चन्द्रादि अन्य सभी प्रकाशित होते हैं।

भय से वायु का चलना

वायु के चलने से ही सभी प्राणी जीवनधारण करते हैं, यदि वह न चले तो सभी की मृत्यु ध्रुव है और ऐसा होने पर 'परब्रह्म श्रीराम की आज्ञा का उल्लंघन करने से उनके द्वारा मुझे दण्डित किया जायेगा' इस भय के कारण वह कभी भी विश्राम न करके सतत प्रवहित होती रहती है। कठश्रुति कहती है कि परमात्मा के भय से अग्नि दाह करती है, उसके भय से सूर्य तपता है और भय से ही इन्द्र, वायु और पाँचवा मृत्यु देवता अपने कार्यों में प्रवृत्त होता है-**भयादस्याग्निस्तपति भयात् तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः॥**(क.उ.2.3.3)। परमात्मा के शासन के अतिक्रमण से होने वाले भय के कारण ही अग्नि, सूर्य, इन्द्र और वायु ये चार तथा पञ्चम मृत्यु देवता सावधान होकर अपना-अपना कार्य करते रहते हैं। बृहदारण्यकोपनिषत् में कहा है कि हे गार्गि! इस अक्षर ब्रह्म के प्रशासन में सूर्य और चन्द्र अपना अपना कार्य करते हुए स्थित रहते हैं-**एतस्य वाऽक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः।**(बृ.उ.3.8.8) यह श्रुति परमात्मा के शासन में रहकर कार्य करने वाले सूर्यादि देवताओं का वर्णन करती है। उक्त कठ मन्त्र में देवताओं में प्रधान अग्नि आदि की स्वकीय कार्यों में ईश्वरीय शासन के अतिक्रमण के भय से प्रवृत्ति कही जाने से अन्य आधिकारिक जनों की भी भय से प्रवृत्ति सिद्ध होती है।

पृथ्वी की स्थिरता

भगवान् श्रीराम के भय से ही पृथ्वी पर्वत, नदी, सागर सहित सभी प्राणियों को धारण करती है, नीचे रसातलमें नहीं जाती।

ज्ञाता और साक्षी

जानातीति ज्ञः, इस व्युत्पत्ति के अनुसार ज्ञ का अर्थ ज्ञाता और **साक्षाद् द्रष्टरि संज्ञायाम्**(अ.सू.5.2.91) इस सूत्र से निष्पन्न साक्षी शब्द का अर्थ साक्षात् द्रष्टा होता है, इस प्रकार प्रस्तुत व्याख्येय श्लोक में पठित ज्ञ और द्रष्टा शब्द एक ही अर्थ के बोधक हैं अतः पुनरुक्ति के वारण के लिए ज्ञ का अर्थ स्वरूपतः ज्ञाता और साक्षी का अर्थ प्रकारतः ज्ञाता किया जाता है। स्वरूपतः ज्ञाता का अर्थ है-सामान्यरूप से जानने वाला और धर्मतः ज्ञाता का अर्थ है-विशेषरूप से जानने वाला।

निर्विशेषाद्वैत मत में ब्रह्म को ज्ञानस्वरूप ही माना जाता है और न्यायवैशेषिक मत में ज्ञान का आश्रय अर्थात् ज्ञाता किन्तु बोधायनमतानुयायी विशिष्टाद्वैतवेदान्ती ब्रह्म को ज्ञाता तथा ज्ञानस्वरूप दोनों ही मानते हैं क्योंकि श्रुतियाँ दोनों प्रकार से ब्रह्म का प्रतिपादन करती हैं। ब्रह्म सत्य, ज्ञानस्वरूप और अनन्त है-**सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।**(तै.उ.2.1.1)ब्रह्म ज्ञानस्वरूप तथा आनन्दस्वरूप है-**विज्ञानमानन्दं ब्रह्म।**(बृ.उ.3.9.28) इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्म को ज्ञानस्वरूप कहती हैं। जो परमात्मा सभी को सामान्यरूप से जानने वाला है तथा विशेषरूप से जानने वाला है-**यः सर्वज्ञः सर्ववित्।**(मु.उ.1.1.10 तथा 2.2.7), सभी को जानने वाले ब्रह्म को पूर्वोक्त ध्यान से अतिरिक्त किस साधन से जानना चाहिए-**विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति।**(बृ.उ.2.4.14), इस परब्रह्म की विविध प्रकार की पराशक्तियाँ सुनी जाती हैं, स्वाभाविक ज्ञान, बल और क्रिया भी सुनी जाती है-**परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।**(श्वे.उ.6.8) इत्यादि श्रुतियों से परमात्मा को ज्ञाता कहा जाता है, इसे स्वाभाविक कहा गया है। इससे ज्ञातृत्व अविद्यासिद्ध है, यह मान्यता भी खण्डित हो जाती है। श्रुतियों से ब्रह्म का ज्ञातृत्व सिद्ध होने पर उसे केवल ज्ञानरूप मानना उचित नहीं। स्वरूपभूत ज्ञान और धर्मभूत ज्ञान ये दोनों भिन्न वस्तुएँ हैं। स्वरूपभूत ज्ञान ब्रह्मस्वरूप को ही प्रकाशित करता है तथा धर्मभूतज्ञान स्वरूप और अन्य सभी को प्रकाशित करता है। ये दोनों ही स्वयंप्रकाश हैं।

श्रीरामानन्दाचार्यविरचितः

श्रीवैष्णवमताब्जभास्करः

(हिन्दीभाष्यसहित)

भाष्यकार

स्वामी त्रिभुवनदास
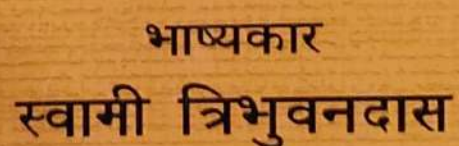
कूटस्थ

कूटस्थ[1] का अर्थ है-निर्विकार। भगवान् श्रीराम समग्र जगत् को धारण और नियमन करते हुए भी सदा विकाररहित बने रहते हैं इसलिए कूटस्थ कहलाते हैं इसीलिए **धैर्येण हिमवानिव।**(वा.रा.1.1.17) इस प्रकार श्रीरामभद्र को हिमालय के समान धैर्य से सम्पन्न कहा जाता है। जैसे वर्षा के आघात से हिमालय व्यथित नहीं होता, वैसे ही अनेकों समस्याओं के आने पर प्रभु का चित्त व्यथित नहीं होता। श्रीरघुनाथ जी राज्याभिषेक के समाचार से प्रसन्न नहीं हुए और दुःखमय वनवास से विषादग्रस्त नहीं हुए-**प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः।**(रा.च.मा.2.2) इस प्रकार तुलसीदास जी ने प्रभु के धैर्य की प्रशंसा की है।

शुभ गुणों के आश्रय

श्रीरामानन्द स्वामी जी ने **बहुशुभगुणवान्** शब्द से शुभ गुणों के आश्रय श्रीरामचन्द्र का वर्णन किया है। यहाँ बहु शब्द असंख्य अर्थ में और शुभ शब्द कल्याण अर्थ में है। प्रभु श्रीरामभद्र असंख्य कल्याण गुणों के आश्रय हैं, इसलिए बहुशुभगुणवान् कहे जाते हैं। भगवान् के गुण असंख्य(अगणित) हैं, उनकी गणना नहीं की जा सकती। वामनपुराण में कहा है कि हे पुत्र! जैसे समुद्र के असंख्य रत्न होते हैं, वैसे ही अनन्त परमात्मा के गुण भी असंख्य होते हैं-**यथा रत्नानि जलधेरसंख्येयानि पुत्रक। तथा गुणा ह्यनन्तस्याप्यसंख्येया महात्मनः॥**(वाम.पु.)।

शुभ गुण

श्रीरामचन्द्र जगत्कारण होने से और परम स्वतन्त्र होने से पर कहे जाते हैं तथा निषादराज गुह, केवट और शबरी से भी सहज मिलने के कारण सुलभ कहे जाते हैं। उनमें अनन्त कल्याणगुण विद्यमान हैं। वे गुण दो प्रकार के हैं। कुछ गुण उनके परत्व अर्थात् श्रेष्ठता को सिद्ध करते हैं, उन्हें परत्वोपयोगी कल्याणगुण कहते हैं। श्रीरामभद्र पर होने पर भी दुर्लभ नहीं हैं, अत्यन्त सुलभ हैं। कुछ गुण उनकी इस सुलभता को सिद्ध करते हैं,

1.कूटवत् तिष्ठतीति स्थाधातोः **सुपि स्थः**(अ.सू.3.2.4) इति सूत्रेण कर्तरि कप्रत्ययः आलोपश्च।

उन्हें सौलभ्योपयोगी कल्याणगुण कहते हैं। श्रीभगवान् परम स्वतन्त्र हैं। अन्य सभी पदार्थ उनके अधीन हैं। परम स्वतन्त्र होने के कारण वे परात्पर भी कहलाते हैं। परत्व और सौलभ्य का एक स्थान में समावेश होने पर ही उसे प्राप्त करने के लिए लोक में प्रवृत्ति होती देखी जाती है अन्यथा नहीं। जैसे सुमेरु पर्वत सुवर्णमय होने से अवश्य श्रेष्ठ है, परन्तु उसे प्राप्त करने के लिए मनुष्य प्रयत्न नहीं करते, क्योंकि वह दुर्लभ है। वैसे ही मिट्टी और पत्थर इत्यादि पदार्थ अत्यन्त सुलभ हैं तो भी उन्हें प्राप्त करने के लिए मनुष्य प्रयत्न नहीं करते क्योंकि उनमें परत्व नहीं है। श्रीरामचन्द्र में परत्व और सौलभ्य दोनों ही हैं, अत एव उनका आश्रय लेकर उन्हें प्राप्त कर अपना अभिमत सिद्ध करने के लिए भक्तों की प्रवृत्ति होती है। दुर्लभ वस्तु का आश्रय कोई नहीं ले सकता। परत्व को ऐश्वर्य नाम से तथा सौलभ्य को माधुर्य नाम से जाना जाता है। जिन गुणों को समझने से श्रीभगवान् के विषय में गौरवबुद्धि, संकोच, मर्यादापालन में तत्परता तथा भय उत्पन्न होते हों, उन गुणों की ऐश्वर्यकोटि में गणना होती है और जिन गुणों को समझने से उनके विषयमें चित्ताकर्षण, स्नेह, दर्शनोत्कण्ठा तथा मिलने की इच्छा उत्पन्न हो, उन गुणों की माधुर्य कोटि में गणना होती है। ऐसे अनन्त गुण उसी प्रकार श्रीरामचन्द्र में विद्यमान हैं, जिस प्रकार विशाल क्षीरसमुद्र में गाम्भीर्य और माधुर्य इत्यादि गुण विद्यमान रहते हैं।

श्रीराम में विद्यमान ये कल्याणगुण नित्य सिद्ध हैं। वे उन्हें छोड़कर दूसरे के अधीन नहीं हैं। इन गुणों की चरम सीमा उनमें ही पायी जाती है अन्यत्र नहीं। इन गुणों में सौशील्य, वात्सल्य, मार्दव, आर्जव, सौहार्द, साम्य, कारुण्य, माधुर्य, गाम्भीर्य, औदार्य, चातुर्य, स्थैर्य, धैर्य, शौर्य, पराक्रम, सत्यकामत्व, सत्यसंकल्पत्व, कृतित्व और कृतज्ञता इत्यादि गुण सौलभ्य के साधक हैं तथा ज्ञान बल, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति और तेज ये छः गुण परत्व के साधक हैं। इन गुणों के स्वरूप और स्वभाव का आगे प्राप्यस्वरूप के निरूपण के प्रसंग में प्रतिपादन किया जायेगा।

श्रीभगवान् के ज्ञान, शक्ति आदि सभी गुण अनुकूलत्वेन ज्ञेय होने के कारण कल्याण कहे जाते हैं-**अनुकूलवेदनीयत्वात् सर्वे गुणाः कल्याणशब्दवाच्याः।**(ता.दी.), आनन्द अनुकूलत्वेन ज्ञेय होता है इसलिए यहाँ कल्याण का अर्थ आनन्द है। भगवान् के सभी गुण अनुकूलत्वेन ज्ञात

होने के कारण आनन्दरूप ही हैं। भगवान् के गुण भगवान् को अनुकूलत्वेन अनुभूत होने के कारण आनन्द कहे जाते हैं और उनके ही गुण दूसरों को भी अनुकूलत्वेन अनुभूत होने के कारण कल्याण कहे जाते हैं- **आनन्दकल्याणशब्दौ स्वपरापेक्षया अनुकूलत्वं ब्रूतः।**(श.ग.श्रु.भा.5)। **स्वानुकूलत्वम् आनन्दत्वम्, अन्येषामप्यनुकूलत्वं कल्याणत्वम्।** (भा.प्र.1.1.2)। आश्रित भक्तों के लिए परम भोग्य श्रीभगवान् के गुणों को कल्याणगुण कहते हैं-**गुणानां कल्याणत्वमाश्रितानां परमभोग्यत्वम्** (वर. भा.)। आनन्दरूप वस्तु ही परम भोग्य होती है। ब्रह्मवेत्ता सर्वज्ञ ब्रह्म के साथ उनके कल्याण गुणों का अनुभव करता है-**सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति।**(तै.उ.2.1.1) इस श्रुति से ब्रह्म के कल्याण गुण(काम) भी परम भोग्य ज्ञात होते हैं। कल्याणकारक अर्थात् मङ्गलजनक होने से भी उनके गुण कल्याण गुण कहलाते हैं। उनका चिन्तन करने से मोक्षपर्यन्त मङ्गल ही होता रहता है। जैसे दिव्य आभूषणों से परमात्मा के दिव्यमङ्गलविग्रह का आकर्षण और भी बढ़ जाता है, वैसे ही कल्याण गुणों से परमात्मस्वरूप का आकर्षण और भी बढ जाता है। उनके कल्याण गुण अनन्त हैं, उसमें प्रत्येक के अनेक अवान्तर भेद हैं, अतः प्रत्येक गुण भी गण(समूह) का रूप लिए रहता है। श्रीरामभद्र ऐसे कल्याणगुणों के समूह से युक्त हैं इसलिए वे कल्याणगुणगणविभूषित कहे जाते हैं। सृष्टि आदि कार्यों के लिए उपयोगी परमात्मा की स्वाभाविक पराशक्ति विविध प्रकार की सुनी जाती है। सर्वविषयक ज्ञान, जगत् को धारण करने का सामर्थ्य और जगत् का नियमन करनारूप कार्य विविध प्रकार का और स्वाभाविक सुना जाता है-**परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।**(श्वे.उ.6.8), परमात्मा सम्पूर्ण कल्याणगुणों के आश्रय हैं- **समस्तकल्याणगुणात्मकोऽसौ।**(वि.पु.6.5.84) इत्यादि वचन श्रीराम को असंख्य कल्याण गुणों का आश्रय कहते हैं।

अव्यय

व्यय से रहित को अव्यय कहते हैं, व्यय का अर्थ है-अपचय या ह्रास। यह उपचय(वृद्धि) का भी बोधक है। इस प्रकार अव्यय का अर्थ उपचय-अपचय से रहित होता है। भगवान् के स्वरूप, गुण और ऐश्वर्य का कभी भी उपचय-अपचय नहीं होता इसलिए वे अव्यय कहलाते हैं।

विश्वभर्ता

श्रीभगवान् अन्नपानादि प्रदान करके विश्व का पोषण करते हैं इसलिए विश्वभर्ता कहलाते हैं, वे चेतनाचेतनात्मक समग्र जगत् में अनुप्रविष्ट होकर उसे धारण करते हैं, उनका यह धारणकर्तृत्व पूर्व में **यदवितम** इस प्रकार कहा गया था, अब अन्नपानादि आवश्यक सामग्री प्रदान करके सभी के प्रति उनका पोषणकर्तृत्व विश्वभर्ता शब्द से कहा जाता है।

एक

यहाँ एक का अर्थ सर्वथा द्वितीय से रहित नहीं है क्योंकि वैसा अर्थ होने पर गुणों का अभाव होने से परमात्मा को बहुशुभगुणवान् और विश्व का अभाव होने से विश्वभर्ता कहना भी संभव नहीं होगा अतः अपने समान तथा अपने से अधिक द्वितीय से रहित ही एक पद का अर्थ है। परमात्मा के समान दूसरा कोई नहीं है और उनसे अधिक कोई नहीं है-**न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।**(श्वे.उ.6.8), **न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतः।**(गी.11.43)।

अर्चनीय और ध्येय

मनुष्य अपने अभीष्ट फल की प्राप्ति के लिए इन्द्र आदि विविध प्रकार के देवताओं की अर्चना करते हैं किन्तु इन्द्र, वरुण, कुबेर और ब्रह्मा आदि ने भी भगवान् श्रीमद्रामचन्द्र के अनुग्रह से ही बड़े बड़े देवताओं के पदों को प्राप्त किया है अतः वे अभीष्ट की सिद्धि के लिये देवताओं के द्वारा भी अर्चनीय हैं और उनके अनुग्रह से ही देवता दूसरों को फल देने में समर्थ हैं तथा स्वयं भी धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्षरूप पुरुषार्थों को प्राप्त करते हैं। भक्तियोगनिष्ठ के लिए श्रीभगवान् से बढ़कर कोई है ही नहीं, वे सदा प्रणतपाल प्रभु के परमपावन पादपद्मों का ध्यान करते हुए परागानुरागरसिक होकर तृप्त होते रहते हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा है कि संयम-नियमरूप फूल है, आत्मज्ञान फल है और श्रीरघुनाथ जी के चरणों में प्रीति रस है, ऐसा वेद वर्णन करते हैं-**सम जम नियम फूल फल ग्याना। हरिपद रति रस वेद बखाना।।**(रा.च.मा.1.36.14) इसीलिए श्रीभरत लाल ने कहा है कि **जनम जनम रति राम पद यह बरदानु न आन।**(रा.च.मा.2.204), श्रीविभीषण अपने सौभाग्य का वर्णन करते हुए कहते हैं

कि देखिहऊँ जाइ चरन जलजाता। अरुन मृदुल सेवक सुखदाता।। जे पद परसि तरी रिषिनारी। दंडक कानन पावनकारी।। जे पद जनकसुताँ उर लाए। कपट कुरंग संग धर धाए।। हर उर सर सरोज पद जेई। अहोभाग्य मैं देखिहउँ तेई।।(रा.च.मा.5.41.5-8), **जिन्ह पायन्ह के पावुकन्हि भरतु रहे मन लाइ। ते पद आजु विलोकिहऊँ इन्ह नयनन्हि अब जाइ।।**(रा.च.मा.5.42.), भगवान् शिव जी भी कहते हैं कि **बार बार बर मागऊँ हरषि देऊ श्रीरंग। पद सरोज अनपायनी भगति सदा सतसंग।।**(रा.च.मा.7.14)। श्रीपादारविन्द प्रीति के विषय होने के कारण ही ध्येय होते हैं। श्रीरामभद्र के पादारविन्द त्रिवेणी संगम के समान हैं, उनका तल भाग रक्त है, ऊपरी भाग नील है और नख स्फटिक मणि के समान उज्ज्वल हैं। इन तीनों की मिश्रित कान्ति से श्रीचरणों की शोभा कोटि कामदेवों को भी लज्जित करने वाली होती है, इस तथ्य को ध्यानयोगी ही समझ सकते हैं।

श्रीरघुनाथ जी के पावन पादपद्मों से आनन्दमय अमृतरस के प्रवाह निरन्तर चलते रहते हैं। जिस भाग्यवान् भक्त को जीवन में एक बार भी श्रीरामपादारविन्दमकरन्दरस के लेश का भी आस्वादन मिल जाय तो वह आपतरमणीय विषयरूप नरक से कैसे प्रीति करेगा? भगवद्भक्तिसुधा समुद्र में गोता लगाने वाला भगवद्भक्त नीरस रेगिस्तान में नहीं जा सकता, जिस प्रकार मकरन्द से पूरित कमल को छोड़कर भ्रमर गन्धरहित ताल मखाने आदि के पुष्प की ओर जाता ही नहीं। मलयगिरि से आयी सौरभसम्पन्न वायु से आह्लादित मन वाला मानव नालियों की दुर्गन्धियुक्त वायु के सम्पर्क में कैसे रह सकता है? वसन्त ऋतु में प्रफुल्लित पुष्पपुञ्ज के मकरन्द को लेकर चलने वाली शीतल, मन्द, सुगन्धित समीर को छोड़कर प्रचण्ड आतप से संतप्त पवन को कोई कैसे स्वीकार कर सकता है? विषयानल से दीप्त चित्त वालों को विषयसेवन से बचने का एकमात्र उपाय श्रीचरणों का ध्यान है, यह उक्त कथन का सार है।

समुज्ज्वल कीर्ति

भगवान् श्रीराम की अप्रतिम उज्ज्वल कीर्ति दशों दिशाओं में गूँज रही है, उनके समान अन्य किसी की कीर्ति नहीं, उसमें कोई कलंक नहीं इसलिए

वह सर्वोपरि है। श्रेष्ठ आचरण से ही सभी की समुज्ज्वल कीर्ति होती है, करुणानिधान का प्रत्येक आचरण श्रेष्ठतम है। जगत् की सृष्टि, स्थिति और लय करना, सृष्टिकाल में प्राणियों को शरीर-इन्द्रिय और कार्य करने का सामर्थ्य प्रदान करके उन्हें भोग और मोक्ष के योग्य बनाना, निष्काम कर्मों का फल अन्तःकरण की विशुद्धि और सकाम का फल त्रिवर्ग की प्राप्ति कराना, ज्ञानयोगियों को ज्ञान का फल आत्मसाक्षात्कार प्रदान करना और भक्तियोगियों को भक्ति का फल निरतिशय आनन्दरूप स्वानुभवात्मक मोक्ष की प्राप्त कराना इत्यादि लोकात्तर आचरण उनके ही हैं।

पुत्र का पिता के प्रति, माता के प्रति, गुरुजनों के प्रति, भ्राता के प्रति तथा अन्य के प्रति आचरण कैसा होना चाहिए? राजा का प्रजा के प्रति और मन्त्री आदि के प्रति कैसा आचरण होना चाहिए? इत्यादि अनुकरणीय शिक्षाएँ भगवान् श्रीराम ने अवतारकाल में प्रदान कीं। उन्होंने बड़े से बड़े कष्ट झेल कर भी पिता की आज्ञा का पालन किया, उनके लोकरंजक आचरण से यह भी शिक्षा मिलती है कि शत्रु के सामने अकेले होने पर भी कर्तव्यच्युत होकर भागना नहीं चाहिए और शासकवर्ग को अपनी प्रजा के लिए प्रिय वस्तु का भी त्याग कर देना चाहिए, इत्यादि उत्तम आचरण से जन्य प्रशस्त कीर्ति का महर्षि वाल्मीकि, वेदव्यास आदि मनीषीगण गान करते हैं। रघुनाथ जी का पावन कीर्तिमय चरित शतकोटि श्लोकों में निबद्ध है, उत्तम होने के कारण उसके एक एक अक्षर का पाठ और श्रवण मानव के महापाप का नाश करने वाला है-**चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम्। एकैकाक्षरं पुसां महापातकनाशनम्।।**(रा.स्तो.1)।

आज की तुलना में पूर्वकालिक मानव दैवीसम्पद् से सम्पन्न होने के कारण शास्त्रीय सदाचार का पालन करते हुए शान्तिमय जीवन व्यतीत करता था, इसका कारण श्रीराम के पवित्र और उत्तम चरित्र का सर्वत्र प्रचार था। पूर्व की अपेक्षा आज कथा-सत्संग की चारों ओर बाढ़ सी आयी हुई है, फिर भी लोगों के नैतिक स्तर में दिन पर दिन गिरावट आ रही है, इसका प्रधान कारण श्रीरामकथा के प्रचार की अल्पता है। राष्ट्र का उत्थान पुण्यकीर्तिमय श्रीरामचरित के व्यापक प्रचार और तदनुसार आचरण से ही संभव है।

स्वामी रामानन्दाचार्यजी ने भगवान् राम को **सुमहितमहिमा साधुवेदैरशेषैः**

इस प्रकार सभी वेदों के द्वारा वर्णित सम्मानित महिमा से मण्डित कहा है। महिमा का अर्थ कीर्ति होता है, पूर्व में यही बात सत्समुदितसुयशाः शब्द से कही गयी थी। भगवान् श्रीराम की पावन कीर्ति के श्रवण से पामर प्राणी भी उनकी ओर आकर्षित होते हैं और विषयसेवन छोड़कर उनमें अनुरक्त हो जाते हैं, इस कारण उनकी समुज्ज्वल कीर्ति में आदर बुद्धि होने के कारण ग्रन्थकार ने उसका प्रस्तुत श्लोक में दो बार उल्लेख किया है। **मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्**(आ.श्रौ.सू.) इस वचन के अनुसार संहिता और ब्राह्मण दोनों ही वेद हैं। ऋक्, यजु, साम और अथर्व भेद से मन्त्रब्राह्मणात्मक अपौरुषेय वेद के चार विभाग होते हैं, वे परब्रह्म श्रीरामचन्द्र की महिमा का सदा वर्णन करते रहते हैं। वेदों के द्वारा वर्णित कीर्ति ही महापुरुषों के वर्णन का मूल होती है, ऐसा जानना चाहिए।

क्लेशादि से रहित

श्रीरामानन्दाचार्य जी ने भगवान् श्रीराम को **अस्पृश्यः क्लेशादिभिः** इस प्रकार क्लेशादि दोषों के संसर्ग से रहित कहा है क्योंकि उनका स्वरूप समस्त हेय गुणों का विरोधी है, उसमें वे गुण आ ही नहीं सकते। निखिल हेय गुणों का विरोधी उनका स्वरूप अखिलहेयप्रत्यनीक कहलाता है। जैसे तम का विरोधी तेज होता है और सर्प का विरोधी गरुड़, वैसे ही उनका स्वरूप दोषों का विरोधी होता है। अखिल शब्द चेतन में विद्यमान क्लेशादि तथा अचेतन में विद्यमान भावविकारादि हेय गुणों का बोधक है-**अखिलशब्दः चिदचिद्गतक्लेशादिभावविकारादिहेयपरः**।(श.ग.श्रु.भा.5)। क्लेश, कर्म, विपाक और आशय ये भगवच्चिन्तन के विघटक हैं अतः मुमुक्षु उपासक इनका त्याग करना चाहता है इसलिए इन्हें हेय कहते हैं। अविद्या, अस्मिता राग, द्वेष और अभिनिवेश(मृत्युभय) ये 5 क्लेश होते हैं-**अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः**(यो.सू.2.3)। अपने स्वरूप को न जानना अविद्या है, देहादि में आत्मबुद्धि को अस्मिता कहा जाता है-**अस्मिता अस्मितत्वम्, अहन्त्वम्, अनात्मनि आत्मबुद्धिरिति यावत्**॥(भा.प्र.1.1.1)। पुण्य पाप कर्म हैं। जन्म, आयु और भोग विपाक हैं, वासनाएँ आशय हैं। मुमुक्षु के चिन्तन के लिए उपयोगी परमात्मा के गुण उपादेय कहे जाते हैं और उससे भिन्न क्लेशादि हेय कहे जाते हैं। अचेतन में रहने वाले 1. उत्पत्ति 2. उत्पन्नावस्थारूप अस्तित्व 3.परिणाम 4. वृद्धि 5. क्षीणता, 6.

विनाश ये 6 भाव विकार होते हैं-**षड् भावविकाराः**[1] **भवन्तीति वार्ष्यायणिः। जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्धतेऽपक्षीयते विनश्यतीति।**(नि.1.1.3)। ये विकार हेय हैं तथा अचेतन प्रकृति के सत्त्व, रज और तम गुण भी हेय हैं। प्रत्यनीक का अर्थ विरोधी होता है। श्रीरामभद्र के हेयप्रत्यनीक स्वरूप का चिन्तन करने से उपासक के हेय गुण निवृत्त हो जाते हैं। परमात्मा का हेयप्रत्यनीक स्वरूप होने से वे अचेतन तथा चेतन से विलक्षण सिद्ध होते हैं। उनका निखिलहेयप्रत्यनीकत्व ही नित्य निर्लेपत्व है। यहाँ पर उनमें अद्वारक हेयसम्बन्ध का ही निराकरण किया जाता है। वे सत्यसंकल्प होनेके कारण आश्रित जीवों में हेय का सम्बन्ध एवं उसका वियोग करनेमें समर्थ हैं। ईश्वर के लिए कोई भी पदार्थ हेय नहीं है। वे आश्रित भक्तों के हेय को लीला से निवृत्त कर देते हैं।

मृत्यु आदि से रहित

छान्दोग्योपनिषत् में कहा है कि यह परमात्मा पाप से रहित है, जरा से रहित है, मृत्यु से रहित है, शोक से रहित है, क्षुधा से रहित है और पिपासा से रहित है। सत्यकाम तथा सत्यसंकल्प है-**एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः।**(छां.उ.8.1.5), यहाँ परमात्मा के प्रकरण में पाप शब्द पापपुण्य दोनों का बोधक है। ये अपहतपाप्मत्वादि गुणाष्टक कहे जाते हैं। इनमें आरम्भ के छः निषेधरूप और अन्त के दो विधिरूप हैं।

पाप-पुण्य से रहित परमात्मा अपहतपाप्म कहे जाते हैं। उनका धर्म अपहतपाप्मत्व है। वह परमात्मा सभी पापों से रहित है-**स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितः।**(छां.उ.1.6.7), यहाँ अहगतपाप्मत्व का अर्थ पाप का ध्वंस नहीं है क्योंकि पाप होने पर ही उनका ध्वंस संभव है। परमात्मा के पाप होते ही नहीं अतः उनका ध्वंस भी संभव नहीं इसलिए यहाँ अपहतपाप्मत्वका अर्थ है-पाप के श्लेष से सर्वथा रहित। विना किए कर्म के सम्बन्ध से रहित सभी आत्माएँ हैं किन्तु कर्म करने पर भी उनके सम्बन्ध से रहित परमात्मा है अतः उनके कर्म करने पर भी कर्म की

1.भवतीति भावः, भावस्य विकाराः भावाश्च ते विकाराः वा। तत्र उत्पद्यमानावस्था जन्म, उत्पन्नाऽवस्था च अस्तित्वम्, उत्तरावस्थाप्राप्ति परिणामः, तस्याधिक्यं वृद्धिः, क्षयः नाशस्य पूर्वावस्था, नाशस्तु कारणावस्थाप्राप्त्येव इति परस्परं भेदः विलक्षणीयः।

फलोत्पादकशक्ति का विरोधित्वरूप उनका कोई स्वभाव विशेष ही निरुपाधिकापहतपाप्मत्व कहा जाता है। परिशुद्ध आत्मा के अपहतपाप्मत्व गुण का भी यही अर्थ है किन्तु वह तिरोधान के योग्य होता है, प्रतिबन्ध की निवृत्ति होने पर आविर्भूत होता है। ईश्वर का अपहतपाप्मत्व तिरोधान के अयोग्य होता है, वह नित्य आविर्भूत ही रहता है। नित्य जीवों के अपहतपाप्मत्व का नित्य आविर्भाव ईश्वर की इच्छा के अधीन है, निरुपाधिक नहीं है।

परमात्मस्वरूप जैसे पाप-पुण्य से रहित है, वैसे ही जरादि से भी रहित है। यहाँ परमात्मस्वरूप में क्षुधा-पिपासा का निषेध किया जाता है, दिव्यमंगलविग्रहविशिष्ट परमात्मा की क्षुधापिपासा का निषेध नहीं किया जाता। उक्त छान्दोग्य श्रुति में सत्यकाम शब्द कामना के सत्यत्व का बोधक नहीं है क्योंकि सत्यसंकल्प पद से ही वह अर्थ सिद्ध है। 'काम्यते' इस व्युत्पत्ति से गुणमात्र का भी बोधक नहीं है क्योंकि अन्य गुण पृथक् वर्णित हैं अतः सत्यकाम शब्द का अर्थ है-भोग्य, भोगोपकरण तथा भोगस्थानरूप नित्यपदार्थों वाला। सत्यसंकल्पत्वका अर्थ है-अप्रतिहतसंकल्प। परब्रह्म के संकल्प का कभी कोई भी प्रतिघात(अवरोध) नहीं कर सकता। अप्रतिहत संकल्प वाले परमात्मा को सत्यसंकल्प कहा जाता है।

श्रीरामानन्द स्वामी जी ने उक्त व्याख्येय श्लोक में विमृत्यु और विजर शब्दों से परमात्मस्वरूप की मृत्यु न होने का और जरावस्था न होने का वर्णन किया है तथा विकलुष शब्द से पाप, शोक, क्षुधा और पिपासा दोष से रहित होने का वर्णन किया है, यह शब्द उपलक्षण से परमात्मा के सत्यकामत्व और सत्यसंकल्पत्व का भी बोधक है।

मन-वाणी का अविषय

ग्रन्थकार ने भगवान् को **गीर्मनोभ्यामगम्यः** इस प्रकार मन और वाणी का अविषय कहा है। भगवती श्रुति कहती है कि परमात्मा चक्षु से ज्ञात नहीं होता, मन आदि इन्द्रियों से ज्ञात नहीं होता और वाणी से (प्रतिपादन करने पर) ज्ञात नहीं होता-**न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैः**।(मु. उ.3.1.8), **न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनः**।(के.उ.1.3) और **मन समेत जेहि जान न बानी**।(रा.च.मा.1.340.7) ऐसा मानस भी कहता

है।

शंका-जिज्ञासु परब्रह्म को जानने के लिए गुरु के ही पास जाए-**तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्**।(मु.उ.1.2.12), गुरुदेव ब्रह्म का बोध कराने के लिए वाणी से ही उपदेश करते हैं। इस प्रकार वाणी ब्रह्म के ज्ञान(परोक्षज्ञान) का साधन बनती है। यदि वाणी से उसका बोध नहीं कराया जा सकता तो उसके ज्ञान के लिए गुरु के समीप जाने का विधान करने वाली उक्त श्रुति की क्या संगति होगी? और यदि मन से परमात्मा का ज्ञान नहीं होता तो मन से परमात्मा के ज्ञान का विधान करने वाली "श्रवण, मनन के पश्चात् विशुद्ध मन से परमात्मा को जानना चाहिए"-**मनसैवानु द्रष्टव्यम्**।(बृ.उ.4.4.19) इस श्रुति की भी क्या संगति होगी?

समाधान-वाणी परमात्मा के परोक्ष ज्ञान का साधन है औरं मन अपरोक्ष ज्ञान का साधन है किन्तु अशुद्ध मन नहीं अपितु शुद्ध मन। अशुद्ध मन से उसे जान ही नहीं सकते। शुद्ध मन से ब्रह्म को यथावत् जान सकते हैं। ब्रह्म अपरिच्छिन्न है अतः अपरिच्छिन्नत्वेन ही उसे जान सकते हैं। ब्रह्म को अज्ञेय बताने वाली श्रुतियाँ उसे अशुद्ध मन से अज्ञेय कहती हैं और ज्ञेय कहने वाली श्रुतियाँ शुद्ध मन से ज्ञेय कहती हैं। सूक्ष्मदर्शी ब्रह्मवेत्ताओं के द्वारा सूक्ष्म अर्थ को जानने में समर्थ एकाग्र मन से परमात्मा का साक्षात्कार होता है-**दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः**।(क.उ.1.3.12), परमात्मा का निरन्तर ध्यान करते हुए मुमुक्षु उनके(परमात्मा के) अनुग्रह से निर्मल मन वाला होता है, तत्पश्चात् उस मन से परमात्मा का साक्षात्कार करता है-**ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः**॥(मु.उ.3.1.8)। विशुद्ध मन से परमात्मा का साक्षात्कार होता है-**मनसा तु विशुद्धेन**।(व्या.स्मृ.), **निर्मल मन जन सो मोहि पावा**।(रा.च.मा.5.43.5)।

भगवान् को चक्षु आदि इन्द्रियों से नहीं जान सकते क्योंकि वह चक्षु आदि इन्द्रियों का विषय ही नहीं है। वाणी से प्रतिपादन करने पर उसका परोक्ष ज्ञान ही होता है, प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता। मनन, निदिध्यासन करने पर मन से प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। परमात्मा अपरिच्छिन्न है, घटादि वस्तुएँ परिच्छिन्न हैं। परिच्छिन्न वस्तुएँ इयत्ता(परिच्छेद या सीमा) से युक्त होती हैं। अपरिच्छिन्न ब्रह्म की इयत्ता नहीं होती अतः वाणी से उसे न जानने का अर्थ है-वाणी से ब्रह्म का परिच्छिन्नरूप से ज्ञान नहीं हो सकता। वाणी से

उसका यथावस्थित इयत्तारहितत्वेन ज्ञान होता ही है। मन से ब्रह्म को नहीं जानते हैं, इसका अर्थ है-इयत्ताविशिष्ट रूप से नहीं जानते और मन से ब्रह्म को जानते हैं, इसका अर्थ है-इयत्तारहितत्वेन जानते हैं। इसी अभिप्राय से कहा है कि मन के सहित वाणी जिस ब्रह्मानन्द की इयत्ता को न पाकर जहाँ से लौट आती है-**यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।**(तै.उ.2.4.1), इसी श्रुति का "उस ब्रह्मानन्द को जानने वाला व्यक्ति कभी भी संसारभय को प्राप्त नहीं होता"-**आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचनेति।।**(तै.उ.2.4.1) यह अग्रिम अंश स्पष्टरूप से आनन्दविशिष्ट ब्रह्म को ज्ञेय कहती है। यदि इसे वाणी और मन का अविषय माना जाय, तो 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्' इस वाक्य का अर्थ होगा-'वाणी और मन के अविषय आनन्दविशिष्ट ब्रह्म को जानने वाला' इस प्रकार अविषय ब्रह्म को विषय कहने पर व्याघात दोष उपस्थित होगा और यह श्रुति अनर्थक होगी।

सूरियों के द्वारा सेवित

जो आत्माएँ कभी भी संसारबन्धन में न आकर निरन्तर अपने प्रियतम प्रभु की सेवा में तल्लीन रहती हैं, उन्हें नित्य या नित्य मुक्त कहा जाता है। प्रस्तुत श्लोक में सूरि पद से इन्हीं का ग्रहण होता है। श्रीहनुमान्, श्रीभरत, श्रीलक्ष्मण और श्रीशत्रुघ्न इत्यादि सूरियों के द्वारा श्रीरामभद्र सदा सेवित रहते हैं। भगवान् के सर्वविध कैंकर्य को सदा सम्पन्न करना इनका सहज स्वभाव होता है, वह अपनी इच्छा के अनुसार नहीं अपितु श्रीरामभद्र की इच्छा के अनुसार। सूरिगण उनके अभिप्रायानुसार सेवा में सदा संलग्न रहते हैं।

सर्वशक्तिमान्

सभी कार्य करने के लिए उपयोगी परमात्मा की पराशक्ति विविध प्रकार की सुनी जाती है, वह स्वाभाविक ही होती है-**परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी।**(श्वे.उ.6.8)। जगत् की सृष्टि आदि करना, प्राणियों पर अनुग्रह-निग्रह करना आदि भगवान् के बहुविध कार्य हैं, उन्हें सम्पन्न करने के लिए उपयुक्त सभी प्रकार की शक्तियाँ उनमें निहित हैं।

वदान्य

भगवान् श्रीराम अत्यन्त उदार होने से वदान्य कहलाते हैं। लेने वाले पात्र

चाहे अत्यन्त निकृष्ट हों और दिये जाने वाले पदार्थ अत्यन्त उत्कृष्ट, इन सभी का ध्यान न रखते हुए प्रत्युपकार की भावना के विना श्रीरामचन्द्र याचकों को उनके अभीष्ट सभी पदार्थ प्रदान करते हैं। यहाँ तक कि प्रेमी भक्त के लिए स्वयं को भी समर्पित करके उसी प्रकार आनन्दित होते हैं, जिस प्रकार धार्मिक पिता पुत्रों को अपनी सम्पत्ति देकर आनन्दित होता है। श्रीभगवान् अधिक से अधिक वस्तुओं को देकर भी अधिक आनन्दित नहीं होते अपितु संकोच ही करते हैं। गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा है कि **जो संपति शिव रावनहि दीन्हि दिएँ दस माथ। सोई संपदा विभीषनहि सकुचि दीन्हि रघुनाथ॥**(रा.च.मा.5.49)। वे भक्तों को स्वस्वरूप को देकर भी यही समझते हैं कि हमने कुछ नहीं दिया। श्रीभगवान् लेने वालों की भी प्रतिष्ठा बढ़ाना चाहते हैं, इस कारण उन्होंने आर्त और अर्थार्थी भक्तों को भी **उदारा सर्व एवैते**।(गी.7.18) इस प्रकार उदार कहकर उनकी प्रतिष्ठा बढ़ायी है। इन सभी कारणों से श्रीरघुनाथ जी वदान्य कहे जाते हैं और इस गुण के कारण ही जगत् की रक्षा होती है।

शरण्य

श्रीरघुनाथ जी शरण प्रदान करने में कुशल हैं इसलिए शरण्य कहे जाते हैं-**शरणे साधुः शरण्यः**। इसी कारण विभीषण को शरण देने के प्रसंग में मन्त्रियों के द्वारा निषेध किए जाने पर भी उन्होंने कहा कि मित्रभाव से समीप में आए हुए का मैं किसी भी प्रकार त्याग नहीं कर सकता। यदि उसमें दोष है तो भी दोषी को आश्रय देना सत्पुरुषों के लिए निन्दित नहीं है-**मित्रभावेन सम्प्राप्तं न त्यजेयं कथञ्चन। दोषो यद्यपि तस्य स्यात् सतामेतदगर्हितम्॥**(वा.रा.6..18.3)। शरणागत के मित्रभाव का अधिक महत्त्व है, जैसे एक मित्र के प्रति दूसरे मित्र का पूर्ण विश्वास रहता है, वैसे ही शरणागत को भी श्राभगवान् के प्रति पूर्ण विश्वास रखना पड़ता है, इसी महा विश्वास के कारण श्रीराम जी शरणागत का कभी भी त्याग नहीं करते, इस विषय में उनके ये मार्मिक वचन प्रस्तुत हैं-**सरनागत कहुँ जे तजहिं निज अनहित अनुमानि। ते नर पावँर पापमय तिन्हहि विलोकत हानि॥**(रा.च.मा.5.43), **कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू॥ सनमुख होई जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥**(रा.च.मा.5.43.1-2)। जो एक बार ही मैं आपका हूँ, इस प्रकार

शरण के लिए याचना करता है, उसे मैं सभी प्राणियों से अभय कर देता हूँ, यह मेरा व्रत है-**सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥**(वा.रा.6.18.33) यहाँ ददामि यह वर्तमानकालिक क्रिया पद है, इससे यह सूचित होता है कि श्रीरामभद्र शरणग्रहण के काल में ही शरणागत को सभी पापों से विनिर्मुक्त कर देते हैं, विलम्ब नहीं करते।

श्रीमान्

1.श्री शब्द से **भूमनिन्दा प्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने। सम्बन्धेऽस्ति-विवक्षायां भवन्ति मतुबादयः॥**(वा.5.2.94) इस वार्तिक से नित्य योग(नित्य सम्बन्ध) अर्थ में मतुप् प्रत्यय होकर श्रीमान् शब्द सिद्ध होता है। इसका अर्थ है-श्रीसीता जी के साथ सर्वदा रहने वाले राम। जब जीव भगवान् की शरण में जाता है, तब वे पुरुषकार(सिफारिश) के लिए श्रीरामचन्द्र के साथ रहती हैं तथा फलदशा में प्राप्य के रूप में प्रभु के साथ विराजमान रहती हैं। इन साधन-साध्य दोनों दशाओं में भगवान् के साथ उनका नित्य योग बना रहता है और वे जीवमात्र की आराध्या बनी रहती हैं। श्रीजी के साथ परब्रह्म श्रीरामचन्द्र जी का नित्य संश्लेष उन्हीं दोनों के वचनों से प्रतिपादित है। श्रीरामचन्द्र कहते हैं कि जिस प्रकार सूर्य की प्रभा का उसके साथ नित्य संबन्ध है, उसी प्रकार मेरे साथ सीता का नित्य संबन्ध है-**अनन्या हि मया सीता भास्करस्य प्रभा यथा।**(वा.रा. 6.118.19) श्रीसीता जी कहती हैं कि जैसे भास्कर के साथ उसकी प्रभा का नित्य संबन्ध है, वैसे ही श्रीराघव के साथ मेरा नित्य संबन्ध है-**अनन्या राघवेणाहं भास्करेण यथा प्रभा॥**(वा.रा.5.21.15)। भास्कर धर्मी है और प्रभा उसका स्वाभाविक धर्म। स्वाभाविक धर्म की अपने आधारभूत धर्मी से पृथक् सिद्धि(स्थिति) नहीं हो सकती है, ऐसे धर्म और धर्मी का अपृथक्सिद्धि सम्बन्ध होता है, वह नित्य ही होता है। सर्वावतारावतारी परब्रह्म श्रीराम जब रघुकुल में अवतार लेते हैं, तब श्रीजी राजा जनक के यहाँ सीतारूप में अवतरित होती हैं। उनका श्रीकृष्ण रूप में प्रादुर्भाव होने पर वे रुक्मिणीरूप में अवतरित होती हैं तथा भगवान् के अन्य अवतारों में भी ये सदा उनके साथ ही रहती हैं-**राघवत्वेऽभवत्सीता रुक्मिणी कृष्णजन्मनि। अन्येषु चावतारेषु विष्णोरेषानपायिनी॥**(वि.पु.1.9.144),

श्रीरामभद्र से श्रीजी का वियोग कभी नहीं होता। श्रीभगवान् जिन-जिन रूपों में अवतार लेते हैं, उन-उन रूपों के अनुरूप ये भी अपना रूप बना लेती हैं। श्रीरघुनाथजी सदा श्रीजी के साथ ही विराजते हैं, इसलिए जीव को उनके समीप जाने में सुविधा होती है क्योंकि श्रीसीता जी के सामने अप-राधी को दण्ड देने में श्रीरामचन्द्र जी को उसी प्रकार संकुचित होना पड़ता है, जिस प्रकार माता के समक्ष पुत्र को दण्ड देने में पिता को संकुचित होना पड़ता है। वे जगज्जननी होने के कारण अपराधी जीवों के दोषों को छिपाकर उन शरणागत जीवों को अपनाने का आग्रह करती हैं। श्रीसीता जी के विषय में गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी मानस में कहा है-**जासु अंस उपजहिं गुन खानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी॥**(रा.च.मा.1.147.3)। जिस प्रकार श्रीभगवान् के सभी अवतारों के मूल श्रीराम जी हैं उसी प्रकार श्रीजी के सभी अवतारों की मूल श्रीसीता जी हैं। महर्षि वाल्मीकि कहते हैं कि वनवास काल में निर्जन वन में निवास करने वाली पतिव्रताशिरोमणि, सर्वांगसुन्दरी श्रीसीता जी क्षमाशीला पृथ्वी से भी अधिक क्षमाशीला हैं और लक्ष्मी की भी कारण हैं-**वसुधाया हि वसुधां श्रियाः श्रीं भर्तृवत्सलाम्। सीतां सर्वानवद्याङ्गीमरण्ये विजने शुभाम्॥**(वा.रा.6.111.21-22)। भगवान् श्रीरामचन्द्र जी सूर्य और अग्नि के भी प्रकाशक तथा प्रभु श्रीहरि के भी कारण हैं-**सूर्यस्यापि भवेत्सूर्यो ह्यग्नेरग्निः प्रभोर्प्रभुः।**(वा.रा.2.44.15), **संभु विरंचि विष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंश तें नाना॥**(रा.च.मा.1.143.6)।

श्रीतत्त्व

अजन्मा परमात्मा बहुत रूपों में प्रकट होता है-**अजायमानो बहुधा विजायते।**(य.सं.31.19)। स्त्रीरूप नित्यविग्रह से विशिष्ट श्रीरामचन्द्र ही श्रीसीता हैं। जब योगी अपने योगबल से अनेक शरीर धारण करता है, तब अनन्त सामर्थ्य वाले श्रीभगवान् के विषय में कहना ही क्या? भगवान् के चौबीस अवतारों में मोहिनी अवतार प्रसिद्ध है। यह अवतार असुरों को मोहित करने के लिए हुआ था किन्तु श्रीरूप में भगवान् का नित्य आविर्भाव भक्तों का सर्वविध मंगल करने के लिए है। परब्रह्म परमात्मा भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए अनादिकाल से दो रूपों में प्रकाशित हो रहे हैं। ये दो रूप हैं-श्रीरामचन्द्र और सीता जी। जैसे कोई एकतत्त्व दो रूपों

में प्रकट हो, वैसे ही श्रीभगवान् दो रूपों में प्रकट हैं- **एकतत्त्वमिवोदितौ**(ल. तं.)। **एवं ज्ञेया परा नित्या, सीता तु ब्रह्मविग्रहा। अनुग्रहार्थम् अस्माकमेकं ब्रह्म द्विधा गतः॥**(स.सं.)।

श्रीराघव के समान श्रीजी भी षड्गुणों से परिपूर्ण हैं। सत्यत्व, ज्ञानत्व, आनन्दत्व, अनन्तत्व और अमलत्वादि ब्रह्म के स्वरूपनिरूपक धर्म इनमें भी विद्यमान हैं। ब्रह्मत्व और ईश्वरत्व व्यासज्यवृत्ति धर्म हैं। ये पर्याप्ति सम्बन्ध से दोनों में रहते हैं। ब्रह्मसूत्र के चारों अध्यायों में प्रतिपादित जगत्कारणत्व, अबाध्यत्व, उपायत्व, उपेयत्व, सर्वान्तर्यामित्व, सर्वशरीरकत्व और सर्वव्यापकत्वादि श्रीजी के भी धर्म हैं। भगवान् की अपेक्षा श्री और जीव ये दोनों ही शेष सुने जाते हैं किन्तु दोनों में यह भेद है कि श्री में ऐच्छिक शेषत्व है और अन्य सभी में स्वाभाविक शेषत्व है।

वेदों के कर्मकाण्ड प्रकरण में महेन्द्र देवता के प्रतिपादनप्रसंग में केवल इन्द्र देवता नहीं माना जाता अपितु महत्त्वविशिष्ट इन्द्र देवता माना जाता है। जैसे यहाँ एक ही देवतात्व इन्द्र और महत्त्व दोनों में रहता है, वैसे ही श्रीविशिष्ट राम के देवता होने पर एक ही देवतात्व राम जी और श्री जी दोनों में रहता है। कर्मकाण्ड प्रकरण में ही वर्णित अग्निषोमीय याग में अग्नि और सोम मिलकर देवता होते हैं, अलग-अलग नहीं होते। दोनों के लिए एक ही बार हविष् प्रदान की जाती है। दोनों में एक ही देवतात्व रहता है। उसी प्रकार श्री और भगवान् मिलकर देवता होते हैं। दोनों में एक ही देवतात्व रहता है। श्री और भगवान् दोनों के लिए एक आत्मारूप हविष् प्रदान की जाती है। उक्त वर्णन से यह सिद्ध होता है कि जब श्रीविशिष्ट राघवेन्द्र देवता कहे जाते हैं, तब महेन्द्र में वर्णित रीति से दोनों में एकदेवतात्व रहता है और जब श्री तथा भगवान् द्वन्द्वसमास से देवता कहे जाते हैं, तब अग्निषोम में वर्णित रीति से दोनों में समानरूप से एकदेवतात्व रहता है। विष्णुपत्नी श्री इस जगत् की ईश्वरी हैं अर्थात् शासन करने वाली हैं-**अस्येशाना जगतः विष्णुपत्नी।**(तै.सं.4.4.12)। श्रीभगवान् सम्पूर्ण जगत् के ईश्वर हैं अर्थात् शासन करने वाले हैं। **ईशानो भूतभव्यस्य**(क.उ.2.1. 12) इत्यादि वचनों से श्री और भगवान् का अभेद सिद्ध होता है।

ब्रह्मसूत्र के सर्वप्रथम व्याख्याकार महर्षि बोधायन की परम्परा में श्रीवेदान्तदेशिक स्वामी और श्रीरामानन्दाचार्य के अनुयायी श्री को ब्रह्मतत्त्व

ही स्वीकार करते हैं किन्तु श्रीलोकाचार्य के अनुयायी श्री को जीवकोटि में स्वीकार करते हैं। श्रीजी भक्त के उद्धार के लिए श्रीभगवान् से पुरुषकार(संस्तुति) करती हैं, उनमें दण्डप्रदत्व नहीं है, अर्थात् वे कभी भी किसी को दण्ड प्रदान नहीं करतीं और श्रीभगवान् में पुरुषकारत्व नहीं है। यह दोनों मतों में समता है। प्रथममत के अनुसार, जगत्कर्तृत्वादि सभी विशेषताएँ श्री में है। द्वितीयमत के अनुसार नहीं हैं, फिर भी दया, वात्सल्य, औदार्य आदि सभी गुण श्रीजी में परिपूर्ण ही हैं।

2.अथवा श्रीमान् शब्द में श्री का अर्थ सौन्दर्य है। श्री शब्द से नित्ययोग अर्थ में मतुप् प्रत्यय होकर श्रीमान् शब्द सिद्ध होता है। इसका अर्थ है-सौन्दर्य से नित्य युक्त। भगवान् श्रीराम निरतिशय सुन्दर हैं। जिसकी एक बार भी दूर से ही दृष्टि श्रीराघवेन्द्र पर पड़ गयी, वह चाहे कितना भी कठोर व धीर-वीर क्यों न हो, उसके नेत्र तथा मन श्रीराम को छोड़ने में कभी समर्थ नहीं हो सकते। यदि दूर से देखने मात्र से ही प्रभु दर्शकों के मन एवं नेत्रों को चुरा लेते हैं, तब समीप से दर्शन करने वालों की क्या दशा होती होगी? इसका अनुमान करना कठिन है। पद्मपुराण में स्पष्ट है कि जब दण्डकारण्यवासी ऋषि-मुनियों ने श्रीरामभद्र के लोकोत्तर सौन्दर्य का दर्शन किया, तब वे सभी प्रेम से उन्मत्त होकर श्रीरघुनाथ जी का आलिंगन करने की इच्छा प्रकट करने लगे-**पुरा महर्षयः सर्वे दण्डकारण्यवासिनः। दृष्ट्वा रामं हरिं तत्र भोक्तुमैच्छत् सुविग्रहम्॥**(प. पु.उ.ख.245.164)। श्रीराधवेन्द्र ने उन सभी को वरदान दिया कि आप सभी व्रजभूमि में जाकर गोपियों के रूप में जन्म लें। जब मैं श्रीकृष्णावतार ग्रहण करूँगा, तब आप सभी का मनोरथ सफल करूँगा, इस वृतान्त से स्पष्ट है कि श्रीराघवेन्द्र ने ही ऋषि-मुनियों पर कृपा करने के लिए श्रीकृष्णरूप में व्रज में अवतार लिया था।

कुछ रसिकाचार्य महानुभाव कहते हैं कि श्रीमिथिला की सखियों ने व्रज में गोपाङ्गनाओं के रूप में अवतार लिया किन्तु मिथिला की सखियों ने तो श्रीरामरूप पर मोहित होकर चतुर्भुज विष्णु को भी श्रीराम की समता के योग्य नहीं समझा-**बिष्नु चारि भुज बिधि मुख चारी। बिकट बेष मुख पंच पुरारी॥ अपर देउ अस कोउ न आही। यह छबि सखि पटतरिय जाही॥**(रा.च.मा.1.219.7-8) इस प्रकार श्रीसीतारामजी की सेवा को छोड़कर

अन्य किसी अवतार में मिथिला की सखियों का भाव नही है।

सभी अवतार परस्पर अभिन्न होते हुए भी रसवैचित्र्य की दृष्टि से उनमें कुछ पार्थक्य अवश्य है। भक्त की रुचियाँ अनेक प्रकार की होती हैं, उनके भावानुसार श्रीभगवान् के अवतार भी अनन्त होते हैं और सभी अवतारों में कुछ वैशिष्ट् अवश्य होता है। यह तात्त्विक नहीं होता, रसोपासना की दृष्टि से होता है। मधुर रस की दृष्टि से मिथिलावासिनी तथा व्रजवासिनी सखियों की समानता है किन्तु गम्भीर दृष्टि से अवलोकन करने पर दोनों उपासनाओं में मधुर तारतम्य भी सुस्पष्ट है। जिस प्रकार मिथिलावासी सखियों की श्रीसीताराम जी की युगल उपासना है, उसी प्रकार व्रजवासी गोपियों की भी श्रीराधाकृष्ण की युगल उपासना है। विशेषकर श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय और हितहरिवंश सम्प्रदाय के आचार्यों की उपासना मिथिलावासियों की उपासना के समान है किन्तु कृष्णभक्ति शाखा के कुछ आचार्यों की उपासना में पार्थक्य अवश्य है।

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण के शिरोमणिटीकाकार श्रीशिवसहाय का कथन है कि **एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।**(भा.1.3.28) श्रीमद्भागवत के इस प्रसिद्ध श्लोक में आए पुंसः पद का अर्थ है-'रघुनाथस्य' अर्थात् पूर्वोक्त सभी अवतार श्रीरघुनाथ के अंशकला हैं तथा श्रीकृष्ण तो साक्षात् व्यापक ब्रह्म श्रीरघुनाथ ही हैं। निखिल अवतारों की अपेक्षा श्रीनन्दनन्दन श्रीरघुनन्दन के अत्यन्त अन्तरङ्ग हैं-**'एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' अस्य पुंसो रघुनाथस्यैतेंऽशकलाः, विष्णुर्नित्यं वृन्दावनविहारी स्वयं रघुनाथ एवेत्यर्थकस्य संगतिः। अयं भावः निखिलेश्वरापेक्षया नन्दनन्दनो रामान्तरङ्ग इति।**(वा.रा.शि.1.1 उपोद्घात)।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपने द्वादश ग्रन्थों में श्रीसीताराम जी की युगल उपासना का अत्यन्त मनोहर मार्मिक चित्रण प्रस्तुत किया है। त्रिभुवनमोहन अप्रतिम सौन्दर्यवान् श्रीरामभद्र को देखकर मैथिली सखियाँ कहती हैं कि ऐसा कौन शरीरधारी होगा? जो श्रीराघवेन्द्र के रूप को देखकर मोहित न होगा-**कहहु सखि अस को तनुधारी। जो न मोह यह रूप निहारी॥**(रा.च.मा.1.220.1) और इस निश्चय के पश्चात् भी स्वयं मोहित नहीं होतीं तथा श्रीजानकी जी के योग्य वर श्रीराम जी हैं, ऐसी

भावना प्रकट करती हैं-**देख राम छवि कोउ एक कहई। जोग जानकिहि यह बर अहई॥**(रा.च.मा.1.221.1), तत्सुखसुखित्व की ऐसी अलौकिक, उदात्त भावना विश्व के किसी क्षेत्र में अन्वेषण करने से भी नहीं मिलती। समर्पण का वास्तविक स्वरूप यही है कि जो भी श्रेष्ठ वस्तु मिले, उसे अपने प्रियतम को अर्पित कर देना चाहिए। परमानन्दमय रसस्वरूप श्रीराघवेन्द्र की प्राप्ति होने पर मिथिला की सखियाँ उन्हें अपनी स्वामिनी श्रीजानकी जी को समर्पित कर देती हैं।

तत्त्वविचार

श्रीसुरसुरानन्द ने आचार्य जी से सर्वप्रथम तत्त्वविषयक जिज्ञासा की है, अब इसी का निरूपण किया जाता है। अनारोपित वस्तु को तत्त्व कहते हैं, इसका अर्थ सत्य वस्तु है-**तत्त्वं नाम अनारोपितं वस्तु परमार्थ इति यावत्**।(द.उ.)। कल्पित पदार्थ को आरोपित कहते हैं और इससे भिन्न सत्य वस्तु को तत्त्व। आरोपित न होने से ब्रह्म के समान चित् और अचित् भी तत्त्व होते हैं। देहादि अचित् हैं और आत्मा चित् है। मोक्ष के लिए देहादि से भिन्न अपनी आत्मा का ज्ञान और आत्मा के अन्तरात्मारूप से परमात्मा का ज्ञान अनिवार्य होता है। कुछ लोग देह को ही आत्मा समझते हैं, देह से भिन्न आत्मा नहीं समझते। अचित् देहादि से भिन्न आत्मा को समझने में चित् और अचित् का ज्ञान उपयोगी है तथा आत्मा के अन्तरात्मस्वरूप परमात्मा को जानने में चित् और परमात्मा का ज्ञान उपयोगी है। इस प्रकार मोक्ष की प्राप्ति के लिए तीनों का ज्ञान अपेक्षित है। चेतन और अचेतन तत्त्व के ज्ञान से देहात्मभ्रम निवृत्त होता है तथा चेतन और ईश्वर तत्त्व के ज्ञान से स्वतन्त्र-आत्मभ्रम निवृत्त होता है अतः भोक्ता जीवात्मा, भोग्य अचेतन और प्रेरक ईश्वर को जानकर-**भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा**।(श्वे. उ.1.12) इत्यादि श्रुतियों के अनुसार तीन तत्त्व माने जाते हैं। चित् और अचित् इन दो विशेषणों से विशिष्ट एक ब्रह्म होने से एक तत्त्व माना जाता है। इन दोनों पक्षों में कोई विरोध नहीं है क्योंकि उक्त तीनों के स्वरूप में भेद तथा विशिष्ट ब्रह्म की एकता स्वीकृत है।

अचेतन प्रकृति, जीवात्मा और परमात्मा ये तीनों तत्त्व सत्य ही हैं, मिथ्या नहीं। परमात्मा का नाम सत्य का सत्य है। जीवात्मा सत्य है, उससे

भी बढ़कर परमात्मा सत्य है-**अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यमिति। प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्।**(बृ.उ.2.3.6)। जड़ प्रकृति के स्वरूप में विकार होता है, चेतन जीव के स्वरूप में विकार नहीं होता, इसलिए अचेतन की अपेक्षा जीव को सत्य(निर्विकार) कहा जाता है, बद्धावस्था में जीव के ज्ञान गुण में विकार होता है, परमात्मा के गुण में विकार नहीं होता इसलिए जीव से बढ़कर ब्रह्म सत्य कहा जाता है। **सत्यस्य सत्यम्** इस प्रकार उक्त श्रुति ही सत्य पदार्थों के तारतम्य को कहती है। इस रहस्य को न समझने के कारण ही जगन्मिथ्यात्व की भ्रान्त धारणा प्रचलित हुई।

निर्विशेषाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार एक ब्रह्म ही परमार्थ तत्त्व है, अन्य सभी मिथ्या हैं। जैसे कोई अधिष्ठान रज्जु(रस्सी) को अज्ञान से सर्प समझता है, वहाँ रज्जु ही सत्य होती है, सर्प सत्य नहीं होता, वह मिथ्या है, वैसे ही अज्ञानी व्यक्ति अधिष्ठान ब्रह्म को अज्ञान से चेतन जीव और अचेतन पदार्थ समझता है, वहाँ ब्रह्म ही सत्य है, अन्य पदार्थ सत्य नहीं है, वे मिथ्या हैं। इस प्रकार जगत् को रज्जुसर्प के समान मिथ्या मानने वाला मत उचित नहीं है क्योंकि भ्रमस्थल में तीन सत्य वस्तुएँ होती हैं। जिसमें सर्प का भ्रम होता है, वह रज्जु सत्य होती है, उसमें जिस सर्प का भ्रम होता है, वह सर्प भी अन्यत्र सत्य होता है। यदि कहीं भी सत्य सर्प नहीं हो तो रज्जु में सर्प का भ्रम नहीं होगा। भ्रम की सिद्धि के लिए कहीं न कहीं सत्य सर्प को मानना ही होगा तथा जिस मनुष्य को भ्रम होता है, वह भी अधिष्ठान रज्जु से भिन्न होता है और सत्य होता है। इस प्रकार रज्जुसर्प भ्रमस्थल में तीन सत्य पदार्थ स्वीकृत होते हैं। इसी प्रकार ब्रह्म में जिस जगत् का भ्रम होता है, उसे कहीं न कहीं सत्य स्वीकार करना होगा। यदि कहीं भी सत्य जगत् को स्वीकार नहीं करेंगे तो ब्रह्म में उसका भ्रम नहीं होगा और भ्रम न होने से वह मिथ्या भी नहीं होगा। यदि कहीं उसे सत्य स्वीकार करते हैं तो **ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या** यह सिद्धान्त खण्डित हो जाएगा। जैसे रज्जु में सर्प के भ्रम वाला मनुष्य रज्जु से भिन्न होता है, वैसे ही ब्रह्म में जगत् की भ्रान्ति वाला मनुष्य ब्रह्म से भिन्न होगा और जैसे भ्रान्त मनुष्य को रज्जु का ज्ञान होने पर भ्रम के निवृत्त होने पर भी वह रज्जु से भिन्न ही रहता है वैसे ही भ्रान्त मनुष्य को ब्रह्म का ज्ञान होने पर जगत् भ्रम के निवृत्त होने पर भी वह मनुष्य ब्रह्म से भिन्न रहेगा और ऐसा होने

पर जीव और ब्रह्म की एकता भी सिद्ध नहीं होगी। इस प्रकार जगत् को मिथ्या मानने पर अनेक अपरिहार्य दोष प्राप्त होते हैं इसलिए श्रुतियों के अनुसार विशिष्टाद्वैत वेदान्त सिद्धान्त के अनुयायी उसे सत्य ही मानते हैं।

आचार्यचरण प्रकृति, जीव और ईश्वर इन तीन तत्त्वों का उपदेश करने के पश्चात् सुरसुरानन्द जी के किञ्च जाप्यम् प्रकार पूँछे गये जपनीय मन्त्र को कहते हैं-

जाप्यनिरूपणम्

सञ्जाप्यस्तारकाख्यो मनुवर इह तैर्वह्निबीजं यदादौ
रामो[1] ङेप्रत्ययान्तो रसमितशुभदस्वक्षरः स्यान्नमोऽन्तः।
मन्त्रो रामद्वयाख्यः सकृदिति चरमप्रान्वितो गुह्यगुह्यो
भूताक्ष्युत्संख्यवर्णः सुकृतिभिरनिशं मोक्षकामैर्निषेव्यः॥10॥

अन्वय

यदादौ वह्निबीजम्, ङेप्रत्ययान्तः, अन्तः नमः स्यात्। रसमितशुभदस्वक्षरः, तारकाख्यः, गुह्यगुह्यः, रामः मनुवरः इह तैः मोक्षकामैः सञ्जाप्यः। सुकृतिभिः सकृत् इति चरमप्रान्वितः, भूताक्ष्युत्संख्यवर्णः रामद्वयाख्यः मन्त्रः अनिशं निषेव्यः।

अर्थ

यदादौ-जिसके आदि में **वह्निबीजम्**-'रां', (मध्य में) **ङेप्रत्ययान्तः**-रामाय(और) **अन्तः**-अन्त में **नमः**-नमः **स्यात्**-है, वह **रसमितशुभदस्वक्षरः**-मंगलकारक, छः सुन्दर अक्षरों वाला **तारकाख्यः**-तारक नाम वाला **गुह्यगुह्यः**-अन्यन्त गोपनीय **रामः**-श्रीराम का प्रतिपादक **मनुवरः**-मन्त्रराज **इह**-इस लोक में **तैः**-उन **मोक्षकामैः**-मुमुक्षुओं के द्वारा **सञ्जाप्यः**-सम्यक् जपनीय है। **सुकृतिभिः**-सुकृति जनों के द्वारा **सकृत्**-सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम **इति**-इस **चरमप्रान्वितः**-चरममन्त्र के सहित **भूताक्ष्युत्संख्यवर्णः**-25 अक्षर वाला **रामद्वयाख्यः**-श्रीराम का द्वय नाम वाला (श्रीमद्रामचन्द्रचरणौ शरणं प्रपद्ये और श्रीमते रामचन्द्राय नमः) **मन्त्रः**-मन्त्र **अनिशम्**-सदा **निषेव्यः**-जपनीय है।

1.अत्र प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोरभेदविवक्षया प्रथमा।

भाष्य

प्रश्नकर्ता के दश प्रश्नों में तत्त्वविषयक और मुक्तिसाधनविषयक भी प्रश्न हैं, इससे स्पष्ट है कि ये सभी प्रश्न मुमुक्षु के जिज्ञास्य तत्त्व, हित और पुरुषार्थ से सम्बन्ध रखने वाले हैं। परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र तत्त्व हैं, उनकी प्राप्ति का साधन भक्तियोग हित कहलाता है तथा सकल बन्धनों से विनिर्मुक्त होकर निरतिशय आनन्दरूप परमात्मा का अनुभव करना मोक्ष कहलाता है। भक्तियोग के उपकारक कर्मों में अन्य कर्मों की अपेक्षा जप अन्तरंग साधन है, अब इसी का विवरण प्रस्तुत है-

जप

जकार का अर्थ जन्मनाशक तथा पकार का अर्थ पापनाशक है, इस प्रकार ज और प अक्षर के योग से बने जप शब्द का अर्थ जन्मपापनाशक है-**जकारो जन्मविच्छेदः पकारः पापनाशकः। तस्माज्जप इति प्रोक्तो जन्मपाप-विनाशकः।** भगवत्प्रीत्यर्थ मन्त्रजप करने पर भगवदनुग्रह के द्वारा पूर्वकाल से प्रवर्तमान पापपुञ्ज की निवृत्तिपूर्वक जन्ममृत्यु की शृंखला का भी नाश हो जाता है। जप का महत्त्वपूर्ण स्थान होने से ही श्रीभगवान् ने **यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि।**(गी.10.25) इस प्रकार उसे अपना स्वरूप कहा है। जप एक यज्ञ ही है। **इज्यते अनेन इति यज्ञः** इस व्युत्पत्ति के अनुसार भगवान् की आराधना के साधन कर्मों को यज्ञ कहा जाता है और सभी यज्ञों में जपयज्ञ श्रेष्ठ है।

जप तीन प्रकार का होता है-वाचिक, उपांशु और मानस। इनमें वाणी से बोलकर किया जाने वाला जप वाचिक कहलाता है। जिस जप में ओष्ठ हिलें किन्तु शब्द केवल जपकर्ता ही सुन सके, दूसरा न सुन सके, वह उपांशु कहलाता है और जिसमें ओष्ठ भी न हिलें, वह मन से किया जाने वाला जप मानस कहलाता है, ये तीनों ही एकाग्रता से सम्पन्न करने पर फल के जनक होते हैं।

जाप्य मन्त्र

जपने योग्य मन्त्र को जाप्य मन्त्र कहते हैं। एकाग्र होकर जप करने से रक्षा करता है इसलिए उसे मन्त्र कहा जाता है-**मननात् त्रायत इति मन्त्रः।**

राममन्त्र

रां रामाय नमः यह राममन्त्र है।

वह्नि बीज

राममन्त्र के आरम्भ में जो 'रां' है, वह वह्नि अर्थात् अग्नि बीज है, तैजस तत्त्व है। अग्नि दाहक और प्रकाशक होती है। 'रां' बीज भी पापों का नाशक होने से और आराध्य श्रीरामचन्द्र का प्रकाशक(साक्षात्कार का जनक) होने से अग्नि कहलाता है। मन्त्र की शक्ति को प्रकट करने वाला तत्त्व बीज कहलाता है। 'रां' के विना रामगन्त्र की शक्ति प्रकट नहीं होती, इस कारण इसे बीज कहा जाता है। आराध्य देवता की उपासना के लिए आचार्य के उपदेश से जो मन्त्र प्राप्त होता है, उसके आरम्भ में प्रयोग किए जाने वाले अक्षर को बीज या बीजाक्षर कहते हैं-**दैवोपासननिर्दिष्टमन्त्रारम्भे उपयुज्यमानमक्षरं बीजाक्षरम्।**

राममन्त्र के मध्य में विद्यमान जो रामाय है, वह डे.प्रत्ययान्त शब्द है। राम+डे.=रामाय, यह चतुर्थी विभक्ति के एकवचन का रूप है और अन्तिम में श्रूयमाण 'नमः' अव्यय पद है, उसके योग में राम शब्द से चतुर्थी विभक्ति हुई है।

यह मंगलकारक, छः सुन्दर अक्षरों से युक्त है-**रसमितशुभदस्वक्षरः**, इसके प्रत्येक अक्षर के अर्थ का अनुसंधान अमंगल का नाश करने वाला है, इसके अक्षर कर्णकटु नहीं हैं अपितु अत्यन्त रमणीय हैं। प्रस्तुत राममन्त्र में छः अक्षर होने से यह षडक्षर भी कहलाता है।

तारक

गर्भवास, जन्म, जरा, मरणरूप संसार के महान् भय से तार देता है, इसलिए षडक्षर मन्त्र को तारक कहा जाता है-**गर्भजन्मजरामरणसंसार-महत्भयात् संतारयतीति तस्माद् उच्यते षडक्षरं तारकम् इति।**(रामो.उ.1. 2), 'रां' पूर्वक षडक्षर को ही तारक मन्त्र कहा जाता है-**षडक्षरो वह्निपूर्वस्तारकस्त्वभिधीयते।**(बृ.ब्र.सं.), षडक्षर महामंत्र को ही तारक ब्रह्म कहा जाता है-**षडक्षरं महामन्त्रं तारकं ब्रह्म उच्यते।**

गुह्य

यह षडक्षर मन्त्रराज अत्यन्त गोपनीय है, तभी इसके विषय में कहा

जाता है कि चाहे किसी को राज्य दे दिया जाय, पत्नी दे दी जाय, पुत्र, धनादि और अपना शिर भी दे दिया जाय तथा सकल सुख भी छोड़ दिये जायें किन्तु षडक्षर मन्त्र अनधिकारी को कभी नहीं देना चाहिए-**राज्यं दद्यात् स्त्रियं दद्यात्पुत्रं दद्यात् धनादिकम्। मस्तकं तु सुखं दद्यान्न च दद्यात्षडक्षरम्॥**

श्रीराम का प्रतिपादक

मन्त्रराज से परब्रह्म श्रीराम की आराधना की जाती है, यह आराध्य श्रीराम का प्रतिपादक है। श्रीरामतापनीयश्रुति कहती है कि जो मुमुक्षु ब्रह्म के प्रतिपादक ब्रह्मस्वरूप इस तारक मंत्र का नित्य जप करता है, वह पापों को पार कर जाता है-**य एतत्तारकं ब्रह्म ब्रह्मणो नित्यमधीते। स पाप्मानं तरति।**(रामो.उ.1.2)। 'रां रामाय नमः' इस मन्त्र का नाम तारक ब्रह्म है। महामनु इसे विष्णुसहस्रनाम के समान ही कहते हैं-**रां रामाय नमो ह्येष तारकब्रह्मनामकः। नाम्नां विष्णोः सहस्राणां तुल्य एव महामनुः॥**(वृ.हा. स्मृ.3.239) ब्रह्म श्रीराम का प्रतिपादक होने से ही तारकमन्त्र को प्रस्तुत स्मृतिवचन ब्रह्म कहता है।

मन्त्रराज

ग्रन्थकार स्वामी जी ने प्रस्तुत मन्त्र को मनुवर कहा है, **मनुते इति मन्त्रः, तेषु वरः श्रेष्ठः राजा इति मनुवरः** इस व्युत्पत्ति के अनुसार इसका मन्त्रराज अर्थ है। सभी पापों का निवारण करने वाला और सभी मन्त्रों में उत्तमोत्तम यह षडक्षर मन्त्र है, जो कि मन्त्रराज इस नाम से कहा जाता है-**षडक्षरोऽयं मन्त्रः स्यात्सर्वाघौघनिवारणः। मन्त्रराज इति प्रोक्तस्सर्वेषाम् उत्तमोत्तमः॥**(रामो.उ.6)।

सञ्जाप्य

दीक्षोपरान्त आचार्य से अंगन्यास, करन्यास आदि के सहित समग्र विधि को जानकर विधिपूर्वक जप करना ही सम्यक् जप कहलाता है। शीघ्र भगवद्दर्शन के इच्छुक जनों को श्रद्धा के साथ विधिपूर्वक जप करना ही श्रेयस्कर है।

2.चरम मन्त्र

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्

व्रतं मम॥(वा.रा.6.18.33), यह श्लोक चरममन्त्र कहलाता है, आगे चलकर इसकी व्याख्या ग्रन्थकार स्वयं करेंगे।

3.द्वयमन्त्र

श्रीमद्रामचन्द्रचरणौ शरणं प्रपद्ये और **श्रीमते रामचन्द्राय नमः** ये दो शरणागतिमन्त्र ही मन्त्रद्वय कहलाते हैं, इनकी भी व्याख्या ग्रन्थकार स्वयं करेंगे। चरम मन्त्र और मन्त्रद्वय के प्रतिपाद्य भी श्रीराम हैं।

निष्काम भाव से सुकृत का आचरण करने पर ही निरन्तर भगवत्प्रीति का जनक मुमुक्षा संभव होती है और ममुक्षु ही साधन का सम्यक् अनुष्ठान कर सकता है अतः **सुकृतिभिरनिशं मोक्षकामैर्निषेव्यः** इस प्रकार सुकृतियों के द्वारा चरम मन्त्र के सहित मन्त्रद्वय सदा जपनीय कहे गये हैं। यहाँ यह ध्यातव्य है कि शुचि होकर प्रतिदिन निर्धारित समय पर मन्त्रराज का जप करना चाहिए तथा चरममन्त्र और मन्त्रद्वय का जप चलते-फिरते, उठते-बैठते भी किया जा सकता है।

व्यञ्जनसहित स्वर को, अनुस्वारसहित स्वर को अथवा केवल स्वर को अक्षर कहा जाता है-**सव्यञ्जनः सानुस्वारः शुद्धो वाऽपि स्वरोऽक्षरम्।** (ऋ.प्रा.18.32), षडक्षर मन्त्र में व्यञ्जन और अनुस्वार के सहित स्वर होने से 'रां' एक अक्षर है। व्यञ्जनसहित स्वर होने से 'रा' यह द्वितीय अक्षर 'म' तृतीय अक्षर 'य' चतुर्थ अक्षर 'न' पञ्चम अक्षर और 'मः' यह छठा अक्षर है। रेफ के स्थान में विसर्ग होने से उसे व्यञ्जन ही माना जाता है, इसी प्रकार 'सकृदेव प्रपन्नाय..' इत्यादि चरम मन्त्र में 32 अक्षर और 'श्रीमद्रामचन्द्र चरणौ शरणं प्रपद्ये' गें पन्द्रह अक्षर तथा 'श्रीमते रामचन्द्राय नमः' में दश अक्षर जानने चाहिए।

उक्त त्रिविध मन्त्रों के अन्तर्गत अब तारक राममन्त्र का विस्तृत प्रतिपादन किया जाता है-

> **मन्त्राणां व्यापकानां भगवत इह चाव्यापकानान्तु मध्येऽ-**
> **तिश्रेष्ठो व्यापकः स श्रुतिगुनिसुमतः शिष्टमुख्यैर्गृहीतः।**
> **नित्यानामाश्रयोऽयं परित उरुशुभो राभमन्त्रः प्रधानं**
> **प्राप्योऽथ प्रापकश्च प्रचुरतरगुगज्ञानशक्त्यादिकानाम्॥11॥**

अन्वय

इह भगवतः व्यापकानां च अव्यापकानां मन्त्राणां मध्ये व्यापकः राममन्त्रः तु अतिश्रेष्ठः, सः श्रुतिमुनिसुमतः शिष्टमुख्यैः गृहीतः, नित्यानाम् आश्रयः। अयं परितः उरुशुभः, प्रधानं प्राप्यः च अथ प्रचुरतरगुणज्ञानशक्त्यादिकानां प्रापकः।

अर्थ

इह-इस जगत् में(उपलब्ध) **भगवतः**-भगवान् के **व्यापकानाम्**-व्यापक **च**-और **अव्यापकानाम्**-अव्यापक **मन्त्राणाम्**-सभी मन्त्रों के **मध्ये**-मध्य में **व्यापकः**-व्यापक **राममन्त्रः**-राममन्त्र **तु**-तो **अतिश्रेष्ठः**-अतिश्रेष्ठ है, **सः**-वह **श्रुतिमुनिसुमतः**-वेदसम्मत और मुनिसम्मत है तथा **शिष्टमुख्यैः**-शिष्ट महापुरुषों के द्वारा **गृहीतः**-ग्रहण किया गया है। **नित्यानाम्**-श्रीहनुमान् आदि नित्य मुक्तों(नित्य सूरियों) का **आश्रयः**-आश्रय है। **अयम्**-यह **परितः**-सभी दिशाओं में **उरुशुभः**-अत्यन्त मंगलकारक है। मुमुक्षु साधकों के द्वारा **प्रधानम्**-मन्त्रराज **प्राप्यः**-प्राप्त करने योग्य है **च**-और **अथ**-प्राप्त करने के पश्चात्(ब्रह्म के) **प्रचुरतरगुणज्ञानशक्त्यादिकानाम्**-ज्ञान, शक्ति आदि अत्यन्त प्रचुर गुणों की(तथा ब्रह्मस्वरूप की) **प्रापकः**-प्राप्ति कराने वाला है।

भाष्य

राममन्त्र

व्यापक मन्त्र-अवतार, गुण और लीला से विशिष्ट सर्वव्यापक भगवान् के स्वरूप का प्रतिपादन करने वाले मन्त्र व्यापक मन्त्र कहलाते हैं तथा अवतारदि में किसी एक के प्रतिपादक मन्त्र अव्यापक कहलाते हैं-**व्याप्तिविशिष्टस्वरूपप्रतिपादकमन्त्रत्वं व्यापकत्वं तद्भिन्नमव्यापकत्वं च**। मन्त्र के प्रतिपाद्य तत्त्व, हित और पुरुषार्थ ये सभी विषय मन्त्र के अन्तर्गत होने से भी मन्त्र को व्यापक कहा जाता है-**स्वप्रतिपाद्यार्थानां तत्त्वहितपुरुषार्थानां सर्वेषां तदन्तर्गतत्वात् व्यापको मन्त्रः**।

देवमन्त्रों की अपेक्षा भगवन्मन्त्र श्रेष्ठ हैं। देवमन्त्र अव्यापक ही होते हैं और भगवन्मन्त्र व्यापक और अव्यापक भेद से दो प्रकार के होते हैं, उनमें अव्यापक मन्त्रों की अपेक्षा व्यापक मन्त्र श्रेष्ठ हैं। पूर्व में वर्णित चरम

मन्त्र, शरणागतिमन्त्र(मन्त्रद्वय) और तारक मन्त्र ये तीनों व्यापक मन्त्र हैं, इनमें सम्प्रदायविधि से रामोपासना करने वालों के लिए तारक राममन्त्र सर्वश्रेष्ठ है।

प्रस्तुत तारक मन्त्र अथर्ववेद की रामतापनीयोपनिषत् के अन्तर्गत है। मुनिगण इसका समादर करते आए हैं और वेदों का प्रामाण्य स्वीकार करके तदनुसार आचरण करने वाले कल्याणकामी महापुरुषों के द्वारा इसे ग्रहण किया गया है। यह अत्यन्त महिमा से अन्वित है इसीलिए लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न और हनुमान् आदि नित्य मुक्तों ने भी इसका आश्रय ग्रहण किया है। राममन्त्र के जापक का और इसके अर्थ का अनुसन्धान करने वाले का सर्वत्र मंगल ही मंगल होता है। अशुभनिवारण को मंगल कहा जाता है। मोक्षप्राप्ति परममंगलरूप है अतः मोक्षप्रप्ति के इच्छुक जनों के द्वारा यह प्राप्त करने योग्य है और इसकी प्राप्ति होने पर जप तथा अर्थानुसन्धान करके परा भक्ति का उदय होने पर मुमुक्षु मोक्ष को प्राप्त करता है। सकल बन्धनों की निवृत्तिपूर्वक ब्रह्म का अनुभव करना ही मोक्ष को प्राप्त करना है। ब्रह्म श्रीरामचन्द्र अनन्त कल्याण गुणगण से विशिष्ट हैं इसीलिए तैत्तिरीय श्रुति कहती है कि मुक्तात्मा सर्वज्ञ ब्रह्म के साथ उसके सभी कल्याण गुणों का अनुभव करता है-**सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति।**(तै.उ.2.1.1), उसका अनुभव परिपूर्ण होता है, उसमें कुछ भी न्यूनता नहीं होती, इस अभिप्राय को ग्रन्थकार ने **प्रापकश्च प्रचुरतरगुणज्ञानशक्त्यादिकानाम्** इस प्रकार व्यक्त किया है, इन गुणों का निरूपण प्राप्यस्वरूप के प्रतिपादन के प्रसंग में किया जायेगा।

अब ग्रन्थकार राममन्त्र के आदि में विद्यमान 'रां' बीज की व्याख्या करते हैं-

यावद्वेदार्थगर्भं प्रणवि जगदुदाधारभूतं सविन्दु
प्रव्यक्तं[1] रामबीजं श्रुतिमुनिगदितोत्कृष्टषड्व्याप्तिभेदम्।
रेफारूढत्रिमूर्ति प्रचुरतरमहाशक्ति विश्वोन्निदानं
शश्वत्संराजते यद्विविधसकलसम्भासमानप्रपञ्चम्।12॥

अन्वय

यावद्वेदार्थगर्भं प्रणवि विश्वोन्निदानं श्रुतिमुनिगदितोत्कृष्टषड्व्याप्तिभेदं सविन्दु

1.सुव्यक्तम् इति पाठान्तरम्।

यत् रामबीजम्। रेफारूढत्रिमूर्ति जगदुदाधारभूतं विविधसकलसम्भासमानप्रपञ्चं प्रचुरतरमहाशक्ति प्रव्यक्तं शश्वत् संराजते।

अर्थ

यावद्वेदार्थगर्भम्[1]-सम्पूर्ण वेदार्थ का बोधक **प्रणवि**-प्रणव का आश्रय **विश्वोन्निदानम्**-विश्व का श्रेष्ठ कारण **श्रुतिमुनिगदितोत्कृष्टषड्व्याप्ति-भेदम्**[2]-श्रुतिमुनिप्रोक्त, उत्कृष्ट छः व्याप्तिविशेष वाला **सविन्दु**-विन्दु सहित **यत्**-जो **रामबीजम्**[3]-राम मन्त्र का बीज 'रां' है। जिसके अवयव **रेफारूढत्रिमूर्ति**-रेफ पर ब्रह्मा, विष्णु, महेश त्रिदेव आश्रित हैं, वह **जगदुदाधारभूतम्**-जगत् का उत्कृष्ट आधार **विविधसकलसम्भासमान-प्रपञ्चम्**-विविध प्रकार का दृश्यमान सकल प्रपञ्चरूप **प्रचुरतरमहाशक्ति**-जगत् की उत्पत्ति, रक्षण तथा प्रलय करने के लिए उपयोगी, समानता तथा अधिकता से रहित विलक्षण शक्ति वाला ('रां' बीज राममन्त्र के आदि में) **प्रव्यक्तम्**-प्रकट होकर **शश्वत्**-सदा **संराजते**-सुशोभित होता है।

भाष्य

'रां'

वेदार्थ का बोधक-प्रस्तुत ग्रन्थ के मंगलाचरण के अन्तर्गत **श्रुतिवेद्यम्**(श्रीवै. भा.1) की व्याख्या में इस विषय का विस्तार से निरूपण किया गया था कि समस्त वेद ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं, इसके समान 'रां' बीज भी ब्रह्म का प्रतिपादन करता है अतः प्रस्तुत श्लोक में 'रां' को सम्पूर्ण वेदार्थ का प्रतिपादक-**यावद्वेदार्थगर्भम्** कहा जाता है।

प्रणव का आश्रय

कार्य का आश्रय कारण होता है। 'रां' बीज कारण है। प्रणव कार्य है,

---

1.यावद्वेदार्थगर्भं यावद्वेदार्थयुक्तं यावद्वेदार्थबोधकमित्यर्थः। 2.जैसे अग्नि की व्याप्ति का आश्रय धूम होने से जहाँ जहाँ धूम है, वहाँ वहाँ अग्नि है, यह कथन होता है, वैसे ही नामादि छः उत्कृष्ट पदार्थों की व्याप्तिविशेष का आश्रय 'रां' बीज होने से जहाँ जहाँ 'रां' बीज है, वहाँ वहाँ छः उत्कृष्ट पदार्थ हैं, यह कथन होता है। स्वरूप सम्बन्ध से 'रां' बीज अपने में रहता है, उसी में बोधकता सम्बन्ध से छः उत्कृष्ट पदार्थ भी रहते हैं, इसलिए कहा जाता है कि 'रां' बीज छः उत्कृष्ट पदार्थों का बोधक है। 3.रामस्य मन्त्र इति राममन्त्रः, तस्य बीजमिति रामबीजम्, मध्यमपदलोपिसमासः।

अतः रां बीज प्रणव का आश्रय अर्थात् प्रणवी कहलाता है। पुलस्त्यसंहिता में कहा है कि ब्रह्म का वाचक 'रां' यह एक अक्षर है और वह प्रणव का कारण है-**रामित्येकाक्षरं ब्रह्म कारणं प्रणवस्य च।**(पु.सं)।

'रां'= र्+अ+आ+म् यहाँ **अकः सवर्णे दीर्घः**(अ.सू.6.1.101) सूत्र से सवर्ण दीर्घ करने पर र्+आ+म् इस स्थिति में **पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्** (अ.सू.6.3.109) सूत्र से वर्ण विपर्यय होकर आ+र्+म् होकर 'र्' को उत्व होता है, तत्पश्चात् आ+उ+म् इस स्थिति में **आद्गुणः**(अ.सू.6.1.87) से गुण होकर ओम् शब्द निष्पन्न होता है अथवा श्लोक संख्या 13 के अनुसार 'रां'= र्+आ+म् यहाँ **पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्** सूत्र से वर्ण विपर्यय होकर आ+र्+म् इस स्थिति में 'र्' को उत्व होता है, तत्पश्चात् आ+उ+म् इस स्थिति में **आद्गुणः**(अ.सू.6.1.87) से गुण होकर ओम् शब्द निष्पन्न होता है इस प्रकार ओम् का कारण 'रां' बीज सिद्ध होता है और उससे युक्त राममन्त्र है अतः इस मन्त्र में ओम् का प्रयोग नहीं होता।

वस्तुतः ओम् और 'रां' ये दोनों ही ब्रह्म के बोधक होने से समान हैं तथापि षडक्षर तारक मन्त्र का जप करने वाले रामोपासकों के लिए श्रेष्ठ 'रां' बीज ही ग्राह्य है, इस अभिप्राय से पुलस्त्यसंहितावचन के अनुसार 'रां' से ओम् की सिद्धि की जाती है, ऐसा जानना चाहिए।

जगत् की उत्पत्ति का कारण

'निदानम्' का अर्थ कारण होता है। जगत् का अभिन्न निमित्तोपादान कारण ब्रह्म है और सहकारी कारण कालादि, इनमें सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म है, इस अभिप्राय को द्योतित करने के लिए ग्रन्थ में 'उन्निदानम्' कहा है। प्रस्तुत श्लोक में 'रां' बीज से जगत् की उत्पत्ति कही जाती है और ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति का प्रतिपादन अष्टम श्लोक में किया गया था। 'रां' वाचक है और ब्रह्म श्रीराम वाच्य हैं, यहाँ वाच्य और वाचक में अभेद मानकर 'रां' बीज को जगत् की उत्पत्ति का कारण कहा जाता है।

नामादि का बोधक

वेदों तथा मुनियों के द्वारा भगवान् श्रीरामचन्द्र के नाम, रूप, स्वरूप (श्रीविग्रह), गुण, यश और मन्त्र कहे गये हैं, ये उत्तम विषय हैं, इन छः की व्याप्तिविशेष से युक्त प्रस्तुत 'रां' बीज है। यहाँ इनकी व्याप्तिविशेष

से युक्त होने का अर्थ उक्त छः अर्थों का बोधक होना है। 'रां' बीज भगवान् के नाम का बोधक है तथा उनके ज्ञानानन्दस्वरूप का, दिव्यमंगलविग्रह का, ज्ञानबलादि तथा ऐश्वर्यादि गुणों का, चतुर्दिक् प्रसरित नित्य निर्मल यश का और मन्त्र का बोधक है। जिस अर्थ का बोधक राममन्त्र है, केवल बीज भी उसी अर्थ का बोधक है, इसीलिए(राममन्त्र के अर्थ का बोधक होने से) बीज को मन्त्र का बोधक कहा जाता है।

सविन्दु

अनुस्वार को विन्दु कहते हैं। यह पूर्व में कहा जा चुका है कि षडक्षर मन्त्र के आरम्भ में प्रयोग किया जाने वाला 'रां' अक्षर बीज है। प्रस्तुत राममन्त्र का बीज विन्दु के सहित है।

त्रिमूर्ति का आश्रय

'रां' = र् + अ + आ + म्, इस प्रकार 'रां' बीज के अवयव रेफ से परवर्ती तीन वर्ण उस(रेफ) पर आश्रित हैं, इनमें अकार का अर्थ भगवान् विष्णु है, आकार का अर्थ ब्रह्मा है-**अकारो वासुदेवः स्यादाकारस्तु पितामहः।**(ए.को.1) और मकार का अर्थ महेश है-**मः शिवः।**(ए.को.27) यहाँ ब्रह्मा, विष्णु और शिव इन त्रिमूर्ति का उनके वाचक अ, आ और म् से अभेद मानकर त्रिमूर्ति को रकार(र्) पर आश्रित कहा है। **रेण भगवान् सीतापतिः प्रोच्यते।**(श्रीवै.भा.13) इस प्रकार अग्रिम श्लोक में रकार के वाच्य भगवान् सीतापति श्रीराम कहे जाते हैं। उनका रकार से अभेद मानकर त्रिमूर्तियों का आश्रय रकार कहा गया है। श्रीराम परब्रह्म परमात्मा हैं, वे ब्रह्मा के अन्तर्यामी होकर जगत् की सृष्टि करते हैं, शिव के अन्तर्यामी होकर संहार करते हैं और स्वयं विष्णुरूप होकर जगत् का पालन करते हैं।

जगत् का आधार

सम्पूर्ण जीवात्माएँ और अचेतन पदार्थ आधेय हैं, परमात्मा आधार है क्योंकि परमात्मा के विना वे चेतन-अचेतन पदार्थ रह ही नहीं सकते। परमात्मा अपने स्वरूप और संकल्प से सभी को धारण करते हैं। उनके (स्वरूप और संकल्प के) विना किसी की भी सत्ता नहीं हो सकती इसलिए समस्त चेतनाचेतन आधेय हैं और परमात्मा आधार है। परमात्मा

सभी का आधेयभूत(सबको धारण करने वाला) सेतु है-**एष सेतुर्वि-धरणः**।(बृ.उ.4.4.22)। परमात्मा का धारकत्व स्वाभाविक है। जीवात्मा का अपने शरीर के प्रति धारकत्व स्वाभाविक नहीं, वह अनादि कर्मरूप अविद्या के कारण है।

जिस प्रकार जल पेड़-पौधों, लता आदि के अन्दर प्रवेश कर और वहीं स्थित होकर उनका आधार बनता है, उसी प्रकार परमात्मा सभी प्राणियों में प्रवेश कर और वहीं स्थित होकर उनका आधार बनते हैं। जगत् के आधार भगवान् सर्वश्रेष्ठ हैं, इस अर्थ को सूचित करने के लिए ग्रन्थकार ने '**जगदुधारभूतम्**' कहा है। यहाँ भी वाचक 'रां' और वाच्य श्रीराम की अभेदविवक्षा से 'रां' को जगत् का आधार कहा गया है।

सकलप्रपञ्चरूप

प्रस्तुत श्लोक में पठित '**विविधसकलसम्भासमानप्रपञ्चम्**' यहाँ प्रपञ्च शब्द चेतनाचेतनात्मक जगत् का बोधक है। सम्पूर्ण चेतनाचेतनात्मक प्रपञ्च ब्रह्म श्रीरामचन्द्र है। **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**।(तै.उ.2.1.1) यह श्रुति ब्रह्म को सत्य कहती है। **सत्यं चानृतञ्च सत्यमभवत्**।(तै.उ.2.6.2) यह श्रुति सत्य ब्रह्म के ही चेतनाचेतन जगद्रूप होने का वर्णन करती है। सनत्कुमारसंहिता में कहा है कि परब्रह्म श्रीराम सत्यस्वरूप हैं, श्रीराम से भिन्न कुछ भी नहीं है, उस कारण यह जगत् सत्य राम का ही रूप है और यह जगत् भी सत्य है-**रामः सत्यं परब्रह्म रामात् किञ्चिन्न विद्यते। तस्मात्तद्रामरूपं हि सत्यं सत्यमिदं जगत्**।(रा.स्त.92)।

यह चेतनाऽचेतनात्मक प्रपञ्च ब्रह्म ही है। भोक्ता जीव, भोग्य जड़ पदार्थ तथा प्रेरक ईश्वर को जानकर मैंने सम्पूर्ण त्रिविध[1] ब्रह्म को बता दिया-**भोक्ता भोग्यं प्रेरितारञ्च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्**।(श्वे. उ.1.12)। जीवात्मा और प्रेरक ईश्वर को भिन्न भिन्न पदार्थ समझ कर उपासक ईश्वर की प्रीति का विषय होता है और उसके पश्चात् उस ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त करता है-**पृथगात्मानं प्रेरितारञ्च मत्वा जुष्टस्ततस्तेना-मृतत्वम् एति**।(श्वे.उ.1.6), ईश्वर प्रकृति और जीवात्मा का स्वामी है और ज्ञानादि छः गुणों से पूर्ण है-**प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः**।(श्वे.उ.6.16), जन्म न

1. जीवात्मा का अन्तर्यामी **होकर रहना, जड़** पदार्थ का अन्तर्यामी **होकर रहना और** स्वस्वरूप से भी रहना, **यही ब्रह्म** की त्रिविधता है।

लेने वाले दो तत्त्व हैं, उनमें एक ईश्वर और दूसरा उससे भिन्न जीव। ईश्वर सर्वज्ञ है किन्तु जीव अल्पज्ञ है-**ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशनीशौ।**(श्वे.उ.1.9), समान गुण वाले और साथ रहने वाले जीव और ईश्वररूप दो पक्षी हैं-**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया।**(ऋ.सं 2.3.17, अ.सं.9.9.20, मु.उ.3.1.1, श्वे.उ. 4.6) इत्यादि वाक्य जगत्(चेतन जीव तथा अचेतन प्रकृति) और ब्रह्म के भेद का प्रतिपादन करते हैं तथा हे सोम्य! यह दृश्यमान जगत् सृष्टि के पूर्व एक सद् ब्रह्म ही था, इसका प्रेरक दूसरा निमित्त कारण नहीं था-**सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।**(छां.उ.6.2.1), तुम वही हो-**तत्त्वमसि**(छां उ.6.8.7.), यह सब ब्रह्म है-**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**(छां.उ.3.14.1) इत्यादि वाक्य अभेद का प्रतिपादन करते हैं। ये सभी श्रुतिवचन होने से इनमें परस्पर बाध्य-बाधकभाव संभव नहीं अर्थात् किसी एक पक्ष का आश्रय लेकर दूसरे पक्ष का बाध करना उचित नहीं अतः इनके विषय का विभाग करके अर्थ करना ही समन्वय है, इसे विशिष्टाद्वैत वेदान्तसिद्धान्त स्वीकार करता है। लोक में देखा जाता है कि जब दो पक्षों में पारस्परिक विवाद होता है तब कुछ मध्यस्थ पुरुष आकर समझौता करा देते हैं। इसी प्रकार उपनिषदों में भी कुछ ऐसे वचन हैं, जो उक्त वाक्यों में समन्वय कराते हैं, इन्हें ही घटक श्रुति कहा जाता है। जैसे-ब्रह्म सभी जनों के भीतर प्रविष्ट होकर शासन करने वाला सर्वात्मा है-**अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा।** (तै.आ.3.11.3) तथा बृहदारण्यक(बृ.उ.3.7) के अन्तर्यामी ब्राह्मण में उल्लेख है कि जो परमात्मा पृथ्वी में रहता हुआ पृथ्वी के अन्दर है, जिसे पृथ्वी नहीं जानती, पृथ्वी जिसका शरीर है, जो अन्दर रहकर पृथ्वी का नियमन करता है, वह तुम्हारा निरतिशय भोग्य अन्तरात्मा ब्रह्म है-**यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः।**(बृ.उ.3.7.7) यहाँ से आरम्भ करके "जो विज्ञान में रहता हुआ विज्ञान के अन्दर है, जिसे विज्ञान नहीं जानता, विज्ञान जिसका शरीर है और जो अन्दर रहकर विज्ञान का नियमन करता है, वह तुम्हारा निरतिशय भोग्य अन्तरात्मा ब्रह्म है-**यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञानं शरीरं यो विज्ञानमन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः।** (बृ.उ.3.7. 26) यहाँ तक जगत् और ब्रह्म में शरीर-आत्मभाव सम्बन्ध बताया गया

है। उक्त श्रुति में विज्ञान शब्द का अर्थ जीवात्मा है क्योंकि आगे उद्धृत माध्यन्दिनी शाखा के अन्तर्यामी ब्राह्मण में विज्ञान के स्थान पर आत्मा शब्द का पाठ है। जो परमात्मा आत्मा में रहता हुआ आत्मा के अन्दर है, जिसे आत्मा नहीं जानती, आत्मा जिसका शरीर है, जो अन्दर रहकर आत्मा का नियमन करता है, वह तुम्हारा निरतिशय भोग्य अन्तरात्मा ब्रह्म है-**य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः।**(बृ.उ.मा.पा.3.7.26) इत्यादि श्रुतियाँ पृथिव्यादि सभी अचेतन पदार्थों को और चेतन आत्माओं को ब्रह्म का शरीर तथा ब्रह्म को इन सभी की आत्मा कहती हैं। एक ही परमात्मा चेतनाचेतनरूप बहुत प्रकारों के प्रति प्रकारी होने से उनके अन्तरात्मारूप से स्थित होता है-**एको देवो बहुधा सन्निविष्टः।**(तै.आ.3.14.1)। देव, मनुष्यादि जीवों के अन्तरात्मारूप से उनके साथ ही रहने वाले परमात्मा को उसकी इन्द्रियाँ नहीं जान पाती हैं-**सहैव सन्तं न विजानन्ति देवाः।**(तै.आ.3.11.2) इत्यादि वचनों से भी परमात्मा चेतनाचेतन सभी शरीरों के अन्तरात्मा ज्ञात होते हैं। गीता में भगवान् ने कहा है कि जो चेतन अथवा अचेतन पदार्थ मेरे से पृथक् स्थित हो सके, वह नहीं है-**न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्।**(गी.10.39) इससे भी चेतनाचेतन सभी शरीरों में परमात्मा की अन्तरात्मारूप से स्थिति विवक्षित है क्योंकि चेतनाचेतन शरीरों की उनमें विद्यमान शरीरी परमात्मा से पृथक् स्थिति नहीं हो सकती।

'सभी शब्द परमात्मपर्यन्त अर्थ के बोधक होते हैं' यह अर्थ निम्न वचनों से सिद्ध होता है। सभी वेद जिस प्राप्य ब्रह्म का वर्णन करते हैं-**सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति।**(क.उ.1.2.15)। सभी वेद जिस परमात्मा में एक होते हैं-**सर्वे वेदा यत्रैकं भवन्ति।**(तै.आ.3.11.2) अर्थात् सभी वेदों का वाच्यार्थ एक परमात्मा ही है। हम उस परब्रह्म को नमस्कार करते हैं, जिसमें सभी शब्दों की शाश्वत स्थिति होती है-**नताः स्मः सर्ववचसां प्रतिष्ठा यत्र शाश्वती।**(वि.पु.1.14.23)। शब्दों की वाच्यार्थ में स्थिति होती है[1]। परब्रह्म सभी शब्दों के वाच्यार्थ हैं, इसलिए उनमें सभी शब्दों की स्थिति कही

1.वाचक शब्द बोधक होता है और वाच्य अर्थ बोध्य। शब्द की बोध्यता अर्थ में रहती है, इस प्रकार शब्द बोध्यता सम्बन्ध से अर्थ में रहता है।

जाती है, इस कारण भगवान् ने स्वयं कहा है कि मैं ही सम्पूर्ण वेदो के द्वारा ज्ञेय हूँ-**वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः**।(गी.15.15)।

शरीरवाचक शब्द शरीर का बोध कराते हुए शरीरी आत्मा का भी बोध कराते हैं, यह लोक में सभी के अनुभव से सिद्ध है। जैसे चैत्र जानता है, मैत्र दुःखी है, ऐसा कहने पर चैत्रशरीर में रहने वाली आत्मा जानती है, मैत्रशरीर में रहने वाली आत्मा दुःखी है, यह अर्थ सर्वमान्य है। यहाँ चैत्रादि शब्दों को शरीरमात्र का वाचक नहीं मान सकते क्योंकि शरीर ज्ञानादि का आश्रय नहीं हो सकता। **अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि**।(छां.उ.6.3.2) इस प्रकार सृष्टि प्रकरण में कहा गया है कि जगत् की रचना करते समय परब्रह्म ने समष्टि पदार्थ में जीव के अन्तरात्मारूप से प्रवेश करके ही नाम और रूप का विभाग किया अत एव अचेतन शरीर के वाचक देव, मनुष्य, पशु आदि शब्द उन शरीरों का बोध कराते हुए उनके भीतर विद्यमान जीवात्मा को और उसके भी भीतर विद्यमान परमात्मा का बोध कराते हैं। परमात्मपर्यन्त अर्थ का बोध कराने वाली वृत्ति ही अपर्यवसान वृत्ति कही जाती है। मुख्य विशेष्य का बोध कराये विना केवल विशेषण का बोध कराने से जिस वृत्ति की कृतकृत्यता नहीं होती, वह विशेष्यपर्यन्त अर्थ का बोध कराने वाली शब्द की शक्तिवृत्ति ही अपर्यवसान वृत्ति कहलाती है-**नास्ति पर्यवसानं मुख्यविशेष्यबोधनमन्तरा विशेषणबोधनमात्रेण कृतकृत्यता यस्या वृत्तेः सा विशेष्यपर्यन्तबोधिका शब्दशक्तिः अपर्यवसानवृत्तिः**। वेदान्तमत में यह मुख्य वृत्ति है।

देवोऽहम् का अर्थ है–मैं देवशरीर वाला हूँ और मनुष्योऽहम् का अर्थ है–मैं मनुष्यशरीर वाला हूँ। जैसे शरीरवाचक देव और मनुष्य शब्द उन शरीरों का बोध कराते हुए उनमें रहने वाली आत्मा तक के बोधक होते हैं, वैसे ही ब्रह्म के शरीरभूत चेतनाचेतनात्मक समस्त प्रपञ्च का बोधक 'विविधसकलसम्भासमानप्रपञ्चम्' पद विविध प्रकार का दृश्यमान सकल चेतनाचेतनात्मक प्रपञ्च का बोध कराते हुए उसके अन्तरात्मा ब्रह्म का भी बोध कराता है। इस प्रकार विविधसकलसम्भासमानप्रपञ्च के अन्तरात्मा ब्रह्म श्रीराम सिद्ध होते हैं। प्रस्तुत श्लोक में वाच्य और वाचक का अभेद मानकर सकल प्रपञ्च को 'रां' कहा गया है।

वेदान्तसिद्धान्त में ब्रह्म ही कारण है और ब्रह्म ही कार्य। सृष्टि के पूर्व में वह सूक्ष्म(नामरूपविभाग के अभाव वाले) चेतनाचेतन से विशिष्ट होकर रहता है और सृष्टि के पश्चात् वह स्थूल(नामरूपविभाग वाले) चेतनाचेतन से विशिष्ट होकर रहता है। सृष्टि के पूर्व में विद्यमान सूक्ष्म चेतनाचेतन से विशिष्ट ब्रह्म कारण होता है और सृष्टि के उत्तर काल में विद्यमान स्थूल चेतनाचेतन से विशिष्ट ब्रह्म कार्य, इसे(कार्य को) ही प्रपञ्च (जगत्) कहा जाता है। चेतन और अचेतन विशेषण हैं, उनके अन्तर्यामीरूप से रहने वाला ब्रह्म विशेष्य है। सूक्ष्मचिदचिद् विशेषण से विशिष्ट ब्रह्म का जगद्रूप में परिणाम होता है। ब्रह्म ने स्वयं अपने को जगद्रूप में किया-**तदात्मानं स्वयमकुरुत**।(तै.उ.2.7.1)। जैसे मिट्टी के कार्य घटादि मिट्टी ही होते हैं, वैसे ही ब्रह्म श्रीराम का कार्य प्रपञ्च ब्रह्म ही होता है। प्रस्तुत श्लोक में वाच्य और वाचक का अभेद मानकर विविधसकलसम्भासमानप्रपञ्च को 'रां' कहा गया है।

शक्तिमान्

भगवान् श्रीराम प्रचुरतरमहाशक्ति हैं[1] अर्थात् जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का प्रयोजक, समानता तथा अधिकता से रहित अत्यन्त विलक्षण शक्ति वाले हैं। यहाँ भी वाच्य-वाचक का अभेद होने से 'रां' को प्रचुरतरमहाशक्ति कहा है।

कारण में विद्यमान कार्योत्पत्ति का योग्य धर्मविशेष शक्ति कहलाता है-**हेतुनिष्ठः कार्योत्पादनयोग्यो धर्मविशेषः शक्तिः**। परमात्मा श्रीराम जगत् के कारण हैं। भगवती श्रुति कहती है कि सृष्टि आदि कार्यों के लिए उपयोगी परमात्मा की स्वाभाविक पराशक्ति विविध प्रकार की सुनी जाती है। स्वाभाविक सर्वविषयक ज्ञान, जगत् को धारण करने का सामर्थ्य और जगत् का नियमनरूप कार्य विविध प्रकार का सुना जाता है-**परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च**।(श्वे.उ.6.8)। विष्णुपुराण में कहा है कि सभी पदार्थों की स्वाभाविक शक्तियाँ तर्क से अचिन्त्य और दिव्य ज्ञान का विषय होती हैं इसलिए ब्रह्म की सृष्टि आदि कार्यों के लिए उपयोगी शक्तियाँ स्वाभाविक होती हैं। हे तपस्विश्रेष्ठ! जैसे

---

1. प्रचुरतरा अत्यधिकविलक्षणा महती लोकोत्तरा उत्पादस्थितिविनाशप्रयोजिका शक्तिर्विद्यते यस्य बीजस्य तत्।(प्रभा)।

अग्नि की उष्णता प्रमाण से सिद्ध है, वैसे परब्रह्म की शक्तियाँ भी प्रमाण से सिद्ध हैं-**शक्तयः सर्वभावानाम् अचिन्त्यज्ञानगोचराः। यतोऽतो ब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्या भावशक्तयः। भवन्ति तपतां श्रेष्ठ पावकस्य यथोष्णता॥**(वि.पु.1.3.2)।

जिस प्रकार अग्नि विलक्षण वस्तु होने के कारण जल आदि में न दीखने वाली उष्णता उसमें होती है, उसी प्रकार परब्रह्म सबसे विलक्षण वस्तु होने के कारण अन्य किसी में भी न दीखने वाली सभी स्वाभाविक शक्तियाँ उसमें होती हैं। परमात्मा अव्याहत संकल्पवाला है- **सत्यसंकल्पः**।(छां. उ.8.1.5) सर्वशक्तिमान् होने के कारण ही उसके संकल्प का प्रतिघात किसी से नहीं होता।

उक्त विशेषताओं वाला तारक मन्त्र का बीज उसके आदि में व्यक्त होकर सदा सुशोभित होता है।

समुदायात्मक 'रां' की व्याख्या करने के पश्चात् अब उसके अवयवों के वाच्य कहे जाते हैं-

तत्राद्येन पदेन रेण भगवान् सीतापतिः प्रोच्यते
श्रीरामो जगतां गुणैकनिलयो हेतुश्च संरक्षकः।
तच्छेषी पदतोऽप्यतो भगवतोऽनन्यार्हशेषत्वकम्
व्यावृत्तिस्तु सुरान्तरादिगतसत्तच्छेषताया मुहुः॥13॥

अन्वय

तत्र आद्येन पदेन रेण भगवान् सीतापतिः प्रोच्यते। श्रीरामः गुणैकनिलयः, जगतां हेतुः संरक्षकः च तच्छेषी अपि। तु पदतः अतः भगवतः अनन्यार्हशेषत्वकम्। मुहुः सुरान्तरादिगतसत्तच्छेषतायाः व्यावृत्तिः।

अर्थ

तत्र-'रां' बीज में (विद्यमान) **आद्येन**-प्रथम **पदेन**-पद **रेण**-रकार से **भगवान्**-भगवान् **सीतापतिः**-सीतापति **प्रोच्यते**-कहे जाते हैं। **श्रीरामः**-सीतापति श्रीरामचन्द्र **गुणैकनिलयः**-गुणों के एकमात्र आश्रय हैं, **जगताम्**-चेतनाचेतनात्मक समस्त जगत् के **हेतुः**-उत्पादक[1] हैं, **संरक्षकः**-उसकी

1.रचना अर्थ वाली रच धातु(रच प्रतियत्ने) से 'र्' की सिद्धि होने पर वह जगत् के रचयिता का बोधक होता है।

सम्यक् रक्षा करने वाले[1] हैं **च**-और **तच्छेषी**-जगत् के शेषी **अपि**-भी हैं, **तु**-किन्तु द्वितीय **पदतः**-पद **अतः**-आकार से **भगवतः**-भगवान् का **अनन्यार्हशेषत्वकम्**[2]-अनन्यार्हशेष जगत् (कहा जाता है।) **मुहुः**-फिर (उसी आकार से) जगत् का **सुरान्तरादिगतसत्तच्छेषतायाः**-भगवान् से अन्य देवतान्तरादि के प्रति शेष होने का **व्यावृत्तिः**-निराकरण किया जाता है।

भाष्य

पूर्व श्लोक में **रेफारूढत्रिमूर्ति** कथन से 'रां'- र् +अ+आ म् इस प्रकार 'रां' बीज के चार अवयव कहे गये थे। अब प्रकारान्तर से न्याख्यान करने के लिए 'रां'- र् +आ+म् इस प्रकार तीन अवयव मानकर इनमें प्रथम पद रकार के द्वारा भगवान् सीतापति कहे जाते हैं।

भगवान्

सम्पूर्ण ऐश्वर्य, सम्पूर्ण धर्म, सम्पूर्ण यश, सम्पूर्ण श्री, सम्पूर्ण ज्ञान और सम्पूर्ण वैराग्य इन छः को भग कहते हैं-**ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य[3] यशसश्श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥**(वि.पु.6.5.74)। ये परिपूर्णरूप से जिसमें रहते हैं, उसे भगवान् कहते हैं। श्रीराम में ये सभी परिपूर्णरूप से रहते हैं इसलिए वे भगवान् कहे जाते हैं। पूज्य पदार्थ को कहने के लिए परिभाषा(लक्षण) से युक्त भगवान् शब्द का परब्रह्म परमात्मा में मुख्य प्रयोग है किन्तु परमात्मा से भिन्न अर्थ में भगवान् शब्द का गौणरूप(उपचार) से प्रयोग होता है-**तत्र पूज्यपदार्थोक्तिपरिभाषा-समन्वितः। शब्दोऽयं नोपचारेण त्वन्यत्र ह्युपचारतः।**(वि.पु.6.5.77)। पूज्य व्यक्ति के लिए भी भगवान् शब्द का प्रयोग किया जाता है। समग्र ऐश्वर्य आदि गुणों वाले परमात्मा में भगवान् शब्द का प्रयोग मुख्यरूप से होता है, गौणरूप से नहीं किन्तु परमात्मा से भिन्न पूज्य व्यक्ति को कहने के लिए

1.रक्षतीति रः इस प्रकार रक्षण अर्थ वाली रक्ष धातु(रक्ष पालने) से 'र्' की सिद्धि होने पर रक्षक अर्थ ज्ञात होता है। 2.अन्यं भगवद्व्यतिरिक्तमर्हतीति अन्यार्हः, न अन्यार्हः अनन्यार्हः, अनन्यार्हः (तादृशः जीवः अनेतनः पदार्थः च) शेषः यस्य सः अनन्यार्हशेषः, भावे त्वप्रत्यये स्वार्थे कप्रत्यये च कृते सति अनन्यार्हशेषत्वकम्। 3.अत्र वीर्यस्य इति पाठान्तरः।

भगवान् शब्द का उपचार से प्रयोग होता है। गौणरूप से भगवान् किसे कहते हैं? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं कि जो सभी प्राणियों की उत्पत्ति-विनाश, आना-जाना तथा विद्या और अविद्या को जानता है, उसे भगवान् कहते हैं-**उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्। वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥** (वि.पु.6.5.78), जैसे भगवान् शुकदेव, भगवान् पाणिनि इत्यादि।

सीतापति

भक्त-अभक्त पशु-पक्षी एवं सम्पूर्ण प्राणियों को अपने लोकोत्तर सौन्दर्य-लावण्य से मोहित करने वाले जगदभिराम भगवान् श्रीरामचन्द्र श्रीसीता जी के पति हैं, वे त्रिपादविभूति में श्रीसीता जी के साथ सदा विराजमान रहते हैं। उन दोनों का दाम्पत्य सम्बन्ध अनादि हैं। वेदवेद्य ब्रह्म श्रीरामचन्द्र के दशरथनन्दनरूप में अवतरित होने पर वे भी जनकनन्दिनी के रूप में अवतरित होकर पति के रूप में श्रीरामचन्द्र का वरण करती हैं। ग्रन्थकार स्वामी रामानन्दाचार्य 'सीता' इस नाम से श्रीजी को अयोनिजा अर्थात् माता-पिता के संयोग के विना ही प्रकट होने वाली कहते हैं। जनकनन्दिनी स्वयं प्रकट होती हैं इसलिए सीता कहलाती हैं-**सवति आविर्भवति स्वयमिति सीता।**

महाराज जनक श्रीकिशोरी जी का परिचय देते हुए कहते हैं कि जब मैं यज्ञ के लिए भूमिशोधन करते समय खेत में हल चला रहा था, उसी समय हल के अग्र भाग से जोती गयी भूमि (सीता) से एक कन्या प्रकट हुई। सीता(हल से खींची गयी रेखा)से उत्पन्न होने के कारण वह सीता नाम से प्रसिद्ध हुई। भूमि से प्रकट वह कन्या क्रमशः बढ़कर सयानी हुई। मेरी इस अयोनिजा कन्या के साथ विवाह करने का मूल्य पराक्रम है-**अथ मे कृषतः क्षेत्रं लाङ्गलादुत्थिता ततः॥ क्षेत्रं शोधयता लब्धा नाम्ना सीतेति विश्रुता। भूतलादुत्थिता सा तु व्यवर्धत ममात्मजा॥ वीर्यशुल्केति मे कन्या स्थापितेयमयोनिजा।**(वा.रा.1.66.13-15) इस प्रकार वाल्मीकि मुनि भी इनके अयोनिजा होने का वर्णन करते हैं। जिस प्रकार भगवान् का श्रीराम नाम अनादि काल से प्रसिद्ध है, उसी प्रकार भगवती श्री किशोरी जी का श्रीसीता नाम अनादि काल से प्रसिद्ध है इसीलिए जिस प्रकार **रामो नाम जनैः श्रुतः।**(वा.रा.1.1.8) कहा गया है, उसी प्रकार **नाम्ना सीतेति**

विश्रुता।(वा.रा.1.66.14) भी कहा गया है। जैसे **आत्मानं मानुषं मन्ये रामं दशरथात्मजम्।**(वा.रा.6.117.11) इस प्रकार श्रीरामभद्र अपने को दशरथनन्दन राजकुमार मानते हैं, उसी प्रकार ये सर्ववन्दिता होते हुए भी अपने को राजकुमारी मानती हैं। जिस प्रकार जप और यज्ञादि के द्वारा दशरथ जी ने श्रीराम को प्राप्त किया है, उसी प्रकार जनक जी ने भी कठोर तप के द्वारा श्रीकिशोरी जी को प्राप्त किया है। विभीषण शरणागति में श्रीराम का वचन है कि दोष होने पर भी शरणागत जीव को मैं अभय करता हूँ-**दोषो यद्यपि तस्य स्यात्।**(वा.रा.6.18.3) किन्तु श्रीकिशोरी जी ने हनुमान् जी से कहा है कि ऐसा कोई जीव हो ही नहीं सकता, जिसने अपराध न किया हो-**न कश्चिन्नापराध्यति।**(वा.रा.6.113.45)।

श्रीमद्रामायण के बालकाण्ड से लेकर अयोध्याकाण्ड एवं कुछ अरण्यकाण्ड की लीलाओं में भी श्रीसीताराम जी के संयोग रस का वर्णन है और अरण्यकाण्ड के उत्तरार्ध से लेकर युद्धकाण्ड में रावणवध पर्यन्त श्रीसीताराम जी ने परस्पर वियोगरस का आस्वादन किया है। इस प्रकार समग्र रामायण में संश्लेष एवं विश्लेष के द्वारा श्रीसीताराम जी के अलौकिक प्रेम का स्थल-स्थल पर वर्णन है किन्तु सुन्दरकाण्ड में श्रीसीताराम जी के जिस अलौकिक दिव्य प्रेम का प्रतिपादन है, वह सर्वथा रसनीय है। जिस प्रकार अनन्तकल्याणगुणगणसम्पन्न श्रीरघुनाथ जी हैं-**स च सर्वगुणोपेतः कौशल्यानन्दवर्धनः।**(वा.रा.1.1.17) उसी प्रकार उत्तम नायिकाओं के सभी लक्षणों से युक्त श्रीकिशोरी जी नित्य नवीना वधू हैं-**सर्वलक्षणसम्पन्ना नारीणामुत्तमा वधूः।**(वा.रा.1.1.27)। श्रीसीता जी तथा श्रीराम जी दोनों सर्वगुणसम्पन्न एवं परम सुन्दर हैं। श्रीजानकी जी के मंगलमय मुखचन्द्र को देखकर उनके संकेत को प्राप्त कर ही भगवान् समस्त कार्य करते हैं। प्रभु की ऐश्वर्यलीला में किशोरी जी माधुर्य रस की वर्षा करती हैं, उनके विना श्रीराम की लीला रसमयी नहीं हो सकती। यदि किशोरी जी के विना भगवान् अवतरित होते तो उनका जन्मोत्सव तो होता किन्तु विवाह महोत्सव नहीं होता। अहल्योद्धार के पावन अवसर पर जो श्रीराम के अहेतुक अनुग्रह का प्राकट्य हुआ, वह मिथिलायात्रा के विना संभव नहीं था। श्रीकिशोरी जी के विना मिथिला के मधुर भक्तों का समागम भी संभव नहीं था और श्रीरघुनाथ जी ने शिवधनुषभंग कर जो

विपुल कीर्ति अर्जित की, वह भी संभव नहीं थी। श्रीपरशुराम की पराजय के द्वारा श्रीराघवेन्द्र के असाधारण परत्व का जो प्रकाश हुआ, वह भी विवाहलीला के विना संभव नहीं था। उत्तरकाल की लीलाओं में श्रीजी के सान्निध्य से ही भगवान् श्रीरामचन्द्र की अहेतुकी कृपा का प्रकाश हुआ है। जगज्जननी श्रीजानकी जी जगन्माता हैं, समस्त जीव इनकी संतान हैं। माता की सभी सन्तानें विवेकशील नहीं होतीं, कुछ अविवेकी भी होती हैं। रावण उन्हीं में एक है। जानकी जी सभी की वास्तविक जननी हैं। आसुरीसंपदासम्पन्न अपने अविवेकी पुत्र के द्वारा किये गये कुछ अनर्गल प्रलाप से खिन्न सी होकर उसके दुष्ट स्वभाव का स्मरण कर सोचती हैं कि इसे उपदेश देने के लिए कोई आचार्य नहीं मिल सकता अतः मैं ही उपदेश देती हूँ। करुणामयी किशोरी जी समझती हैं कि रावण तू श्रीराम से मित्रता कर ले। उनकी शरण में जा, ऐसा कहने से अभिमानी रावण तुरन्त रुष्ट हो जायेगा, इसलिए श्रीजी ने मित्रता स्थापित करने के लिए कहा। श्रीरामचन्द्र मित्रभाव से शरण में आने वाले आश्रितों को अपना सेवक समझते हैं। विभीषणशरणागति के प्रसंग में उन्होंने कहा है कि मित्रभाव से शरण में आने वाले का मैं किसी भी प्रकार परित्याग नहीं कर सकता-**मित्रभावेन सम्प्राप्तं न त्यजेयं कथञ्चन।**(वा.रा.6.18.3)। रावण जैसे महादुष्ट को भी सदुपदेश देने वाली श्रीसीता जी के पति श्रीरामचन्द्र जी हैं। **रसो वै सः।**(तै.उ.2.7.1) इत्यादि प्रकार से श्रुतियां उनको ही निरवधिक आनन्दस्वरूप कहती हैं। ब्रह्मसूत्र के आनन्दमयाधिकरण में असीमित आनन्द के केन्द्र श्रीभगवान् ही कहे गये हैं। परमानन्दसागर श्रीरामचन्द्र के आनन्दलेश से सभी प्राणी सुखी रह सकते हैं-**जो आनन्द सिंधु सुखरासी। सीकर तें त्रैलोक सुपासी।**(रा.च.मा.1.196.5), ऐसे श्रीसीतापति रघुनाथ जी 'रां' बीज के अवयव रेफ से कहे जाते हैं।

'रां' का घटक द्वितीय पद आकार है, उसके द्वारा कल्याण गुणों के एकमात्र आश्रय, जगत् के उत्पादक, रक्षक और संहारक तथा शेषी श्रीराम कहे जाते हैं। भगवान् श्रीरामचन्द्र समस्त कल्याण गुणों के एकमात्र आश्रय हैं। इन गुणों का निरूपण प्राप्यस्वरूप के प्रतिपादन में किया जायेगा। श्रीरामचन्द्र जी जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय के कारण हैं। श्लोक में आया अपि पद लयकारणत्व का बोधक है।

जगत्कारणत्व का उपलक्षणत्व और विशेषणत्व

ब्रह्म का लक्षण जगत्कारणत्व है, इसका निरूपण अष्टम श्लोक की व्याख्या में किया गया था। **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद् विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्मेति।**(तै. उ.3.1.1) इस श्रुति से ब्रह्म का लक्षण जगज्जन्मस्थितिलयकारणत्व कहा जाता है। यह ब्रह्म का उपलक्षण होकर लक्षण बनता है अथवा विशेषण होकर लक्षण बनता है? अब इस विषय का प्रसंगतः विचार किया जाता है-

उपलक्षण

जो लक्षण ज्ञेय(ज्ञाप्य) विषय से बहिर्भूत होते हुए ज्ञेय की प्रतीति का उपाय होता है, उसे उपलक्षण कहा जाता है-**ज्ञाप्यबहिर्भूतो ज्ञाप्यप्रतीत्युपायः उपलक्षणम्**[1]।(श्रु.प्र.1.1.2) जैसे-देवदत्त का खेत कौन है? इस प्रकार प्रश्न करने पर कोई उत्तर देता है-जहाँ यह सारस पक्षी बैठा है, वह देवदत्त का खेत है। यहाँ पर देवदत्त का खेत लक्ष्य है, सारस का सम्बन्ध लक्षण है। सारससम्बन्ध सदा ज्ञाप्य खेत में नहीं रहता इसलिए यह ज्ञाप्य से बहिर्भूत होकर ज्ञाप्य की प्रतीति का उपाय होता है अतः यह लक्षण उपलक्षण कहा जाता है।

विशेषण

जो लक्षण ज्ञेय के अन्तर्गत होते हुए ज्ञेय की प्रतीति का उपाय बनता है[2], उसे विशेषण कहा जाता है-**ज्ञाप्यान्तर्भूतो ज्ञाप्यप्रतीत्युपायः विशेषणम्**[3]।(श्रु.प्र.1.1.2) जैसे पृथ्वी का लक्षण गन्धवत्त्व है। यह ज्ञेय पृथ्वी में रहकर उसकी प्रतीति का उपाय बनता है अतः यह लक्षण विशेषण कहलाता है।

1.अर्थात् विशेष्य की प्रतीति में जो अविषय होकर उपाय बनता है, उसे उपलक्षण कहते हैं-**विशेष्यविषयकप्रतीतावविषयः सन् यः विशेष्यप्रतीतेरुपायः स उपलक्षणम्।** 2.ज्ञाप्य कोटि के अन्तर्गत आने वाली वस्तु ज्ञाप्य होती है तो वह ज्ञापक अर्थात् ज्ञेय की प्रतीति का उपाय कैसे हो सकती है? एक ही वस्तु के ज्ञाप्य और ज्ञापक होने में विरोध नहीं है। जैसे-घटादि इन्द्रियसंयोग के हेतु होने से ज्ञापक होते हैं तथा विषय होने से ज्ञाप्य भी होते हैं। 3.अर्थात् विशेष्य की प्रतीति में जो विषय होकर उपाय बनता

शंका-1.जगज्जन्मादिकारणत्व ब्रह्म का उपलक्षणरूप लक्षण नहीं हो सकता क्योंकि उपलक्षण स्थल में तीन आकार अपेक्षित होते हैं-1.उपलक्षणाकार, 2.उपलक्ष्याकार और 3.पूर्वविदिताकार। सारसपक्षी वाला देवदत्त का खेत है। यहाँ सारससम्बन्ध उपलक्षणाकार है, यह लक्ष्य का बोधक होता है। देवदत्तक्षेत्रत्व उपलक्ष्याकार है, यह लक्षण के द्वारा ज्ञात होने वाले लक्ष्य का धर्म होता है। क्षेत्रत्वसामान्य पूर्वविदित आकार है, यह प्रत्यक्ष प्रमाण से विदित है किन्तु यहाँ ब्रह्म में जगज्जन्मादिकारणत्व उपलक्षणाकार है। निरतिशय बृहत्त्व उपलक्ष्याकार है, यह ब्रह्म शब्द का अर्थ है। यहाँ पूर्वविदिताकार ज्ञात नहीं होता। ब्रह्म शास्त्रैकगम्य है अतः पूर्वविदिताकार प्रमाणान्तर से विदित नहीं हो सकता इसलिए जन्मादिकारणत्व उपलक्षण बनकर ब्रह्म का लक्षण नहीं हो सकता।

2.जगज्जन्मादिकारणत्व ब्रह्म का विशेषण होकर भी लक्षण नहीं हो सकता क्योंकि विशेषण भिन्न होने पर विशेष्य भी भिन्न-भिन्न होते हैं। इस प्रकार जन्मकारणत्व, स्थितिकारणत्व और लयकारणत्व इन तीन विशेषणों के होने से विशेष्य ब्रह्म भी तीन हो जायेंगे। जैसे-गाय खण्डित सींग वाली, विना सींग वाली और पूर्ण सींग वाली होती है-खण्डो मुण्डः पूर्णशृङ्गो गौः, ऐसा कहने पर तीन विशेषण वाली तीन गायें प्रतीत होती हैं क्योंकि उक्त तीन विशेषणों से युक्त एक गाय नहीं हो सकती, इससे सिद्ध होता है कि विशेषण अपने आश्रय विशेष्य की दूसरे से व्यावृत्ति कराता है। व्यावर्तकत्व(भेदक होना) विशेषणों का स्वभाव है। जहाँ प्रत्यक्ष प्रमाण से विशेष्य की एकता सिद्ध होती है, वहाँ विशेषण विशेष्य के भेदक नहीं होते। ब्रह्म प्रत्यक्षप्रमाण का विषय नहीं है अतः यहाँ तीन विशेषण होने से ब्रह्म भी तीन हो जायेंगे किन्तु एक ही ब्रह्म सबका अभिमत है अतः जन्मादिकारणत्व को विशेषणरूप लक्षण मानने से उसकी सिद्धि नहीं होगी, इस प्रकार जन्मादिकारणत्व विशेषण होकर भी ब्रह्म का लक्षण नहीं हो सकता।

समाधान-1.'पूर्वविदिताकार ज्ञात न होने से जन्मादिकारणत्व उपलक्षण होकर ब्रह्म का लक्षण नहीं हो सकता' यह कथन असंगत है क्योंकि

है, उसे विशेषण कहते हैं-**विशेष्यविषयकप्रतीतौ विषयः सन् यः विशेष्यप्रतीतेरुपायः स विशेषणम्।**

बृहत्त्व सामान्य ही पूर्वविदिताकार है। सर्वज्ञत्व और सर्वशक्तिमत्त्व धर्म ही बृहत्त्व सामान्य हैं। ब्रह्म की जगत्कारणता का श्रवण होते ही यह ज्ञात होता है कि ब्रह्म सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान् है। सर्वज्ञता के विना वह विविध विलक्षण जगत् का निमित्त कारण नहीं हो सकता तथा सर्वशक्तिमत्त्व के विना वह जगत् के रूप में परिणत नहीं हो सकता। इस प्रकार पूर्वविदिताकार सिद्ध होने से जन्मादिकारणत्व उपलक्षण होकर ब्रह्म का लक्षण होता है।[1]

2."जन्मादिकारणत्व विशेषण होकर ब्रह्म का लक्षण नहीं हो सकता" यह कथन भी असंगत है क्योंकि विशेषण के भेद से विशेष्य में भेद वहाँ होता है, जहाँ विरुद्ध विशेषण होते हैं। जैसे-खण्डत्व, मुण्डत्व और पूर्णशृङ्गत्व विरुद्ध विशेषण हैं क्योंकि वे एक गाय में विद्यमान नहीं रहते अतः यहाँ विशेषण के भेद से विशेष्य में भेद स्वीकार करना युक्तिसंगत है किन्तु अविरुद्ध विशेषण अपने विशेष्य के भेदक नहीं होते। जैसे-श्याम वर्ण वाला, लाल आँखों वाला, युवावस्था वाला देवदत्त है-**श्यामो युवा लोहिताक्षो देवदत्तः।** यहाँ पर श्यामवर्ण, युवावस्था और लाल आँखें एक देवदत्त में विद्यमान होती हैं अतः ये अविरुद्ध विशेषण होते हैं इसलिए ये अपने आश्रय विशेष्य के भेदक नहीं होते। इसी प्रकार **नीलम् उत्पलम्** यहाँ पर नीलत्व विशेषण अपने विरुद्ध रक्तत्व धर्म के आश्रय से अपने आश्रय उत्पल का भेदक होता है किन्तु वह अपने अविरुद्ध दीर्घत्व तथा गन्ध आदि के आश्रय से अपने आश्रय का भेदक नहीं होता, वैसे ही जन्मकारणत्व, स्थितिकारणत्व और लयकारणत्व तीनों अविरुद्ध विशेषण हैं, वे एक ही ब्रह्म में विद्यमान होते हैं। एक ही ब्रह्म कालभेद से जन्मादि का कारण होता है। **तद् ब्रह्म।**(तै.उ.3.1.1) इस प्रकार एकवचन के प्रयोग से ब्रह्म का एकत्व ज्ञात होता है और ये धर्म उसी एक के ही ज्ञात होते हैं अतः जन्मादिकारणत्व को विशेषण बनकर ब्रह्म का लक्षण होने में कोई आपत्ति नहीं है।

शंका-जगत्कारणत्व को परस्परविरुद्ध विशेषण और उपलक्षण कैसे माना

1.यहाँ 'ब्रह्म का जगत्कारणत्व' के विषय में सन्देह नहीं किया गया है अपितु शास्त्रप्रमाण से सिद्ध जगत्कारणत्व उपलक्षण होकर ब्रह्म का लक्षण है? अथवा विशेषण होकर, यही विचार यहाँ प्रस्तुत है। शंकाकार कें अनुसार वह उपलक्षण होकर भी ब्रह्म का लक्षण नहीं हो सकता। इसी शंका का उक्त समाधान किया गया है।

जा सकता है?

समाधान-प्रकृति, पुरुष तथा काल से विशिष्ट ब्रह्म का लक्षण जगत्कारणत्व है। विशेष्य ब्रह्मस्वरूप का लक्षण आनन्दादि है। विशिष्ट के अनुसंधान में कारणत्व अनुसंधेय है, विशेष्य के अनुसंधान में कारणत्व अनुसंधेय नहीं है। जगत्कारणत्व चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म में रहता है, शुद्धस्वरूप (विशेष्यमात्र) में नहीं रहता इसलिए वह शुद्धस्वरूप का उपलक्षण माना जाता है। विशेष्य ब्रह्मस्वरूप में न रहने वाले जगत्कारणत्व को उसका उपलक्षण कैसे माना जा सकता है? यह शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि जैसे लक्ष्य चन्द्र में अविद्यमान शाखा का अग्रभाग चन्द्र का उपलक्षण होता है, वैसे ही विशेष्य ब्रह्म में अविद्यमान जगत्कारणत्व ब्रह्म का उपलक्षण होता है। चन्द्रमा का बोध कराने के लिए 'शाखा के अग्रभाग में चन्द्र है' ऐसा कहा जाता है। यहाँ चन्द्र उपलक्ष्य है, शाखाग्र उपलक्षण है। शाखाग्र को चन्द्रस्वरूप का स्पर्श न करने से तटस्थलक्षण कहा जाता है किन्तु इन दोनों का ऋजुभावरूप(तत्समरेखान्तःपातित्वरूप)सम्बन्ध है ही, फिर भी ज्ञाप्य से बहिर्भूत होने के कारण शाखाग्र को उपलक्षण कहा जाता है। ब्रह्म से उत्पन्न होने के कारण, उसमें लीन होने के कारण तथा उससे जीवनप्राप्त करने के कारण इस सम्पूर्ण जगत् का आत्मा ब्रह्म है, ऐसा जानकर शान्त होकर ब्रह्मोपासना करनी चाहिए-**सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान् इति शान्त उपासीत।**(छां.उ.3.14.1) इत्यादि वाक्यों से विहित जिन उपासनाओं में ब्रह्म के जगत्कारणत्व का अनुसंधान किया जाता है, उनमें ज्ञाप्यकोटि के अन्तर्गत होने से जगत्कारणत्व ज्ञाप्य ब्रह्म का विशेषण होता है और जिन उपासनाओं में जगत्कारणत्व का अनुसंधान नहीं किया जाता, उनमें ज्ञाप्य के अन्तर्गत न होने से जगत्कारणत्व उपलक्षण होता है। अभिन्ननिमित्तो-पादानकारणत्व के प्रतिपादन में विशिष्ट ब्रह्म को कारण स्वीकार करके विशेष्य ब्रह्मस्वरूप को भी कारण स्वीकार किया गया है इसलिए 'पाराशर्यविजय' ग्रन्थ में विशेष्य में रहने वाले जगत्कारणत्व को ब्रह्म का विशेषण कहा गया है तथा विशेष्य में न रहकर प्रपञ्च में रहने वाले जन्मादि को ब्रह्म का उपलक्षण कहा गया है।

'जन्मकारणत्व, स्थितिकारणत्व और लयकारणत्व इनमें से प्रत्येक इतर की व्यावृत्ति कराने में समर्थ है इसलिए 'ये तीनों पृथक्-पृथक् ब्रह्म के

लक्षण हैं' ऐसा कुछ आचार्यों का मत है किन्तु 'हे भगवन्! मुझे ब्रह्म का उपदेश कीजिए-**अधीहि भगवो ब्रह्मेति।**(तै.उ.3.1.1) इस प्रकार मुमुक्षु के द्वारा जिज्ञास्य ब्रह्म के विषय में प्रश्न किये जाने पर यदि "जो जगत् के जन्म का कारण है, वह ब्रह्म है" ऐसा उत्तर दिया जाता तो "स्थिति का कारण कोई दूसरा है" ऐसी शंका होती और उस दूसरे के भी जिज्ञास्य होने की शंका होती। 'यही ब्रह्म जिज्ञास्य है' ऐसा निश्चय नहीं होता अतः एक ही जिज्ञास्य ब्रह्म का निश्चय कराने के लिए श्रुति तीन बार यत् शब्द का प्रयोग करने पर भी एक ही बार तद् शब्द का प्रयोग करती है इसलिए प्रत्येक लक्षण न होकर जन्मस्थितिलयकारणत्व इस प्रकार समुदाय लक्षण होता है।

शंका-जगज्जन्मादिकारणत्व यह समुदाय किसी का व्यावर्तक न होने से निष्प्रयोजन है अतः लक्षण नहीं हो सकता।

समाधान-समुदाय लक्ष्याकार से विपरीत शंका का निवारण करने में समर्थ होने से सप्रयोजन है अतः लक्षण हो सकता है। जन्मकारणत्वमात्र ब्रह्म का लक्षण करने पर स्थिति और लय का कारण कोई दूसरा है, ऐसी शंका होने से जगज्जन्ममात्र के कारण ब्रह्म का निरतिशय बृहत्त्व सिद्ध नहीं होगा इसी प्रकार स्थितिमात्रकारणत्व लक्षण करने पर उत्पत्ति और लय का कारण दूसरा है, ऐसी शंका होने से स्थितिमात्र के कारण ब्रह्म का निरतिशय बृहत्त्व सिद्ध नहीं होगा, अतः जगज्जन्मकारणत्वादि में प्रत्येक इतर का व्यावर्तक होने पर भी जन्मादिसमुदायकारणत्व को निरतिशय बृहत्त्व समझने में उपयोगी होने से लक्षण माना जाता है।

शेषी

भगवान् श्रीराम चेतनाचेतनरूप सम्पूर्ण जगत् के शेषी हैं। भोक्ता अपनी इच्छा के अनुसार जिसका उपभोग कर सके, उस पदार्थ को शेष कहते हैं और यथेच्छ उपभोग करने वाले भोक्ता को शेषी-**यथेष्टविनियोगार्हः शेषः, तस्य यथेष्टविनियोक्ता शेषी।** दूसरे के उपभोग में आना ही शेष का स्वरूप है, उसका अपना कोई स्वार्थ नहीं होता। भोक्ता अपनी इच्छा के अनुसार चन्दन का शिर में लेपन करे, पुष्प और वस्त्र को धारण करे, ताम्बूल का भक्षण करे। उपभोग में आने वाले चन्दनादि का कभी भी कोई

स्वार्थ नहीं होता। इच्छानुसार उपभोग के योग्य होने से चन्दनादि शेष कहलाते हैं और इनका उपभोग करने वाला शेषी कहलाता है। जैसे आत्मा शेषी है, उसके शेष चन्दनादि हैं और शरीर भी उसका शेष है, वैसे ही भगवान् शेषी हैं उसका शेष चेतन आत्मा है और अचेतन पदार्थ भी। भगवान् जैसा चाहें, वैसा इनका उपभोग कर सकते हैं। इस प्रकार यथेच्छ उपभोग के योग्य होने से सभी पदार्थ शेष हैं और उपभोग करने वाले भगवान् शेषी हैं। जगत् का भगवान् के प्रति शेषत्व स्वाभाविक है अतः उसके रहते यह कभी नष्ट नहीं हो सकता। आत्मा नित्य है, इस लिए उसका भगवच्छेषत्व धर्म भी नित्य है। परमात्मा चेतनाचेतनात्मक जगत् के स्वाभाविक शेषी हैं किन्तु आत्मा अपने शरीर आदि का स्वाभाविक शेषी नहीं है। बद्धात्मा कर्म उपाधि के कारण अपने शरीर आदि का शेषी है। उसके शेष जो गृह, क्षेत्र, पुत्र और पत्नी आदि हैं, उनकी आत्मा से पृथक् स्थिति और पृथक् प्रतीति होती है, वे आत्मा से पृथक् स्थिति और पृथक् प्रतीति के योग्य हैं उन गृहादि के समान परमात्मा से पृथक्स्थिति और पृथक्प्रतीति के योग्य जगत् नहीं है किन्तु जैसे शरीर आत्मा से पृथक्स्थिति और पृथक्प्रतीति के अयोग्य है, वैसे ही जगत् परमात्मा से पृथक्स्थिति और पृथक्प्रतीति के अयोग्य है। भगवान् सबके शेषी हैं-**पतिं विश्वस्य।**(तै. ना.उ.92)। लक्ष्मण जी कहते हैं कि हे रघुनाथ जी! आपके रहते मैं सैकड़ों वर्ष तक आपका शेष हूँ-**परवान्**[1]**अस्मि काकुत्स्थ त्वयि वर्षशतं स्थिते।**(वा. रा.3.15.7)। ज्ञानानन्द स्वरूप आत्मा परमात्मा का शेष है-**ज्ञानानन्दमयस्त्वात्मा शेषो हि परमात्मनः।**(पां.सं.) इत्यादि वचनों से परमात्मा शेषी तथा जगत् शेष ज्ञात होते हैं।

प्रस्तुत श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय को परम रसिकाचार्य अग्रदास स्वामी जी ने स्वरचित रहस्यत्रय ग्रन्थ में इस प्रकार कहा है कि प्रथम पद रकार के द्वारा सम्पूर्ण दोषों से रहित, कल्याणगुणसमूहों के एकमात्र आश्रय, सभी जगत् के कारण, सर्वरक्षक, सर्वशेषी, सीतापति भगवान् श्रीराम का प्रतिपादन किया जाता है-**तत्र प्रथमपदेन रकारेण निखिलहेयप्रत्यनीककल्याणगुणगणैकतानः सर्वजगत्कारणभूतः सर्वरक्षकः सर्वशेषी भगवान् सीतापतिः श्रीरामः प्रतिपाद्यते।**(र.त्र.1.5)।

1.परवान् शेषत्ववान् शेष इत्यर्थः।

बीज के अवयव प्रथम पद के अर्थनिरूपण के पश्चात् अब द्वितीय पद आकार के द्वारा भगवान् का अनन्यार्हशेष चेतन जीवात्मा और अचेतन पदार्थ कहे जाते हैं-

शेष

भोक्ता अपनी इच्छा के अनुसार जिसका उपभोग कर सके, उस पदार्थ को शेष कहते हैं। चेतनाचेतन सभी भगवान् राम के अनन्यार्ह शेष हैं, उनमें जो शेषत्व विद्यमान है, वह अनन्यार्ह है अर्थात् वे केवल उनके (अपने शेषी भगवान् के) ही शेष होने योग्य है, उनसे अतिरिक्त अन्य किसी के शेष होने योग्य नहीं है। शास्त्रों में जीव को भगवान् का शेष कहा जाता है और दास भी। दूसरे के उपयोग में आने वाले सभी पदार्थों को शेष कहते हैं, चाहे वे पदार्थ चेतन हों अथवा अचेतन। दूसरे के उपयोग(सेवा) में काम आने वाला चेतन दास कहलाता है, इससे सिद्ध होता है कि शेषत्व सामान्य धर्म है क्योंकि वह चेतन और अचेतन दोनों में रहता है। दासत्व विशेष धर्म है क्योंकि वह केवल चेतन में रहता है, अतएव सामान्य धर्म को लेकर जीव को भगवान् का शेष कहा जाता है और विशेष धर्म को लेकर भगवान् का दास। जीव भगवान् के लिए ही है, दूसरे के लिए नहीं, इसलिए वह अनन्यार्हशेष कहलाता है। एकमात्र भगवान् का शेष होना अनन्यार्ह शेष होना कहलाता है-**भगवदेकशेषत्वम् अनन्यार्हशेषत्वम्**। आकार के द्वारा ही जीव और अचेतन पदार्थों का भगवान् से अन्य देवतान्तरादि के प्रति शेष होने का निराकरण किया जाता है-**व्यावृत्तिस्तु सुरान्तरादिगतसत्तच्छेषताया**[2] मुहुः। जीव भगवान् से अतिरिक्त ब्रह्मा, इन्द्र, वरुणादि देवताओं का शेष नहीं है और किसी महाराजा का भी शेष नहीं है अतः जीवात्मा यदि अपने को किसी देवता का अथवा किसी मनुष्य का शेष मानता है तो उसकी यह बड़ी भूल है और यह बन्धन का कारण है, इसकी निवृत्ति के लिए ही ग्रन्थकार प्राप्य शेषी स्वरूप के साथ ही प्राप्ता शेष स्वरूप को भी समझाते हैं। यह विषय रहस्यत्रय में इस प्रकार वर्णित है कि द्वितीय पद आकार के द्वारा जीव के भगवदनन्यार्हशेषत्व, अन्यशेषत्व की निवृत्ति तथा अन्य देवताओं के प्रति शेषत्व के निराकरण का प्रतिपादन किया जाता है-**द्वितीयपदेनाकारेण अन्यशेषत्वनिवृत्तिः, भगवदनन्यार्हशेषत्वं देवतान्तरादिशेषत्वव्यावृत्तिश्च प्रतिपाद्यते**।(र.त्र.

1.7)।

पितापुत्रत्वसम्बन्धो जगत्कारणवाचिना।
रक्ष्यरक्षकभावश्च रेण रक्षकवाचिना॥14॥

अन्वय

जगत्कारणवाचिना रेण पितापुत्रत्वसम्बन्धः च रक्षकवाचिना रक्ष्यरक्षकभावः।

अर्थ

जगत्कारणवाचिना-जगत्कारण के बोधक **रेण**-रकार से (भगवान् राम और जीव का[1]) **पितापुत्रत्वसम्बन्धः**-पितृपुत्रभावसम्बन्ध(कहा जाता है) **च**-और **रक्षकवाचिना**-रक्षक के वाचक (उसी रकार से भगवान् और जीव का **रक्ष्यरक्षकभावः**-रक्ष्यरक्षकभावसम्बन्ध कहा जाता है।

भाष्य

पितापुत्रभावसम्बन्ध-पूर्व श्लोक में जगत्कारण का वाचक रकार कहा गया था, अब उसी के द्वारा जीव और ब्रह्म का पितापुत्रभावसम्बन्ध कहा जाता है। समस्त जीव भगवान् राम के स्वाभाविक पुत्र हैं और वे उनके स्वाभाविक पिता। संसारी पिता के साथ सम्बन्ध तो पुण्यपापरूप कर्म निमित्त(उपाधि) से होता है, वह स्वाभाविक नहीं होता अतः कर्म समाप्त होते ही सम्बन्ध भी समाप्त हो जाता है किन्तु स्वाभाविक पिता होने के कारण भगवान् से सम्बन्ध कभी भी समाप्त नहीं होता, वह शाश्वत है अर्थात पहले था, अभी है और आगे भी बना रहेगा। इस सम्बन्ध के अनुसंधान से जीव यह समझ लेता है कि भगवान् ही उसके परम हितैषी हैं, दूसरा कोई नहीं, इससे उसकी संसार में आसक्ति समाप्त हो जाती है। इस प्रकार अन्यत्र आसक्ति की समाप्ति इस सम्बन्ध के अनुसंधान का फल है।

रक्ष्यरक्षकभावसम्बन्ध

रक्षाकर्ता के बोधक रकार के द्वारा भगवान् और जीव का रक्ष्यरक्षकभाव

1.जीव के समान अचेतन पदार्थों का भी भगवान् से सम्बन्ध है तथापि सम्बन्ध का ज्ञान और अपने कल्याण के लिए उसका अनुसंधान चेतन ही कर सकता है, अचेतन नहीं इसलिए यहाँ चेतन जीव के साथ ही सम्बन्ध प्रदर्शित किया जाता है।

सम्बन्ध कहा जाता है। अकारण करुणावरुणालय भगवान् राम पिता होने के कारण समस्त जीवों के स्वाभाविक रक्षक हैं और जीव उनके द्वारा रक्ष्य। भगवान् के हृदय में अपनी संतानों के प्रति अपार करुणा का पारावार उमड़ता रहता है, इस कारण रक्षा करना उनका सहज स्वभाव है।

भगवान् राम जीवमात्र के रक्षक हैं, इस कारण ही सृष्टि, स्थिति, प्रलय और मोक्ष काल में भी जीवों के साथ रहते हैं, वे स्वर्ग, नरकादि सभी स्थानों में साथ रहते हैं। इस भूमण्डल के शासकगण अपने जनों की ही विशेष रक्षा करते हैं किन्तु प्रभु तो प्राणिमात्र की रक्षा करते हैं। वे आचरण और सदुपदेश के द्वारा भी मार्गदर्शन करके रक्षा करते हैं और शास्त्रविरुद्ध आचरण करने वालों को भी शल्य कर्म करने वाले चिकित्सक की भाँति सामान्य दण्ड प्रदान करके निष्पाप बनाकर रक्षक होते हैं। शरणागतरक्षक होने के कारण ही शरण में आये जीव के अपराधों को जानकर भी उसका परित्याग नहीं करते, इसलिए **कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू॥**(रा.च.मा.5.43.1) ऐसा प्रभु ने स्वयं कहा है।

शेषशेषित्वसम्बन्धश्चतुर्थ्या लुप्तयोच्यते।
भार्याभर्तृत्वसम्बन्धोऽप्यनन्यार्हत्ववाचिना॥15॥

अकारेणापि विज्ञेयो मध्यस्थेन महामते।
स्वस्वामिभावसम्बन्धो मकारेणाथ कथ्यते॥16॥

अन्वय

महामते! लुप्तया चतुर्थ्या शेषशेषित्वसम्बन्धः उच्यते। अनन्यार्हत्ववाचिना मध्यस्थेन अकारेण भार्याभर्तृत्वसम्बन्धः अपि विज्ञेयः। अथ मकारेण स्वस्वामिभावसम्बन्धः अपि कथ्यते।

अर्थ

महामते-हे उत्तम बुद्धि वाले सुरसुरानन्द! (रकार के बाद) **लुप्तया**-लुप्त हुई **चतुर्थ्या**-चतुर्थी विभक्ति के द्वारा(भगवान् श्रीराम और जीव का) **शेषशेषित्वसम्बन्धः**-शेषशेषिभाव सम्बन्ध **उच्यते**-कहा जाता है। **अनन्यार्हत्ववाचिना**-अनन्यार्हत्त्व का वाचक **मध्यस्थेन**-मध्य में स्थित **अकारेण**-आकार से (उनका) **भार्याभर्तृत्वसम्बन्धः**-पतिपत्नीभाव सम्बन्ध

अपि[1]-भी **विज्ञेयः**- जानना चाहिए। **अथ**-इसके पश्चात् **मकारेण**-मकार से (दोनों का) **स्वस्वामिभावसम्बन्धः**-स्वस्वामिभाव सम्बन्ध **अपि**[2]-भी **कथ्यते**-कहा जाता है।

भाष्य

'रां'- र् +ङे.+आ +म् यहाँ पर 'र्' के पश्चात् आयी चतुर्थी विभक्ति का **सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णा....**(अ.सू.7.1.39) इस सूत्र से छान्दस लुक् होने पर र् + आ + म् होता है, यहाँ लुप्त चतुर्थी विभक्ति के द्वारा ब्रह्म और जीव का शेषशेषिभाव सम्बन्ध कहा जाता है।

शेषशेषिभावसम्बन्ध

दूसरे के अतिशय अर्थात् विशेष्यता को सिद्ध करने की इच्छा से जो पदार्थ ग्राह्य होता है, उसे शेष कहते हैं तथा जिसके लिए ग्राह्य होता है, उसे शेषी कहते हैं-**परगतातिशयाधानेच्छया उपादेयत्वमेव यस्य स्वरूपं स शेषः परश्च शेषी।**(श्रु.प्र.1.1.1)। जिस प्रकार फल की उत्पत्ति ही फल का अतिशय है। फल को उत्पन्न करने की इच्छा से ही याग ग्राह्य होता है, इसलिए याग शेष होता है, वह स्वर्गादि फल के लिए ग्राह्य होता है इसलिए स्वर्गादि फल शेषी होते हैं, उसी प्रकार ईश्वर की उत्कर्षता आदि अतिशय को सिद्ध करने की इच्छा से जड़-चेतन सभी पदार्थ ग्राह्य होते हैं इसलिए वे पदार्थ शेष कहे जाते हैं। वे ईश्वर के लिए ग्राह्य होते हैं, इस कारण ईश्वर शेषी कहे जाते हैं। शरीर जीवात्मा के लिए है, इसलिए शरीर शेष एवं जीवात्मा शेषी होता है। जीवात्मा भी परमात्मा के लिए है अतः जीवात्मा शेष एवं परमात्मा शेषी हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि उत्कर्षता आदि विशेष्यताएँ अतिशय कही जाती हैं और जिन दो पदार्थों के मध्य में जो दूसरे की उत्कर्षता आदि विशेष्यताओं को करने के लिए ही रहता है, वह शेष कहा जाता है तथा जो दूसरे से किसी न किसी प्रकार उत्कर्षता को प्राप्त करता है, वह शेषी कहा जाता है। शरीर शेष है, जीवात्मा शेषी है। शरीर अतिशय किये विना नहीं रह सकता। इनमें अतिशय प्राप्त करने वाला शरीरी आत्मा शेषी तथा अतिशय पहुँचाने वाला शरीर शेष होता है।

1.यहाँ अपि शब्द पूर्वोक्त अनन्यार्हत्व(अनन्यार्हशेषकत्व) के समुच्चय के लिए है। **2.** यहाँ अपि शब्द जोर देने के लिए है, समुच्चय आदि अर्थों का बोध कराने के लिए नहीं। जैसे-विधुरपि विधियोगात् ग्रस्यते राहुणासौ।(हितो.)।

दूसरे का अतिशय ही परम प्रयोजन है, ऐसे परम प्रयोजनरूप पर के अतिशय को सिद्ध करने वाला शेष होता है-**परमप्रयोजनभूतपरगतातिशया-धायकत्वं शेषत्वम्** यह शेष का परिष्कृत लक्षण है। भगवान् के अतिशयरूप परमप्रयोजन को सिद्ध करने वाला जीव शेष एवं जिनका परम प्रयोजनरूप अतिशय सिद्ध किया जाता है, वे भगवान् शेषी हैं। परमात्मा का परम प्रयोजन ही जीव का परम प्रयोजन है। परमात्मगत अतिशय है-शेषित्व और वह जीव का परम प्रयोजन है, उसे सिद्ध करने वाला जीव शेष है और परमात्मा शेषी। परमात्मा के द्वारा की जाने वाली लीला परमात्मा का अतिशय है, जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय परमात्मा की लीला है। मुमुक्षु को मोक्ष प्रदान करना उनकी लीला है। मुक्तात्माओं को स्वरूपभूत आनन्द प्रदान करना भी उनकी लीला है। जीवात्मा का स्वाभाविक परम प्रयोजन उक्त लीला है, वह जीव के विना निष्पन्न नहीं होती, जीव परमात्मा का उक्त परम प्रयोजनरूप अतिशय करने वाला है इसलिए जीव शेष है, परमात्मा शेषी हैं। समस्त प्रकृतिमण्डल को एकपादविभूति कहते हैं, इसे लीलाविभूति भी कहा जाता है और अप्राकृत लोक को त्रिपादविभूति कहते हैं, इसे भोगविभूति भी कहा जाता है। परमात्मा सदा आनन्दित ही रहते हैं, उन्हें लीलाविभूति से जो आनन्द होता है, उसे लीलारस कहते हैं और भोगविभूति से जो आनन्द होता है, उसे भोगरस कहते हैं। ये दोनों प्रकार के रसात्मक आनन्द भी परमात्मा के अतिशय हैं, उन परम प्रयोजनरूप परमात्मा के अतिशय को सिद्ध करने की इच्छा से चेतनाचेतन सभी पदार्थ उनके लिए ग्राह्य हैं, इसलिए वे सभी शेष कहे जाते हैं और परमात्मा शेषी।

परमात्मा का शेषित्व स्वाभाविक है, जीवात्मा का शेषित्व औपाधिक है। शरीरादि के प्रति जीव का शेषित्व तो कर्मरूप उपाधि के कारण है। कर्मबन्धन से रहित मुक्तात्मा का अप्राकृत शरीर होता है। इस शरीर के प्रति मुक्तात्मा का शेषित्व कर्म उपाधि के कारण नहीं है अपितु ईश्वरेच्छा से है। सभी के प्रति परमात्मा का शेषित्व निरतिशय(स्वाधीन) शेषित्व है और अपने शरीर के प्रति मुक्तात्मा का शेषित्व सातिशय(परमात्माधीन) शेषित्व है। यह इन दोनों में भेद है। ईश्वर सबको वश में करने वाला तथा सब पर शासन करने वाला है-**सर्वस्य वशी, सर्वस्येशानः**।(बृ.उ.4.4.22),

परमात्मा सबका शेषी है-**पतिं विश्वस्य।**(तै.ना.उ.92) इन वचनों से सभी का शेषत्व एवं परमात्मा का शेषित्व सिद्ध होता है। पा रक्षणे धातु से निष्पन्न होने के कारण पति शब्द रक्षक का वाचक है, शेषी का वाचक नहीं है, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि पति शब्द शेषी अर्थ में रूढ है। यहाँ रूढि स्वीकार न करने पर **गमेर्डोः**(उ.सू.2.68) सूत्र के द्वारा गम् धातु से निष्पन्न गो शब्द को गतिमान् मनुष्यादि प्राणियों के भी वाचक होने का प्रसंग होगा किन्तु गतिमान् सभी पदार्थों के लिए गो शब्द का प्रयोग नहीं होता और बैठी हुई गो के लिए भी गो शब्द का प्रयोग होता है इसलिए गो शब्द की पशुविशेष में रूढि मानी जाती है। वृद्ध माता, पिता, साध्वी भार्या और बाल-बच्चों का किसी भी प्रकार भरण करना चाहिए, ऐसा मनु ने कहा है-**वृद्धौ च मातापितरौ साध्वी भार्या सुतः शिशुः। अप्यकार्यशतं भर्तव्या मनुरब्रवीत्॥** इस प्रकार पिता-माता के संरक्षक पुत्र में पिता आदि की अपेक्षा पति शब्द का प्रयोग न होने से तथा गृहादि का रक्षक न होने पर भी स्वामी में पति शब्द का प्रयोग होने से पति शब्द शेषी अर्थ में रूढ है। पति आदि शब्दों का अभाव होने पर भी **ब्रीहीन् प्रोक्षति** इस वाक्य में द्वितीया श्रुति के द्वारा जैसे प्रोक्षण ब्रीहि का शेष ज्ञात होता है, वैसे ही **यस्य आत्मा शरीरम्।**(बृ.उ.मा.पा.3.7.26) इत्यादि वाक्यों से जगत् को ब्रह्म का शरीर ज्ञात होने से और शरीररूप संघात को पर के लिए होने से जगत् और ब्रह्म का शेषशेषिभाव सम्बन्ध सिद्ध होता है।

शेषभूत पदार्थ की स्थिति पृथक्सिद्ध और अपृथक्सिद्ध भेद से दो प्रकार की होती है। जिन पदार्थों की शेषी के साथ ही विद्यमानता और शेषी के साथ ही प्रतीति होती है, वे अपृथक्सिद्ध शेष होते हैं। इनसे भिन्न पृथक्सिद्ध शेष होते हैं। देह आत्मा के साथ ही विद्यमान होता है, आत्मा के साथ ही प्रतीत होता है, आत्मा के विना एक क्षण भी अविकृत होकर नहीं रहता। आत्मा और देह के सम्बन्धत्याग के काल से ही उसमें विकार उत्पन्न होने लगते हैं इसलिए शरीर आत्मा का अपृथक्सिद्ध शेष है। गृहादि भी आत्मा के शेष हैं किन्तु उनकी आत्मा से पृथक् विद्यमानता और पृथक् प्रतीति होती है इसलिए वे पृथक्सिद्ध शेष होते हैं। आत्मा भी परमात्मा का अपृथक्सिद्ध शेष है, यह परमात्मा के साथ ही विद्यमान रहता है और साथ ही प्रतीत होता है।

अनन्यार्हत्व का निरूपण 13 वें श्लोक की व्याख्या में किया गया है, उसका वाचक आकार बीजमन्त्र के अवयव रकार(र्) और मकार(म्) के मध्य में स्थित है, अब उसके द्वारा जीव और ब्रह्म का भार्याभर्तृभाव सम्बन्ध कहा जाता है-

भार्याभर्तृभाव सम्बन्ध

जैसे उपासक जीव और उपास्य ब्रह्म राम का शेषशेषीभाव सम्बन्ध है, वैसे ही उनका भार्याभर्तृभाव सम्बन्ध भी है। जीव भार्या है और उसके भर्ता श्रीरामचन्द्र। पुरुषशरीरधारी को पुरुष शरीर के कारण स्त्रीशरीर में जो प्रीति होती है और स्त्रीशरीरधारी को स्त्री शरीर के कारण पुरुषशरीर में जो प्रीति होती है, वह इस सम्बन्ध का अनुसन्धान करने से नहीं होती अपितु अपने परम प्रेमास्पद प्रभु में ही परम प्रीति होती है, यह इस सम्बन्ध के अनु संधान का महान् फल है।

स्वस्वामिभाव सम्बन्ध

बीज के अन्तिंम अवयव मकार से जीव और ब्रह्म का स्वस्वामिभाव सम्बन्ध कहा जाता है। भगवान् स्वामी हैं और जीव उसका स्व। स्व का अर्थ है-धन। चेतन और अचेतन सभी पदार्थ भगवान् के स्व हैं, उनकी अपनी वस्तु हैं, वे सभी में निवास करते हैं अत: सभी उनके निवासस्थान अर्थात् धाम हैं। अप्राकृत लोक भी उनका धाम है, ऐसा होने पर भी उनका प्रिय धाम चेतन आत्मा है इसलिए श्रीभगवान् ने स्वयं गीता में **तद् धाम परमं मम।**(गी.8.21) इस प्रकार आत्मा को अपना परम धाम कहा है।

अपना आत्मस्वरूप परमात्मा का स्वाभाविक स्व (धन) है, उनके अधीन ही है, उसे(अपने आत्मस्वरूप को) जो स्वतन्त्र समझता है, आत्मा का अपहरण करने वाले उस चोर ने कौन सा पाप नहीं किया?-**योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते, किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा।**(म. भा.उ.42.37) इस प्रकार अपने आत्मस्वरूप को भगवान् की वस्तु न समझने वाले को आत्मापहारी और सबसे बड़ा पापी कहा गया है। दूसरे के धन को अपना मानना चोरी है, अपना प्रत्यगात्मस्वरूप परब्रह्म के अधीन है, उसे अपना अर्थात् स्वाधीन मानना भगवान् के धन की चोरी करना है, अपहरण करना है। यही सभी अनर्थों का मूल है। जो मैं भगवान् का हूँ,

ऐसा समझता है, वह शास्त्र की आज्ञानुसार उनके साक्षात्कार के साधन में लगा रहता है और जो अपने को भगवान् का नहीं समझता, वह कभी न कभी निषिद्ध आचरण करके अवश्य नरकगामी बनता है।

प्रस्तुत स्वस्वामिभाव सम्बन्ध के अनुसंधान से साधक अपने स्वाभाविक स्वामी श्रीराम के प्रति अपने को समर्पित कर देता है, इससे विषयान्तर की इच्छाएँ निवृत्त हो जाती हैं, यह स्वस्वामिभाव सम्बन्ध के अनुसंधान का उत्तम फल है।

बीज मन्त्र के अवयवों का अर्थ करके अब बीज के उत्तर में विद्यमान 'रामाय' इस चतुर्थ्यन्त पद के प्रातिपादिक भाग 'राम' शब्द का और विभक्ति का अर्थ कहा जाता है-

आधाराधेयभावोऽपि ज्ञेयो रामपदेन तु।
सेव्यसेवकभावस्तु चतुर्थ्या विनिगद्यते॥17॥

अन्वय

रामपदेन आधाराधेयभावः अपि ज्ञेयः तु[1]। तु चतुर्थ्या सेव्यसेवकभावः विनिगद्यते।

अर्थ

रामपदेन-राम शब्द से (जीव और ब्रह्म का) **आधाराधेयभावः**-आधार-आधेयभाव सम्बन्ध **अपि**-भी **ज्ञेयः**-जानना चाहिए तु-और (अब) **चतुर्थ्या**-चतुर्थी विभक्ति के द्वारा (उन दोनों का) **सेव्यसेवकभावः**-सेव्यसेवकभाव सम्बन्ध **विनिगद्यते**-कहा जाता है।

भाष्य

रामाय=राम+ङे, यहाँ राम प्रातिपदिक है और चतुर्थी विभक्ति के एकवचन में आने वाला ङे. प्रत्यय। राम शब्द से जीव और ब्रह्म राम का आधार-आधेयभाव सम्बन्ध कहा जाता है। ब्रह्म आधार है और जीव आधेय। इन दोनों का आधार-आधेयभाव सम्बन्ध है, यह वेदान्त सिद्धान्त में आत्म-शरीरभाव सम्बन्ध के नाम से प्रसिद्ध है। अब इसका निरूपण किया जाता है-

1.अत्र तुशब्दः पादपूर्तये।

आत्मशरीरभाव सम्बन्ध

शरीर आधेय(आश्रित) होता है और शरीरी चेतन आत्मा आधार (आश्रय)। सभी चेतन और अचेतन पदार्थ परमात्मा के शरीर हैं और वे सभी के शरीरी आत्मा। बृहदारण्यकोपनिषत् के अन्तर्यामिब्राह्मण में **यस्य पृथिवी शरीरम्।**(बृ.उ.3.7.7) से आरम्भ करके 21 बार जगत् को परब्रह्म का शरीर कहा गया है। इसी प्रकार **जगत् सर्वं शरीरं ते**(वा.रा.6.117.25) इत्यादि शास्त्र जगत् को उनका शरीर कहते हैं।

समष्टि सृष्टि के महदादि चतुर्विंशति तत्त्व परमात्मा के साक्षात् शरीर हैं। वे जीव के द्वारा परमात्मा के शरीर नहीं हैं क्योंकि छान्दोग्योपनिषत् में भूतों की सृष्टि के पश्चात् उनमें **अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति।**(छां.उ.6.3.2) इस प्रकार जीव के द्वारा परमात्मा के अनुप्रवेश से नामरूपविभाग का निरूपण किया गया है, अतः समष्टि सृष्टि के पश्चात् भावी व्यष्टि सृष्टि के पदार्थों में जीवद्वारा उनका अनुप्रवेश होने से वे पदार्थ जीवद्वारा परमात्मा के शरीर हैं तथा साक्षात् भी उनके शरीर हैं किन्तु समष्टि सृष्टि के पदार्थ साक्षात् ही उनके शरीर हैं क्योंकि पञ्चीकरण के पूर्व वे साक्षात् ही सभी में अनुप्रविष्ट हैं, जीवद्वारा नहीं। व्यष्टि सृष्टि में जो जीव के शरीर हैं, वे भगवान् के साक्षात् शरीर हैं तथा जीवद्वारा भी भगवान् के शरीर हैं। सुषुप्ति, मूर्च्छा और समाधिकाल में भी जीव और उसके शरीर नियाम्य होकर रहते हैं। नियमन करने के लिए ज्ञान और इच्छा अपेक्षित हैं किन्तु सुषुप्ति आदि अवस्थाओं में जीव के ज्ञान और इच्छा संभव नहीं अतः उस समय जीव अपने शरीर का नियामक नहीं होता। उस समय परमात्मा ही साक्षात् जीव के शरीर के नियामक होते हैं अतः यह मानना पड़ता है कि जिस प्रकार चेतन साक्षात् परब्रह्म का शरीर है, उसी प्रकार जीव के अचेतन शरीर भी परमात्मा के साक्षात् शरीर हैं। इस प्रकार यह निष्पन्न होता है कि चेतन साक्षात् परमात्मा का शरीर है और अचेतन पदार्थ साक्षात् तथा जीव के द्वारा भी परमात्मा का शरीर है।

सर्वात्मा ब्रह्म सभी जनों के भीतर प्रविष्ट होकर शासन करने वाला है-**अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा।**(तै.आ.3.11.3) इस प्रकार भगवान् चेतनाचेतन समस्त पदार्थों के भीतर प्रविष्ट होकर उनके शरीरी आत्मा होते हैं और सभी पदार्थ उनके शरीर। बृहदारण्यकोपनिषत् के

अन्तर्यामी ब्राह्मण में उल्लेख है कि जो परमात्मा पृथ्वी में रहता हुआ पृथ्वी के अन्दर है, जिसे पृथ्वी नहीं जानती, पृथ्वी जिसका शरीर है, जो अन्दर रहकर पृथ्वी का नियमन करता है, वह तुम्हारा निरतिशय भोग्य अन्तरात्मा ब्रह्म है-**यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः।**(बृ.उ.3.7.7) यहाँ से आरम्भ कर "जो विज्ञान में रहता हुआ विज्ञान के अन्दर है, जिसे विज्ञान नहीं जानता, विज्ञान जिसका शरीर है और जो अन्दर रहकर विज्ञान का नियमन करता है, वह तुम्हारा निरतिशय भोग्य अन्तरात्मा ब्रह्म है"-**यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञानं शरीरं यो विज्ञानमन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः।**(बृ.उ.3.7.26) यहाँ तक जगत् और ब्रह्म में शरीर-आत्मभाव सम्बन्ध बताया गया है। उक्त श्रुति में विज्ञान शब्द का अर्थ जीवात्मा है क्योंकि आगे उद्धृत माध्यन्दिनी शाखा के अन्तर्यामी ब्राह्मण में विज्ञान के स्थान पर आत्मा शब्द का पाठ है। जो परमात्मा आत्मा में रहता हुआ आत्मा के अन्दर है, जिसे आत्मा नहीं जानती, आत्मा जिसका शरीर है, जो अन्दर रहकर आत्मा का नियमन करता है, वह तुम्हारा निरतिशय भोग्य अन्तरात्मा ब्रह्म है-**य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः।** (बृ.उ.मा.पा.3.7.26) इत्यादि श्रुतियाँ सभी अचेतन पदार्थ और चेतन आत्माओं को ब्रह्म का शरीर तथा ब्रह्म को इन सभी की आत्मा कहती हैं, इस प्रकार श्रुतियों से चेतन आत्मा और ब्रह्म का आत्मशरीरभाव सम्बन्ध सिद्ध है। इस प्रकार राम प्रातिपादिक के अर्थ को कहकर अब विभक्ति के अर्थ सेव्यसेवकभाव सम्बन्ध को कहा जाता है-

सेव्यसेवकभावसम्बन्ध

जीव सेवक है और भगवान् उसके सेव्य। चेतनाचेतन सभी पदार्थ भगवान् श्रीराम के आधेय, नियाम्य और शेष होने पर भी केवल चेतन ही सेवक हो सकता है, अचेतन नहीं, इस सम्बन्ध का अनुसंधान करने पर जीव की अपने सेव्य भगवान् में अत्यन्त प्रीति बढ़ती है, जिससे प्रेरित होकर वह उनकी सर्वविध सेवा करना चाहता है और उसके विना अपना जीवन ही असंभव मानता है, तब भगवान् उसे अपना साक्षात्कार प्रदान

करते हैं और उसकी सेवा को प्रत्यक्ष स्वीकार करते हैं। इस सम्बन्ध के अनुसंधान के विना जीव भवसागर से पार नहीं जा सकता, इसीलिए श्रीगोस्वामी जी ने लिखा है कि **सेवक सेब्य भाव बिनु भव न तरिअ उरगारि।**(रा.च.मा.7.119)। सेवकभाव को ही दासभाव कहते हैं, इसकी महिमा का शास्त्रों में इस प्रकार से वर्णन किया जाता है-

जो दासभाव विशेषरूप से शीघ्र अभीष्ट पदार्थ को प्रदान करता है, परम मुक्ति को प्रदान करता है, उस दासभाव के कारण सर्वशास्त्र वेत्ताओं के द्वारा भगवद्भक्त 'दास' इस नाम से कहा जाता है-**ददाति परमां मुक्तिं सद्यो भुक्तिं विशेषतः। तेन दासेति सम्प्रोक्तं सर्वागमविशारदैः॥** दासभाव के विना कभी भी वेद, यज्ञ और अध्ययन के द्वारा तथा व्रत और उपवास के द्वारा विष्णुलोक को प्राप्त नहीं किया जा सकता इसलिए अनन्यमन वाला होकर प्रीतिपूर्वक श्रीभगवान् के प्रति अपने दासभाव को स्वीकार करे, ऐसा करने से जीव कर्मबन्धन को निवृत्त करने वाली भगवद्भक्ति को प्राप्त करता है-**न वेदयज्ञाध्ययनैर्न व्रतैश्चोपवासकैः। प्राप्यते वैष्णवं लोकं विना दास्येन कर्हिचित्॥ तस्माद् दास्यं हरेर्भक्त्या भजेतानन्यमानसाः। प्राप्नुवन्ति परां सिद्धिं कर्मबन्धविमोचनीम्॥**(प.पु.)। जो मनुष्य सर्वलोकेश्वर भगवान् वासुदेव के दास नहीं हैं, उनका सौ कल्प आयु पर्यन्त नरक में वास होता है-**न दासा वासुदेवस्य सर्वलोकेश्वरस्य ये। तेषां हि नरके वासः कल्पायुषशतैरपि॥** श्रीहरि के प्रति सभी जीवात्माओं का दासभाव स्वाभाविक ही है-**नैसर्गिकं हि सर्वेषां दास्यमेव हरेः सदा।**(वृ.हा.स्मृ.1.16)। श्रीभगवान् के प्रति दास भाव ही जीव का परम धर्म है। दासभाव ही परम हित का साधन है। दासभाव को स्वीकार करने से ही मुक्ति होती है, अन्यथा नरक की प्राप्ति होती है। भगवान् विष्णु के प्रति दासभाव और पराभक्ति जिन जीवों की कभी नहीं होती, हे नृप! उन्हें विधाता के विधान से नरक में ही रहना पड़ता है। जो नराधम नारायण के दास नहीं होते, वे ब्राह्मण जीते ही चाण्डाल हो जाते हैं, इस विषय में कोई सन्देह नहीं है-**दास्यमेव परं धर्मं दास्यमेव परं हितम्। दास्येनैव भवेन्मुक्तिरन्यथा निरयं भवेत्॥ विष्णोर्दास्यं परा भक्तिर्येषां तु न भवेत् क्वचित्। तेषामेव हि संसृष्टं निरयं ब्राह्मणा नृप॥ नारायणस्य दासा ये न भवन्ति नराधमाः। जीवन्त एव चाण्डाला भविष्यन्ति न संशयः॥**(वृ.हा.स्मृ.1.18-20)।

सर्वकाल में विद्यमान विष्णु के प्रति जीव का दासभाव स्वाभाविक है, उसके बिना मोह के कारण जीव सदा संसार चक्र में घूमता रहता है। उस कारण सभी आत्माओं का श्रुतिसम्मत भगवद्दासत्व है। दासभाव के विना जो शास्त्रीय कर्म किया जाता है, वह पाप ही होता है-**नैसर्गिकं तु जीवानां दास्यं विष्णोः सनातनम्। तद्विनावर्तते मोहात्संसारे जीव सर्वदा॥ तस्मात्तु भगवद्दास्यमात्मनां श्रुतिबोधितम्। दास्यं विना कृतं यस्तु तदेव कलुषं भवेत्॥**(वृ.हा.स्मृ.5.31-33) इसी कारण श्रीहनुमान् जी महाराज **दासोऽहं कोसलेन्द्रस्य रामस्याक्लिष्टकर्मणः। हनुमाञ्शत्रुसैन्यानां निहन्ता मारुतात्मजः॥** (वा.रा.5.42.34) इस प्रकार स्वयं को भगवान् श्रीरामचन्द्र का दास कहते हैं।

रामाय पद के घटक प्रातिपादिक और प्रत्यय के अर्थनिरूपण के पश्चात् अब नमः पद के अर्थ का निरूपण किया जाता है-

नमः पदेनाखण्डेन त्वात्मात्मीयत्वमुच्यते।
षष्ठ्यन्तेन मकारेण भोग्यभोक्तृत्वमप्युत॥18॥

अन्वय

तु अखण्डेन नमः पदेन आत्मात्मीयत्वम् उच्यते उत षष्ठ्यन्तेन मकारेण भोग्यभोक्तृत्वम् अपि।

अर्थ

तु-किन्तु **अखण्डेन**-अखण्ड **नमः**-नमः **पदेन**-पद से (जीव और ब्रह्म का) **आत्मात्मीयत्वम्**-आत्म-आत्मीयभाव सम्बन्ध **उच्यते**-कहा जाता है **उत**-और **षष्ठ्यन्तेन**-षष्ठ्यन्त **मकारेण**-मकार से (दोनों का) **भोग्यभोक्तृत्वम्**-भोग्यभोक्तृभाव सम्बन्ध **अपि**-भी कहा जाता है।

भाष्य

आत्मात्मीयभाव सम्बन्ध-नमः शब्द दो प्रकार का होता है-सखण्ड और अखण्ड। न और मः इन दो पदों के मेल से सखण्ड नमः शब्द होता है और ऐसे विभाग के विना अखण्ड नमः पद होता है। अखण्ड नमः पद के द्वारा आत्मा और ब्रह्म राम का आत्मा-आत्मीयभाव सम्बन्ध कहा जाता है। परमात्मा राम सभी के आत्मा हैं और चेतन जीव तथा अचेतन पदार्थ ये सभी उनके आत्मीय हैं, इस प्रकार दोनों का आत्मा-आत्मीयभाव सम्बन्ध

होता है। आत्मा शब्द का शरीरी अर्थ प्रसिद्ध है, तब आत्मीय शब्द से शरीर को लिया जा सकता है किन्तु आत्मशरीरभाव सम्बन्ध प्रस्तुत ग्रन्थ के सप्तदश श्लोक से "आधाराधेयभाव:" शब्द से कहा जा चुका है अतः उसे यहाँ नहीं ले सकते इसलिए अब प्रासंगिक अर्थ प्रस्तुत किया जाता है-आप्लृ व्याप्तौ धातु से आत्मा शब्द की सिद्धि होती है, इसका अर्थ होता है-व्यापक परमात्मा, यह सभी में व्याप्त होकर रहने से सर्वव्यापक कहलाता है। आत्मीय का अर्थ होता है-परमात्मा से व्याप्य चेतनाचेतनात्मक जगत्, इस प्रकार आत्मात्मीयत्व के द्वारा भगवान् और जगत् का व्याप्य-व्यापकभाव सम्बन्ध कहा जाता है-

सभी द्रव्यों से संयुक्त होकर रहना ही व्यापक होना है-**सर्वद्रव्यसंयोगित्वं विभुत्वम्।** भगवान् सभी द्रव्यों से संयुक्त होकर रहते हैं, इसलिए वे व्यापक कहलाते हैं। देशपरिच्छेद से रहित वस्तु ही सभी द्रव्यों से संयुक्त होकर रहती है। परमात्मा देशपरिच्छेद से रहित हैं, इसलिए वे सभी से संयुक्त होकर रहते हैं। इस प्रकार व्यापकत्व का अर्थ देशपरिच्छेद का अभाव है। सर्वव्यापक परब्रह्म चेतनाऽचेतनात्मक सभी वस्तुओं के अन्दर रहता है और सभी वस्तुओं के बाहर भी-**तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वास्यास्य बाह्यत:।**(ई.उ.5)। वस्तु का कोई भी भाग ऐसा नहीं है, जिसमें परब्रह्म न रहता हो। वह तिल में तैल की तरह समग्र वस्तुओं के अन्दर व्याप्त होकर रहता है। परमात्मा जैसे पदार्थों के अन्दर रहता है, वैसे ही उनके अभाव स्थान में भी रहता है, इसे तैत्तिरीय श्रुति भी स्पष्टरूप से कहती है। इस जगत् में जो कुछ पदार्थ दिखाई देता है या सुनाई देता है, उस सभी को अन्दर और बाहर से व्याप्त करके नारायण स्थित है-**यच्च किंचिज्जगत्यस्मिन् दृश्यते श्रूयतेऽपि वा। अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायण: स्थित:॥**(तै. ना.उ.94)। घर के अन्दर रहने वाले घटादि पदार्थ उसी काल में घर के बाहर नहीं रहते और बाहर रहने वाले घटादि पदार्थ उसी काल में अन्दर नहीं रहते किन्तु श्रीरामचन्द्र युगपद् सभी पदार्थों के अन्दर और बाहर रहते हैं, यह उनकी विलक्षणता है। 'कोई भी स्थान ऐसा नहीं है, जिसमें भगवान् न हों' इस अभिप्राय से अणु आत्मा में भी उनका रहना संभव होता है। उनका बाहर रहना तो अव्यापक द्रव्य की अपेक्षा से कहा गया है। सभी वस्तुओं में अन्दर और बाहर से परमात्मा की व्याप्ति का अर्थ है-परमात्मा

से अव्याप्त प्रदेश का अभाव। इस प्रकार अन्दर और बाह्य प्रदेश के अभाव वाले निरवयव, अणु जीव और विभु काल में भी उनकी व्याप्ति संभव होती है।

परमात्मा आत्मा में रहता है, आत्मा के अन्दर रहता है, जिसे आत्मा नहीं जानती, आत्मा जिसका शरीर है, जो आत्मा के अन्दर रहकर उसका नियमन करता है, वह निरतिशय भोग्य परमात्मा तुम्हारा अन्तर्यामी है-**य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद, यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति। स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः।**(बृ.उ.मा.पा.3.7.26) यह श्रुति अणु आत्मा में परमात्मा की व्याप्ति को कहती है। यहाँ **य आत्मनि तिष्ठन्** इस प्रकार कहने से आत्मा में परमात्मा की स्थिति (बहिर्व्याप्ति) सिद्ध होती किन्तु उसके भीतर परमात्मा की व्याप्ति सिद्ध नहीं होती अतः **आत्मनोऽन्तरः** यह पुनः कथन आत्मा में परमात्मा की बहिर्व्याप्तिमात्र का निराकरण करने के लिए है। यहाँ पर ही आत्मा के अन्दर प्रवेश करके नियन्तारूप से परमात्मा की स्थिति का प्रतिपादन करके आत्मा और परमात्मा के शरीरशरीरिभाव का प्रतिपादन करने से भी अणु आत्मा में परमात्मा की अन्तर्व्याप्ति सिद्ध होती है। परमात्मा अपने से भिन्न सभी वस्तुओं से सूक्ष्म हैं इसलिए उनकी सभी में अन्तर्व्याप्ति होती है। सभी में अन्तर्व्याप्ति का हेतु परमात्मा का सूक्ष्मतमत्व(अत्यन्त सूक्ष्म होना) है।

जैसे दर्पणादि स्वच्छ द्रव्य में पृथिवी और जल का प्रवेश न होने पर भी तेज का प्रवेश होता है, वैसे ही आत्मा और कालादि सभी पदार्थों में परमात्मा का प्रवेश होता है, इससे उसी प्रकार आत्मा का छेदन और भेदन नहीं होता, जिस प्रकार दर्पणादि द्रव्यों में प्रकाश आदि के प्रवेश से उनका छेदन और भेदन नहीं होता। जैसे सूर्यादि का प्रकाश अपनी व्याप्ति का अवरोध न होनेसे स्वच्छ द्रव्य को अन्दर और बाहर से व्याप्त करके रहता है, इससे प्रकाश और स्वच्छद्रव्य की कोई क्षति नहीं होती, यह प्रत्यक्षप्रमाण से स्वीकार किया जाता है। वैसे ही परमात्मा भी अपनी व्याप्ति का अवरोध न होने से प्रत्यगात्मा को अन्दर और बाहर से व्याप्त करके रहते हैं। इससे परमात्मा के और आत्मा के नित्यत्वादि की क्षति नहीं होती, यह श्रुति प्रमाण से स्वीकार किया जाता है। जैसे एक स्थान में स्थित

अनेक मणि, दीप आदि की प्रभाओं की परस्पर में व्याप्ति का प्रतिघात न होने से उनका अन्दर प्रवेश प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है, जैसे नैयायिकमत में विभुत्वेन स्वीकृत काल, दिशा और आत्मा का परस्पर में प्रतिघात न होने से उनकी सर्वत्र व्याप्ति सिद्ध है और जैसे एक स्थान में स्थित स्वप्न और जाग्रत के पदार्थों के पारस्परिक अन्तःप्रवेश का अपलाप नहीं किया जा सकता, वैसे ही प्रत्यगात्मा के अन्दर नियन्तारूप से परमात्मा की स्थिति तथा परमात्मा के अन्दर और उनके ही अधीन अन्यपदार्थों की स्थिति शास्त्र प्रमाण से सिद्ध है, इसका अपलाप नहीं किया जा सकता।

शंका–आकाशादि विभु(व्यापक) द्रव्य सर्वत्र विद्यमान होने से उनके बर्हिदेश का ही अभाव होता है अत: विभु द्रव्य में परमात्मा की बहिर्व्याप्ति का कथन कैसे संभव होता है?

समाधान–वेदान्तसिद्धान्त में आकाश विभु नहीं माना जाता, वह तो महदादि की अपेक्षा भी अपकृष्ट परिमाण वाला है। पृथ्वी आदि की अपेक्षा से उसका विभुत्व व्यवहार होता है अत: उसमें परमात्मा की बहिर्व्याप्ति का कथन संभव होता है। भगवान् ने कहा है कि हे अर्जुन! इस बहुत ज्ञान से तेरा क्या प्रयोजन? मैं इस सम्पूर्ण जगत् को अपने एक अंश से धारण करके स्थित हूँ-**अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन। विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्॥**(गी.10.42), हे अर्जुन! तू आज यहाँ मेरे शरीर के एकभाग में स्थित सम्पूर्ण जगत् को देख तथा और भी जो देखना चाहता है, उसे देख-**इहैकस्थं जगत् कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्। मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि॥**(गी.11.7), तब अर्जुन ने वहाँ देवाधिदेव श्रीकृष्ण के शरीर के एकभाग में स्थित अनेक प्रकार से विभक्त चराचर जगत् को देखा-**तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा। अपश्यद् देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा॥**(गी.11.13), जिसके दस हजार भाग में एक भाग के फिर दस हजार भाग करने पर शेष अंश में समस्त विश्व शक्ति स्थित है, उस अव्यय परब्रह्म को हम सब प्रणाम करते हैं-**यस्यायुतायुतांशांशे विश्वशक्तिरियं स्थिता। परब्रह्मस्वरूपं यत्प्रणमामस्तम् अव्ययम्॥**(वि.पु.1.9.53) इत्यादि प्रमाणों से परमात्मभिन्न आकाशादि उससे अपकृष्ट परिमाण वाले सिद्ध होते हैं। लोक में भगवान् से भिन्न इन पदार्थों के लिए जो विभुत्व का व्यवहार है, वह उनसे भिन्न कुछ पदार्थों की

अपेक्षा अपकृष्ट परिमाण के अभाव के कारण है। परब्रह्म महान्(विभु) से भी महान् है-**महतो महीयान्**।(क.उ.1.2.20) इत्यादि श्रुतियों के द्वारा अपने से इतर सभी महान् द्रव्यों की अपेक्षा परमात्मा की महानता का प्रतिपादन किया गया है इसलिए उससे विरुद्ध कोई भी द्रव्य परमात्मा के समान महान् सिद्ध नहीं होता। इस कारण आकाशादि में भी परमात्मा की बहिर्व्याप्ति का कथन संभव होता है।

काल विभु होने पर भी ईश्वर के अधीन है। इससे उसकी अपकृष्टता स्वतः सिद्ध है। परमात्मा सभी में रहता है और सम्पूर्ण जगत् परमात्मा में रहता है, इसलिए विद्वान् परमात्मा को वासुदेव कहते हैं-**सर्वत्रासौ समस्तं च वसत्यत्रेति वै यतः। ततस्स वासुदेवेति विद्वद्भिः परिपठ्यते**॥(वि.पु.1.2.12) सभी भूतों में परमात्मा की व्याप्तिमात्र है। वह सभी भूतों में रहने पर भी उनसे धारण नहीं किया जाता। शरीर का आधार जीव है, सम्पूर्ण जगत् का आधार ईश्वर है। जैसे 'शरीर का आधार जीव शरीर में रहता है' यह व्यवहार संभव होता है, वैसे ही 'सभी का आधार परमात्मा सभी में रहता है', यह व्यवहार भी संभव होता है। जैसे ईश्वर के विना सभी वस्तुओं की सत्ता संभव नहीं, वैसे सभी वस्तुओं के विना ईश्वर की सत्ता संभव नहीं, ऐसा नहीं कहा जा सकता, इसलिए भगवान् ने कहा है कि वह कोई भी चराचर वस्तु नहीं है, जो मेरे विना हो-**न तदस्ति विना यत्स्यान् मया भूतं चराचरम्**।(गी.10.39)। चेतन आत्मा का वियोग होने पर शरीर नष्ट हो जाता है, वह चेतन के विना रहता ही नहीं इसलिए जैसे चेतन आत्मा का स्वरूप शरीर की सत्ता के अधीन नहीं है क्योंकि चेतन ही शरीर को धारण करने वाला आधार है, वैसे ही परमात्मा का स्वरूप जगत् की सत्ता के अधीन नहीं है क्योंकि परमात्मा ही जगत् को धारण करने वाला आधार है। वह अपने संकल्प से सभी को धारण करता है। जैसे ऊपर स्थित घटादि पदार्थों का नीचे स्थित भूतल आधार होता है, वैसे परमात्मा सबका आधार नहीं होता बल्कि सम्पूर्ण जगत् की सत्ता इसके अधीन है इसलिए सर्वव्यापक परमात्मा सबका आधार होता है। परमात्मा की चेतनाचेतन सभी पदार्थों में तीन प्रकार से व्याप्ति होती है-

1.ब्रह्मस्वरूप सर्वव्यापक है, उसका सभी में व्याप्त होकर रहना ही स्वरूपतः व्याप्ति है।

2.ब्रह्म का धर्मभूत ज्ञान भी सर्वव्यापक है। धर्मभूतज्ञान के द्वारा उसकी सभी में व्याप्ति धर्मभूतज्ञानतः व्याप्ति है।

3.ब्रह्म का विराट विग्रह भी सर्वव्यापक है। विराट विग्रह के द्वारा उसकी सभी में व्याप्ति विग्रहतः व्याप्ति है।

परमात्मा व्यापक है और अजन्मा है-**स वा एष महानज आत्मा**।(बृ.उ. 4.4.22), परमात्मा व्यापक से भी व्यापक है-**महतो महीयान्**।(क.उ.1.2. 20), यह सम्पूर्ण जगत् मुझ ईश्वर से व्याप्त है-**मया ततमिदं सर्वम्**।(गी. 9.4), जो अव्यय ईश्वर तीनों लोकों में प्रवेश करके उन्हें धारण करता है-**यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः**।(गी.15.17) इत्यादि वचन ब्रह्म के व्यापक होने में प्रमाण हैं। क्वचिद् परमात्मा का जो अणुत्व और सूक्ष्मत्व सुना जाता है, वह उपासना के लिए हृदयरूप अल्पस्थान में स्थिति के कारण है। जैसे आकाश बड़ा होने पर भी सुई की छिद्ररूप उपाधि में स्थित होने से अल्प कहा जाता है, वैसे ही परमात्मा व्यापक होने पर भी अल्प हृदयरूप उपाधि में स्थित होने से अल्प कहा जाता है। जिस प्रकार सुई की छिद्ररूप उपाधि के कारण आकाश में प्रतीत होने वाला औपाधिक अल्पत्व का आकाश के स्वाभाविक महत्त्व से विरोध नहीं होता, वैसे ही अल्पस्थान हृदयरूप उपाधि के कारण परमात्मा में प्रतीत होने वाले औपाधिक अणुत्व का परमात्मा के स्वाभाविक व्यापकत्व से विरोध नहीं होता, ऐसे व्यापक परमात्मा का व्याप्य जगत् से सम्बन्ध व्याप्य-व्यापकभाव या आत्मा-आत्मीयभाव सम्बन्ध कहलाता है, इस सम्बन्ध के अनुसंधान का फल है-सर्वत्र भगवद्दर्शन। इस प्रकार अखण्ड नमः पद के अर्थ का निरूपण किया गया।

नमः को सखण्ड मानने पर प्रथम पद न है, यह अव्यय है और द्वितीय पद मः है, यह षष्ठ्यन्त है, अब इसके अर्थ भोग्यभोक्तृभाव सम्बन्ध का निरूपण किया जाता है-

भोग्यभोक्तृभावसम्बन्ध

भोग्य का अर्थ है-भोग का कर्म और भोक्ता का अर्थ है-भोग का कर्ता, यहाँ भोग का अनुभव अर्थ विवक्षित है, इस प्रकार भोग्य का अर्थ अनुभव का कर्म और भोक्ता का अर्थ अनुभव का कर्ता होता है। जीव भोक्ता

अर्थात् अनुभव करने वाला है और परमात्मा उसके द्वारा भोग्य अर्थात् अनुभाव्य हैं। जैसे पिता की सम्पत्ति को प्राप्त करने में पुत्र का स्वाभाविक अधिकार होता है, ऐसे ही प्रभु श्रीराम का अनुभव करने में जीवमात्र का स्वाभाविक अधिकार है, इस प्रकार जीव और ब्रह्म में भोग्य-भोक्तृभाव सम्बन्ध होता है। जीव सांसारिक पदार्थों को अपना भोग्य समझता है और स्वयं को उनका भोक्ता किन्तु यह कर्मरूप अज्ञान उपाधि के कारण होता है। जीव के स्वाभाविक अनुभाव्य भगवान् हैं और जीव उनका स्वाभाविक अनुभविता, इस सम्बन्ध का अनुसंधान करने से जीव की विषयभोग से सम्बन्ध रखने वाली इच्छाएँ समाप्त हो जाती हैं।

ग्रन्थ में सखण्ड नमः पद के व्याख्यान के प्रसंग में म का अर्थ किया गया किन्तु न अर्थ नहीं किया गया, उसका निषेध अर्थ है। आत्मा के परमात्मा के साथ जितने भी सम्बन्ध हैं, वे सभी शाश्वत हैं, नित्य हैं। आत्मा स्वकल्याण के लिए किसी भी सम्बन्ध का अनुसंधान कर सकती है। यदि कोई अज्ञान से उन सम्बन्धों को अनित्य समझता है तो 'न' पद से ऐसी विपरीत समझ का निषेध जानना चाहिए।

ज्ञानानन्दस्वरूपोऽवगतिसुखगुणो मेन वेद्योऽणुमानो
देहादेरप्यपूर्वो विविदितविविधस्तत्प्रियस्तत्सहायः।
नित्यो जीवस्तृतीयेन तु खलु पदतः प्रोच्यते स्वप्रकाशो
जिज्ञासूनां सदेत्थं शुभनतिसुमते शास्त्रवित्सज्जनानाम्॥19॥

अन्वय

सदा शुभनतिसुमते! तृतीयेन पदतः मेन तु[1] देहादेः अपूर्वः, ज्ञानानन्द-स्वरूपः, अवगतिसुखगुणः, अणुमानः, विविदितविविधः, तत्प्रियः, तत्सहायः, नित्यः, स्वप्रकाशः अपि[2] जीवः खलु[3] प्रोच्यते, इत्थं शास्त्रवित्सज्जनानां जिज्ञासूनां वेद्यः।

अर्थ

सदा-सदा **शुभनतिसुमते**-श्रद्धापूर्वक प्रणाम करने की सुबुद्धि वाले सुरसुरानन्द! **तृतीयेन**-तृतीय **पदतः**[4]-पद **मेन**-मकार से **तु**-तो **देहादेः**-देहादि

1.अत्र तु शब्दः पूर्वापेक्षया वैलक्षण्यद्योतनाय। 2.अपि शब्देन प्रत्यक्त्वानुकूलत्वाहमर्थत्वानां ग्रहणम्। 3.खलुशब्दः वाक्यालंकारे। 4.तृतीयार्थे तसिप्रत्ययः।

से **अपूर्वः**-विलक्षण **ज्ञानानन्दस्वरूपः**-ज्ञानानन्दस्वरूप **अवगतिसुखगुणः**-ज्ञानानन्द गुण का आश्रय **अणुमानः**-अणु परिमाण वाला **विविदितविविधः**-विविध प्रकार वाला **तत्प्रियः**[1]-श्रीराम से प्रीति रखने वाला **तत्सहायः**[2]-श्रीराम के साथ रहने वाला **नित्यः**-नित्य **स्वप्रकाशः**-स्वप्रकाश **अपि**-भी **जीवः**-जीवात्मा **प्रोच्यते**-कहा जाता है, **इत्थम्**-ऐसा(जीवात्म तत्त्व) (अध्यात्मशास्त्र से भिन्न) **शास्त्रवित्सज्जनानाम्**-शास्त्रों के वेत्ता (जीवात्म तत्त्व के) **जिज्ञासूनाम्**-जिज्ञासु महापुरुषों का **वेद्यः**-वेद्य है।

भाष्य

मन में श्रद्धा और वाणी में सरलता होने पर जो प्रणाम किया जाता है, उसे यहाँ शुभनति कहा गया है। सुमति का अर्थ है-सुमति(सुन्दर बुद्धि) वाला। अशुद्ध अन्तःकरण का सांसारिक विषयों में सहज आकर्षण होता है। शुद्ध का नहीं, वह सूक्ष्म तत्त्वों को जानने के लिए प्रवृत्त होता है। सूक्ष्म तत्त्व कौन हैं? यह दृश्यमान पाञ्चभौतिक जगत् स्थूल है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, प्राण और बुद्धि ये उत्तरोत्तर सूक्ष्म हैं। इनसे सूक्ष्म आत्म तत्त्व है और इस आत्मा से भी सूक्ष्म परमात्म तत्त्व। इनके जिज्ञासु सुरसुरानन्द को ग्रन्थकार सुमति शब्द से अभिहित कर रहे हैं। श्रीहित हरिवंश महाप्रभु के शिष्य श्रीहरिराम व्यास जी(विक्रम की 16 वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में विद्यमान) ने भी **जाको सेवक कबीर धीर अति सुमति सुरसुरानन्द।**(व्या. वा.85) इस प्रकार स्वामी रामानन्दाचार्य जी के सेवाभावी शिष्य सुरसुरानन्द के लिए सुमति शब्द का प्रयोग किया है। पूर्व श्लोक में 'रां' के अन्तर्गत र्, आ, म् तीन पद, रामाय चतुर्थ पद, नमः को सखण्ड मानकर न पञ्चम और म षष्ठ पद कहा गया तो प्रस्तुत श्लोक में म को तृतीय पद कैसे कहा जाता है? राममन्त्र में तीन मकार हैं। उनमें प्रथम बीज(राम्=रा[3]) में, द्वितीय रामाय में और तृतीय नमः में विद्यमान है। नमः को सखण्ड पद मानकर उसका मकार कहा गया है। प्रस्तुत श्लोक में तृतीय पद मकार से यही विवक्षित है, ऐसा जानना चाहिए।

जीवात्मा

देहादि से विलक्षण-प्रस्तुत श्लोक में पठित देहादेः पद में आदि शब्द से

1. सः श्रीरामः प्रियः यस्य सः तत्प्रियः। 2. सः श्रीरामः सहायः सखा यस्य सः

इन्द्रिय, मन, प्राण तथा बुद्धि को ग्रहण किया जाता है। कुछ चार्वाक देह को आत्मा मानते हैं, कुछ बाह्येन्द्रियों को आत्मा मानते हैं। कुछ अन्तर् इन्द्रिय मन को और कुछ प्राण को आत्मा मानते हैं। बौद्ध मत[1] और शांकर मत[2] में बुद्धि (ज्ञान) को आत्मा माना जाता है। देहादि से भिन्न आत्मा है। यदि देहादि ही आत्मा होते तो 'मैं देह हूँ, मैं इन्द्रिय हूँ, मैं मन हूँ, मैं प्राण हूँ और मैं बुद्धि हूँ' ऐसा अभेदज्ञान होना चाहिए किन्तु ऐसा ज्ञान नहीं होता अपितु मेरा देह है, मेरी चक्षु आदि इन्द्रियाँ हैं, मेरा मन है, मेरा प्राण है, मेरी बुद्धि है, इस प्रकार देहादि और आत्मा का भिन्नरूप(भेद) से ज्ञान होता है। इस कारण देहादि से भिन्न आत्मा मानी जाती है। यह देह है-'इदं शरीरम्', यह इन्द्रिय है-'इदम् इन्द्रियम्' इत्यादि रीति से देहादि का 'इदम्' रूप से ज्ञान होता है तथा मैं आत्मा हूँ- 'अहमात्मा' इस प्रकार आत्मा का 'अहम्' रूप से ज्ञान होता है। देहादि का इदन्त्वेन तथा आत्मा का अहन्त्वेन ज्ञान होने के कारण देहादि से भिन्न आत्मा स्वीकार की जाती है। देहादि विद्यमान होने पर सदा ज्ञात होते हों, ऐसा नहीं है, बल्कि कभी उनका ज्ञान होता है, कभी नहीं होता किन्तु अपनी आत्मा का ज्ञान सदा रहता है। किसी भी व्यक्ति को 'मैं नहीं हूँ' इस प्रकार अपने आत्मस्वरूप का अज्ञान कभी भी नहीं होता, इस कारण भी देहादि से भिन्न आत्मा मानी जाती है।

चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना और त्वक् पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ पाँच कर्मेन्द्रियाँ होती हैं। मन अन्तरिन्द्रिय है। चक्षु आदि इन्द्रियाँ ज्ञान के साधन अर्थात् करण हैं। करण से भिन्न कर्ता होता है। इस प्रकार इन्द्रियों से भिन्न आत्मा को समझा जाता है। मनन करने वाली आत्मा है। मनन करने का साधन मन है। मनन के साधन मन से मनन करने वाली आत्मा भिन्न है। प्राण वायुविशेष का कार्य है इसलिए भौतिक है। आत्मा भौतिक नहीं। प्राणों की उत्पत्ति होती है, आत्मा की नहीं। सुषुप्ति में प्राण कार्य करता है, आत्मा नहीं, इस प्रकार प्राण से भी भिन्न आत्मा सिद्ध होती है। बुद्धि से विषयप्रकाशक ज्ञान को लिया जाता है। धर्मभूतज्ञान ही विषय का प्रकाशक है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, उसके

तत्सहायः। **3.**यहाँ मकार के स्थान में आने वाले अनुस्वार को उपचार से मकार कहा गया है। **1.**बौद्धमत में क्षणिक ज्ञान आत्मा है। **2.**शांकर मत में नित्य ज्ञान आत्मा है।

आश्रित एक ज्ञान रहता है, जिसे धर्मभूत ज्ञान कहा जाता है अत: 'ज्ञानवानहम्' ऐसी प्रतीति होती है, इस प्रतीति से आत्मा ज्ञान का आधार और ज्ञान आधेय सिद्ध होता है, इस प्रकार ज्ञान से भी भिन्न आत्मा सिद्ध होती है।

ज्ञानानन्दस्वरूप

आत्मा की ज्ञानरूपता का प्रतिपादन 7 वें श्लोक की व्याख्या में विस्तार से किया गया है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है। अनुकूलरूप से अनुभव में आने वाला ज्ञान ही सुख या आनन्द कहलाता है। किसी को भी अपनी ज्ञानरूप आत्मा प्रतिकूलरूप से अनुभव में नहीं आती, अनुकूलरूप से ही अनुभव में आती है। यह सबके प्रत्यक्ष अनुभव से सिद्ध है। इस अनुभव से आत्मा आनन्दरूप सिद्ध होती है। ज्ञानस्वरूप आत्मा ही आनन्दस्वरूप होने के कारण ज्ञानानन्दस्वरूप कही जाती है। आनन्दरूप होने से ही अपनी आत्मा निरतिशय प्रिय होती है। 'अहम्' इस प्रकार आत्मा के प्रकाशित होते समय उसकी सुखरूपता भी प्रकाशित होती है। कभी क्रोध आदि के आवेश काल में जो उसकी दु:खरूपता प्रतीत होती है, उसका कारण कर्मरूप उपाधि है अत: कदाचित् प्रतीत होने वाली दु:खरूपता औपाधिक है, स्वाभाविक नहीं। आत्मा की सुखरूपता ही स्वाभाविक है।

आत्मा का अनुभवरूप कैवल्य होता है। कैवल्यार्थी की उसके साधन में प्रवृत्ति होती है, इससे भी आत्मा की आनन्दरूपता सिद्ध होती है क्योंकि दु:खरूप वस्तु को कोई भी नहीं चाहता, सभी आनन्द को ही चाहते हैं। आत्मा आनन्दरूप होने से उसका अनुभवरूप कैवल्य भी आनन्दरूप होता है इसी कारण उसे प्राप्त करने की इच्छा होती है।

आत्मा का सुखरूप होना ही उसकी आनन्दरूपता है। निद्रा से जागने पर 'मैं सुख से सोया' इस प्रकार सुख का स्मरण होता है। यह स्मरण अनुभव के विना नहीं हो सकता। जिस विषय का अनुभव होता है, उसी का स्मरण होता है इसलिए सुख के स्मरण के बल पर सुख का अनुभव स्वीकार करना पड़ता है। सुख का अनुभव कब हुआ? यह अनुभव जाग्रत अवस्था का नहीं है किन्तु सुषुप्ति से जागने पर स्मरण अवश्य होता है। इससे स्वीकार करना पड़ता है कि सुषुप्ति के समय सुख का अनुभव हुआ है। यह सुख विषयजन्य सुख नहीं हो सकता क्योंकि सुषुप्ति में मनसहित

सभी इन्द्रियाँ अपने कार्यों से पूर्णतः उपरत होती हैं, उनका विषय के साथ सम्बन्ध नहीं होता। विषय-इन्द्रिय के सम्बन्ध से ही विषयजन्य सुख होता है। सुषुप्ति काल में विषय-इन्द्रिय का सम्बन्ध न होने से उस समय अनुभव में आने वाला सुख विषयसुख नहीं हो सकता, वह सुख क्या है? वह सुख आत्मा का स्वरूप ही है। अनुकूल रूप से प्रतीत होने वाले ज्ञान को ही सुख कहते हैं। अपना ज्ञानरूप आत्मा का किसी को भी प्रतिकूल अनुभव नहीं होता, अनुकूल ही अनुभव होता है, इसलिए उसे(आत्मा को) सुखस्वरूप कहते हैं अतः सुषुप्ति में होने वाला सुख का अनुभव सुखरूप आत्मा का ही अनुभव है। यह अनुभव आत्मा का स्वरूप है, वृत्तिज्ञान नहीं। उस समय सभी इन्द्रियों के उपरत होने से कोई वृत्ति होती ही नहीं। सुषुप्ति में होने वाले आत्मरूप आनन्द के अनुभव से जाग्रतकाल में आनन्द का स्मरण होता है। यदि आत्मा आनन्दरूप नहीं होती, तो उसका अनुभव न होने से 'मैं आनन्द से सोया' इस प्रकार आनन्द का स्मरण भी नहीं होता, किन्तु स्मरण होता है, इससे सिद्ध होता है कि आत्मा आनन्दरूप है।

शंका-जाग्रतकालीन स्मरण के बल पर सुषुप्ति में आत्मा की आनन्दरूपता का अनुभव स्वीकार करना उचित नहीं क्योंकि लोक में अनुभव और स्मरण का आश्रय एक ही देखा जाता है। सुषुप्ति में अनुभव करने वाला स्वरूपभूत आत्मा है तथा जागने पर स्मरण करने वाला ज्ञाता(ज्ञानविशिष्ट आत्मा) है। यहाँ अनुभव और स्मरण के भिन्न भिन्न आश्रय होते हैं। इसलिए स्मरण के बल पर आत्मा की आनन्दरूपता की अनुभूति स्वीकार करना उचित नहीं। संस्कार ही स्मृति का जनक होता है और स्मृति के हेतु संस्कार की उत्पत्ति अनित्यज्ञान से होती है। सुषुप्ति में विद्यमान स्वरूपभूत ज्ञान नित्य है, अतः इससे संस्कारों की उत्पत्ति नहीं होगी क्योंकि अनुभव की सूक्ष्मावस्था ही संस्कार कहलाती है। निर्विकार एकरूप आत्मा की सूक्ष्मावस्था नहीं हो सकती। सुषुप्तिकालीन अनुभव वृत्तिज्ञान नहीं है, वह तो आत्मस्वरूप ही है। संस्कार की उत्पत्ति न होने से आनन्द की स्मृति भी नहीं होगी, स्मृति के न होने से आत्मा को आनन्दरूप स्वीकार नहीं किया जा सकता। नित्यज्ञान को भी संस्कार का उत्पादक मानने पर मोक्ष में भी संस्कार मानने पड़ेंगे जो कि अनिष्ट है। संस्कार धर्मभूतज्ञान का एक विकार है, इसलिए वह धर्मभूतज्ञान की स्मृतिरूप अवस्था का कारण होता

है। घटादि पदार्थों के अनुभव धर्मभूतज्ञान की अवस्थाएँ हैं। अनुभवजन्य संस्कार तथा स्मृति भी ज्ञान की अवस्थाएँ होती हैं। स्वरूपभूतज्ञान के अनुभव करने पर धर्मभूतज्ञान में संस्कार संभव न होने से स्मृति भी संभव नहीं होगी, इस प्रकार असंगति होने के कारण उक्त स्मृति के बल पर आत्मा को आनन्दरूप स्वीकार नहीं किया जा सकता।

समाधान-अनुभव करने वाला ही स्मरण करता है, अनुभव न करने वाला स्मरण नहीं करता इसलिए माना जाता है कि अनुभवकर्ता को ही स्मरण होता है। जागने पर सुख का स्मरण होता है, यह निद्राकालीन अनुभव के विना संभव नहीं, इसलिए माना जाता है कि स्मर्यमाण सुख निद्रा में अनुभूत आत्मा का स्वरूपभूत सुख है। रही बात अनुभव और स्मरण के एक कर्ता होने की तथा अनुभव, संस्कार और स्मरण के एक आधार होने की। यह बात तो इन्द्रियजन्य अनुभव के विषय में मानी जाती है। इन्द्रियनिरपेक्ष स्वरूपभूत अनुभवस्थल में यह संभव नहीं। लोकसिद्ध इन्द्रियजन्य अनुभव और स्वरूपभूत अनुभव यदि समान होते तो शंका को अवकाश मिलता किन्तु वे दोनों समान नहीं हैं अतः शंका करना व्यर्थ है। मुक्तात्मा को सभी पदार्थ सदा प्रत्यक्ष रहते हैं। उसमें संस्कार का कार्य कुछ भी नहीं है अतः मोक्ष में संस्कार की कल्पना करना व्यर्थ है। निर्विकार आत्मस्वरूप में संस्कार संभव नहीं, फिर भी स्मृति होने के कारण वेदान्तमत में माना जाता है कि आत्मा के स्वरूपभूतज्ञान से धर्मभूतज्ञान में संस्कार उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार आत्मा की आनन्दरूपता की स्मृति संभव होती है और इस स्मृति से आत्मा को आनन्दरूप स्वीकार किया जाता है।

नैयायिक

'मैं सुख से सोया' इस प्रकार जाग्रतकालीन स्मरण के बल पर आत्मा को सुखरूप स्वीकार करना उचित नहीं क्योंकि 'मैं दुःख से सोया' ऐसा भी जाग्रतकाल में स्मरण होता है। यदि एक मनुष्य के स्मरण के बल से आत्मा को सुखरूप स्वीकार किया जाए तो दूसरे मनुष्य के स्मरण के बल से आत्मा को दुःखरूप क्यों न स्वीकार किया जाय?

वेदान्ती

यह कथन युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि सुषुप्ति में दुःख का अनुभव नहीं

होता। 'मैं दुःख से सोया' इस स्मरण का जनक सुषुप्तिकालिक अनुभव नहीं है बल्कि सुषुप्ति से अव्यवहित पूर्वकाल में रोग, चिन्ता, खटमल, मच्छर तथा विस्तर आदि की प्रतिकूलता से होने वाला दुःख ही इस स्मरण का हेतु है। निद्रा के साथ उसे मिलाकर 'मैं दुःख से सोया' यह कहा जाता है। इस स्मरण का जनक सुषुप्ति से पूर्व में होने वाले दुःख हैं अतः उक्त स्मरण के बल पर आत्मा को दुःखरूप सिद्ध नहीं किया जा सकता, वह तो आनन्दरूप ही है।

नैयायिक

जैसे 'मैं दुःख से सोया' इस स्मरण का जनक सुषुप्ति से अव्यवहित पूर्वकाल में होने वाला दुःख है, वैसे ही 'मैं सुख से सोया' इस स्मरण का जनक सुषुप्ति के अव्यवहित पूर्वकाल में होने वाला सुख है। सुषुप्ति के पूर्व अच्छा मौसम तथा विस्तर आदि की अनुकूलता से सुख का अनुभव होता है। सुषुप्ति में कोई भी अनुभव नहीं होता अतः अनुभवजन्य स्मरण के बल पर आत्मा को आनन्दरूप नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः आत्मा न तो सुखरूप है और न ही दुःखरूप। सुषुप्ति में दुःखाभाव तो होता है पर सुख नहीं होता।

वेदान्ती

यह कथन उचित नहीं क्योंकि जब दीर्घकाल तक निद्रा के लिए, भोजन के लिए अथवा अन्य सुखदायक विषय को भोगने के लिए अवसर नहीं मिलता, तब बाद में युगपद् सभी की प्राप्ति होने पर सभी लोग विषयसुख का त्याग कर भोजनसुख और भोजनसुख का त्याग कर निद्रासुख इस क्रम से ही सुख का चयन करते हैं। भोजन और विषय सब प्राप्त होने पर भी निद्रा न प्राप्त होने पर निद्रा की गोलियाँ निगलकर सो जाते हैं, इससे सिद्ध होता है कि विषयसुख की अपेक्षा प्राणधारण से जन्य सुख का अधिक महत्त्व है तथा प्राणधारण से जन्य सुख की अपेक्षा निद्रासुख का अधिक महत्त्व है। मनुष्य अपनी सुषुप्ति में बाधा पड़ने पर पहले से सुख देने वाली स्त्री, पुत्र, संपत्ति आदि का भी तिरस्कार करता है, इससे सिद्ध होता है कि निद्रा में होने वाला सुख अन्य सभी सुखों से बढ़कर है, इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि सुषुप्ति में केवल दुःख का अभाव है, सुख नहीं है। सुषुप्ति में जो सुख है, वह आत्मा का स्वरूप ही है।

यह आत्मा आनन्दरूप, ज्ञानरूप तथा निर्मल है-**निर्वाणमय एवायमात्मा ज्ञानमयोऽमल:**।(वि.पु.6.7.22), आत्मा ज्ञानरूप, आनन्दरूप तथा परमात्मा का शेष है-**ज्ञानानन्दमयस्त्वात्मा शेषो हि परमात्मन:**।(पां.सं.) आत्मा ज्ञानानन्दैकस्वरूप है-**ज्ञानानन्दैकलक्षणम्** इत्यादि वचनों से भी आत्मा ज्ञानानन्दरूप सिद्ध होती है।

ज्ञानानन्द गुण का आश्रय

श्रुति प्रमाण से ज्ञानरूप आत्मा ज्ञान का आश्रय(ज्ञाता) भी सिद्ध होती है। आत्मा के आश्रित रहने वाला यह धर्मभूतज्ञान भी स्वयं प्रकाश है। यह विषय का प्रकाश करते समय अपना भी प्रकाश करता है। विशिष्टाद्वैत वेदान्तसिद्धान्त के अनुसार ज्ञानरूप आत्मा अपना ही प्रकाशक होती है किन्तु उसके आश्रित रहने वाला धर्मभूतज्ञान विषय का प्रकाशक होता है। यह भी आनन्दरूप है किन्तु बद्धावस्था में अनादि पुण्यपापात्मक कर्म प्रतिबन्धक होने से उसकी आनन्दरूपता का अनुभव नहीं होता। अनन्त, अपरिमिति दु:खों का जनक उस अवस्था में ज्ञान के संकोच का हेतु कर्म होता है, उसका नाश होने पर मुक्तावस्था में ज्ञान विभु रहता है। वह आनन्दरूप ब्रह्म का प्रकाश करने से तथा ब्रह्मात्मकत्वेन अन्य पदार्थों का प्रकाश करने से आनन्दरूप ही रहता है, इस प्रकार धर्मभूत ज्ञान की आनन्दरूपता सिद्ध होती है, इससे स्पष्ट है कि धर्मभूत ज्ञान स्वभावत: आनन्दरूप ही है अत: इस गुण को भी ज्ञानानन्द कहते हैं और इसका आश्रय आत्मा होती है।

प्रस्तुत श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर ग्रन्थ के सप्तम श्लोक की व्याख्या में आत्मा के ज्ञानस्वरूप, ज्ञान गुण और अणु परिमाण का विस्तार से विवेचन किया गया है तथा भेदों का निरूपण 128 वें श्लोक से आरम्भ किया जायेगा।

भगवत्प्रीति

यह जीवात्मा स्वाभाविकरूप से भगवान् राम से ही प्रीति करने वाला है किन्तु अनादि कर्मात्मिका अविद्या उपाधि के कारण वह उसे विस्मृत कर संसार से प्रीति करने लगता है। भक्तियोग और उसके अंगभूत नित्यनैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान से अविद्या शिथिल होने पर भगवान् में

प्रीति बढ़ने लगती है और परमात्मसाक्षात्कार से प्रतिबन्धक उपाधि के पूर्णतः निवृत्त होने पर निरतिशय प्रीति होती है।

सखा श्रीराम के साथ निवास

स्वामी रामानन्दाचार्य जी ने **तत्सहायः** पद से जीव का सखा भगवान् श्रीरामचन्द्र को कहा है। श्रीराम प्राण से अधिक प्रिय हैं, जीवों के जीवन हैं। किसी से कोई स्वार्थ न होने पर भी सभी के सखा हैं-**रामु प्रानप्रिय जीवन जी के। स्वारथ रहित सखा सबही के॥**(रा.च.मा.2.73.6)। श्रीभगवान् सभी प्राणियों के सब प्रकार से सखा हैं-**सुहृदं सर्वभूतानाम्।**(गी. 5.29), वे सखा होने के कारण अन्यन्त सुहृद् हैं इसलिए वे हृदय से सभी का भला चाहते हैं और सदा साथ ही रहते हैं, इसे मुण्डकश्रति इस प्रकार कहती है कि समान गुण वाले, साथ रहने वाले पक्षी के समान जीव और ईश्वर एक शरीर में रहते हैं, उन दोनों में जीव परिपक्व कर्मफल को भोगता है और ईश्वर कर्मफल को न भोगते हुए खूब प्रकाशित रहता है-**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति।**(मु.उ.3.1.1) प्रस्तुत श्रुति साथ रहने के कारण जीव और ब्रह्म दोनों को सखा कहती है, वे वृक्ष के समान छेदनयोग्य एक शरीर में रहते हैं। वृक्ष में पक्षी निवास करते हैं। शरीररूप वृक्ष में निवास करने वाले वे दोनों पक्षी के समान हैं। एक शरीर नष्ट हो जाने पर दोनों दूसरे शरीर में रहने चले जाते हैं, उनमें एक जीव कर्म के परिपक्व फल को भोगता है और दूसरा ईश्वर कर्मफल न भोगते हुए सदा आनन्दित बना रहता है। संसारबन्धन निवृत्त होने पर परम सखा भगवान् राम ही जीव को साकेत धाम ले जाते हैं, इस प्रकार वे किसी भी अवस्था में जीव का साथ न छोड़ने वाले सच्चे सखा हैं।

नित्य

परब्रह्म की तरह जीवात्मा भी नित्य है। जैसे मनुष्य एक वस्त्र को छोड़कर दूसरा वस्त्र धारण करता है, वैसे जीव एक देह को छोड़कर अन्य देह को धारण करता है। देहादि अनित्य हैं किन्तु आत्मा नित्य है। यह आत्मा देहधारण से पूर्व अनादि काल से विद्यमान थी। इस देह के न रहने पर भी अनन्त भविष्य में रहेगी। परमात्मा नित्यों में नित्य है-**नित्यो नित्यानाम्।**(क.उ.2.2.13, श्वे.उ.6.13), यह आत्मा अजन्मा, नित्य, शाश्वत

और पुराण है। शरीर के मारे जाने पर भी आत्मा को नहीं मारा जाता-**अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।**(गी. 2.20)। जीव के नित्यत्व का विस्तार से निरूपण सप्तम श्लोक की व्याख्या में किया गया है, वहीं देखना चाहिए।

स्वप्रकाश

स्वयंप्रकाश को ही स्वप्रकाश कहते हैं। जो पदार्थ ज्ञान के विना प्रकाशित(ज्ञात या विषय) नहीं होता, वह जड कहलाता है, जैसे घटादि। जो पदार्थ ज्ञान के विना प्रकाशित होता है, वह अजड कहलाता है, जैसे-आत्मा। जड से भिन्न पदार्थ अजड होता है। अजड पदार्थ स्वयं प्रकाश होता है, जड परप्रकाश होता है। अजड पदार्थ ज्ञानरूप होता है, जड पदार्थ ज्ञानरूप नहीं होता अतः वह प्रकाशित होने के लिए अपने से अन्य ज्ञान की अपेक्षा करता है इसलिए वह परप्रकाश कहा जाता है। अजड पदार्थ ज्ञानरूप होता है अतः वह प्रकाशित होने के लिए अपने से अन्य ज्ञान की अपेक्षा नहीं करता इसलिए स्वप्रकाश कहलाता है। जैसे अन्धकार में रखे घट को प्रकाशित करने के लिए दीपक के प्रकाश की अपेक्षा होती है किन्तु दीपक को प्रकाशित करने के लिए अन्य प्रकाश की अपेक्षा नहीं होती क्योंकि दीपक स्वयं प्रकाश है, उसी प्रकार घटादि जड पदार्थों को प्रकाशित होने के लिए ज्ञान की अपेक्षा होती है किन्तु ज्ञान को प्रकाशित होने के लिए अन्य ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती क्योंकि ज्ञान स्वयंप्रकाश है। आत्मा दूसरे ज्ञान के विना स्वतः प्रकाशित होती है, इसलिए उसे अजड कहते हैं। वह(अजड) ज्ञानस्वरूप आत्मा स्वयं प्रकाश है।

घट आदि पदार्थ कभी भी अपने से प्रकाशित नहीं होते क्योंकि वे जड़ हैं। जड़ पदार्थ ज्ञान से प्रकाशित होते हैं। ज्ञान स्वयंप्रकाशित होता है। जिस प्रकार दीपक की प्रभा घटादि को प्रकाशित करती हुई स्वयं प्रकाशित होती है, उसी प्रकार ज्ञान भी घट आदि को प्रकाशित करता हुआ स्वयं प्रकाशित होता है। ज्ञान का अधिकरण आत्मा भी स्वयं प्रकाशित होती है किन्तु यह अपने से भिन्न घट आदि विषयों को प्रकाशित नहीं करती। धर्मभूतज्ञान अपने लिए प्रकाशित नहीं होता। यह अपने आश्रय आत्मा के लिए प्रकाशित होता है। आत्मा स्वयं के लिए प्रकाशित होती है, अन्य किसी के लिए प्रकाशित नहीं होती। घटादि ज्ञान के द्वारा आत्मा के लिए प्रकाशित

होते हैं, ज्ञान आत्मा के लिए स्वयं प्रकाशित होता है किन्तु धर्मी ज्ञानरूप आत्मा सर्वकाल में अपने लिए अपने(स्वयं) को प्रकाशित करती है। जाग्रत और स्वप्नावस्था में आत्मा धर्मभूतज्ञान से अपने से भिन्न विषय को भी प्रकाशित करती है किन्तु सुषुप्ति में उस विषयप्रकाशक ज्ञान के न होने से अन्य को प्रकाशित नहीं करती।

'मैं हूँ या नहीं' इस प्रकार अपने विषय में कभी भी किसी को कोई संशय नहीं होता। इस प्रकार आत्मा के विषय में संशय न होने का कारण उसकी स्वयंप्रकाशता है। परप्रकाश(पर से ज्ञात) वस्तु के विषय में कभी संशय होता है किन्तु सर्वदा स्वयंप्रकाश वस्तु के विषय में कभी भी कोई सन्देह नहीं हो सकता। सभी का अपना आत्मस्वरूप सदा प्रकाशित ही रहता है, अप्रकाशित कभी नहीं रहता। 'अहम्' इस प्रकार अपने स्वरूप का प्रकाश सदा होता रहता है। इस प्रकार आत्मा का स्वयंप्रकाश होना प्रत्यक्ष से सिद्ध है। आत्मा स्वयंप्रकाश है, ज्ञानत्व होने के कारण धर्मभूत ज्ञान के समान-**आत्मा स्वयंप्रकाशो ज्ञानत्वात् धर्मभूतज्ञानवत्** इस अनुमान से भी आत्मा का स्वयंप्रकाशत्व सिद्ध होता है।

आत्मा ज्ञानस्वरूप है-**विज्ञानात्मा पुरुषः।**(प्र.उ.4.9) इत्यादि श्रुतियाँ आत्मा को ज्ञानस्वरूप कहती हैं। ज्ञानरूपता ही स्वयंप्रकाशता है। विज्ञान धर्म वाला, हृदयकमल के अन्दर इन्द्रिय और मुख्य प्राण के मध्य में स्थित प्रकाशरूप जो पुरुष है, वह आत्मा है-**योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः।**(बृ.उ.4.3.7) इत्यादि श्रुतियाँ आत्मा को स्वयंप्रकाश कहती हैं, स्वयंप्रकाश होने से इसका प्रकाश सुषुप्ति में भी होता रहता है। आत्मा की विज्ञानरूपता **एवमप्युपन्यासात् पूर्वभावादविरोधं बादरायणः**(ब्र.सू.4.4.7) इस सूत्र से भी सिद्ध है।

नैयायिकमत

नैयायिक आदि दार्शनिक आत्मा को परप्रकाश मानते हैं, स्वयंप्रकाश नहीं मानते। इनके अनुसार आत्मा अपने से प्रकाशित नहीं होती, यह मानस(मन से होने वाले) प्रत्यक्ष ज्ञान से प्रकाशित होती है। 'अहम्' इस प्रकार जो ज्ञान होता है, वह मानस प्रत्यक्ष ज्ञान है। सुषुप्ति आदि में यह ज्ञान नहीं रहता इसलिए उस समय आत्मा का प्रकाश नहीं होता, इस प्रकार नैयायिक मत में आत्मा प्रकाशित होते समय परप्रकाश मानी जाती है।

ऊपर आत्मा के स्वप्रकाश होने के विषय में श्रुति, युक्ति और अनुभूतियाँ प्रस्तुत की गयीं, उनसे विरुद्ध होने के कारण आत्मा को स्वयंप्रकाश न मानने वाले नैयायिक आदि का मत संगत नहीं है। जो अध्यात्म शास्त्र से अतिरिक्त शास्त्रों के विद्वान् हैं और आत्म तत्त्व के सच्चे जिज्ञासु हैं, ऐसे महापुरुषों के द्वारा प्रस्तुत श्लोक से वर्णित आत्मस्वरूप जानने योग्य है।

पूर्व में बीज के सहित राममन्त्र के प्रत्येक पद का अर्थ कहा गया। 'रां' बीज में रकार, आकार और मकार ये तीन पद हैं। पदसमूह को ही वाक्य कहते हैं। वाक्यार्थज्ञान में पदार्थज्ञान कारण होता है अतः पदार्थ ज्ञान के पश्चात् बीजात्मक वाक्य का अर्थ कहा जाता है–

मवाच्योऽहं रवाच्याय शेषभूतोऽस्मि सर्वदा।
इतीत्थमेव बोध्यो ज्ञैर्वाक्यार्थस्तद्विवित्सया।।20।।

अन्वय

मवाच्यः शेषभूतः अहं सर्वदा रवाच्याय एव अस्मि, इति इत्थं ज्ञैः तद्विवित्सया वाक्यार्थः बोध्यः।

अर्थ

मवाच्यः–मकार का अर्थ **शेषभूतः**–शेषरूप **अहम्**–मैं आत्मा **सर्वदा**–सभी काल में **रवाच्याय**–रकार के अर्थ भगवान् श्रीराम के लिए **एव**–ही **अस्मि**–हूँ, **इति**–इसे **इत्थम्**–इस प्रकार **ज्ञैः**–प्रबुद्ध साधकों के द्वारा **तद्विवित्सया**–वाक्यार्थ जानने की इच्छा से **वाक्यार्थः**–वाक्यार्थ **बोध्यः**–जानना चाहिए।

भाष्य

बीजरूप वाक्य का अर्थ–मकार का अर्थ शेषरूप अपना आत्मा है और शेषी भगवान् राम रकार के अर्थ हैं, रकार और मकार के बीच में विद्यमान आकार का अर्थ दोनों का सम्बन्ध है। शेष और शेषी का निरूपण पूर्व में विस्तार से किया गया है। मैं शेष आत्मा सर्वकाल में अपने शेषी परमात्मा श्रीराम के लिए ही हूँ। बीजमन्त्रात्मक वाक्य के अर्थजिज्ञासु उक्त रीति से वाक्यार्थ को जानें। प्रस्तुत वाक्यार्थ के अनुसंधान से अनुसंधाता जीव का अपने स्वामी में समर्पण हो जाता है।

अभी बीजरूप वाक्य का अर्थ कहा गया, अब चतुर्थ पद 'रामाय' के प्रातिपादिक भाग 'राम' का व्याख्यान किया जाता है-

रामायेति चतुर्थेन[1] श्रिया देव्यास्तु सर्वदा।
चेतनाऽचेतनानाञ्च रमणाश्रयतेर्यते॥21॥

अन्वय

तु रामाय इति चतुर्थेन सर्वदा श्रिया: देव्या: च चेतनाऽचेतनानां रमणाश्रयता ईर्यते।

अर्थ

तु-किन्तु **रामाय**-रामाय **इति**-इस **चतुर्थेन**-चतुर्थ पद के प्रकृति भाग से **सर्वदा**-सदा (श्रीरामचन्द्र का) **श्रिया:**-श्रीसीता **देव्या:**-देवी **च**-और **चेतनाऽचेतनानाम्**-समस्त चेतनाचेतनों को **रमणाश्रयता**-आनन्दप्रदान करना **ईर्यते**-कहा जाता है।

भाष्य

पूर्व श्लोक में 'रां' बीज का अर्थ कहा गया और आगे 25 वें श्लोक में तच्चतुर्थ्या के द्वारा राम प्रतिपादिक से पर में विद्यमान चतुर्थी विभक्ति का अर्थ कहा जायेगा, इस प्रकार पूर्वापर प्रसंग से स्पष्ट है कि यहाँ रामाय पद के प्रकृति भाग राम का ही अर्थ किया जा रहा है। राम किसे कहते हैं, इस विषय में रामतापनीयश्रुति कहती है कि अनन्त, सत्य, आनन्द, चेतन परमात्मा में योगीगण आनन्दित होते हैं इसलिए राम पद से यह आनन्दप्रदाता परब्रह्म कहा जाता है-**रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दे[2] चिदात्मनि। इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते॥**(रा.पू.उ.1.6) इस श्रुति के द्वारा 'योगी श्रीराम में रमण करते हैं अर्थात् आनन्दित होते हैं' इस प्रकार सभी के आनन्दप्रदाता श्रीराम कहे जाते हैं। प्रस्तुत श्लोक में राम शब्द से श्रीसीता देवी और चेतनाचेतन[3] सभी (के आनन्द के आश्रय

1.रामायेति चतुर्थेन इस कथन से सुस्पष्ट है कि पूर्व श्लोक में त्रिपदात्मक 'रां' का अर्थ किया गया है। **2.नित्यानन्दे इति** पाठान्तरम्। **3.**चेतन जीवात्मा ही आनन्द का अनुभव कर सकता है, अचेतन जड़ पदार्थ नहीं कर सकता तो यहाँ अचेतन को भी आनन्द प्रदान करने वाले भगवान् क्यों कहे जाते हैं? अचेतन पद से यहाँ पर अचेतन

अर्थात् सभी) को आनन्दप्रदान करने वाले श्रीराम कहे जाते हैं। यह पूर्व में श्रीतत्त्व के निरूपण में कहा जा चुका है कि परब्रह्म ही श्रीराम और श्रीसीता इन दो रूपों में विद्यमान हैं, दोनों अभिन्न हैं अतः अवतार काल में लीला से भगवती सीता जी के आनन्दप्रदाता श्रीराम कहे जाते हैं, ऐसा जानना चाहिए। मुमुक्षु जीव को निरतिशय आनन्दरूप मोक्ष प्रदान करने वाले वही हैं और बुभुक्षु जीव को कर्मानुसार विषयानन्द प्रदान करने वाले भी वहीं हैं, इस विषय में तैत्तिरीय श्रुति कहती है कि भगवान् श्रीराम आनन्दस्वरूप हैं, मुमुक्षु जीव भी इस आनन्दस्वरूप को प्राप्त कर आनन्दित हो जाता है-**रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।** (तै.उ.2.7.1) यह ऐसा आनन्द है, जिसे पाकर अनुभविता कभी उससे च्युत नहीं होता। यदि अपरिच्छिन्न आनन्दरूप भगवान् राम नहीं होते तो कौन लौकिक आनन्द प्राप्त करता और कौन अलौकिक आनन्द प्राप्त करता, यह परमात्मा ही सभी प्रकार के आनन्द प्रदान करने वाला है-**को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात्। यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवाऽऽनन्दयाति।**(तै.उ.2.7.1) इसीलिए श्रीमद्भागवत में कहा है कि निष्काम या सभी प्रकार की कामनाओं की पूर्ति चाहने वाला अथवा मोक्ष की कामना करने वाला उदार पुरुष तीव्र भक्तियोग से भगवान् की आरा-धना करे-**अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः। तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्॥**(भा.2.3.10)। विनयपत्रिका में भी कहा है कि **तुलसिदास सब भाँति सकल सुख, जो चाहसि मन मेरो। तौ भजु राम, काम सब पूरन करैं कृपानिधि तेरो॥**(वि.प.162.4)।

स सर्वविधबन्धुत्वं सर्वप्राप्यत्वमेव च।
सर्वप्रापकता तेन तथा चोभयलिङ्गता॥22॥

अन्वय

सः सर्वविधबन्शुत्वं सर्वप्राप्यत्वं च सर्वप्रापकता च तथा तेन एव उभय-लिङ्गता।

अर्थ

सः-पूर्वोक्त राम शब्द (भगवान् राम का) **सर्वविधबन्धुत्वम्**-सभी

जैसी अवस्था को प्राप्त पत्थर तथा पर्वतादि योनि वाले जीवों का ग्रहण होता है। श्रीभगवान् कृपा करके उन्हें भी आनन्द प्रदान करते हैं।

प्रकार से बन्धु होने का **सर्वप्राप्यत्वम्**-सभी के द्वारा प्राप्य होने का (और) **सर्वप्रापकता**-सभी के लिए अपनी प्रप्ति का साधन होने का कथन करता है **च**-और **तथा**-वैसे **तेन**-राम शब्द से **एव**-ही (उनकी) **उभयलिङ्गता**-उभयलिङ्गता (भी) कही जाती है।

भाष्य

बन्धु-पूर्व श्लोक में भगवान् श्रीराम आनन्द प्रदाता कहे गये। वे कैसे हैं, हमें आनन्द प्रदान करेंगे? या नहीं? ऐसी जिज्ञासा होने पर भगवान् के सभी प्रकार से बन्धु होने का कथन किया जाता है। जब वे हमारे बन्धु हैं तो हम सभी को अवश्य आनन्द प्रदान करेंगे, इसमें कोई संदेह नहीं। अपने प्रेमबन्धन से बाँधने वाला बन्धु कहलाता है-**बध्नाति स्नेहबन्धेन इति बन्धुः**। संसारी बन्धुओं का ऐसा स्वार्थमय प्रेमबन्धन है, जिससे बन्धकर संसार सागर में जीव की निरन्तर अधोगति होती है किन्तु अकारण करुणा करने वाले, सच्चे बन्धु भगवान् का ऐसा अलौकिक प्रेमबन्धन है, जिससे बाँधकर वे जीव का संसार से उद्धार कर देते हैं। भगवान् श्रीराम जीवों के सभी प्रकार से हितैषी हैं इसलिए सर्वविधबन्धु कहलाते हैं। वे बन्धु होने के कारण सतत भला करने के लिए उद्यत रहते हैं। हमारे प्रियतम बन्धु श्रीराम इतने महान् हैं कि जिन राक्षसों ने उनसे वैर किया, उनका भी उद्धार किया तो वे भक्तों का उद्धार करते हैं, इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं।

श्रीराम प्राणों से बढ़कर प्रिय हैं, जीवों के जीवन हैं। किसी से कोई स्वार्थ न होने पर भी सभी के बन्धु हैं-**राम प्रानप्रिय जीवन जी के। स्वारथ रहित सखा सबही के॥**(रा.च.मा.2.73.6) श्रीभगवान् सभी प्राणियों के सब प्रकार से बन्धु हैं-**सुहृदं सर्वभूतानाम्**।(गी.5.29) यह स्वयं श्रीभगवान् का वचन है। वे हृदय से सभी का भला चाहते हैं। चाहे कोई कितना भी बड़ा पापी क्यों न हो।

प्राप्य

जीवमात्र श्रीराम को प्राप्त कर सकता है। अमुक व्यक्ति उन्हें प्राप्त कर सकता है, अमुक नहीं, ऐसा नियम नहीं है। सर्वसुलभ होने के कारण निरतिशय आनन्दरूप श्रीराम सभी के प्राप्य हैं किन्तु सांसारिक पदार्थों में

आसक्ति होने के कारण जीव उन्हें भूलकर विनाशी विषयों को ही अपना प्राप्य मान लेता है किन्तु मुमुक्षु के सदा प्राप्य भगवान् ही होते हैं।

प्राप्ति का उपाय

जीव प्रियतम प्राप्य प्रभु को प्राप्त करना चाहता है, इसके लिए जब वह सर्वविध प्रयास करने पर थक जाता है और उन पर ही आश्रित हो जाता है, तब वे अपनी प्राप्ति में स्वयं ही उपाय बन जाते हैं, इस विषय में श्रुति का कथन है कि यह परमात्मा बहुत श्रवण से प्राप्त नहीं होता, मनन से प्राप्त नहीं होता और निदिध्यासन से भी प्राप्त नहीं होता। यह परमात्मा ही जिसका वरण करता है, उसे प्राप्त होता है, उसके लिए परमात्मा अपने स्वरूप को प्रकट कर देता है-**नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥**(क.उ.1.2.23, मु.उ.3.2.3)प्रस्तुत श्रुति में श्रुत शब्द का अर्थ श्रवण, प्रवचन का अर्थ मनन और मेधा का अर्थ निदिध्यासन है।

यह परमात्मा बहुत श्रवण से प्राप्त नहीं होता, बहुत मनन से प्राप्त नहीं होता और निदिध्यासन से भी प्राप्त नहीं होता, इस प्रकार परमात्मप्राप्ति में श्रवणादि के उपाय होने का निषेध किया जाता है तो परमात्मा किस उपाय के द्वारा प्राप्य है? ऐसी शंका होने पर कहते हैं कि **यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः।** भगवान् रामचन्द्र ही जिसका वरण करते हैं, उसके द्वारा प्राप्य होते हैं। वे किसका वरण करते हैं? प्रियतम वस्तु का ही वरण किया जाता है, प्रियतम कौन है? प्रभु से निरतिशय प्रीति करने वाला ज्ञानी भक्त। वह प्रियतम कैसे होता है? प्रभु से प्रेम करने पर उनका प्रियतम हो जाता है। श्रीभगवान् ने स्वयं कहा है कि मैं ज्ञानी भक्त का अत्यन्त प्रिय हूँ और वह मुझे अत्यन्त प्रिय है-**प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।**(गी. 7.17)। भक्त की भगवान् में जो प्रीति होती है, उससे भगवान् की भक्त में प्रीति हो जाती है, इस प्रकार वह भगवान् का प्रिय हो जाता है, तब भगवान् उसका वरण कर लेते हैं और वरणीय के लिए सुलभ हो जाते हैं। जो प्रभु से निरतिशय प्रेम करता है, उनके साक्षात्कार के विना अत्यन्त व्याकुल हो जाता है और एक क्षण भी जीवनधारण करना संभव नहीं मानता, प्रभु भी उसके विरह को सहन नहीं कर पाते अतः प्राप्य बनने के

लिए उसका वरण कर लेते हैं और उसके लिए अपने दिव्यमंगलविग्रहविशिष्ट स्वरूप को प्रकट कर देते हैं। इस प्रकार भक्त के उपेय(प्राप्य) भगवान् अपनी प्राप्ति में स्वयं उपाय भी बन जाते हैं।

यह ऊपर कहा गया है कि परमात्मा जिसका वरण करते हैं, उसे ही प्राप्त होते हैं। प्रियतम का ही वरण किया जाता है, परमात्मा में प्रीति रखने वाला भक्त ही उनका प्रियतम होकर वरणीय हो जाता है, इससे सिद्ध होता है कि प्रीति से रहित श्रवणादि उपाय नहीं हैं। मुमुक्षु श्रवण, मनन के पश्चात् निदिध्यासन करता है। तेल की धारा के समान कभी न टूटने वाले परमात्मचिन्तन के प्रवाह को निदिध्यासन कहते हैं। अभ्यास करते-करते जब वह प्रीतिरूप हो जाता है, तब परमात्मा उसका वरण कर लेते हैं। प्रीतिरूपता को प्राप्त हुआ परमात्मा का निरन्तर स्मरण ही भक्ति कहलाता है। उत्तम साधक प्रीति से श्रवण, प्रीति से मनन और प्रीति से निदिध्यासन करता है। प्रीति की विभिन्न अवस्थाएँ होती हैं। उत्तरोत्तर सतत् अभ्यास से दृढ प्रीतिरूप निदिध्यासन(भक्तियोग) होने पर साधक जब उनका वरणीय हो जाता है, तब वे उसे अपना साक्षात्कार प्रदान करते हैं। इस विवरण से सिद्ध होता है कि वरणीय होने की योग्यता(भगवान् का प्रियतम होने) के लिए वे साधन अपेक्षित होते हैं, उनके विना योग्यता ही नहीं आ सकती, अतः वे साधन व्यर्थ नहीं हैं। प्रीतिरूपापन्न दर्शनसमानाकार ज्ञान ही उनका साक्षात्कार है। श्रीभगवान् ने स्वयं कहा है कि मुझ में निरन्तर लगकर भजन करने वालों को मैं उस भक्तियोग(प्रीतिरूपापन्न दर्शनसमानाकार ज्ञान) को प्रदान करता हूँ, जिससे वे मुझे प्राप्त हो जाते हैं-**तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥**(गी.10. 10) इस प्रकार श्रीभगवान् ने स्वयं अपनी प्राप्ति के उपाय भक्तियोग को प्रदान करने की बात कही है। यहाँ यह जानने योग्य है कि भक्ति भगवत्प्राप्ति में अनुग्रहकर्ता भगवान् के द्वारा उपाय होती है और वे साक्षात् उपाय होते हैं।

उभयलिङ्ग

वेदवेद्य परब्रह्म श्रीराम नित्य निर्दोष(निर्गुण) अर्थात् सदा सभी प्रकार के दोषों से रहित हैं एवं समस्त कल्याणगुणों के आकर(सगुण) हैं। **निर्गुणश्च।**(श्वे.उ.6.11) इत्यादि श्रुतियाँ उन्हें निर्गुण(प्राकृत* गुणों से

रहित) अर्थात् समस्त दोषों से रहित कहती हैं। **पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते। स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।**(श्वे.उ.6.8) इत्यादि श्रुतियाँ उन्हें सगुण अर्थात् अलौकिक कल्याण गुणों से युक्त कहती हैं। यह विषय **न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि**(ब्र.सू.3.2.11)इस ब्रह्मसूत्र के भाष्य में द्रष्टव्य है। जिस प्रकार छत्र और चामर राजा के असाधारण लिंग(चिह्न) होते हैं, उसी प्रकार निर्दोषत्व और कल्याणगुणाकरत्व दोनों ही भगवान् के लिंग हैं, उनसे युक्त होने से वे उभयलिङ्ग कहलाते हैं।

[1]पदेनैवोच्यते सत्यानन्दचिद्रूपता तथा।
यावद्विभूतिनेतृत्वं रामपादाब्जसन्नते॥23॥

अन्वय

रामपादाब्जसन्नते पदेन एव सत्यानन्दचिद्रूपता तथा यावद्विभूतिनेतृत्वम् उच्यते।

अर्थ

रामपादाब्जसन्नते-भगवान् श्रीराम के पादारविन्दों में नतमस्तक हे सुरसुरानन्द! **पदेन**-राम शब्द से **एव**-ही (श्रीराम की) **सत्यानन्दचिद्रूपता**-सत्य, आनन्द और चिद्रूपता **तथा**-तथा **यावद्विभूतिनेतृत्वम्**-उभयविभूति-नायकत्व **उच्यते**-कहा जाता है।

भाष्य

पूर्व श्लोक में चतुर्थ्यन्त रामाय पद के प्रातिपदिक भाग राम शब्द का अर्थ किया गया, अब इस श्लोक में भी तेन पद से उसी का ग्रहण होता है। इस श्लोक का पूर्वार्ध **रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि। इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते॥**(रा.पू.उ.1.6) इस रामतापनीय श्रुति का उपबृंहण है, वह राम शब्द से भगवान् राम की सत्यरूपता, आनन्दरूपता और चिद्रूपता का प्रतिपादन करता है। पूर्व में 6 वें श्लोक की व्याख्या में जगत्सत्यत्व के निरूपण में प्रसंगतः ब्रह्म के भी सत्यत्व का विस्तार से प्रतिपादन किया गया, अतः अब यहाँ ब्रह्म की आनन्दरूपता प्रस्तुत की

1.अत्र **उच्यते तत्पदेनैव सच्चिदानन्दरूपता। यावद्विभूतिनेतृत्वं श्रीरामब्रह्मणो मतम्॥** इति पाठान्तरम्।

जा रही है-

आनन्दरूपता

ब्रह्म ज्ञानरूप है, अनुकूलत्वेन प्रतीत(ज्ञात या अनुभूत) होने वाला ज्ञान ही आनन्द कहलाता है। परमात्मस्वरूप कभी भी प्रतिकूल प्रतीत नहीं होता, सदा अनुकूल ही प्रतीत होता है, इसलिए परमात्मस्वरूप को आनन्दरूप कहा जाता है। परमात्मस्वरूप प्रकाशित होते समय उसकी आनन्दरूपता भी सदा प्रकाशित होती है। ब्रह्म आनन्दरूप है-**आनन्दो ब्रह्म।**(तै.उ.3.6), **रसो वै सः।**(तै.उ.2.7.1), **कं ब्रह्म** (छां.उ.4.10.5), ब्रह्म राम स्वतः आनन्दरूप हैं इसलिए अनुभव करने वालों को भी स्वतः अनुकूल ज्ञात होते हैं। उनमें आनन्दरूपता स्थायी है एवं सर्वोत्कृष्ट है।

भगवान् ज्ञानानन्दैकस्वरूप हैं, उनका स्वरूपभूत ज्ञान सदा अनुकूल ही प्रतीत होने से आनन्द कहलाता है। अनुकूल(आनन्दरूप) ज्ञान के विषय जड भोग्य पदार्थ भी आनन्द कहे जाते हैं। केवल आनन्द कहने से उनका भी ग्रहण होता है, उनकी व्यावृत्ति के लिए ज्ञान कहा जाता है। वे पदार्थ ज्ञान नहीं हैं। उन्हें आनन्द कहने पर भी ज्ञान नहीं कहा जाता। ज्ञान तीन प्रकार का होता है-अनुकूल ज्ञान(आनन्द), प्रतिकूल ज्ञान(दुःख) और उदासीन ज्ञान। केवल ज्ञान कहने से प्रतिकूल और उदासीन ज्ञान का भी ग्रहण होता है, उसकी व्यावृत्ति के लिए आनन्द कहा जाता है। व्यापक ब्रह्मस्वरूप में स्थान भेद से जडत्व हो, दुःखरूपत्व हो, इसके निराकरण के लिए एक पद का प्रयोग किया गया है। ज्ञानानन्दैकस्वरूपत्व का अर्थ है-आनन्दरूपज्ञानात्मकत्व(आनन्दरूप ज्ञान ही उसका स्वरूप है।) अर्थात् पूर्णतः(सब ओर से) आनन्दरूपता होते हुए पूर्णतः स्वयंप्रकाशता होना। जैसे सैन्धवघन(नमक का टुकड़ा) सब ओर से सैन्धव ही है। वैसे ही ब्रह्म सब ओर से आनन्दरूप ज्ञान ही है इसीलिए बृहदारण्यक श्रुति कहती है कि आनन्दरूप ज्ञान ब्रह्म है-**विज्ञानमानन्दं ब्रह्म।**(बृ.उ.3.9.28)। जीवात्मा और परमात्मा ये दोनों ही आनन्दरूप हैं। परमात्मा निरतिशय आनन्दरूप है, जीवात्मा वैसा नहीं है। यह दोनों में भेद है। ज्ञानस्वरूप ब्रह्म के समान श्रुतिसिद्ध उसके धर्मभूतज्ञान की भी निरतिशय आनन्दरूपता है।

आनन्द का आश्रय तथा आनन्दरूप

ब्रह्म आनन्दस्वरूप है-**आनन्दो ब्रह्म।**(तै.उ.3.6.1), आनन्दरूप विज्ञान

ब्रह्म है-**विज्ञानमानन्दं[1] ब्रह्म।**(बृ.उ.3.9.28), ज्ञानरूप परमात्मा के आश्रित जो धर्मभूत ज्ञान रहता है, वह भी सदा अनुकूल ही प्रतीत होता है इसलिए उसे आनन्द कहा जाता है। ब्रह्म के आनन्द को जानने वाला कभी भय को प्राप्त नहीं होता-**आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति।**(तै.उ. 2.9.1), वह ब्रह्म का एक आनन्द है-**स एको ब्रह्मण आनन्दः।**(तै.उ.2.8.4) इन श्रुतियों में ब्रह्म का आनन्द गुण कहा गया है। उसका प्रधान गुण आनन्द है इसलिए **तद्गुणसारत्वात् तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत्**(ब्र.सू. 2.3.29) इस न्याय से उसे आनन्द कहा जाता है तथा अनुकूलत्वेन अनुभूत होने के कारण भी आनन्द कहा जाता है। इस प्रकार परमात्मा आनन्दस्वरूप तथा आनन्दगुण वाला सिद्ध होता है, इस आनन्द धर्म का आश्रय होने से ही आनन्दस्वरूप परमात्मा को आनन्दमय[2] कहा जाता है। परमात्मस्वरूप कभी भी किसी को प्रतिकूलरूप से ज्ञात नहीं होता। यदि कहना चाहें कि पापियों को प्रतिकूलरूप से ज्ञात होता है तो यह कथन भी उचित नहीं क्योंकि पापकर्म तथा उसके कार्य क्रोधादि विकारों के रहते परमात्मा ज्ञात होता ही नहीं, वह तो निर्मल मन से ही ज्ञात होता है।

चिद्रूपता

प्रस्तुत श्लोक में कही चिद्रूपता का अर्थ ज्ञानरूपता है। भगवान् ज्ञान स्वरूप हैं, ज्ञानस्वरूप वस्तु स्वप्रकाश होती है। स्वप्रकाशता का वर्णन पूर्व में किया जा चुका है।

ज्ञाता तथा ज्ञानरूप

ब्रह्म ज्ञानस्वरूप तथा ज्ञान गुण का आश्रय है। **सत्यं ज्ञानम्** इस तैत्तिरीय श्रुति में आया ज्ञान पद सदा असंकुचित ज्ञानैकाकार को कहता है। ऐसा होने से मुक्त की व्यावृत्ति हो जाती है क्योंकि मुक्त होने के पहले उसका धर्मभूतज्ञान संकुचित रहता है-**ज्ञानपदं नित्यासंकुचितज्ञानैकाकारमाह, तेन कदाचित्संकुचितज्ञानत्वेन मुक्ता व्यावृत्ताः।**(श्रीभा.1.1.2)। नित्य

1.विज्ञान शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त स्वयंप्रकाशत्व तथा आनन्दशब्द का प्रवृत्तिनिमित्त अनुकूलत्व है। इस प्रकार प्रवृत्तिनिमित्त का भेद होने से श्रुति में दोनों शब्दों का एक साथ प्रयोग होता है। 2.आनन्दमय कोश नहीं है, इस विषय को विस्तार से समझने के लिये तैत्तिरीयोपनिषत् की मेरी तत्त्वविवेचनी व्याख्या का और उसकी प्रस्तावना का अवलोकन करना चाहिए।

असंकुचित ज्ञानत्व ही जिसका आकार है, उसे नित्य असंकुचितज्ञानैकाकार कहते हैं। नित्य असंकुचित ज्ञानत्व अद्वारक और धर्मद्वारा परमात्मा का आकार होता है-**नित्यासंकुचितज्ञानत्वमेवाकारो यस्य तत् नित्यासंकुचित-ज्ञानैकाकारम्। नित्यासंकुचितज्ञानत्वम् अद्वारकं धर्मद्वारकं च परमात्मन आकारो भवति।**(श्रु.प्र.1.1.2)। ज्ञानत्व अद्वारक आकार है, इस कथन का अर्थ है-परमात्मस्वरूप साक्षात् ज्ञानत्व का आश्रय है और ज्ञानत्व धर्मद्वारा आकार है, इसका अर्थ है-परमात्मस्वरूप धर्मद्वारा ज्ञानत्व का आश्रय है अर्थात् परमात्मा स्वरूपतः ज्ञान है और धर्मतः भी ज्ञान है। स्वयंप्रकाशत्वरूप ज्ञानत्व स्वरूप और धर्म दोनों में रहता है। इस प्रकार ज्ञानपद से ज्ञानाश्रयत्वेन तथा ज्ञानस्वरूपत्वेन दोनों प्रकार से ब्रह्म का ग्रहण होता है। जैसे ब्रह्म स्वरूपतः बृहत् है और गुणतः बृहत् है, वैसे ही वह स्वरूपतः ज्ञान है और धर्मतः भी ज्ञान है।

वस्तुतः ज्ञानम् पद अन्तोदात्त[1] होने से अर्शआद्यजन्त[2] है इसलिए उसका ज्ञानगुणाश्रय ही अर्थ है। इस प्रकार ज्ञानपद निरुपाधिक(स्वाधीन) ज्ञाता को कहता है। जीव का स्वाधीन ज्ञातृत्व नहीं है, उसका ज्ञातृत्व ब्रह्म के अधीन है इसलिए ज्ञान पद से जीव की व्यावृत्ति हो जाती है। श्रीभाष्य के भाष्यार्थदर्पणव्याख्याकार भाष्य में कहे ज्ञानैकाकारम् का ज्ञानगुण ही अर्थ करते हैं-**ज्ञानगुणकत्वरूपार्थमाह ज्ञानपदमिति।**(भा.द.1.1.2)। रङ्गरामानुजमुनि ने भी यही कहा है-**वस्तुतस्तु सत्यं ज्ञानमिति अस्यान्तोदात्तत्वाद् अर्श आद्यजन्तत्वेन ज्ञानगुणकत्वमेवार्थः।**(तै.उ.रं.भा.2.1.1), ब्रह्म के आश्रित रहने वाला यह ज्ञान उसका स्वरूपनिरूपक धर्म है। जिस धर्म के विना वस्तु के स्वरूप का निरूपण नहीं हो सकता, उसे स्वरूपनिरूपक धर्म कहते हैं। जैसे गो का स्वरूपनिरूपक धर्म गोत्व है, वैसे ही ब्रह्म का स्वरूपनिरूपक धर्म ज्ञान है। स्वरूप का निरूपण करने वाले धर्मबोधक शब्द धर्म का बोध कराते हुए धर्मी का भी बोध कराते हैं। जैसे गो के स्वरूप का निरूपण करने वाला, गोत्व धर्म का बोधक गोशब्द गोत्व का बोध कराते हुए धर्मी गोस्वरूप का भी बोधक होता है, वैसे ही ब्रह्म के स्वरूप का निरूपण करने वाला, ज्ञान धर्म का बोधक ज्ञान शब्द ज्ञान धर्म का बोध कराते हुए धर्मी ब्रह्मस्वरूप का भी बोधक होता है। इस

1.**चितः**(अ.सू.6.1.163) इति सूत्रेण अन्तोदात्तम्। 2.**अर्शआदिभ्योऽच्**(अ.सू.5.2.127) इति सूत्रेण अच्प्रत्ययः।

प्रकार ब्रह्मस्वरूप तथा उसके धर्म इन दोनों को ही ज्ञान कहा जाता है। ज्ञानस्वरूप वस्तु ज्ञान का आश्रय अर्थात् ज्ञाता होती है। ब्रह्म स्वयंप्रकाश होने से ज्ञान कहा जाता है और विषयप्रकाशक धर्मभूतज्ञान का आश्रय होने से ज्ञाता कहा जाता है। ब्रह्म का यह ज्ञातृत्व विकार(आगन्तुक धर्म) नहीं है क्योंकि ज्ञानगुणाश्रयत्व ही ज्ञातृत्व है। ज्ञान नित्य ब्रह्म का स्वाभाविक धर्म है इसलिए ब्रह्म का ज्ञानाश्रयत्वरूप ज्ञातृत्व भी स्वाभाविक है।

आत्मस्वरूप का निरूपक, धर्मबोधक ज्ञान शब्द ज्ञाता आत्मा का भी बोधक है, इस कारण आत्मा को ज्ञान कहा जाता है। इस अर्थ का सूत्रकार ने **तद्गुणसारत्वात् तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत्।**(ब्र.सू.2.3.29) सूत्र से प्रतिपादन किया है। यहाँ पर धर्मवाचक शब्द से धर्मी का कथन लाक्षणिक(गौण) है-**गुणवाचिशब्देन गुण्यभिधानं लाक्षणिकम् इत्यत्राह।**(श्रु.प्र.2.3.30) ऐसी शंका होने पर महर्षि वेदव्यास ने **यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात्।**(ब्र.सू.2.3.30) यह सूत्र बनाया है, इसका यह अर्थ है कि आत्मा का स्थायी धर्म ज्ञान होने के कारण ज्ञान शब्द से आत्मा को कहने में कोई दोष नहीं है अतः यहाँ मुख्यवृत्ति के द्वारा ही ज्ञान शब्द से ब्रह्म का बोध होता है। ज्ञानगुण का आश्रय होने से ही ब्रह्म को ज्ञान कहा जाता है, ऐसी बात नहीं अपितु ज्ञानस्वरूप होने से भी ज्ञान कहा जाता है। ब्रह्म विज्ञानरूप है, आनन्दरूप है-**विज्ञानम् आनन्दं ब्रह्म।**(बृ.उ.3.9.28), विज्ञानरूप ब्रह्म ही आनन्दरूप है-**प्रज्ञानघन एवानन्दमयः।**(रामो.उ.3) इत्यादि श्रुतियों से ब्रह्म की ज्ञानरूपता सिद्ध है।

यावद्विभूतिनेतृत्व

यावद्विभूतिनेतृत्व का अर्थ उभयविभूतिनायकत्व है। समस्त प्रकृतिमण्डल को लीलाविभूति कहते हैं और अप्राकृत भगवद्धाम को भोगविभूति। भगवान् राम इन दोनों विभूतियों के स्वामी हैं।

रागादिकारणे बन्धौ तेनैव विनिवर्त्यते।
बन्धुत्वप्रतिपत्तिश्च भासमानाविचारतः॥24॥

अन्वय

च तेन एव अविचारतः भासमाना रागादिकारणे बन्धौ बन्धुत्वप्रतिपत्तिः

विनिवर्त्यते।

अर्थ

च-और **तेन**-राम शब्द से **एव**-ही **अविचारतः**-अज्ञान के निमित्त **भासमाना**-होने वाला **रागादिकारणे**-रागादि का कारण **बन्धौ**-अस्वाभाविक बन्धु में **बन्धुत्वप्रतिपत्तिः**-स्वाभाविक बन्धुत्व का भ्रम **विनिवर्त्यते**-निवृत्त हो जाता है।

भाष्य

ग्रन्थकार ने पूर्व में **स सर्वविधबन्धुत्वम्**(श्रीवै.भा.22) इस प्रकार भगवान् राम को जीवों का बन्धु कहा था, वे सामान्य बन्धु नहीं अपितु स्वाभाविक बन्धु हैं अतः उनके साथ जीव का सम्बन्ध सदा बना रहता है। उनसे अतिरिक्त अन्य सभी स्वाभाविक बन्धु नहीं हैं, उनके साथ पुण्य-पापरूप कर्मों के कारण सम्बन्ध होता है इसलिए कर्म समाप्त होते ही सम्बन्ध भी समाप्त हो जाता है। जीवात्मा का सांसारिक बन्धुओं से सम्बन्ध राग, द्वेष का कारण है। इनसे प्रेरित जीवनयात्रा होने पर मनुष्य उत्तरोत्तर भयंकर दुःखालय में प्रवेश करता है, जीव को इससे बचने के लिए राग-द्वेष से बचना होगा और इनसे भी बचने के लिए इनके कारण को समझना होगा। रागादि के कारण सांसारिक बन्धु हैं। हम अपने कर्मरूप अज्ञान के कारण उन्हें रागादि का जनक अस्वाभाविक बन्धु नहीं समझते अपितु स्वाभाविक समझते हैं, अस्वाभाविक को स्वाभाविक समझना यथार्थ ज्ञान नहीं है अपितु भ्रम है। राम पद से इस भ्रम का भी निवारण हो जाता है। कैसे? उस पद के अर्थ का सम्यक् विचार करने पर यह समझ में आ जाता है कि सर्व समर्थ प्रभु श्रीराम ही सर्वदा हमारे साथ रहने वाले सच्चे स्वाभाविक बन्धु हैं, इस यथार्थ ज्ञान से लौकिक सम्बन्धियों में स्वाभाविकबन्धुत्व का भ्रम निवृत्त हो जाता है।

जीव भगवान् को विस्मृत करता रहता है किन्तु वे जीव को कभी भी विस्मृत नहीं करते, साथ भी नहीं छोड़ते। सुख भोग, दुःख भोग आदि सभी परिस्थितियों में जीव के साथ ही रहते हैं। हजारों माता-पिता से भी बढ़कर वात्सल्य रखने के कारण घोर नरकयातना के समय भी साथ नहीं छोड़ते। जैसे माता पुत्र के सुस्वास्थ के लिए चिकित्सालय में उसकी शल्य क्रिया

करवाती है, साथ भी रहती है। ऐसे ही श्रीरामचन्द्र अपनी सन्तानों के पापक्षय के लिए कष्टदायक यातना प्रदान करते हुए भी साथ रहते हैं और सन्मार्ग में जीव को लाकर परम भक्ति के उदय तक साथ ही रहकर साधन करवाकर स्वयं की प्राप्ति में स्वयं ही उपाय बनते हैं। क्योंकि वही हमारे सर्वविधबन्धु हैं।

राम शब्द का अर्थ करने के पश्चात् उसके उत्तर में विद्यमान चतुर्थी विभक्ति का अर्थ अब किया जाता है-

तच्चतुर्थ्या स्वानुरूपकैंकर्यप्रार्थनोच्यते।
विषयान्तरसेवाऽपि प्राप्ता सा विनिवर्त्यते॥25॥

अन्वय

तच्चतुर्थ्या स्वानुरूपकैंकर्यप्रार्थना उच्यते। विषयान्तरसेवा प्राप्ता, सा अपि विनिवर्त्यते॥

अर्थ

तच्चतुर्थ्या-'रामाय' यहाँ राम शब्द से पर चतुर्थी विभक्ति के द्वारा **स्वानुरूपकैंकर्यप्रार्थना**-जीव के स्वरूप के अनुरूप भगवत्कैंकर्य प्राप्त करने के लिए प्रार्थना **उच्यते**-कही जाती है, इससे पूर्व के संस्कारवशात् जो **विषयान्तरसेवा**-सांसारिक विषयों का सेवन(भोग) **प्राप्ता**-प्राप्त है, **सा**-वह **अपि**-भी **विनिवर्त्यते**-निवृत्त हो जाता है।

भाष्य

कैंकर्य-किंकर का अर्थ होता है-सेवक या दास, उसके कर्म को कैंकर्य कहा जाता है। जिसे करने से भगवान् का प्रेम प्राप्त हो, किंकर के द्वारा किये जाने वाले उस कार्यविशेष को कैंकर्य कते हैं-**भगवत्प्रीतिजनक-व्यापारविशेषः कैंकर्यम्**। भगवान् के लिए तुलसी, पुष्प का रोपण, उनका सिंचन, चयन, रसोई, पूजा, नाम जप, संकीर्तन आदि कैंकर्य ही हैं, इतना ही नहीं अपितु शास्त्रविहित सभी कर्म कर्तृत्वाभिमान तथा फलेच्छा के त्यागपूर्वक भगवदर्पणबुद्धि से करने पर कैंकर्य कहे जाते हैं, उनका आचरण करने पर भगवान् भक्त से प्रेम करने लगते हैं।

भगवत्कैंकर्य के लिए ही मानवशरीर मिला है। यह कैंकर्य जीवात्मस्वरूप

के अनुरूप ही है क्योंकि उसे सम्पन्न करने से भगवत्प्राप्ति हो जाती है। अपने स्वरूप का भगवद्दासत्वेन ज्ञान न होने के कारण ही जीव की कैंकर्य में रुचि नहीं होती। गुरुजनों के अनुग्रह से अपने स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होने पर कैंकर्य अनुरूप प्रतीत होता है, तब उसे करने में रुचि उत्पन्न होती है। **स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।**(गी.18.46) इस भगवद्गीता वचन के अनुसार अधिकारीविशेष के लिए विहित शास्त्रीय कर्म भगवत्कैंकर्य हैं, इनका आचरण करने पर भगवान् प्रसन्न होते हैं और उससे मनोमालिन्य निवृत्त होकर उत्तरोत्तर भक्तियोग की वृद्धि होती है। भक्तजन तो शरीरत्याग के पश्चात् मुक्तावस्था में भी भगवद्धाम में भगवान् के कैंकर्य में तत्पर रहते हैं। रामाय शब्द में प्रयुक्त चतुर्थी विभक्ति के द्वारा उसे प्राप्त करने के लिए प्रार्थना की जाती है।

पूर्व में किये कर्म से उपलब्ध होने वाले भोग्य पदार्थों का रागतः सेवन विद्वान् से लेकर पामर तक सभी को प्राप्त है। जब साधक कैंकर्य की प्राप्ति के लिए भगवान् से प्रार्थना करता है, तब वह भगवदनुग्रह से यह समझ लेता है कि हम भगवान् के ही स्वाभाविक दास हैं, उनका कैंकर्य ही हमारा परम कर्तव्य है। तब उसकी विषयसेवन में रुचि समाप्त हो जाती है।

रामाय पद के घटक ङे. प्रत्यय का अर्थ करने के पश्चात् नमः शब्द को सखण्ड मानकर अब उसके अवयव न पद का अर्थ किया जाता है-

पदेन नेनात्र तु पञ्चमेन प्रकथ्यतेऽथो[1] तदनन्यशेषता[2]।
[3]हेयं तदन्यार्थमपि स्वतन्त्रता निवर्त्यतेऽतः सततं स्वकीया।।26।।

अन्वय

अत्र पञ्चमेन पदेन नेन तदनन्यशेषता प्रकथ्यते। अथो तदन्यार्थ्यम् हेयम्।

1.संप्रकथ्यते वै इति पाठान्तरम्। 2.न विद्यते अन्यः भगवद्व्यतिरिक्तः यस्य सः अनन्यः, अनन्यश्चासौ शेषश्चेति अनन्यशेषः जीवः, तस्य भावः अनन्यशेषता। तस्य जीवस्य अनन्यशेषतेति तदनन्यशेषता। यद् वा तस्य भगवतः अनन्यशेषः इति तदनन्यशेषः जीवः, तस्य भावः तदनन्यशेषता। यद् वा अन्यस्य भगवद्व्यतिरिक्तस्य शेषः अन्यशेषः। न अन्यशेषः अनन्यशेषः, तस्य भावः अनन्यशेषता। तस्य जीवस्य अनन्यशेषतेति तदनन्यशेषता। यद् वा तस्य **भगवतः** अनन्यशेषः इति तदनन्यशेषः जीवः, तस्य भावः तदनन्यशेषता। 3.उत्तरार्धस्य **स्थाने प्रहेयमन्यार्थ्यमथो स्वतन्त्रता निवर्त्यते जीवगणस्य सन्ततम्** इति पाठान्तरम्।

तु अतः सततं स्वकीया स्वतन्त्रता अपि निवर्त्यते।

अर्थ

अत्र-तारक मन्त्र में **पञ्चमेन**-पञ्चम **पदेन**-पद **नेन**-नकार से **तदनन्यशेषता**-जीव की भगवदनन्यशेषता **प्रकथ्यते**-कही जाती है, **अथो**-इसके अनन्तर **तदन्यार्थम्**-जीव का (भगवत्कैंकर्य से) अन्य प्रयोजन **हेयम्**-त्यागने योग्य (कहा जाता है।) **तु**-और **अतः**-इसी पद(नकार) से **सततम्**-सदा प्रतीत होने वाली (जीव की) **स्वकीया**-अपनी **स्वतन्त्रता**-स्वतन्त्रता **अपि**-भी **निवर्त्यते**-निवृत्त हो जाती है।

भाष्य

शेषत्व का पूर्व में विस्तार से प्रतिपादन किया जा चुका है। जीव भगवान् का ही शेष है, दूसरे किसी का नहीं, यह मन्त्रराज के पञ्चम पद नकार से कहा जाता है। जीव का परम प्रयोजन भगवत्कैंकर्य है, इससे अतिरिक्त सभी प्रयोजन त्याज्य हैं, यह बात भी नकार से कही जाती है। जीवात्मा अपने भगवदनन्यशेषस्वरूप को न जानने से सांसारिक फल धर्म, अर्थ और कामरूप त्रिवर्ग की प्राप्ति को अपना प्रयोजन समझता है। जब वह पञ्चम पद के अर्थ अपने शेषस्वरूप को समझ लेता है, तब उसके वे सभी प्रयोजन निवृत्त हो जाते हैं और वह भगवत्कैंकर्य में प्रवृत्त हो जाता है। जीव ब्रह्मात्मक अर्थात् ब्रह्म का शरीर है, उसके अधीन है, स्वतन्त्र नहीं, फिर भी वह अज्ञान से अपने को स्वतन्त्र ही समझता है। नकार के अर्थ का अनुसंधान करने पर भ्रम से प्रतीत होने वाली उसकी स्वतन्त्रता निवृत्त हो जाती है, इसलिए वह अपने को स्वतन्त्र नहीं मानता अपितु अपने आराध्य प्रभु के अधीन ही अपने को मानता है।

न का अर्थ करने के पश्चात् अब अन्तिम में विद्यमान मकार का अर्थ किया जाता है-

पदेन षष्ठेन म इत्यनेन स्वस्वाम्यनन्यार्हकशेषताऽपि।
समुच्यते चेतनवाचिना तु तत्किङ्करत्वैकफलत्वमेव[1]॥27॥

अन्वय

चेतनवाचिना म इति अनेन षष्ठेन पदेन स्वस्वाम्यनन्यार्हकशेषता[2] समुच्यते,

1.तत्किङ्करत्वैकफलाधिपत्यम्' इति पाठान्तरम्। 2..अन्यं भगवद्व्यतिरिक्तमर्हतीति अन्यार्हः,

तु तत्किङ्करत्वैकफलत्वम् अपि एव।

अर्थ

चेतनवाचिना-चेतन जीव का बोधक **म**-मकार **इति अनेन**-इस **षष्ठेन**-छठवें **पदेन**-पद से (जीव का) **स्वस्वाम्यनन्यार्हकशेषता**-केवल अपने स्वामी के प्रति शेष होने का **समुच्यते**-प्रतिपादन किया जाता है **तु**-और **तत्किङ्करत्वैकफलत्वम्**-भगवत्कैंकर्यरूप एक फल **अपि**-भी **एव**-निश्चितरूप से कहा जाता है।

भाष्य

तारक मन्त्र का अन्तिम छठवाँ पद मकार है, यह चेतन आत्मा का बोध कराता है। जीव केवल अपने स्वामी भगवान् श्रीराम का शेष होने के योग्य है, इस विषय का अन्तिम पद से प्रतिपादन किया जाता है। पूर्व श्लोक में तदनन्यशेषता इस प्रकार नकार से भगवदनन्यशेषता कही थी और अब स्वस्वाम्यनन्यार्हकशेषता पद से यह कहा जाता है कि जीव में केवल अपने स्वामी का ही शेष होने की योग्यता है अर्थात् दूसरे का शेष होने की योग्यता उसमें नहीं इसलिए वह दूसरे का शेष नहीं हो सकता। जीवात्मा भगवान् का ही शेष है, ऐसा समझने पर वह भगवत्कैंकर्य को ही अपना प्रयोजन समझता है और उसे ही करना चाहता है। शेष आत्मा का यह भगवत्कैंकर्यरूप प्रयोजन भी प्रस्तुत पद से कहा जाता है।

उपायार्थपरेणासावखण्डनमसोच्यते[1]।
उपायो हि मवाच्यस्य रवाच्यो राम एव सः॥28॥

अन्वय

मवाच्यस्य रवाच्यः रामः एव सः, असौ उपायः हि उपायार्थपरेण अखण्डनमसा उच्यते।

अर्थ

मवाच्यस्य-मकार के वाच्य जीव के (प्राप्य श्रीरामचन्द्र जी की प्राप्ति में) **रवाच्यः**-रकार के वाच्य **रामः**-श्रीरामचन्द्र **एव**-ही **सः**-उपाय हैं,

---

न अन्यार्हः अनन्यार्हः, अनन्यार्हः एव अनन्यार्हकः, स्वार्थे कप्रत्ययः। सः चासौ शेषश्चेति अनन्यार्हकशेषः तस्य भावः अनन्यार्हकशेषता, स्वस्वामिनः अनन्यार्हकशेषता स्वस्वाम्यनन्यार्हकशेषता। 1.अत्र **उपायार्थपरेणात्र त्वखण्डनमसोच्यते** इति पाठान्तरम्।

असौ-वह **उपायः**-उपाय **हि**-ही **उपायार्थपरेण**-उपाय अर्थ का बोधक **अखण्डनमसा**-अखण्ड नमः पद से **उच्यते**-कहा जाता है

भाष्य

अखण्ड नमः पद का अर्थ उपाय है। जीव भगवान् का अनन्य शेष है, वह मकार का वाच्य है, इसका पूर्व में **मवाच्योऽहम्**।(श्रीवै.भा.20) इससे तथा अव्यवहित पूर्व श्लोक से वर्णन किया गया था। रकार के वाच्य भगवान् राम हैं, इस विषय को **तत्राद्येन पदेन रेण भगवान् सीतापतिः प्रोच्यते**।(श्रीवै.भा.13) इस प्रकार कहा था। जीव के प्राप्य श्रीराम हैं, वह उन्हें प्राप्त करना चाहता है। क्या जीव अपने सामर्थ्य से उन्हें प्राप्त कर सकता है? कदापि नहीं, तो उनकी प्राप्ति का क्या उपाय है? वे स्वयं उपाय हैं। कृपासागर श्रीराम अपनी प्राप्ति में स्वयं उपाय बनकर सुलभ हो जाते हैं, उनके उपाय होने का 22 वें श्लोक की व्याख्या में विस्तार से प्रतिपादन किया गया है।

ग्रन्थकार तारक मन्त्र के अर्थ का विस्तार से प्रतिपादन करके अब दो श्लोकों के द्वारा अर्थपञ्चक का प्रतिपादन करते हैं-

बीजेनैवाथ जीवस्य स्वरूपं प्रतिपाद्यते।
रामायेति परस्यापि चतुर्थ्या तत्फलस्य च॥29॥

अन्वय

बीजेन एव जीवस्य स्वरूपं प्रतिपाद्यते, अथ रामाय इति परस्य च चतुर्थ्या तत्फलस्य अपि।

अर्थ

बीजेन-बीज के द्वारा **एव**-ही **जीवस्य**-जीवात्मा के **स्वरूपम्**-स्वरूप का **प्रतिपाद्यते**-प्रतिपादन किया जाता है, **अथ**-इसके पश्चात् **रामाय**-रामाय **इति**-इस पद की प्रकृति राम शब्द से **परस्य**-परमात्मा राम के स्वरूप का प्रतिपादन किया जाता है च-और **चतुर्थ्या**-चतुर्थी विभक्ति के द्वारा **तत्फलस्य**-प्राप्ति के फल का **अपि**-भी प्रतिपादन किया जाता है।

भाष्य

राममन्त्र के आरम्भ में विद्यमान 'रां' इस बीज अक्षर के तीनों अवयवों

के अर्थ का पूर्व में प्रतिपादन किया गया था। अब समुदायात्मक बीज का अर्थ आत्मस्वरूप कहा जाता है और रामाय पद की प्रकृति भाग राम से परमात्मस्वरूप। इन दोनों का पूर्व में अनेक स्थलों पर विस्तार से निरूपण किया गया है। रामाय पद में विद्यमान चतुर्थी विभक्ति से अपने आराध्य की प्राप्ति का फल मोक्ष कहा जाता है। बन्धनों की आत्यन्तिक निवृत्ति होने पर सतत प्रियतम प्रभु का दर्शन और उनकी सेवा करना ही मोक्ष है। भगवत्प्राप्ति के इस फल की व्याख्या आगे की जायेगी।

उपायस्य त्वखण्डेन नमःशब्देन[1] उच्यते।
सखण्डे तु[2] मकारेण षष्ठ्यन्तेन विरोधिनः॥30॥

अन्वय

तु[3] अखण्डेन नमःशब्देन उपायस्य उच्यते। तु सखण्डे षष्ठ्यन्तेन मकारेण विरोधिनः।

अर्थ

अखण्डेन-अखण्ड **नमःशब्देन**-नमः शब्द से **उपायस्य**-उपाय का (स्वरूप) **उच्यते**-कहा जाता है **तु**-किन्तु **सखण्डे**-सखण्ड नमः पद में (विद्यमान) **षष्ठ्यन्तेन**-षष्ठ्यन्त **मकारेण**-मकार से **विरोधिनः**-भगवत्प्राप्ति के विरोधी का स्वरूप कहा जाता है।

भाष्य

समस्त वैदिक शास्त्रों में कल्याणकामी मुमुक्षु पुरुष के लिये जो परम उपयोगी उपदेश दिये गये हैं, उनका ही मनीषी आचार्यों ने पाँच विषयों में वर्गीकरण करके 'अर्थपञ्चक' नामकरण किया है। अर्थपञ्चक[4] का अर्थ है-जानने योग्य पाँच विषय। इन विषयों का हनुमत्संहिता इस प्रकार वर्णन करती है-'प्राप्य श्रीरामचन्द्रजी का स्वरूप, प्राप्ता (प्राप्ति करने वाला) जीवात्मा का स्वरूप तथा श्रीरामचन्द्रजी की प्राप्ति का उपाय, प्राप्ति का फल एवं प्राप्ति के विरोधी(अहन्ता, ममता आदि) इन पाँच अर्थों को जानना चाहिए। मैं तुमसे इन्हीं पाँच अर्थों को संक्षेप में कहता हूँ'-**ज्ञेयं**

1.अत्र 'नमःखण्डेन' इति पाठान्तरम्। **2.**'सखण्डे तु' इति स्थाने 'सखण्डेन' इति पाठान्तरः। **3.**तु शब्दः पादपूर्तये। **4.**अर्थपञ्चक को विस्तार से समझने के लिए अर्थपञ्चक की मेरी व्याख्या का अवलोकन करना चाहिए।

प्राप्यस्य रामस्य रूपं प्राप्तुस्तथैव च। प्राप्त्युपायं फलञ्चैव तथा प्राप्तिविरोधि च॥ अर्थपञ्चकमेतत्तु संक्षेपेण वदामि ते।(अ.प.3)। प्राप्य ब्रह्म के स्वरूपादि इन्हीं पाँच अर्थों का इतिहास, पुराण के सहित सभी वेद प्रतिपादन करते हैं-**प्राप्यस्य ब्रह्मणो रूपं प्राप्तुश्च प्रत्यगात्मनः। प्राप्त्युपायं फलं चैव तथा प्राप्तिविरोधि च। वदन्ति सकला वेदाः सेतिहासपुराणकाः॥** उक्त पाँच अर्थों में प्राप्य, प्राप्ता और फल का निरूपण 29 वें श्लोक से किया गया था तथा उपाय और विरोधी का निरूपण 30 वें श्लोक से। प्रस्तुत श्लोक में षष्ठ्यन्त पद मकार के द्वारा भगवत्प्राप्ति के विघ्न कहे गये, उनके होते प्रभु की प्राप्ति संभव नहीं, अतः उनके स्वरूप को समझकर उनका निराकरण करना चाहिए, यह अर्थ 'न' इस अव्यय पद से ज्ञात होता है।

तात्पर्यार्थोऽशेषवेदशास्त्राभिरुचिसंश्रयः[1]।
वाक्यार्थः प्राप्यसम्बन्धिस्वरूपाभिनिरूपणम्॥31॥

अन्वय

तात्पर्यार्थः अशेषवेदशास्त्राभिरुचिसंश्रयः। वाक्यार्थः प्राप्यसम्बन्धिस्वरूपा-भिनिरूपणम्।

अर्थ

तात्पर्यार्थः-राममन्त्र का तात्पर्य अर्थ **अशेषवेदशास्त्राभिरुचिसंश्रयः**-सम्पूर्ण वेदशास्त्रों के अभिप्राय का आश्रय लेना है और **वाक्यार्थः**-वाक्यार्थ **प्राप्यसम्बन्धिस्वरूपाभिनिरूपणम्**-प्राप्य श्रीराम से नित्य सम्बन्ध रखने वाले अपने आत्मस्वरूप का चिन्तन करना है।

भाष्य

श्रुतिस्मृतिर्ममैवाज्ञा इस प्रकार श्रीभगवान् ने वेद और तदनुरूप शास्त्रों को अपनी आज्ञा कहा है अतः उनके अभिप्राय के अनुरूप ही आचरण करना चाहिए। वेदशास्त्रों के अभिप्राय का आश्रय लेना अर्थात् तदनुसार आचरण करना ही श्रीराममन्त्र का तात्पर्य अर्थ है। जो वेदार्थ का अभिप्राय है, वही राममन्त्र का अभिप्राय है। प्राप्य प्रियतम प्रभु श्रीरामचन्द्र जी से

1.पूर्वार्धस्य स्थाने **तात्पर्यार्थः समस्तानां शास्त्राणां रुचिसंश्रयः।** इति पाठान्तरम्।

नित्य सम्बन्ध रखने वाली अपनी आत्मा का शेषरूप, दासरूप, ज्ञानानन्दरूप इत्यादि रीति से चिन्तन करना मन्त्रराज का वाक्यार्थ है।

तारकस्य प्रधानार्थः स्वस्वरूपनिरूपणम्।
सम्बन्धस्यानुसन्धानमनुसन्ध्यर्थ इष्यते।।32।।

अन्वय

तारकस्य प्रधानार्थः स्वस्वरूपनिरूपणम्। अनुसन्ध्यर्थः सम्बन्धस्य अनु सन्धानम् इष्यते।

अर्थ

तारकस्य-मन्त्रराज का **प्रधानार्थः**-प्रधान अर्थ **स्वस्वरूपनिरूपणम्**[1]-अपने अन्तरात्मा श्रीराम के स्वरूप का चिन्तन(और) **अनुसन्ध्यर्थः**-अनुसन्धि अर्थ **सम्बन्धस्य**-अपनी आत्मा और भगवान् श्रीराम के सम्बन्ध का **अनुसन्धानम्**-अनुसंधान करना **इष्यते**-माना जाता है।

भाष्य

तारक मन्त्र का प्रधान अर्थ है-आत्मा में विद्यमान अपने अन्तरात्मा, शेषी भगवान् श्रीराम का चिन्तन करना। भगवान् सबसे प्रधान हैं अतः यहाँ उनका चिन्तन ही प्रधान कहा गया है। ग्रन्थकार भगवान् श्रीरामानन्दाचार्य ने प्रस्तुत ग्रन्थ में जीव और ब्रह्म के पितापुत्रभावसंबन्ध, रक्ष्यरक्षकभावसम्बन्ध, शेषशेषिभावसंबन्ध, भार्याभर्तृभावसंबन्ध, स्वस्वामिभावसंबन्ध, आधाराधेयभावसंबन्ध, सेव्यसेवकभावसंबन्ध, आत्मात्मीयभावसंबन्ध और भोग्यभोक्तृभावसंबन्ध इन नौ सम्बन्धों का उल्लेख किया है, उनका अनुसंधान करना अनुसंधि अर्थ है।

साधक का आचरण शास्त्रविहित रीति से होना चाहिए, यह उसका सर्वप्रथम कर्तव्य है, तदनन्तर आचार्य के मुख से ग्रन्थ में प्रतिपादित रीति से तारक मन्त्र के अर्थ को समझना चाहिए और प्रथम अनुसन्धि अर्थ अर्थात् जीव और ब्रह्म के सम्बन्धों का अनुसंधान करना चाहिए, इसके अनन्तर आत्मस्वरूप का और परमात्मस्वरूप का अनुसंधान क्रम से करना चाहिए।

1.स्वशेषिस्वरूपनिरूपणम् इत्यर्थः। स्वे विद्यमानं स्वरूपं स्वस्वरूपम्, मध्यमपदलोपिसमासः। तस्य निरूपणं स्वस्वरूपनिरूपणम्।

उक्त्वेत्थं तारकार्थं तु द्वयार्थः प्रतिपाद्यते।
विमत्सराः प्रपश्यन्तु प्रगृह्णन्त्ववयन्तु च॥33॥

अन्वय

इत्थं तारकार्थम् उक्त्वा तु द्वयार्थः प्रतिपाद्यते। विमत्सराः प्रगृह्णन्तु, प्रपश्यन्तु च अवयन्तु।

अर्थ

इत्थम्-पूर्वोक्त रीति से **तारकार्थम्**-राम मन्त्र के अर्थ को **उक्त्वा**-कहकर (अब) **तु**-तो **द्वयार्थः**-मन्त्रद्वय के अर्थ का **प्रतिपाद्यते**-प्रतिपादन किया जाता है। **विमत्सराः**-शुद्ध अन्तःकरण वाले भक्तगण (सद्गुरुदेव से इन्हें) **प्रगृह्णन्तु**-ग्रहण करें, **प्रपश्यन्तु**-इनके अर्थ को जानें **च**-और **अवयन्तु**-उसका अनुसंधान करें।

भाष्य

तारक मन्त्र के अर्थ को कहकर अब **श्रीमद्रामचन्द्रचरणौ शरणं प्रपद्ये** और **श्रीमते रामचन्द्राय नमः** इन मन्त्रों के अर्थ का प्रतिपादन किया जाता है। ये दोनों ही मन्त्रद्वय कहलाते हैं। मत्सर का अर्थ ईर्ष्या होता है, वह सभी विकारों का उपलक्षण है, इस प्रकार विमत्सराः का अर्थ ईर्ष्यादि सभी विकारों से रहित अर्थात् शुद्ध अन्तःकरण वाला होता है। विकारों के रहते कोई भी साधन पथ में अग्रसर नहीं हो सकता, अतः इनकी निवृत्ति अनिवार्य है। निष्पाप मुमुक्षु अपने आचार्य से इन्हें ग्रहण करें और इनके अर्थ को समझ कर आत्मकल्याण के लिए अनुसंधान करें।

श्रीरामद्वयमन्त्रमद्भुततमं वाक्यद्वयं षट्पदं
वाणाक्षिप्रमिताक्षरन्तु खलु विद्धि त्वं दशार्थान्वितम्।
युक्तं तं त्रिपदेन[1] तत्र सुमते पूर्वं शुभस्यास्पदं
वाक्यं पञ्चदशाक्षरं तदनु दिग्वर्णात्मकं तूत्तरम्॥34॥

अन्वय

सुमते! त्वं तु तं विद्धि, श्रीरामद्वयमन्त्रम् वाक्यद्वयम्, शुभस्य आस्पदम्, अद्भुततमम्, षट्पदं वाणाक्षिप्रमिताक्षरं खलु दशार्थान्वितम्। तत्र पूर्वं वाक्यं

1.अत्र 'युक्तं तं त्रिपदेन' इति स्थाने 'युक्तं तत्त्रिपदैस्तु' इति पाठान्तरम्।

त्रिपदेन युक्तम्, पञ्चदशाक्षरम्, तु तदनु उत्तरं दिग्वर्णात्मकम्।

अर्थ

सुमते!-हे सुमति सुरसुरानन्द! **त्वम्**-तुम **तु**-तो **तम्**-पूर्वोक्त विषय को (इस प्रकार) **विद्धि**-जानो (कि) **श्रीरामद्वयमन्त्रम्**-श्रीरामचन्द्र के द्वयमन्त्र **वाक्यद्वयम्**-दो वाक्य हैं, वे **शुभस्य**-मोक्ष के **आस्पदम्**-आश्रय हैं। **अद्भुततमम्**-अत्यन्त अद्भुत हैं। उन दोनों में **षट्पदम्**-छः पद हैं, **वाणाक्षिप्रमिताक्षरम्**[1]-पच्चीस अक्षर हैं। वे दोनों **खलु**-ही **दशार्थान्वितम्**-दश अर्थों से युक्त हैं। **तत्र**-उनमें **पूर्वम्**-पूर्व **वाक्यम्**-वाक्य **त्रिपदेन**-तीन पदों से **युक्तम्**-युक्त है, **पञ्चदशाक्षरम्**-पन्द्रह अक्षर वाला है, **तु**-किन्तु **तदनु**-इसके पश्चात् **उत्तरम्**-उत्तरवर्ती वाक्य **दिग्वर्णात्मकम्**[2]-दश अक्षरों वाला है।

भाष्य

भगवान् राम के मन्त्रद्वय दो वाक्य हैं, वे मोक्ष के साधन हैं। शब्दतः और अर्थतः अत्यन्त आश्चर्य के जनक हैं, इसका रहस्य जापक तथा अर्थानुसं-धान करने वाले समझते हैं, वे उन्हें उत्तरोत्तर नूतन और अत्यन्त आह्लाद के जनक प्रतीत होते हैं। उनके दश अर्थ होते हैं। पूर्व वाक्य में **श्रीमद्रामचन्द्रचरणौ** प्रथम पद है, **शरणम्** द्वितीय पद है और **प्रपद्ये** तृतीय पद है, इस प्रकार उसमें तीन पद हैं। **श्रीमद्रामचन्द्रचरणौ** में नौ अक्षर, **प्रपद्ये** में तीन अक्षर और **शरणम्** में तीन अक्षर इस प्रकार पूर्व वाक्य पन्द्रह अक्षर वाला है। द्वितीय वाक्य में **श्रीमते** प्रथम पद है, **रामचन्द्राय** द्वितीय पद है और **नमः** तृतीय पद है, इस प्रकार दोनों वाक्यों में छः पद होते हैं। **श्रीमते** में तीन अक्षर, **रामचन्द्राय** में पाँच अक्षर और **नमः** में दो अक्षर हैं, इस प्रकार द्वितीय वाक्य दश अक्षर वाला है।

सर्वाधीशेश्वरप्राप्तिहेतुस्तत्राभिधीयते[3]।
सीतापुरुषकारार्था[4] श्रीत्यनेन पदेन तु॥35॥

1.वाण शब्द पाँच संख्या का और अक्षि शब्द दो संख्या का प्रतीक है, इस प्रकार वाणाक्षि का पच्चीस अर्थ संभव होता है। 2.दिक् शब्द दश संख्या का सूचक है। 3. अत्र **सर्वाधीशेश्वरस्याप्तिहेतुरत्राभिधीयते** इति पाठान्तरम्। 4.पुरुषकारः अर्थः प्रयोजनं यस्याः सा पुरुषकारार्था। सीता च सा पुरुषकारार्था इति सीतापुरुषकारार्था।

अन्वय

तत्र श्री इति अनेन पदेन तु सर्वाधीशेश्वरप्राप्तिहेतुः सीतापुरुषकारार्था अभिधीयते।

अर्थ

तत्र-मन्त्र में विद्यमान **श्री**-श्री **इति अनेन**-इस **पदेन**-शब्द से **तु**-तो **सर्वाधीशेश्वरप्राप्तिहेतुः**-सभी के नियन्ता और सभी के शेषी श्रीराम की प्राप्ति का सांधन **सीतापुरुषकारार्था**[2]-पुरुषकार करने वाली श्रीसीता जी **अभिधीयते**-कही जाती हैं।

भाष्य

भगवती श्रीसीता जी जगज्जननी हैं, सभी प्राणी उनकी संतान हैं अतः सभी के प्रति उनके हृदय में करुणा का अतिरेक रहता है। वे श्रीराम की अत्यन्त प्रिया हैं, उनकी करुणाकादम्बिनी के विना कोई भी श्रीराम को प्राप्त नहीं कर सकता। जीव अनन्त जन्मों से अनन्त पापराशि संचित करते आया है। जब वे उसके उद्धार के लिए भगवान् से पुरुषकार(संस्तुति, सिपारिश) करती हैं, तब वह सर्वशेषी, सर्वनियामक और सर्वात्मा भक्तवत्सल भगवान् को प्राप्त करता है। ऐसी परमोदारा श्रीसीता जी **श्रीमद्रामचन्द्र चरणौ शरणं प्रपद्ये** इस वाक्य में स्थित 'श्री' पद से कही जाती हैं।

जब कोई भक्त अपने उद्धार के लिए ममतामयी जगदम्बा भगवती सीता जी को पुकारता है, तब उनका वात्सल्यहृदय भक्त की करुण पुकार से शीघ्र द्रवित हो जाता है। **कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति।**(दे.स्तो.) वे शीघ्र ही अपने भक्त की प्रार्थना श्रीरामजी को सुना देती हैं। इस सन्दर्भ में गोस्वामी तुलसीदास जी के दो पद अनुसंधेय हैं-

1

कबहुँक अंब, अवसर पाइ।
मेरिऔ सुधि द्याइबी, कछु करुन कथा चलाइ।।1।।
दीन, सब अँगहीन, छीन, मलीन, अघी अघाइ।
नाम लै भरै उदर एक प्रभु-दासी-दास कहाइ।।2।।
बूझिहैं 'सो है कौन', कहिबी नाम दसा जनाइ।
सुनत राम कृपालु के मेरी बिगरिऔ बनि जाइ।।3।।

जानकी जगजननि जनकी किये बचन सहाइ।
तरै तुलसीदास भव तव नाथ-गुन-गन गाइ।।4।।(वि.प.41)।

2

कबहुँ समय सुधि द्यायबी, मेरी मातु जानकी।
जन कहाइ नाम लेत हौं, किये पन चातक ज्यों, प्यास प्रेम-पान की।।1।।
सरल प्रकृति आपु जानिए करुना-निधान की।
इनिज्गुन, अरिकृत अनहितौ, दास-दोष, सुरति चित, रहत न दिये दान की।।2।।
बानि बिसारनसील है मानद अमान की।
तुलसीदास न बिसारिये, मन करम बचन जाके, सपनेहुँ गति न आनकी।।3।। (वि.प.42)।

श्री शब्द का अर्थ करने के पश्चात् अब उससे पर में विद्यमान मतुप् प्रत्यय का अर्थ किया जाता है-

मता पुरुषकारस्य नित्यसम्बन्ध उच्यते।
रामचन्द्रेति पदतो वात्सल्यादिगुणस्य च।।36।।

अन्वय

मता पुरुषकारस्य नित्यसम्बन्धः उच्यते च रामचन्द्रः इति पदतः वात्सल्यादिगुणस्य।

अर्थ

मता-मतुप् प्रत्यय के द्वारा **पुरुषकारस्य**-पुरुषकाररूपा श्रीसीता जी का (श्रीरामचन्द्र जी के साथ) **नित्यसम्बन्धः**-नित्य सम्बन्ध **उच्यते**-कहा जाता है **च**-और **रामचन्द्रः**-'रामचन्द्र' **इति**-इस **पदतः**-शब्द से (उनमें) **वात्सल्यादिगुणस्य**-वात्सल्यादि गुणों का नित्य सम्बन्ध कहा जाता है।

भाष्य

श्रीसीता जी जीव के उद्धार के लिए भगवान् से पुरुषकार करती हैं इसलिए पुरुषकार कही जाती हैं। **भूमनिन्दा प्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने**(वा. 5.2.94) इस वार्तिक से **श्रीमद्रामचन्द्र चरणौ** यहाँ पर श्री शब्द से मतुप् प्रत्यय नित्य सम्बन्ध अर्थ में हुआ है। **अनन्या हि मया सीता भास्करेण प्रभा यथा।**(वा.रा.6.118.19) इस रामायण वचनके अनुसार प्रभा और सूर्य के सदृश सर्वेश्वर भगवान् श्रीरामचन्द्र और पुरुषकाररूपा श्रीसीताजी का

नित्य सम्बन्ध है। 'वात्सल्य आदि' यहाँ आदि पद से करूणा, सौहार्द, सौशील्य आदि गुणों को जानना चाहिए, वे श्रीरामचन्द्र जी में नित्य विद्यमान रहते हैं।

चरणावित्यनेनैव वात्सल्यादिकसीतयोः।
विलक्षणस्य दिव्यस्य विग्रहस्याश्रयस्य च॥37॥

अन्वय

चरणौ इति अनेन एव वात्सल्यादिकसीतयोः च विलक्षणस्य दिव्यस्य विग्रहस्य आश्रयस्य।

अर्थ

चरणौ-चरणौ **इति अनेन**-इस पद से **एव**-ही **वात्सल्यादिकसीतयोः**[1]-वात्सल्यादि गुण और श्रीसीता जी का नित्य सम्बन्ध कहा जाता है **च**-तथा **विलक्षणस्य**-विलक्षण **दिव्यस्य**-दिव्य **विग्रहस्य**-विग्रह और **आश्रयस्य**-श्रीराम जी का भी नित्य सम्बन्ध कहा जाता है।

भाष्य

वात्सल्यादि गुणों की पराकाष्ठा श्रीरामभद्र के समान श्रीकिशोरी जी में भी है। वात्सल्य और करुणा का उनमें अतिरेक है। वे सभी गुण उनमें नित्य विद्यमान रहते हैं, इन गुणों का वर्णन आगे किया जायेगा। भक्तों के ध्यान का आलम्बन बनने के लिए **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म**।(तै.उ.2.1.1) इत्यादि श्रुतियों से प्रतिपादित श्रीरामचन्द्र दिव्यमंगलविग्रह को नित्य धारण करते हैं। विग्रह का वर्णन भी आगे किया जायेगा।

शरणेतिपदेनैवोपायस्तद्विग्रहो बुधैः।
उपायाध्यवसायस्तु प्रपद्य इति वर्ण्यते॥38॥

अन्वय

बुधैः शरण इति पदेन तद्विग्रहः एव उपायः वर्ण्यते, तु उपायाध्यवसायः

1.श्रीमद्रामचन्द्रचरणौ यहाँ श्री शब्द से पर मतुप् प्रत्यय के द्वारा श्रीसीता जी का श्रीरघुनाथ जी से नित्य सम्बन्ध पूर्व श्लोक से कहा गया है अतः प्रस्तुत श्लोक में वात्सल्यादि गुणों और श्रीसीता जी के सम्बन्ध को ही ग्रहण करना उचित है, इनका रघुनाथ जी से सम्बन्ध को ग्रहण करना उचित प्रतीत नहीं होता।

प्रपद्ये इति ।

अर्थ

बुधैः-विद्वज्जन **शरण**-शरणम् **इति पदेन**-इस पद से (श्रीराम के ध्यान में) **तद्विग्रहः**-उनके विग्रह को **एव**-ही **उपायः**-उपाय **वर्ण्यते**-कहते हैं **तु**-किन्तु (उनके) **उपायाध्यवसायः**-उपाय होने के निश्चय का **प्रपद्ये**-प्रपद्ये **इति**-इस पद से वर्णन किया जाता है।

भाष्य

राम ब्रह्म व्यापक जग जाना।(रा.च.मा.1.115.8) परब्रह्म श्रीराम का स्वरूप व्यापक है, निरवयव है। वह ध्यान का आलम्बन नहीं हो सकता और इस (ध्यान) के बिना उनकी प्राप्ति भी नहीं हो सकती अतः शास्त्र उनके दिव्यमंगलविग्रह के चिन्तन का विधान करते हैं। श्रीविग्रह के निरन्तर अनुसन्धान से पापराशि का दाह होने पर मन उनमें अनायास लग जाता है, इस प्रकार दिव्यमंगलविग्रह वाले श्रीराम के ध्यान में उनका विग्रह उपाय होता है। यह उपाय प्रथम वाक्य के शरणम् पद से कहा जाता है। प्रीतिरूपा ध्यानात्मिका भक्ति से प्रसन्न होकर वे अपनी प्राप्ति में स्वयं उपाय बनते हैं, इस प्रकार उनके उपाय होने का निश्चय प्रपद्ये पद से कहा जाता हैं।

द्वयमन्त्र के अन्तर्गत प्रथम वाक्य के अर्थ का निरूपण करके अब द्वितीय वाक्य के अर्थ का निरूपण आरम्भ किया जाता है-

प्राप्यं मिथुनमेवेति श्रीमते पदतो मतम्।
रामचन्द्रेति पदतः स्वामित्वं प्रतिपाद्यते।।39।।

अन्वय

प्राप्यं मिथुनम् एव इति श्रीमते पदतः मतम्। रामचन्द्रः इति पदतः स्वामित्वं प्रतिपाद्यते।

अर्थ

उपासक के **प्राप्यम्**-प्राप्य **मिथुनम्**-युगल स्वरूप श्रीसीताराम **एव**-ही हैं, **इति**-ऐसा **श्रीमते**-श्रीमते **पदतः**-पद से **मतम्**-कहा जाता है (और) **रामचन्द्रः**-रामचन्द्रः **इति**-इस **पदतः**-पद से उनके **स्वामित्वम्**-स्वामी होने

का **प्रतिपाद्यते**-प्रतिपादन किया जाता है।

भाष्य

श्रीमते रामचन्द्राय नमः इस मन्त्र में स्थित **श्रीमते** पद के श्री शब्द से सीता जी और मतुप् से उनके नित्य सम्बन्धी श्रीराम ज्ञात होते हैं, इस प्रकार उपासक के प्राप्य युगलस्वरूप श्रीसीताराम जी **श्रीमते** पद से कहे जाते हैं। युगलस्वरूप ही उपास्य हैं इसलिए वही उपासना से प्राप्य होते हैं। रामचन्द्राय=रामचन्द्र + ङे.। यहाँ प्रकृति भाग रामचन्द्र शब्द से सकल चराचर जगत् के प्रति भगवान् श्रीरामचन्द्र के स्वामित्व का प्रतिपादन किया जाता है।

रामचन्द्राय पद की प्रकृति भाग रामचन्द्र शब्द का अर्थ कहकर अब उससे पर आय विभक्ति का अर्थ कहा जाता है-

विभक्त्यायेति पदतः शेषवृत्तिर्महात्मभिः।
विरोधिनो निरासस्तु नमः शब्देन[1] वर्ण्यते॥40॥

अन्वय

महात्मभिः आय इति विभक्त्या पदतः शेषवृत्तिः वर्ण्यते। नमः शब्देन तु विरोधिनः निरासः।

अर्थ

महात्मभिः-महात्माओं के द्वारा **आय**-आय **इति**-इस **विभक्त्या**-विभक्ति **पदतः**-शब्द से(परमात्मा के प्रति) **शेषवृत्तिः**-शेष आत्मा के कैंकर्य का **वर्ण्यते**-वर्णन किया जाता है। **नमः**-नमः **शब्देन**-शब्द से **तु**-तो (प्राप्ति के) **विरोधिनः**-विरोधी का **निरासः**-निराकरण किया जाता है।

भाष्य

रामचन्द्र शब्द से पर ङे. विभक्ति के स्थान पर आय आदेश होता है, विभक्तिसंज्ञक इस आय शब्द से भगवान् राम के प्रति शेष जीवात्मा के कैंकर्य का वर्णन किया जाता है। भगवत्प्राप्ति के उपाय को ही कैंकर्य कहा जाता है, उनकी प्राप्ति के लिए कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग उपाय कहे गये हैं, ये सभी कैंकर्य ही हैं। इनमें कर्मयोग और ज्ञानयोग

1.अत्र पदेन इति पाठान्तरम्।

श्रीरामानन्दाचार्यविरचितः

श्रीवैष्णवमताब्जभास्करः

(हिन्दीभाष्यसहित)

भाष्यकार

स्वामी त्रिभुवनदास

भक्तियोग के द्वारा ही उपाय होते हैं। इनके आचरण से श्रीभगवान् प्रसन्न होकर अपनी प्राप्ति में स्वयं उपाय बन जाते हैं। इस प्रकार श्रीभगवान् ही अपनी प्राप्ति में अव्यवहित उपाय होते हैं और दूसरे व्यवहित उपाय। द्वितीय वाक्य के अन्तिम नमः शब्द से भगवत्प्राप्ति के विरोधी रागादि विकारों का निराकरण किया जाता है। कायिक और वाचिक नमस्कारों के साथ शुद्ध मन से नमस्कार करने पर प्राप्ति के विरोधी विकार रह ही नहीं सकते।

तात्पर्यार्थोऽस्य विज्ञेय आचार्यरुचिसंश्रयः।
वाक्यार्थस्तु मताभिज्ञैरेष[1] निर्णीयते बुधैः।।41।।

प्राप्यप्रापकसम्बन्धस्वरूपाभिनिरूपणम्।
प्रधानार्थस्तु तद्युग्मकैंकर्यस्य प्रधानता।।42।।

स्वदोषाभ्यनुसन्धानमनुसन्ध्यर्थ उच्यते।
एवमेवानुसन्धेयं मोक्षकामैरहर्दिवम्।।43।।

अन्वय

आचार्यरुचिसंश्रयः अस्य तात्पर्यार्थः विज्ञेयः। प्राप्यप्रापकसम्बन्धस्वरूपाभिनिरूपणम्, एषः वाक्यार्थः तु मताभिज्ञैः बुधैः निर्णीयते। तद्युग्मकैंकर्यस्य प्रधानता प्रधानार्थः। स्वदोषाभ्यनुसन्धानं तु अनुसन्ध्यर्थः उच्यते। एवम् एव मोक्षकामैः अहर्दिवम् अनुसन्धेयम्।

अर्थ

आचार्यरुचिसंश्रयः-आचार्य के अभिप्राय का सम्यक् पालन करना **अस्य**-द्वयमन्त्र का **तात्पर्यार्थः**-तात्पर्यभूत अर्थ है, ऐसा **विज्ञेयः**-जानना चाहिए। **प्राप्यप्रापकसम्बन्धस्वरूपाभिनिरूपणम्**-प्राप्य और प्रापक का सम्बन्ध तथा इन दोनों के स्वरूप का सम्यक् प्रकार से अनुसन्धान करना, **एषः**-यह (द्वयमन्त्र का) **वाक्यार्थः**-वाक्यार्थ है, ऐसा **तु**-तो **मताभिज्ञैः**-सिद्धान्तवेत्ता **बुधैः**-विद्वानों के द्वारा **निर्णीयते**-निर्णय किया जाता है। **तद्युग्मकैंकर्यस्य**-युगलस्वरूप के कैंकर्य की **प्रधानता**-प्रधानता द्वयमन्त्र का **प्रधानार्थः**-प्रधान अर्थ है। **स्वदोषाभ्यनुसन्धानम्**-अपने दोषों का अनुसंधान करना **तु**-तो **अनुसन्ध्यर्थः**-अनुसंधि अर्थ **उच्यते**-कहलाता है,

---

1.**वाक्यार्थस्तु मताभिज्ञैरेष** इतिस्थाने **वाक्यार्थो मन्त्ररत्नस्य त्वथ** इति पाठान्तरम्।

एवम्-ऐसे **एव**-ही **मोक्षकामैः**-मुमुक्षुगण **अहर्दिवम्**-सदा **अनुसन्धेयम्**-अनुसंधान करें।

भाष्य

मन्त्रार्थरूप ब्रह्मविद्या को प्रदान करने वाले महान् आचार्य के अभिप्राय के अनुसार वर्ताव करना द्वयमन्त्र का तात्पर्य अर्थ है। कृपालु आचार्य शिष्य के कल्याणार्थ उसके अन्तःकरण की भूमिका के अनुरूप साधन का उपदेश करते हैं। आचार्य के इस अभिप्राय के अनुरूप आचरण करने में ही शिष्य का सर्वविध मंगल निहित है। प्राप्य श्रीराम हैं और प्रापक अर्थात् उनकी प्राप्ति का उपाय भक्तियोग है। उस योग से प्राप्य, विषय और दृश्य श्रीराम हैं। इस प्रकार प्राप्य और उपाय में प्राप्यप्रापकभाव, विषयविषयिभाव और दृश्यदर्शनभान सम्बन्ध होते हैं। भक्ति व्यवहित उपाय है और भगवान् अव्यवहित उपाय। भक्ति और प्रपत्ति से प्रसन्न होकर भगवान् अपनी प्राप्ति में स्वयं ही उपाय बनते हैं, तब प्राप्य और प्रापक का अभेद सम्बन्ध होता है। इस प्रकार प्राप्य और प्रापक के सम्बन्ध का अनुसन्धान और दोनों के स्वरूप का भी अनुसंधान करना वाक्यार्थ है। युगल सरकार के कैंकर्य की प्रधानता द्वयमन्त्र का प्रधान अर्थ है। साधन पथ में भगवत्कैंकर्य की बहुत महिमा है इसलिए उसे यहाँ प्रधान कहा है। साधक को चाहिए कि वह अपने भीतर झाँककर दोषों का अवलोकन करे। कुछ दोष स्थूलरूप से विद्यमान रहते हैं और कुछ सूक्ष्मरूप से किन्तु अहंकार के कारण ऐसा करना कठिन होता है। महापुरुषों की सेवा से अहंकार शिथिल होने पर साधक अपने आन्तरिक दोषों को देख सकता है। मुमुक्षु को इस प्रकार मन्त्रद्वय का अर्थानुसन्धान करना चाहिए।

द्वयमन्त्र के व्याख्यान के पश्चात् अब चरम मन्त्र का व्याख्यान आरम्भ किया जाता है–

प्रोक्ता वत्सक मन्त्ररत्नविवृतिः सन्मानसाभीष्टदं
सद्वेद्यं सकृदित्यवेहि चरमं निर्णीतवाक्यार्थकम्।
रामीयं हि तदीयमन्त्रनिरतैरुद्बोधनीयं परं
द्वात्रिंशत्प्रमिताक्षरं मनुपदं द्वयर्द्ध जगद्विश्रुतम्।।44।।

अन्वय

वत्सक! मन्त्ररत्नविवृतिः प्रोक्ता। निर्णीतवाक्यार्थकम् सन्मानसाभीष्टदं

सद्वेद्यं सकृत् इति चरमम् अवेहि। रामीयं जगद्विश्रुतं परं तदीयमन्त्रनिरतैः हि उद्बोधनीयं द्व्यर्द्धं मनुपदं द्वात्रिंशत्प्रमिताक्षरम्।

अर्थ

वत्सक-हे वत्स **मन्त्ररत्नविवृतिः**-द्वयमन्त्र का व्याख्यान **प्रोक्ता**-कहा गया। **निर्णीतवाक्यार्थकम्**-निर्णय किये हुए वाक्यार्थ वाला **सन्मानसाभीष्टदम्**-सज्जनों को मनोवांछित फल देने वाला **सद्वेद्यम्**-सत्पुरुषों के द्वारा जानने योग्य **सकृत्**-सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम।। **इति**-इस **चरमम्**-चरममन्त्र को **अवेहि**-जानो। यह **रामीयम्**-भगवान् श्रीराम से सम्बन्ध रखने वाला है। **जगद्विश्रुतम्**-जगत् में प्रसिद्ध है। प्रस्तुत **परम्**-श्रेष्ठ चरम मन्त्र (का अर्थ) **तदीयमन्त्रनिरतैः**-उनके मन्त्र के जप में संलग्न साधकों के द्वारा **हि**-ही **उद्बोधनीयम्**-जानने योग्य है। वह **द्व्यर्द्धम्**-पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्धरूप दो विभागों वाला **मनुपदम्**-चौदह पदों वाला (तथा) **द्वात्रिंशत्प्रमिताक्षरम्**-बत्तीस अक्षरों वाला है।

भाष्य

जो एक बार ही मैं आपका हूँ, ऐसा कहकर रक्षा करने की प्रार्थना करता है, उस शरणागत को मैं सभी प्राणियों से अभय कर देता हूँ, यह मेरा व्रत है-**सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम।।**(वा.रा.6.18.33) यह चरममन्त्र अनुष्टुप छन्दात्मक वाक्य है। यह विज्ञ पुरुषों के द्वारा निर्णीत अर्थ वाला है। भक्तों को धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्षरूप अभीष्ट फल देने वाला है। यह चरम मन्त्र श्रीराम से सम्बन्ध रखने वाला है तथा साधक-जगत् में प्रसिद्ध है और अक्षरराशिरूप मन्त्र की प्राप्ति के पश्चात् उसके जपानुष्ठान में निरत जिज्ञासु रामभक्तों के द्वारा उसका अर्थ जानने योग्य है। प्रस्तुत मन्त्र में **सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।** यह पूर्वार्ध भाग है और **अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम।** यह उत्तरार्ध है। इसमें सकृद्, एव, प्रपन्नाय, तव, अस्मि, इति च याचते। अभयम्, सर्वभूतेभ्यः, ददामि, एतद् व्रतम् और मम ये चौदह पद हैं। अनुष्टुप छन्दरूप इस मन्त्र में चार पाद हैं, इसके प्रत्येक पाद में आठ अक्षर हैं, इस प्रकार चरम मन्त्र में बत्तीस अक्षर होते हैं।

अब चरम मन्त्र के प्रत्येक पद की व्याख्या आरम्भ की जाती है-

अत्रोपायान्तरस्याथो निवृत्तिः प्रतिपाद्यते।
[1]सकृदित्येवकारेणान्योपायनिरपेक्षता॥45॥

अन्वय

अत्र सकृत् इति उपायान्तरस्य निवृत्तिः प्रतिपाद्यते अथो एवकारेण अन्योपायनिरपेक्षता।

अर्थ

अत्र-इस मन्त्र में **सकृत्**-सकृत् **इति**-इस पद के द्वारा (प्रपत्ति से) **उपायान्तरस्य**-अन्य उपायों की **निवृत्तिः**-निवृत्ति का **प्रतिपाद्यते**-प्रतिपादन किया जाता है **अथो**-और **एवकारेण**-एवकार से (शरणागति में) **अन्योपायनिरपेक्षता**--अन्य उपायों की निरपेक्षता का प्रतिपादन किया जाता है।

भाष्य

प्रस्तुत चरममन्त्र शरणागति मन्त्र है। शरणागति को ही शरण, प्रपत्ति और प्रपदन भी कहते हैं। भक्ति के समान शरणागति भी भगवत्प्राप्ति का उपाय है। इन दोनों के स्वरूप का विवेचन आगे किया जायेगा।

भगवत्प्राप्ति के लिए विहित अन्य सभी साधनों को सम्पन्न करने में असमर्थ होने पर प्रपत्ति स्वीकार की जाती है। प्रपत्ति करने वाले की भगवत्प्राप्ति में कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग उपाय नहीं है अपितु प्रपत्ति उपाय है। वह व्यवहित उपाय है और श्रीभगवान् अव्यवहित उपाय, क्योंकि प्रपत्ति से प्रसन्न होकर श्रीभगवान् ही मोक्ष प्रदान करते हैं अत: प्रपत्ति करने वाला प्रपत्ति को उपाय न मानकर भगवान् को ही उपाय मानता है। एक प्रपन्न व्यक्ति के हृदय का उद्गार इस प्रकार है-'हे नाथ! मैं न तो स्वधर्मनिष्ठ हूँ और न ही आत्मज्ञानी। आपके चरणारविन्दों में मेरी भक्ति भी नहीं है इसलिए हे शरणागतरक्षक! अकिञ्चन और अनन्यगति मैं अब सभी फलों के आश्रय, आपके पादपद्मों की शरण में हूँ'-**न धर्मनिष्ठोऽस्मि न चात्मवेदी न भक्तिमांस्त्वच्चरणारविन्दे। अकिञ्चनोऽनन्यगतिश्शरण्य त्वत्पादमूलं शरणं प्रपद्ये॥**(आ.स्तो.25)। चरम मन्त्र में

1.अत्र उत्तरार्धस्य स्थाने **सकृदित्येवकारेण** तूपायनिरपेक्षता इति पाठान्तरम्।

विद्यमान सकृत् पद के द्वारा भगवत्प्राप्ति में प्रपन्न के लिए प्रपत्ति से अन्य उपाय का निषेध किया जाता है। यदि कोई शंका करे कि जैसे भक्ति अपनी निष्पत्ति के लिए कर्मयोग और ज्ञानयोग की अपेक्षा करती है, उसी प्रकार क्या प्रपत्ति भी अपनी निष्पत्ति के लिए अन्य उपाय की अपेक्षा करती है? तो इसके उत्तर में श्लोक का **एवकारेणान्योपायनिरपेक्षता** यह अंश उपस्थित होता है, इसका अर्थ है-प्रपत्ति अन्य उपायों की अपेक्षा नहीं करती, यह अर्थ 'एव' पद से कहा जाता है। प्रपत्ति स्वतन्त्र और समर्थ उपाय है। श्रीरामचन्द्र जी का **सकृदेव** ऐसा कथन होने के कारण प्रपत्ति एक बार ही की जाती है।

प्रपन्नायेति पदतस्तूपायस्थानमुच्यते।
उपायत्वं भगवतस्तवेति पदतस्तथा॥46॥

अन्वय

प्रपन्नाय इति पदतः तु उपायस्थानम् उच्यते तथा तव इति पदतः भगवतः उपायत्वम्।

अर्थ

प्रपन्नाय-प्रपन्नाय **इति**-इस **पदतः**-पद से **तु**-तो **उपायस्थानम्**-प्रपत्ति करने वाला **उच्यते**-कहा जाता है **तथा**-उसी प्रकार **तव**-तव **इति**-इस **पदतः**-पद से (भगवत्प्राप्ति में) **भगवतः**-भगवान् का **उपायत्वम्**-उपाय होना कहा जाता है।

भाष्य

प्रपन्न की भगवत्प्राप्ति में प्रपत्ति उपाय है, इस प्रकार उपायस्थानम् का अर्थ है-प्रपत्तिरूप उपाय का आश्रय अर्थात् प्रपत्ति स्वीकार करने वाला प्रपन्न, यह चरम मन्त्र के तृतीय पद प्रपन्नाय से कहा जाता है। यह पूर्व में कहा गया है कि प्रपत्ति के द्वारा भगवान् प्रसन्न होकर स्वयं ही अपनी प्राप्ति में उपाय बनते हैं, भगवान् का यह उपायत्व 'तव' इस चतुर्थ पद से कहा जाता है। भगवान् के उपाय होने से प्रपन्न ऐसा नहीं समझता कि मेरे द्वारा की गयी प्रपत्ति भगव्त्प्राप्ति में उपाय है अपितु वह भगवान् को ही उपाय समझता है।

अस्मीत्यनेन चोपायस्वीकारः प्रतिपाद्यते।
समाप्त्यर्थेतिशब्देन तूपायानन्यतोच्यते॥47॥

अन्वय

अस्मि इति अनेन उपायस्वीकारः प्रतिपाद्यते च समाप्त्यर्थेतिशब्देन तु उपायानन्यता उच्यते॥

अर्थ

अस्मि-अस्मि **इति**-इस **अनेन**-पद के द्वारा (भगवान् को) **उपायस्वीकारः**-उपायरूप से स्वीकार करने का **प्रतिपाद्यते**-प्रतिपादन किया जाता है **च**-और **समाप्त्यर्थेतिशब्देन**-समाप्ति अर्थ वाला इति शब्द से तु-तो **उपायानन्यता**-उपाय की अनन्यता **उच्यते**-कही जाती है।

भाष्य

पूर्व श्लोक में तव पद से भगवत्प्राप्ति में उपायरूप(उपायत्वेन) भगवान् कहे गये थे और अब प्रस्तुत श्लोक में 'अस्मि' इस पञ्चम पद से उन्हें उपायरूप से स्वीकार करने का प्रतिपादन किया जाता है अर्थात् तव पद के द्वारा भगवत्प्रप्ति में भगवान् उपाय कहे जाते हैं और अस्मि पद के द्वारा उनकी उपायरूप से स्वीकृति कही जाती है। इति शब्द का समाप्ति अर्थ प्रसिद्ध है किन्तु यहाँ उस शब्द से उपाय की अनन्यता कही जाती है अर्थात् भगवत्प्राप्ति में भगवान् ही साक्षात् उपाय हैं।

चकारतोऽनुक्तसमुच्चयार्थतो निगद्यतेऽथान्य[1] उपाय आत्मवित्।
उपायसंसेव्यधिकारिलक्षणं पदेन वै याचत इत्यनेन तु॥48॥

अन्वय

आत्मवित्! अनुक्तसमुच्चयार्थतः चकारतः वै अन्यः उपायः निगद्यते अथ तु याचते इति अनेन पदेन उपायसंसेव्यधिकारिलक्षणम्।

अर्थ

आत्मवित्-हे आत्मज्ञानी सुरसुरानन्द! **अनुक्तसमुच्चयार्थतः**[2]-अनुक्त

1.अत्र **निगद्यते त्वन्य** इति पाठान्तरः। 2. सम्प्रति व्याख्येय शरणागति मन्त्र में याचते शब्द से मानसिक प्रपत्ति उक्त है किन्तु वाचिक और कायिक प्रपत्ति शब्दविशेष से उक्त नहीं हैं अतः वे प्रस्तुत श्लोक में अनुक्त अर्थ कही गयी हैं, उनका बोधक 'च' यह अव्यय पद है।

अर्थ का बोधक **चकारतः**-चकार के द्वारा **वै**-ही (मानस प्रपत्ति से) **अन्यः**-अन्य (वाचिक और कायिक प्रपत्तिरूप) **उपायः**-उपाय **निगद्यते**-कहा जाता है **अथ**-और **तु**-तो **याचते**-याचते **इति**-इस **अनेन**-अष्टम **पदेन**-पद के द्वारा **उपायसंसेव्यधिकारिलक्षणम्**-प्रपत्ति रूप उपाय का सम्यक् अनुष्ठान करने वाले अधिकारी का लक्षण कहा जाता है।

भाष्य

मन से मानस प्रपत्ति की जाती है। वाचिक प्रपत्ति में मन के व्यापार के साथ ही वाणी से उच्चारण किया जाता है। कायिक प्रपत्ति में मनोव्यापार और वाक्-व्यापार के साथ ही शरीर से प्रणाम किया जाता है, ये कायिक और वाचिक प्रपत्ति 'च' शब्द से कही जाती हैं। याचना(प्रपत्ति या शरणागति) के बिना श्रीभगवान् द्रवित नहीं होते। प्रपन्न श्रीभगवान् की प्रसन्नता के लिए उनसे याचना करता है। यह याचना उस (प्रपत्ति) के अधिकारी प्रपन्न का लक्षण है, यह 'याचते' पद से अभिहित होता है।

अथाभयमिति प्राप्यप्रतिबन्धकवारणम्।
सर्वभूतेभ्य इत्येव प्राप्यस्य प्रतिबन्धकम्॥49॥

अन्वय

अथ अभयम् इति प्राप्यप्रतिबन्धकवारणम्। सर्वभूतेभ्यः इति एव प्राप्यस्य प्रतिबन्धकम्।

अर्थ

अथ-अब **अभयम्**-अभयम् **इति**-इस पद के द्वारा **प्राप्यप्रतिबन्धकवारणम्**[1]-प्राप्य भगवान् राम की प्राप्ति के प्रतिबन्धक का निवारण कहा जाता है और **सर्वभूतेभ्यः**[2]-सर्वभूतेभ्यः **इति**-इस पद के द्वारा **एव**-ही **प्राप्यस्य**-प्राप्य स्वरूप की प्राप्ति का **प्रतिबन्धकम्**-प्रतिबन्धक कहा जाता है।

भाष्य

सर्वभूत(सभी प्राणी) भगवत्प्राप्ति के प्रतिबन्धक हैं किन्तु वे स्वरूपतः

1.प्राप्यस्य प्राप्तिः प्राप्यप्राप्तिः तस्य प्रतिबन्धकमिति प्राप्यप्रतिबन्धकम्, अत्र मध्यमपदलोपिसमासः, तस्य वारणम् इत्यर्थः। 2.सर्वभूतेभ्यः में पञ्चमी विभक्ति मानकर उक्त अर्थ प्रवृत्त हुआ है।

प्रतिबन्धक नहीं अपितु अनात्माकार वृत्ति के विषय बनकर प्रतिबन्धक होते हैं। सर्वभूतों में कोई राग का विषय बनता है, कोई द्वेष का, कोई शोक का और कोई मोह का। इस प्रकार सर्वभूत राग, द्वेष, शोक और मोहादि के विषय बनकर प्रतिबन्धक होते हैं। भगवत्प्राप्ति के साक्षात् प्रतिबन्धक ये राग आदि ही हैं। मन भूतों के आकार से आकारित रहने से भगवान् में जाता ही नहीं अतः भगवत्प्राप्ति नहीं होती। प्रतिबन्धकों का निवारण **अभयम्** इस नवम पद से कहा जाता है।

श्रीभगवान् ने प्रपन्न को सभी से अभय प्रदान करने की प्रतिज्ञा की है। मोक्ष का ही नाम अभय है। जब मनुष्य मोक्ष के साधन को स्वीकार करता है, तब वह मोक्ष को प्राप्त करने वाला होता है-**अथ सोऽभयं गतो भवति।**(तै.उ.2.7.2), ब्रह्मानन्द का अनुसंधान करने वाला किसी से भय नहीं करता-**आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति।** (तै.उ.2.9.1) अर्थात् उसे सर्वदुःखों का आत्यन्तिक अभावरूप मोक्ष प्राप्त होता है। इस प्रकार ब्रह्मविद्या के फलरूप से अभय का श्रवण होता है। ब्रह्मविद्या का फल मोक्ष है अतः यहाँ अभय पद का मोक्ष अर्थ है। शरणागति भी ब्रह्मविद्या है। अतः शरणागतिरूप ब्रह्मविद्या का फल मोक्ष है। संसारबन्धन से मुक्त होकर साकेत धाम में परब्रह्म श्रीसीतारामजी का सर्वदा दर्शन और कैंकर्य ही मोक्ष है।

ददामीति पदेनाथोपायस्याखिलशक्तिता[1]।
एतदित्येव पदतोऽसंशयत्वमितीर्यते॥50॥

अन्वय

ददामि इति पदेन उपायस्य अखिलशक्तिता अथ एतत् इति पदतः एव असंशयत्वम् ईर्यते इति।

अर्थ

ददामि-ददामि **इति**-इस एकादश **पदेन**-पद से **उपायस्य**-उपाय का **अखिलशक्तिता**-सर्वशक्तिमान् होना कहा जाता है **अथ**-और **एतत्**-एतत् **इति**-इस **पदतः**-पद से **एव**-ही (श्रीभगवान् की प्रतिज्ञा के विषय में) **असंशयत्वम्**-संशयरहित होना **ईर्यते**-कहा जाता है।

1.अत्र पदेनाथोपायस्य सर्वशक्तिता इति पाठान्तरम्।

भाष्य

यह पूर्व में कहा गया है कि प्रपत्ति से प्रसन्न हुए उपेय भगवान् ही प्रपन्न की फलप्राप्ति के उपाय होते हैं, वे सभी प्रकार की शक्तियों वाले हैं इसलिए सकल पुरुषार्थों के साधक हैं। जिस फल के उद्देश्य से प्रपत्ति की जाती है, उसे वे अवश्य प्रदान करते हैं।

रामो द्विर्नाभिभाषते।(वा.रा.2.18.30) इस श्रीमद्रामायण वचन के अनुसार श्रीरामचन्द्र सत्यप्रतिज्ञ हैं, अपने वचनों पर सदा अटल रहने वाले हैं इसलिए उनकी प्रतिज्ञा सर्वदेश और सर्वकाल में अव्याहत ही होती है अतः भगवान् की प्रतिज्ञा के विषय में संशयरहित होना चाहिए, यह विषय चरम मन्त्र के एतत् इस द्वादश पद से कहा जाता है।

[1]निर्भरत्वानुसन्धानं ममेति प्रतिपाद्यते।
पदेन व्रतमित्यत्र तद्दार्ढ्यमभिधीयते।।51।।

अन्वय

अत्र व्रतम् इति पदेन तद्दार्ढ्यम् अभिधीयते। मम इति निर्भरत्वानुसन्धानं प्रतिपाद्यते।

अर्थ

अत्र-इस श्लोक में **व्रतम्**-व्रतम् **इति**-इस **पदेन**-त्रयोदश पद से **तद्दार्ढ्यम्**-उक्त प्रतिज्ञा की दृढ़ता **अभिधीयते**-कही जाती है (और) **मम**-मम **इति**-इस चतुर्दश पद से **निर्भरत्वानुसन्धानम्**-निर्भरता के अनुसन्धान का **प्रतिपाद्यते**-प्रतिपादन किया जाता है।

भाष्य

अवश्य कर्तव्य को व्रत कहा जाता है, इसका अर्थ है-प्रतिज्ञा। 'व्रतम्' पद के प्रयोग से श्रीरामचन्द्र जी ने प्रतिज्ञा की दृढता प्रकट कर यह विश्वास दिलाया है कि अभय प्रदान करने की प्रतिज्ञा का पालन उनके द्वारा अवश्य कर्तव्य है। 'प्रभु हमारी सर्वदा रक्षा करेंगे' ऐसा अनुसन्धान निर्भरता का अनुसन्धान है। जब उन्होंने स्वयं शरणागति करने वाले की रक्षा की प्रतिज्ञा की है तब शरणागति करने वाला किसी भी अवस्था में

1.अस्य श्लोकस्य स्थाने **व्रतमेतत्पदेनाथो तद्दार्ढ्यमभिधीयते। निर्भरत्वानुसन्धानं ममेति प्रतिपाद्यते।।** इति पाठान्तरम्।

रहे, वे उसकी रक्षा अवश्य करेंगे।

तात्पर्यार्थोऽस्य विज्ञेयः शरण्यरुचिसंश्रयः।
तत्प्रापकस्वरूपस्य वाक्यार्थोऽथ निरूपणम्॥52॥

अन्वय

शरण्यरुचिसंश्रयः अस्य तात्पर्यार्थः विज्ञेयः अथ तत्प्रापकस्वरूपस्य निरूपणं वाक्यार्थः।

अर्थ

शरण्यरुचिसंश्रयः-शरणागत रक्षक श्रीराम की प्रसन्नता का आश्रय लेना **अस्य**-चरम मन्त्र का **तात्पर्यार्थः**-तात्पर्यार्थ है, ऐसा **विज्ञेयः**-जानना चाहिए **अथ**-और **तत्प्रापकस्वरूपस्य**-भगवत्प्राप्ति का उपाय प्रपत्ति के स्वरूप के **निरूपणम्**-चिन्तन को **वाक्यार्थः**-वाक्यार्थ जानना चाहिए।

भाष्य

शरणागत एक बार शरणागति करके निर्भय हो जाता है, इसके पश्चात् वह कुछ नहीं करता, इसका अर्थ है कि वह उपायबुद्धि से कुछ नहीं करता। उसका आचरण फलप्राप्ति का उपाय है, ऐसी बुद्धि उसकी नहीं होती। वह जो भी करता है, अपने प्रियतम प्रभु श्रीराम की प्रसन्नता के लिए ही करता है। निषिद्ध कर्म से प्रभु कभी प्रसन्न नहीं होते। उनकी प्रसन्नता के लिए प्रतिकूल आचरण का सदा के लिए त्याग करना पड़ता है और अनुकूल आचरण करना होता है। मेरे प्राणनाथ की प्रसन्नता सदा बनी रहे, ऐसी शुभ भावना उसमें निहित होती है, ऐसी प्रसन्नता का आश्रय लेना चरममन्त्र का तात्पर्यार्थ है। प्रपत्तिस्वरूप का चिन्तन प्रस्तुत मन्त्र का वाक्यार्थ है। पूर्व के 45 वें श्लोक में प्रपत्ति को उपाय कहा था, यहाँ भी उपाय पद से उसी को ग्रहण करना उचित है। प्रपत्ति के स्वरूप का विशद विवेचन आगे किया जायेगा।

प्रधानार्थः परेशस्य स्वरूपस्य निरूपणम्।
निर्भरत्वानुसन्धानमनुसन्ध्यर्थ उच्यते॥53॥

अन्वय

प्रधानार्थः परेशस्य स्वरूपस्य निरूपणम्। निर्भरत्वानुसन्धानम् अनुसन्ध्यर्थः

उच्यते।

अर्थ

प्रधानार्थः-चरम मन्त्र का प्रधान अर्थ **परेशस्य**-परमेश्वर श्रीराम के **स्वरूपस्य**-स्वरूप का **निरूपणम्**-चिन्तन करना है और **निर्भरत्वानुसन्धानम्**-निर्भरता का अनुसन्धान करना **अनुसन्ध्यर्थः**-अनुसन्धि अर्थ **उच्यते**-कहलाता है।

स्वामी रामानन्दाचार्य जी जिज्ञासु सुरसुरानन्द के द्वारा पूछे गये ध्यान से सम्बन्ध रखने वाले प्रश्न का उत्तर देते हैं-

अथोच्यते महाप्रज्ञ ध्यानं ध्येयस्य चिन्तनम्।
बुधैरात्मरतैर्नित्यं[1] जितप्राणैर्जितेन्द्रियैः॥54॥

अन्वय

अथ महाप्रज्ञ! जितप्राणैः जितेन्द्रियैः आत्मरतैः बुधैः ध्येयस्य नित्यं चिन्तनं ध्यानम् उच्यते।

अर्थ

अथ-अब **महाप्रज्ञ**-उत्तम प्रज्ञा से सम्पन्न हे सुरसुरानन्द! **जितप्राणैः**-प्राणों को जीतने वाले और **जितेन्द्रियैः**-इन्द्रियों को जीतने वाले तथा **आत्मरतैः**-परमात्मा में प्रीति रखने वाले **बुधैः**-ध्यानयोगियों के द्वारा **ध्येयस्य**-ध्येय का **नित्यम्**-निरन्तर **चिन्तनम्**-चिन्तन करना **ध्यानम्**-ध्यान **उच्यते**-कहलाता है।

भाष्य

ध्यान-चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसना, त्वक् और मन ये छः ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। इनकी चञ्चलता रहते ध्यान करना संभव नहीं, इसके लिए इन्द्रियों का निग्रह[2] आवश्यक है। इनका निग्रह प्राण के निग्रह के अधीन है। प्राणों की चंचलता रहते इन्द्रियों का निग्रह संभव नहीं। प्राण के वशीकरण के लिए ही प्राणायाम किया जाता है। प्राणायाम से प्राणों का वशीकरण होता है,

---

1.अत्र **बुधैरात्मपरैर्नित्यम्** इति पाठान्तरः। 2.इस विषय को विस्तार से समझने के लिये पूज्य स्वामी शंकरानन्द सरस्वती कृत साधनविचार ग्रन्थ में 'मन-इन्द्रियों पर विजय' नामक लेख देखना चाहिए।

इससे इन्द्रियों का वशीकरण सुगम हो जाता है। इन्द्रियों में मन प्रधान है, उसके वश में होने से अन्य इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं। अभ्यास और वैराग्य से इन्द्रियों का निग्रह होता है-**अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः**(यो.सू. 1.12) हे कौन्तेय! अभ्यास और वैराग्य से मन का निग्रह होता है- **अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।**(गी.6.35)। जिस विषय में प्रीति होती है, उसी में मन जाता है अतः जितप्राण और जितेन्द्रिय योगी होने पर भी परमात्मा में प्रीति न होने से उनका ध्यान करना संभव नहीं होगा, अतः उनमें प्रीति रखना भी अनिवार्य है, ऐसे ध्यानयोगियों के द्वारा ध्येय का निरन्तर चिन्तन करना ध्यान कहलाता है।

विकचपद्मदलायतवीक्षणं विधिभवादिमनोहरसुस्मितम्।
जनकजादृगपाङ्गसमीक्षितं प्रणतसत्समनुग्रहकारिणम्।55॥

अन्वय

विकचपद्मदलायतवीक्षणं विधिभवादिमनोहरसुस्मितम् जनकजादृगपाङ्गसमीक्षितं प्रणतसत्समनुग्रहकारिणम्।

अर्थ

विकचपद्मदलायतवीक्षणम्-खिले हुए कमलदल के समान विशाल नेत्रों वाले **विधिभवादिमनोहरसुस्मितम्**-ब्रह्मा और शिवादि के मन को हरण करने वाली मन्द मुस्कान से युक्त **जनकजादृगपाङ्गसमीक्षितम्**-भगवती सीता जी के नेत्र के कोरों से देखे गये **प्रणतसत्समनुग्रहकारिणम्**-शरणागत महात्माओं पर अनुग्रहवृष्टि करने वाले (लक्ष्मणजी और सीताम्बा के सहित भगवान् श्रीरामचन्द्र का मैं सदा ध्यान करता हूँ[1]।

भाष्य

मुखमण्डल-नयनाभिराम श्रीराम कमलदल के समान विशाल एवं अत्यन्त आकर्षक नेत्रों वाले हैं। उनके नेत्रों के चारों ओर का भाग श्वेतकमल के समान तथा दुग्ध के समुद्र के समान श्वेत दिखाई देता है, उनके मध्य में शोभा को बढ़ाती हुई कृष्णवर्ण की पुतलियाँ हैं, जो क्षीरसागर में शयन

1.श्लोक संख्या 58 में पढ़े गये **सहानुजं दाशरथिं महोत्सवं स्मरामि रामं सह सीतया सदा॥** इस वाक्य का 56 और 57 में सम्बन्ध होने से यह अर्थ संभव होता है।

करने वाले भगवान् श्यामसुन्दर के समान दिखाई देती हैं। इन पुतलियों के कारण श्रीरामचन्द्र के नेत्र कृष्ण दिखाई देते हैं तथा अञ्जन लगाने से और भी कृष्ण दिखाई देते हैं। इन श्याम नेत्रों से दिव्य कृपाकटाक्षों का प्रवाह इस प्रकार निकलता रहता है, जिस प्रकार बाँध के छिद्रों से जलप्रवाह निकलता है। ये कटाक्ष तापत्रय से व्यथित शरणागत जीवों के ऊपर पड़कर तापत्रय को नष्ट करते हैं, इतना ही नहीं, उनको अपार आनन्दरूप शीतलता का भी अनुभव कराते हैं। ये मनोऽभिराम नेत्र भक्तों की अविद्या आदि दोषों को नष्ट कर ब्रह्मानन्द का अनुभव कराने के लिए उतावले हो रहे हैं। श्रीभगवान् के नेत्र दयारस से परिपूर्ण हैं, जिस प्रकार जल की अधिकता के कारण समुद्र में लहरें उठती रहती हैं, अतएव समुद्र सदा चञ्चल बना रहता है, उसी प्रकार ये नेत्र भी दया रस के अधिक भर जाने से सदा चञ्चल होते हुए कटाक्षरूपी लहरों को निरन्तर प्रसारित करते रहते हैं। यद्यपि श्रीरामचन्द्र का दर्शन करने के लिए भक्तों की व्याकुलता बनी रहती है तथापि इससे भी बढ़कर भक्तों को देखने की उनकी व्याकुलता बनी रहती है अतएव श्रीरामभद्र के श्रीनेत्र सदा चञ्चल रहते हैं। उनके नेत्रों में ऐश्वर्य और वात्सल्य के कारण थोड़ी लालिमा बनी रहती है इसलिए भगवान् श्रीराम रक्ताम्भोजदलाभिरामनयन कहलाते हैं। उनके नेत्रों से कृपा, शान्ति और आनन्द का प्रवाह भी सदा निकलता रहता है। वे अत्यन्त लम्बे हैं, इसलिए कर्णपर्यन्त पहुँचे हुए हैं, उनके सौन्दर्य का वर्णन करना किसी के लिए भी सम्भव नहीं।

प्रियतम प्रभु की मनोहर मन्द मुस्कान मुखकमल पर थिरक रही है, वह ब्रह्मा, शिव और कामदेव आदि के भी मन का हरण करने वाली है और रजनीपति राका(चन्द्रमा) की किरणों का भी तिरस्कार करने वाली है। तिरछी भौंहें हैं तथा चौड़े और उन्नत ललाट पर ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक सुशोभित है। काले घुंघराले मनोहर केश हैं, उन्हें देखकर भौरों की पंक्तियाँ भी लजा जाती हैं। कानों में मकराकृति कुण्डल सुशोभित हो रहे हैं। सुन्दर अरुण कपोल हैं। मस्तक पर सुन्दर सुवर्णमुकुट सुशोभित है और कन्धे पर यज्ञोपवीत शोभा पा रहा है, ऐसे परम सुन्दर अपने प्रियतम को पराम्बा श्रीसीता जी अपने नेत्र के कोरों से निहार रही हैं और वे शरणागत पर निरन्तर अनुग्रहवर्षण कर रहे हैं।

मुनिमनःसुमधुव्रतचुम्बितस्फुटलसन्मकरन्दपदाम्बुजम्।
बलवदद्भुतदिव्यधनुःशरामहितजानुविलम्बिमहाभुजम्॥56॥

अन्वय

मुनिमनःसुमधुव्रतचुम्बितस्फुटलसन्मकरन्दपदाम्बुजम्। बलवदद्भुतदिव्य-धनुःशरामहितजानुविलम्बिमहाभुजम्।

अर्थ

मुनिमनःसुमधुव्रतचुम्बितस्फुटलसन्मकरन्दपदाम्बुजम्-मुनियों के मनरूप रमणीय भ्रमरों द्वारा आस्वादित मकरन्द से युक्त, शोभायमान विकसित कमल के समान चरणों वाले **बलवदद्भुतदिव्यधनुःशरामहितजानुविलम्बि-महाभुजम्**-शक्तिशाली व अद्भुत दिव्य धनुष-बाण से सुशोभित, घुटनों तक लम्बी विशाल भुजाओं वाले (लक्ष्मणजी और सीताम्बा के सहित परम आनन्द के जनक भगवान् श्रीरामचन्द्र का मैं सदा ध्यान करता हूँ।)

भाष्य

पादपद्म-भगवान् श्रीराम के दोनों चरण मनोहर और सुन्दर हैं, उनके तल भाग में ध्वजा, वज्र और कमल आदि की सुन्दर सुस्पष्ट रेखाएँ हैं। वे सुकोमल और रक्त आभा वाले हैं, उनसे लाल-लाल ज्योति निकल रही है। श्रीचरणों की अंगुलियाँ जो कि कनिष्ठिका से लेकर अंगुष्ठपर्यन्त उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त हो रही हैं, परम शोभा से सम्पन्न हैं। श्रीचरणों से सुस्निग्ध और मनोहर ज्योति निकल रही है, वह जिसके समीप जाती है, उसके पाप-ताप का हरण हो जाता है। यह चरणकमल की प्रभा का सहज प्रभाव है। श्रीचरण नवविकसित, रमणीय, रक्त कमल के समान मनोभिराम हैं, उनका लावण्य, सौन्दर्य और स्निग्धता ऐसी अद्भुत है, मानो कि कमल का पराग। योगियों के मनरूपी भ्रमर उसका आस्वादन करते रहते हैं।

भुजाएँ

श्रीरामचन्द्र जी की विशाल भुजाएँ हैं, वे घुटनों तक लम्बी हैं। हाथी की सूँड के समान ऊपर मोटी और नीचे पतली हैं। इतनी सुडौल और सुन्दर हैं कि उन्हें देखते ही मन मुग्ध हो जाता है। वे भुजाएँ जगत् की रक्षा के लिए धनुष-बाणादि अनेक दिव्य आयुधों को धारण करती हैं। वे आयुध

श्रीविग्रह की उसी प्रकार शोभा को बढ़ाते हैं जिस प्रकार आभूषण बढ़ाते हैं। शस्त्रधारियों में उनका कोई भी मुकाबला नहीं कर सकता इसलिए गीता में 'शस्त्रधारियों में मैं श्रीराम हूँ'-**रामः शस्त्रभृतामहम्**।(गी.10.31) ऐसा कहा है। श्रीराम जी अपने हस्त कमल में धनुष-बाण को धारण करते हुए संसारी जनों को यह सूचित करते हैं कि तुम अपनी रक्षा का भार मुझ पर सौंप कर मेरी शरण में आ जाओ। तेरी सारी विपत्तियों का निवारण मेरे आयुध कर देंगे। धनुष का एक भाग नीचे चरणों की ओर रहता है। वह यह सूचित करता है कि हमें उनके श्रीचरणों का आश्रय लेना चाहिए।

परार्घ्यहाराङ्गदचारुनूपुरं सुपद्मकिञ्जल्कपिशङ्गवाससम्।
लसद्घनश्यामतनुं गुणाकरं कृपार्णवं सद्धृदयाम्बुजासनम्॥57॥

अन्वय

परार्घ्यहाराङ्गदचारुनूपुरं सुपद्मकिञ्जल्कपिशङ्गवाससम् लसद्घनश्यामतनुं गुणाकरं कृपार्णवं सद्धृदयाम्बुजासनम्।

अर्थ

परार्घ्यहाराङ्गदचारुनूपुरम्-बहुमूल्य हार, बाजूबन्द और सुन्दर नूपुर को धारण करने वाले **सुपद्मकिञ्जल्कपिशङ्गवाससम्**-श्रेष्ठ कमल के केसर के समान पीत वस्त्र धारण करने वाले **लसद्घनश्यामतनुम्**-नील मेघ के समान सुन्दर श्याम शरीर वाले **गुणाकरम्**-कल्याणगुणगणनिधि **कृपार्णवम्**-करुणासागर **सद्धृदयाम्बुजासनम्**-भक्तों के हृदयकमलरूप आसन पर विराजमान (लक्ष्मणजी और सीताम्बा के सहित परम आनन्द के जनक भगवान् श्रीरामचन्द्र का मैं सदा ध्यान करता हूँ।)

भाष्य

दिव्यमंगलविग्रह-जो पदार्थ सहज में चित्त का आलम्बन बन सके तथा मंगलकारक हो वह शुभाश्रय कहलाता है। ऐसा शुभाश्रय एकमात्र श्रीभगवान् का दिव्यमंगल विग्रह ही है। प्रकृति के सम्बन्ध से रहित अपना आत्मस्वरूप एवं ब्रह्मस्वरूप शुभ होने पर भी मन के आश्रय नहीं हो सकते। अन्य स्थूल पदार्थ मन के आश्रय होने पर भी शुभ नहीं हैं। शुभत्व और आश्रयत्व ये दोनों विशेषताएँ मिलकर एकमात्र श्रीभगवान् के दिव्यमंगलविग्रह में ही रहती हैं इसलिए उसे शुभाश्रय कहा जाता है।

भगवान् की देह(श्रीविग्रह) भूतों के समूह से निर्मित आकृति वाली नहीं है-**न भूतसंघसंस्थानो देहोऽस्य परमात्मनः।**(म.भा.)। श्रीभगवान् का मांस, मेद और अस्थि से निर्मित प्राकृत शरीर नहीं है-**न तस्य प्राकृता मूर्तिर्मांसमेदोऽस्थिसंभवा।**(व.पु.75.44), **न तस्य प्राकृती मूर्तिर्मांसमेदोऽस्थिसंभवा।**(वा.पु.पू.ख.34.40), उनके सभी शरीर अप्राकृत ही हैं। **चिदानंदमय देह तुम्हारी।**(रा.च.मा.2.126.5)इस प्रकार श्रीरामचरितमानस में भी परमात्मा के श्रीविग्रह को अप्राकृत कहा है। भगवान् श्रीराम का श्रीविग्रह स्वरूपतः और गुणतः अत्यन्त इष्ट है, उसका शुद्धसत्त्वमय स्वरूप है। रज, तम से रहित सत्त्व को शुद्धसत्त्व कहते हैं। संसारी जीवों के शरीर त्रिगुणमय ही होते हैं। शुद्ध सत्त्वमय नहीं होते किन्तु भगवान् का श्रीविग्रह शुद्धसत्त्वमय है इसलिए वह उन्हें स्वरूप से अत्यन्त इष्ट है। श्रीविग्रह के सौकुमार्यादि तथा योगिध्येयत्वादि सभी उत्तम गुण हैं, इसलिए वह उन्हें गुणों से भी अत्यन्त इष्ट है। कोई वस्तु अनुरूप न होने पर भी अभिमत होती है। जैसे-अतिसुन्दर दीन व्यक्ति को धारण करने के लिए जीर्ण-शीर्ण वस्त्र अनुरूप न होने पर भी उसे अभिमत होता है। भगवान् का श्रीविग्रह वैसा नहीं है, वह उन्हें अभिमत है और अनुरूप भी। श्रीविग्रह नित्य है अर्थात् स्वरूप और गुणों के समान उत्पत्ति-विनाश से रहित है। वह एकरूप रहने वाला है क्योंकि वृद्धि और क्षयरूप विकार से रहित है। जैसे संसारी जीव की देह बाह्य विषयों में भोग्यत्वबुद्धि उत्पन्न करके उसके ज्ञानानन्द स्वरूप का आच्छादन करती है, इसलिए उसका ज्ञानानन्द स्वरूप प्रकाशित नहीं होता, वैसे भगवान् का श्रीविग्रह उनके ज्ञानानन्दस्वरूप का आच्छादन नहीं करता अपितु जैसे माणिक्यमय(मणिनिर्मित) मञ्जूषा अपने अन्दर स्थित सुवर्ण का प्रकाशक होती है, वैसे ही श्रीविग्रह अतिरमणीय दिव्य परमात्मस्वरूप का प्रकाशक होता है। वह सर्वाधिक तेजोरूप है, इसलिए उसकी कान्ति भी सर्वाधिक है, वह(कान्ति) श्रीविग्रह से प्रवाह के रूप में निकलती रहती है। श्रीभगवान् के महाबलशाली होने पर भी श्रीविग्रह अत्यन्त सुकुमार है। वह सौकुमार्य, सौगन्ध्य, सौन्दर्य, लावण्य तथा यौवन आदि कल्याण गुणों का आश्रय है और सभी प्रकार की अनुकूल गन्ध का आश्रय है-**सर्वगन्धः।**(छां.उ.3.14.2)। अङ्गों की शोभा को सौन्दर्य कहते हैं और समग्र श्रीविग्रह की शोभा को लावण्य कहते हैं। उसका यौवन कालकृत अवस्था नहीं है अपितु विग्रह का स्वभाव है और नित्य है।

कौमारावस्था के बाद में आने वाला यौवन कालकृत होता है। श्रीविग्रह शुभाश्रय है, इसलिए वह सदा ही भगवद्ध्यानपरायण योगियों के ध्यान का विषय होता है। भगवान् का श्रीविग्रह सर्वजनमोहन है अर्थात् दृष्टि पड़ते ही सबके चित्त का हरण करने वाला है, वह चिन्तन करने वालों के लिए सम्पूर्ण भोगों से वैराग्य को उत्पन्न करता है और अपरिच्छिन्न ज्ञान वाले मुक्त आत्माओं का अनुभाव्य (निरतिशय भोग्य) है। जिस प्रकार विकसित कमल पुष्पों की सुगन्ध से परिपूर्ण महासरोवर दर्शकों के ताप का हरण कर लेता है, उसी प्रकार श्रीविग्रह दर्शन करने वाले स्वाश्रित भक्तों के आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक इन सभी संतापों का हरण कर लेता है।

श्याम वर्ण

श्रीरामचन्द्र जी का श्रीविग्रह सजल नील मेघ के समान है। जिस प्रकार सजल मेघ आकर्षक और श्याम होता है, उसी प्रकार उनका श्रीविग्रह भी आकर्षक और श्याम है। जिस प्रकार उस मेघ के दर्शन से तृषित व्यक्ति को सुख प्राप्त होता है, उसी प्रकार भगवान् के दर्शन से विरहातुर व्यक्ति का विरह निवृत्त होता है। श्रीविग्रह इन्द्रनीलमणिमय पर्वत के समान है। जैसे वह पर्वत उन्नत एवं श्याम है, वैसे ही उनका श्रीविग्रह उन्नत एवं श्याम है। वह देखने वालों के नेत्रों में ताप को नष्ट कर शीतलता का संचार करता है। इन्द्रनीलमणि प्रकाशमान् होने से वह पर्वत भी प्रकाशवान् होगा, वैसे ही श्रीरामजी का श्रीविग्रह हजारों सूर्यों से भी बढ़कर प्रकाशमान् है, अतएव श्रीविग्रह परमभोग्य प्रतीत होता है। उस इन्द्रनीलमणिमय पर्वत में संभव है कि सुन्दर रमणीयरत्नमय तालाब हो, जिसमें निर्मल जल की अधिकता के कारण लहरें उठती रहें, वैसे ही इन्द्रनीलमणिमय पर्वत के समान श्रीविग्रह में लहराने वाला कान्तिमण्डल तालाब के समान प्रतीत होता है। उस तालाब में जिस प्रकार रक्तकमलों का समूह विकसित होकर उसे लाल बना देता है, जिससे वह श्याम पर्वत भी लाल दिखायी देने लगता है, उसी प्रकार इस कान्तिमण्डल में लालिमा लिए हुए वक्षःस्थल, अधर, नेत्र, हस्त, नाभि, और चरण ये खिले हुए लाल कमलों के समान दिखाई देते हैं, इन अवयवों की लालिमा के कारण नीलाम्बुजश्याम श्रीराम भी थोड़ी लालिमा लिए हुए दिखाई देते हैं। श्रीसीताजी का निवासस्थान होने से वक्षःस्थल

लाल दिखाई देता है। अन्य अंग तो लाल हैं ही। खिले हुए लाल कमलों से परिपूर्ण जलाशय को धारण करने वाले इन्द्रनीलमणिमय पर्वत के समान श्रीरामभद्र इन लाल अवयवों से परिपूर्ण कान्तिमण्डल से युक्त श्रीविग्रह को भक्तों के कल्याणार्थ धारण करते हैं। श्रीविग्रह से प्रवाह के रूप में तेजोमयी छटा निकलती रहती है। उस तेजपुञ्ज के मध्य में श्रीराम के अद्वितीय लावण्यसौन्दर्यमय श्रीविग्रह के दर्शन होते हैं।

पीताम्बर

श्रीरामभद्र ने कमल के केसर के समान पीत वस्त्र धारण कर रखा है। श्रीविग्रह की नील कान्ति के साथ पीताम्बर की पीत कान्ति मिलकर एक विलक्षण व आकर्षक कान्ति बन गयी है अत एव इन्द्रनीलमणि पर्वत के ऊपर पड़ी हुई बालसूर्य की कान्ति के समान श्रीरामभद्र का पीताम्बर देखते समय नेत्रों को अपार आनन्द प्राप्त होता है।

भूषण

श्रीराम जी की विशाल भुजाओं में बाजूबन्द हैं, उनमें दिव्य हीरा, पन्ना आदि रत्न जड़े हुए हैं। उनके गले में हार है, उससे ज्योति निकल रही है। करकमलों की अंगुलियों में रत्नमयी अंगूठियाँ सुशोभित हैं, जो एक से एक विचित्र हैं। वे कमर में भी अनेक दिव्य भूषणों को धारण किये हैं, उनके श्रीचरणों में नूपुर हैं। वे सभी दिव्य भूषण श्रीरामभद्र के नीलविग्रह में चमकते रहते हैं, वे भूषण स्थिर विद्युत् के समान दिखाई देते हैं। लोक में विद्युत् अस्थिर रहती है। यदि कोई स्थिर विद्युत् हो तो उसका प्रकाश भी स्थिर होगा। स्थिर विद्युत् ही श्रीभूषणों का दृष्टान्त हो सकती है क्योंकि भूषण श्रीभगवान् के दिव्य विग्रह में स्थिर होकर चमकते रहते हैं। ये भूषण शोभा को बढ़ाते रहते हैं। श्रीविग्रह में उज्ज्वल किरीट, कुण्डल, हार, वनमाला, केयूर, कटक, कौस्तुभ, मेखला और नूपुर इत्यादि भूषण उसी प्रकार शोभा को बढ़ा रहे हैं, जिस प्रकार कल्पवृक्ष में पल्लव, पुष्प और फल शोभा को बढ़ाते हैं।

प्रसन्नलावण्यसुभृन्मुखाम्बुजं जगच्छरण्यं शरणं नरोत्तमम्[1]।
सहानुजं[2] दाशरथिं महोत्सवं स्मरामि रामं सह सीतया सदा॥58॥

1.अत्र शरणं नरोत्तमम् इति स्थाने पुरुषोत्तमं परम् इति पाठान्तरम्। 2. अत्र दयापरम् इति पाठान्तरम्।

अन्वय

प्रसन्नलावण्यसुभृन्मुखाम्बुजं जगच्छरण्यं शरणं महोत्सवं सहानुजं सीतया सह दाशरथिं नरोत्तमं रामं सदा स्मरामि।

अर्थ

प्रसन्नलावण्यसुभृन्मुखाम्बुजम्-प्रसन्नता और सुन्दरता से सुशोभित मुखकमल वाले **जगच्छरण्यम्**-जगत् की रक्षा करने में कुशल **शरणम्**-आश्रयस्वरूप **महोत्सवम्**[1]-परम आनन्द के जनक **सहानुजम्**-लक्ष्मण जी के सहित और **सीतया**-माता सीता के **सह**-सहित **दाशरथिम्**-दशरथनन्दन **नरोत्तमम्**-पुरुषोत्तम **रामम्**-श्रीरामचन्द्र का (मैं) **सदा**-निरन्तर **स्मरामि**-ध्यान करता हूँ।

भाष्य

मुखाम्बुज-भगवान् श्रीराम की ठोड़ी बहुत सुन्दर है, ओष्ठ बिम्ब फल के समान लाल हैं। उनका मन्दहास सभी को विमोहित कर रहा है। दन्तपंक्ति अत्यन्त सुन्दर है, उसे देखने से ऐसा लगता है कि मानों हीरे चमक रहे हों, उनसे उज्ज्वल ज्योति निकल रही है, जो अरुण ओष्ठ पर पड़कर अत्यन्त शोभा को उत्पन्न करती है। उनके कपोल सुन्दर व स्निग्ध हैं, नुकीली नासिका है। दोनों कान अत्यन्त मनोहर हैं। नेत्र सुन्दर हैं, तिरछी भौंहें हैं, जो मुनियों के भी मन को हर लेती हैं। उनका ऐसा सुन्दर मुखकमल सदा प्रसन्न ही रहता है। ऐसे श्रीरामचन्द्र का जो एक बार भी दर्शन कर लेता है, वह विना मोल ही उनके हाथों बिक जाता है। वे जगत् की रक्षा करने में कुशल हैं, जगत् के आश्रय हैं और परमानन्द को प्रदान करने वाले हैं। श्रीलक्ष्मण और सीता जी के सहित हृदयकमल में विराजमान ऐसे दशरथनन्दन श्रीराम का मैं निरन्तर ध्यान करता हूँ।

द्विभुजस्यैव रामस्य सर्वशक्तेः प्रियोत्तम।
ध्यानमेवं विधातव्यं सदा रामपरायणैः॥59॥

अन्वय

प्रियोत्तम! रामपरायणैः एवम् एव सर्वशक्तेः द्विभुजस्य रामस्य सदा ध्यानं

1.महान् उत्सवः आनन्दः येन सः महोत्सवः।

विधातव्यम्।

अर्थ

प्रियोत्तम-हे परम प्रिय। **रामपरायणै**[1]:-श्रीराम के आश्रित भक्त जनों के द्वारा **एवम्**-ऐसे **एव**-ही **सर्वशक्तेः**-सर्वशक्तिमान् **द्विभुजस्य**-द्विभुज **रामस्य**-भगवान् श्रीरामचन्द्र का **सदा**-निरन्तर **ध्यानम्**-ध्यान **विधातव्यम्**-करना चाहिए।

भाष्य

द्विभुज-श्रीरामचन्द्र का द्विभुज विग्रह अत्यन्त आकर्षक और नयनाभिराम है इसलिए ग्रन्थकार उसके ही ध्यान का विधान करते हैं। श्रीभगवान् का अष्टभुज रूप स्थूल है, चतुर्भुज रूप सूक्ष्म है किन्तु द्विभुज रूप पर कहा जाता है इसलिए इन तीनों रूपों की अर्चना करनी चाहिए-**स्थूलं चाष्टभुजं प्रोक्तं सूक्ष्मं प्रोक्तं चतुर्भुजम्। परं तु द्विभुजं प्रोक्तं तस्मादेतत्त्रयं यजेत्॥**

पद्मसंहिता में कहा है कि धनुष-बाणादि आयुधों को धारण किये हुए, दो हाथ और एक मुख वाला सूर्यमण्डल के मध्य में स्थित यह श्रीहरि का प्रथमरूप है-**मरीचिमण्डले संस्थं बाणाद्यायुधलाञ्छितम्। द्विहस्तमेकवक्त्रं च रूपमाद्यमिदं हरेः।**(प.सं.)। श्रीहनुमत्संहितान्तर्गत अर्थपञ्चक में **द्विभुजश्चापभृच्चैव भक्ताभीष्टप्रपूरकः।**(अ.प.7) इस प्रकार द्विभुज विग्रह धारी श्रीराम को प्राप्य कहा है।

आचार्यचरण जिज्ञासु सुरसुरानन्द के तृतीय प्रश्न का उत्तर देकर अब **मुक्तेः किं साधनम्।***(श्रीवै.भा.4) इस चतुर्थ प्रश्न का उत्तर देना आरम्भ करते हैं-*

> **एवं तेऽभिहितं ध्यानं शृणु तन्मुक्तिसाधनम्।**
> **मुमुक्षूणां परं वेद्यं विधेयं प्रिय[2] सर्वदा॥60॥**

अन्वय

प्रिय! एवं ते ध्यानम् अभिहितम्, मुक्तिसाधनं शृणु। तत् परं मुमुक्षूणां वेद्यं सर्वदा विधेयम् ।

---

1. रामः परम् अयनम् आश्रयः यस्य सः रामपरायणः तैः। 2. अत्र 'चाथ' इति पाठान्तरम्।

अर्थ

प्रिय-हे प्रिय सुरसुरानन्द! **एवम्**-इस प्रकार **ते**-तुम्हारे लिए **ध्यानम्**-ध्यान का **अभिहितम्**-उपदेश किया गया, अब **मुक्तिसाधनम्**-मुक्ति का साधन **शृणु**-सुनो। **तत्**-मुक्ति का साधन **परम्**-श्रेष्ठ है, **मुमुक्षूणाम्**-मुमुक्षुओं के लिए **वेद्यम्**-जानने योग्य है और **सर्वदा**-सदा **विधेयम्**-अनुष्ठान करने योग्य है।

भाष्य

मुक्ति का साधन-मुक्ति का साधन सभी साधनों से श्रेष्ठ है क्योंकि अन्य साधन क्षुद्र, विनाशी फलों की प्राप्ति कराने वाले हैं और यह सर्वोपरि महान्, अविनाशी फल मोक्ष को प्राप्त कराने वाला है। मुक्ति के साधन को अवश्य जानना चाहिए और जानने के पश्चात् उसका अनुष्ठान करते रहना चाहिए।

तप्तेन मूले भुजयोः समङ्कनं शरेण चापेन तथोर्ध्वपुण्ड्रकम्।
श्रुतिश्रुतं नाम च मन्त्रमालिके संस्कारभेदाः परमार्थहेतवः॥61॥

अन्वय

तप्तेन चापेन शरेण भुजयोः मूले समङ्कनम्, ऊर्ध्वपुण्ड्रकम् च श्रुतिश्रुतं नाम तथा मन्त्रमालिके संस्कारभेदाः परमार्थहेतवः।

अर्थ

अग्नि से **तप्तेन**-तपाये हुए **चापेन**-धनुष **शरेण**-बाण के द्वारा **भुजयोः**-भुजाओं के **मूले**-मूल में **समङ्कनम्**-छाप **ऊर्ध्वपुण्ड्रकम्**-ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक **च**-और **श्रुतिश्रुतम्**-वैदिक शास्त्रों में प्रसिद्ध **नाम**-दासान्त नाम **तथा**-तथा **मन्त्रमालिके**-मन्त्र और तुलसीमालाधारण ये **संस्कारभेदाः**- संस्कारविशेष **परमार्थहेतवः**-मोक्ष के साधन हैं।

भाष्य

पञ्च संस्कार-प्रस्तुत श्लोक से ग्रन्थकार ताप(छाप), ऊर्ध्वपुण्ड्र, नाम, माला और मन्त्र इन पञ्च संस्कारों का वर्णन करते हैं। श्रीरामपद्धति ग्रन्थ में भी ऐसा ही कहा है-**तापः पुण्ड्रस्तथा नाम मन्त्रो माला तथैव च। अमी हि पञ्च संस्काराः परमैकान्तहेतवः॥**(श्रीरा.प.)।

संस्कार का लक्षण

कार्यान्तर को सम्पन्न करने की योग्यता करने वाले को संस्कार कहते है-**संस्कारो हि नाम कार्यान्तरयोग्यताकरणम्**।(श्रीभा.1.1.1)। प्रोक्षण और अवघात संस्कार व्रीहि(धान) में याग को संपन्न करने की योग्यता को करते हैं। उपनयन संस्कार द्विज में वेदाध्ययन करने की योग्यता को करता है और पञ्चसंस्कार साधक में भगवान् की उपासना को सम्पन्न करने की और उसके अंग (अन्तःकरण की शुद्धि के साधन) कर्म को संपन्न करने की योग्यता को करता है। जिस प्रकार प्रोक्षणादि संस्कारों से संस्कृत व्रीहि याग के योग्य होते हैं, असंस्कृत याग के योग्य नहीं होते, उगनयन संस्कार से संस्कृत व्यक्ति वेदाध्ययन के योग्य होता है, अनुपनीत व्यक्ति योग्य नहीं होता, उसी प्रकार पञ्चसंस्कार से संस्कृत वैष्णव श्रीभगवान् की उपासना के योग्य होता है, असंस्कृत नहीं होता इसलिए उपासना की योग्यता प्राप्त करने के लिए पञ्चसंस्कार आवश्यक हैं। महर्षि वेदव्यास ने **अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्**(ब्र.सू.3.2.23) इस सूत्र से ब्रह्म के साक्षात्कार का साधन संराधन अर्थात् उपासना को कहा है। **ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः** इस श्रुति से भी यही उपासनात्मक ज्ञान मोक्ष के साधनरूप से विवक्षित है। मोक्ष का साक्षात् हेतु उपासना ही है किन्तु पञ्च संस्कार के विना उसे और उसके साधन कर्म को करने की योग्यता ही सिद्ध नहीं होती, इस प्रकार संस्कार उपासना की योग्यता को करने से तथा उपासना के लिए अपेक्षित अन्तःकरण की शुद्धि के जनक कर्मों को करने की योग्यता को भी करने से मोक्ष के हेतु कहे जाते हैं।

परीक्ष्य शिष्यं समुपासकं गुरुर्वर्षं समभ्यर्च्य च वह्निदेवताम्।
चापादिभिर्हेतिवरैः सुतापितैर्दिने सुपुण्ये नियतः समङ्कयेत्॥62॥

अन्वय

नियतः गुरुः समुपासकं शिष्यं वर्षं परीक्ष्य च सुपुण्ये दिने वह्निदेवतां समभ्यर्च्य सुतापितैः हेतिवरैः चापादिभिः समङ्कयेत्।

अर्थ

नियतः-संयमी **गुरुः**-आचार्य(दीक्षा के लिए) **समुपासकम्**-भगवदुपासक **शिष्यम्**-शिष्य की **वर्षम्**-एक वर्ष **परीक्ष्य**-परीक्षा करके सुपुण्ये-शुभ

दिने-दिन में **वह्निदेवताम्**-अग्नि देवता की **समभ्यर्च्य**-विधिवत् पूजा करके **सुतापितैः**-अच्छी तरह तपाये गये **हेतिवरैः**-श्रेष्ठ आयुध **चापादिभिः**-धनुषादि से (शिष्य की भुजाओं के मूल भाग में) **समङ्कयेत्**-अंकन करे।

भाष्य

शिष्य की परीक्षा-प्रस्तुत श्लोक में आचार्य ने दीक्षा के लिए शिष्य की एक वर्ष तक परीक्षा लेने को कहा है। प्रश्नोपनिषत् में भी ऐसा वर्णन है। वहाँ गुरु महर्षि पिप्पलाद ने आगन्तुक जिज्ञासुओं से कहा कि तपश्चर्या करते हुए, ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए और श्रद्धा से युक्त होकर आप सभी एक वर्ष पर्यन्त निवास करें, इसके पश्चात् अपने अभीष्ट विषय में प्रश्नों को पूछें, यदि हम उन विषयों को जानते होंगे तो अवश्य उपदेश करेंगे-**तान् ह स ऋषिरुवाच, भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ। यथाकामं प्रश्नान् पृच्छत। यदि विज्ञास्यामः, सर्वं ह वो वक्ष्याम इति॥**(प्र.उ.1.2)। यदि हमारे ज्ञानी होने में आपका सन्देह हो इसलिए एक वर्ष तक तप, ब्रह्मचर्य आदि क्लेशसाध्य कर्मों में आपकी प्रवृत्ति न हो तो यहाँ से सुखपूर्वक चले जाइए, यह आचार्य के कथन का अभिप्राय है। इस प्रसङ्ग से यह शिक्षा प्राप्त होती है कि गुरु की परीक्षा के विना ही उनकी शुश्रूषा करनी चाहिए। आचार्य की सेवा के विना विद्या प्राप्त नहीं हो सकती। यदि प्राप्त हो भी गयी तो जीवन में काम नहीं आ सकती अतः गुरु-शुश्रूषा अत्यन्त अनिवार्य है। शिष्यसंग्रह में गुरु की आदर बुद्धि नहीं होनी चाहिए, यह शिक्षा भी उक्त उपदेश से उपलब्ध होती है। चाहे ऊषर भूमि में बीज बोएँ, नपुंसक के साथ कन्या का विवाह करें, वानर के गले में सुन्दर माला अर्पित करें किन्तु अपात्र को शास्त्रज्ञान और दीक्षा नहीं देनी चाहिए-**ऊषरे निर्वपेद् बीजं षण्डे कन्यां प्रयोजयेत्। सृजेद् वा वानरे मालां नापात्रे शास्त्रमुत्सृजेत्॥** चाहे राज्य दे दिया जाय, स्त्री, पुत्र, धनादि और अपना मस्तक भी दे दिया जाय किन्तु अनधिकारी को राममन्त्र की दीक्षा कभी नहीं देनी चाहिए-**राज्यं दद्यात् स्त्रियं दद्यात्पुत्रं दद्यात् धनादिकम्। मस्तकं तु सुखं दद्यान्न च दद्यात्षडक्षरम्॥**

जब श्रीगुरु नानक का उत्तराधिकारी बनाने का प्रसंग आया, तब कुछ भक्त उनके पुत्र के पक्ष में थे और कुछ शिष्य के पक्ष में। परीक्षा के लिए नानक जी ने दोनों को अलग-अलग चबूतरा बनाने का आदेश दिया। दोनों

ने दिन भर परिश्रम करके चबूतरे बनाये। सायंकाल नानक जी ने आकर कहा कि ये ठीक नहीं बने, इन्हें तोड़ दो। दूसरे और तीसरे दिन भी इसी प्रकार चबूतरे बनवाकर शाम को तुड़वा दिए। इसके पश्चात् पुत्र ने कहा कि आपकी आज्ञानुसार हम दिन भर परिश्रम करके चबूतरे बनाते हैं और आप तुड़वा देते हैं, इससे क्या लाभ? इस पर नानक जी ने कहा कि तुम कल से चबूतरा मत बनाना। शिष्य प्रतिदिन चबूतरा बनाता रहा और वे उसे तुड़वाते रहे। सात दिवस व्यतीत होने के अनन्तर नानक जी ने पूँछा कि तुम्हारे मन में अन्यथाभाव क्यों नहीं आता? शिष्य ने उत्तर दिया कि भगवन्! मुझे चबूतरे से क्या लेना-देना। मेरा सम्बन्ध तो आपसे है। आपके निर्देशानुसार पूर्ण सामर्थ्य से निर्माण करता हूँ और उसके अनुसार ही तोड़ देता हूँ। मेरा सम्बन्ध चबूतरों से नहीं है, अपितु आपकी आज्ञापालन से है। नानक जी ने कहा कि यही मेरा उत्तराधिकारी है। इस प्रसंग से यह शिक्षा प्राप्त होती है कि गुरु को प्रसन्न करने का उपाय उनकी आज्ञा का पालन करना ही है।

सद्गुरु के आदेश का पालन करने से परीक्षा में सफलता के साथ अन्तःकरण की निर्मलता भी प्राप्त होती है, जिससे मुमुक्षु भगवत्प्राप्ति का उत्तम अधिकारी हो जाता है। परीक्षा के द्वारा ही पात्र-अपात्र का निर्णय संभव है अतः दीक्षा के लिए परीक्षा अनिवार्य है। जैसे राजा के द्वारा नियुक्त मन्त्री का दोष राजा को प्राप्त होता है। पत्नी का दोष पति को प्राप्त होता है, वैसे ही बिना परीक्षा किये बनाये गये शिष्य का दोष गुरु को प्राप्त होता है, इस विषय में कुछ भी संशय नहीं है-**अमात्यदोषो राजानं जायादोषः पतिं यथा। तथा शिष्यकृतो दोषो गुरुं प्राप्नोत्यसंशयम्॥** (स्क.पु.2.5.16.17)।

योग्य शिष्य

शिष्य को शम से युक्त होना चाहिए। शम का अर्थ है-बाह्येन्द्रियों का निग्रह। उसे प्रशान्तचित्त भी होना चाहिए, यह अन्तःकरण का निग्रह है, इसे दम भी कहते हैं। शम-दम से युक्त वैराग्यवान् अन्तेवासी ही दीक्षा का योग्य अधिकारी है, उसे ही दीक्षा प्रदान करनी चाहिए अन्यथा दीक्षा देना व्यर्थ होगा, केवल इतना ही नहीं अपितु इससे जन्य दोष से उपदेशक गुरु के जीवन में अनेक दुःखद समस्याएँ भी उपस्थित होंगी।

कर्म से प्राप्त होने वाले फलों की वास्तविकता को जानकर और कर्म से ब्रह्म नहीं प्राप्त हो सकता, ऐसा समझकर जो ब्राह्मण वैराग्य को प्राप्त हो, वह ब्रह्म को जानने के लिए हाथ में समिधा लेकर श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ गुरु के ही पास जाए-**परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन। तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥**(मु.उ.1.2.12) विविध प्रकार के काम्य कर्म शास्त्रों में वर्णित हैं, उनसे यह मनुष्यलोक, पुत्र, पौत्र, धन-सम्पत्ति, प्रतिष्ठा आदि तथा स्वर्ग लोक प्राप्त होते हैं। आपाततः सुखरूप प्रतीत होने वाले ये सभी अनित्य हैं और अत्यन्त दुःखों को प्रदान करने वाले हैं, ऐसा सम्यक् विचार करके और अनित्य कर्म से अनन्त, स्थिर फल ब्रह्म प्राप्त नहीं हो सकता, ऐसा समझकर जिस मुमुक्षु को वैराग्य हो, वह ब्रह्म को जानने के लिए हाथ में समिधा लेकर श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाए।

श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ गुरु

वेदान्त के विद्वान् को श्रोत्रिय कहते हैं और ब्रह्म का साक्षात्कार करने वाले को ब्रह्मनिष्ठ कहते हैं-**श्रोत्रियं वेदान्तवेदिनं ब्रह्मनिष्ठं साक्षात्कृतपरमपुरुषस्वरूपम्**।(त.टी.1.1.1), **श्रोत्रियं श्रुतवेदान्तं ब्रह्मनिष्ठं ब्रह्मसाक्षात्कारवन्तम्**।(श्रु.प्र.1.1.1.)।

यदि गुरु ब्रह्मनिष्ठ है, श्रोत्रिय नहीं तो वह शिष्य की शंकाओं का सम्यक् समाधान नहीं कर सकता और यदि श्रोत्रिय है किन्तु विषयान्तर में रुचि होने से अथवा अभ्यास की शिथिलता से ब्रह्मनिष्ठ नहीं हो सका तो वह भी लक्ष्य से विमुख हो सकता है अतः श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ गुरु के ही पास जाने का श्रुति नियम करती है।

तापसंस्कार

शिष्य की परीक्षा के पश्चात् अग्नि देवता की पूजा करके तापसंस्कार करना चाहिए। महारामायण में भगवान् शिव ने कहा है कि हे प्रिये! मैं तुम्हें धनुष-बाण धारण करने की संपूर्ण विधि सुनाता हूँ। अष्ट धातु से धनुष-बाण बनायें उनकी शास्त्रीय विधि से प्रतिष्ठा करके भगवान् को समर्पित करें फिर श्रीहनुमान जी की पूजा करें-**त्वत्तो विधिं शृणु प्रिये कथयामि सर्वं, बाणं धनुश्च वसुधातुमयं प्रकुर्यात्। कृत्वा यथोक्त-**

विधिना सकलां प्रतिष्ठां संस्थापयेद्धनुमान् सुपूजयेत्॥(म.रा.49.23)। पूज्य भक्तिमान गुरुदेव प्रज्वलित अग्नि में विविध प्रकार के सुगन्धसम्पन्न हविषों द्वारा धनुष-बाण के मन्त्रों(ॐ शार्ङ्गाय नमः, ॐ बाणाय नमः) से 108 बार आहुतियाँ दें और हृदय में विराजमान वात्सल्यमयी माँ सीता तथा प्रभु श्रीरामचन्द्र जी का सदा स्मरण करें-**अग्नौ विशुद्धहविषा विविधै-स्सुगन्धैः होमं सुवेदविधिना शरशार्ङ्गमन्त्रैः। अष्टोत्तरं शतमथो जुहुयात् सुभक्तो रामं स्मरेद् हृदि सदा जनकात्मजाढ्याम्॥**(म.रा.49.24) इसके पश्चात् गुरुदेव **धन्वना गा..**(य.सं.29.39) इस यजुर्वेद के मन्त्र का जप करते हुए और शार्ङ्गपाणि श्रीमद्रामचन्द्रका स्मरण करते हुए शिष्य के वाम भुजा के मूल में धनुष से ताप संस्कार करे तथा पुनः सुपर्णम्[1]... और **ऋजीते[2]...** इन दो मन्त्रों का उच्चारण करते हुए दक्षिण बाहु के मूल में दो बाणों से ताप संस्कार करें'-**धन्वनेति जपन्मन्त्रं शार्ङ्गं पाणिं च संस्मरन्। बाह्वोर्वामस्य मूले तु धनुषा तापयेद् गुरुः तथा सुपर्णमित्यादिमृजीत इति चादरात्। जपन्दक्षिणमूले तु बाणाभ्याम् अङ्कयेत् पुनः॥**(वा.सं)।

अगस्त्यसंहिता में कहा है कि सभी रामभक्तों के लिए श्रीरामचन्द्र के धनुष-बाण की छाप धारण करने का विधान है-**सर्वेषां रामभक्तानां राममुद्राभिधारणम्।**(अग.सं.)। शाण्डिल्य स्मृति में तो पत्नी, पुत्र तथा घर के उपकरणों को भी भगवद्-आयुधों से अंकित करने के लिए कहा है। परम भक्त विभीषण का गृह भी उनसे अंकित था। **रामायुध अंकित गृह सोभा बरनि न जाइ। नव तुलसिका बृंद तहँ देखि हरष कपिराइ॥**(रा.च.मा.5.5)।

तथोर्ध्वपुण्ड्रं सुमृदा विधाय वै रामादिदास्यान्तमथो समुच्चरेत्[3]।
मन्त्रं तथैवोपदिशेद्विधानतो मालां वरां तां[4] तुलसीसमुद्भवाम्॥63॥

अन्वय

अथो विधानतः वै सुमृदा ऊर्ध्वपुण्ड्रं विधाय रामादिदास्यान्तम् समुच्चरेत्

1.**सुपर्णं वस्ते मृगो अस्या दन्तो गोभिः संनद्धा पतति प्रसूता। यत्रा नरः सं च वि च द्रवन्ति तत्रास्मभ्यमिषवः शर्म यंसन॥**(य.सं.29.48)। 2.**ऋजीते परिवृङ्ग्धि नोऽश्मा भवतु नस्तनूः। सोमो अधिब्रवीतु नोऽदितिः शर्म यच्छतु॥**(य.सं. 29.49)। 3.**तथोर्ध्वपुण्ड्रं सुमृदा विधाय वै रामादिदास्यान्तमथो समुच्चरेत्।** इत्यस्य स्थाने **सहोर्ध्वपुण्ड्रं सुमृदा श्रिया तथा रामादिदास्यान्वितनाम कुर्यात्।** इति पाठान्तरम्। 4. **मालां वरां तां** इत्यस्य स्थाने **मालां च दद्यात्** इति पाठान्तरम्।

तथा एव तुलसीसमुद्भवां तां वरां मालां तथा मन्त्रं उपदिशेत्।

अर्थ

गुरुदेव **अथो**-तापसंस्कार के अनन्तर **विधानतः**-शास्त्रीय विधान के अनुसार **वै**-ही **सुमृदा**-पवित्र मृत्तिका से **ऊर्ध्वपुण्ड्रम्**-ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक **विधाय**-करके **रामादिदास्यान्तम्**-राम शब्द जिसके आदि में हो और दास भाव का सूचक शब्द अन्त में हो, शिष्य का ऐसा नाम **समुच्चरेत्**-उच्चारण करें। **तथा**-शास्त्रीय विधि के अनुसार **एव**-ही **तुलसीसमुद्भवाम्**-तुलसी से निर्मित **ताम्**-उस **वराम्**-श्रेष्ठ **मालाम्**-माला को शिष्य के गले में धारण करायें (और) **तथा**-विधि के अनुसार **मन्त्रम्**-मन्त्र का **उपदिशेत्**-उपदेश करें।

भाष्य

ऊर्ध्वपुण्ड्र संस्कार

जिसे अर्चिरादि मार्ग के द्वारा आवागमन से रहित भगवद्धाम जाने की इच्छा हो, उसके लिए प्रतिदिन ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करने का विधान किया जाता है। इस लोकमें नित्य ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करने वाला वैष्णव भगवद्-धाम जाकर भगवद्पार्षदत्व को प्राप्त कर लेता है, इसमें संशय नहीं है। जो पुण्ड्र पाप करने वाले जीव को भी भगवद्धाम की प्राप्ति करा देता है, उस पुण्ड्र को ऊर्ध्वपुण्ड्र कहते हैं इसलिए बुद्धिमान पुरुष उसे धारण करे-**ऊर्ध्वगत्यां हि यस्येच्छा तस्योर्ध्वं पुण्ड्रमुच्यते। ऊर्ध्वं गत्या तु देवत्वं प्राप्नोतीह न संशयः॥ ऊर्ध्वं नयति यत्पुण्ड्रं प्राणिनः पापकारिणः। तस्याख्या ऊर्ध्वपुण्ड्रेति तस्मात् तद्धारयेद् बुधः॥** हे ब्रह्मन्! जो वैष्णव सन्ध्यावन्दन आदि कर्मों में ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण किये रहता है, मैं उसको एक ही जन्म में सुलभ हूँ। जो जीवन पर्यन्त ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करता है, वह एक ही जन्म में शीघ्र दुर्लभ मुक्ति को प्राप्त करता है- **यः करोत्यूर्ध्वपुण्ड्रं तु सन्ध्यावन्दनकर्मसु। तेनाहं सुलभो ब्रह्मन्नेकस्मिन्नेव जन्मनि॥ यावज्जीवमिदं पुण्यमूर्ध्वपुण्ड्रं दधाति यः। जन्मन्यनन्तरे मुक्तिं सद्यः प्राप्नोति दुर्लभाम्॥**

ऊर्ध्वपुण्ड्र के लिए ग्राह्य मृत्तिका

कामदगिरि, गोवर्धन आदि पर्वतों के शिखर की, गंगा-यमुना-सरयू आदि पावन नदियों के तीर की, बिल्ववृक्ष के मूल की, गोपी तालाब आदि

पवित्र जलाशयों की, सागर तट की, वल्मीक की, अयोध्या, वृन्दावन और चित्रकूट आदि धाम की तथा तुलसीवृक्ष के मूल की मृत्तिका ऊर्ध्वपुण्ड्र के लिए ग्राह्य है, अन्य ग्राह्य नहीं है-**पर्वताग्रे नदीतीरे बिल्वमूले जलाशये। सिन्धुतीरे च वल्मीके हरिक्षेत्रे विशेषतः॥**(प.पु.उ.ख.225.35)। **पर्वताग्रे नदीतीरे मम क्षेत्रे विशेषतः। सिन्धुतीरे च वल्मीके तुलसीमूलमाश्रिते॥ मृद एतास्तु सम्पाद्या वर्ज्जयेत्त्वन्यमृत्तिकाः॥**

नामसंस्कार

भगवान् श्रीराम का पर्याय शब्द जिसके आदि में हो तथा दास भाव का बोधक दास, शरण और प्रपन्न शब्द जिसके अन्त में हो, शिष्य का ऐसा शुभ नामकरण करना चाहिए।

शिष्य का श्रीनृसिंह, राम, कृष्णादि का दासपरक नाम करना चाहिए। वैष्णव गुरु अपने शिष्य का शक्ति और आवेशावतारों का दासपरक नाम न रखे-**नृसिंहरामकृष्णाख्यं दासनाम प्रकल्पयेत्। शक्त्यावेशावताराणां वर्जयेन्नाम वैष्णवः॥**(वृ.हा.स्मृ.2.95-96)।

जो दास्यभाव विशेषरूप से तुरन्त अभीष्ट वस्तु को प्रदान करता है। परम मुक्ति को प्रदान करता है, उस दास्य भाव के कारण भगवद्भक्त सर्वशास्त्रवेत्ताओं के द्वारा 'दास' इस नाम से कहा जाता है-**ददाति परमां मुक्तिं सद्यो भुक्तिं विशेषतः। तेन दासेति सम्प्रोक्तं सर्वागमविशारदैः॥** दास्य भाव को भक्ति का प्राण माना गया है। श्री हनुमान् जी भी 'मैं श्रीराम का दास हूँ' ऐसा उद्घोष लंका में करते हैं। **दासोऽहं कोसलेन्द्रस्य रामस्याक्लिष्टकर्मणः। हनुमाञ्शत्रुसैन्यानां निहन्ता मारुतात्मजः॥**(वा.रा. 5.42.34)।

मालासंस्कार

तुलसीकाष्ठ से निर्मित, सुसंस्कृत और उदार गुरु द्वारा दी हुई, कण्ठ में धारण की गयी माला का कभी त्याग नहीं करना चाहिए-**तुलसीकाष्ठसंभूता कण्ठलग्ना सुसंस्कृता। गुरुप्रदा तु या माला न त्याज्या कदाचन॥**(स.सं.)। गले में तुलसी की माला देखकर यमराज के दूत दूर से ही इस प्रकार चले जाते हैं, जैसे वायु के वेग से फूलों की पंखुड़ियाँ दूर चली जाती हैं-**तुलसीकाष्ठमालां तु प्रेतराजस्य दूतकाः। दृष्ट्वा नश्यन्ति दूरेण**

वातोद्धूतं यथा वलम्॥(स्क.पु.2.5.4.12)।

तुलसीमाला धारण करते समय शिष्यद्वारा बोले जाने वाले श्लोक

विष्णुभक्तों की परमप्रिये हे तुलसी माले! मैं तुम्हें कण्ठ में धारण करता हूँ, मुझे श्रीराम का प्रिय बना दो-**तुलसीकाष्ठ संभूते माले विष्णुजन-प्रिये। बिभर्मि त्वामहं कण्ठे कुरु मां रामवल्लभम्॥** हे माले ! जैसे तुम विष्णु और वैष्णवों की सदा प्रिय हो, ऐसे ही मुझे भी उनका प्रिय बना दो-**यथा त्वं वल्लभा विष्णोर्नित्यं विष्णुजनप्रिया। तथा मां कुरु देवि त्वं नित्यं विष्णुजनप्रियम्॥**

मन्त्रसंस्कार

यह षडक्षर मन्त्र सभी पापों का निवारण करने वाला है, यह सभी मन्त्रों में उत्तमोत्तम है, जो कि मन्त्रराज इस नाम से कहा जाता है- **षडक्षरोऽयं मन्त्रः स्यात्सर्वाघौघनिवारणः। मन्त्रराज इति प्रोक्तस्सर्वेषाम् उत्तमोत्तमः॥** (रामो.उ.6)।

तुलसी धारण कराने के पश्चात् तारकमन्त्र, द्वयमन्त्र और शरणागतिमन्त्र की दीक्षा प्रदान करनी चाहिए।

ताप से लेकर मन्त्रपर्यन्त सभी संस्कारों को विस्तारपूर्वक जानने के लिए 'उपासनादर्पण' ग्रन्थ का अवलोकन करना चाहिए।

एवं महान् भागवतः सुसंस्कृतो रामस्य भक्तिं परमां प्रकुर्यात्[1]**।**
महेन्द्रनीलाश्मरुचेः कृपानिधेः श्रीजानकीलक्ष्मणसंयुतस्य वै॥64॥

अन्वय

एवं सुसंस्कृतः महान् भागवतः श्रीजानकीलक्ष्मणसंयुतस्य महेन्द्रनीलाश्मरुचेः कृपानिधेः रामस्य वै परमां भक्तिं प्रकुर्यात्।

अर्थ

एवम्-इस प्रकार **सुसंस्कृतः**-पञ्च संस्कारों से सम्पन्न होकर **महान्**-महान् **भागवतः**-भगवद्भक्त **श्रीजानकीलक्ष्मणसंयुतस्य**-श्रीसीता और लक्ष्मण के सहित **महेन्द्रनीलाश्मरुचेः**-उत्तम नीलमणि के समान नील कान्ति वाले

---

1. **परमां प्रकुर्यात्** इत्यस्य स्थाने **विदधात्वहर्निशम्** इति पाठान्तरम्।

कृपानिधेः-कृपालु **रामस्य**-श्रीरामचन्द्र की **वै**-ही **परमाम्**-परम **भक्तिम्**-भक्ति को **प्रकुर्यात्**-सम्पन्न करे।

भाष्य

श्रीरामभक्ति की योग्यता प्राप्त करने के लिए ही पूर्व श्लोक में पञ्चसंस्कार ग्राह्य कहे थे अतः प्रस्तुत श्लोक में संस्कारों से सम्पन्न होने के पश्चात् भक्तिनिष्पन्न करने को कहा जाता है।

मोक्ष का साधन

भक्ति ज्ञानविशेष है। भक्ति से प्रसन्न हुए भगवान् ही मोक्ष प्रदान करते हैं इसलिए भक्तियोग ही मोक्ष का साधन है। कर्मयोग और ज्ञानयोग मोक्ष के साक्षात् साधन नहीं हैं, वे भक्तिद्वारा ही मोक्ष के साधन होते हैं। जो साधक भक्तियोग को निष्पन्न करने का सामर्थ्य नहीं रखता, उसे भक्तियोग निष्पन्न करने के लिए परिशुद्ध आत्मस्वरूप का साक्षात्कार आवश्यक है, इसके साधन ज्ञानयोग और कर्मयोग हैं, इनमें ज्ञानयोग आत्मसाक्षात्कार का अन्तरंग साधन है किन्तु इसमें भी असमर्थ होने पर कर्मयोग का आश्रय लेना चाहिए।

कर्मयोग

सद्गुरु के उपदेश से जीव और ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप को जानकर कर्तृत्वबुद्धि, आसक्ति और फल के त्यागपूर्वक अपने सामर्थ्य के अनुसार किये जाने वाले शास्त्रविहित कर्मानुष्ठान ही कर्मयोग कहे जाते हैं। देवार्चन, तप, तीर्थयात्रा, यज्ञ, दान आदि भिन्न-भिन्न प्रकार के कर्मयोग होते हैं। देवार्चन आदि तथा कृच्छ्रोपवास, प्राणायाम, वेदाध्ययन आदि शास्त्रीय कर्मों में अपनी रुचि के अनुसार किसी एक को अंगीरूप से स्वीकार कर इसके अंगरूप से नित्यनैमित्तिक कर्म को करते हुए अंगी कर्म किया जाता है। कर्मयोग साक्षात् अथवा ज्ञानयोगद्वारा परिशुद्ध आत्मस्वरूप के ध्यान में रुचि उत्पन्न करके भक्तियोग के अंगभूत आत्मसाक्षात्कार का साधन होता है। इस प्रकार यह जीव के पापों का नाश करके ज्ञानयोगद्वारा अथवा साक्षात् भक्ति का उत्पादक होता है।

ज्ञानयोग

कर्मयोग से जिसका अन्तःकरण निर्मल हो गया है, उस साधक के द्वारा

देह, इन्द्रिय, मन, प्राण तथा बुद्धि से भिन्न, परमात्मा के शेषरूप से अपने परिशुद्ध(प्रकृति के सम्बन्ध से रहित) आत्मस्वरूप का चिन्तन करना ज्ञानयोग कहलाता है, यह आत्मसाक्षात्कार का साधन है। इस ज्ञानयोग का साक्षात् भक्ति में उपयोग है। आत्मा देहादि से भिन्न, ज्ञानानन्दस्वरूप तथा भगवान् का शेष है, इस प्रकार शास्त्र से अपने स्वरूप को जानकर ज्ञानयोगद्वारा परमात्मा के शेषरूप से, देहादि से भिन्न ज्ञानानन्दस्वरूप अपनी आत्मा का साक्षात्कार होता है।

उपाधिनिर्मुक्तमनेकभेदका भक्तिः समुक्ता परमात्मसेवनम्।
अनन्यभावेन मुहुर्मुहुः सदा महर्षिभिस्तैः खलु तत्परत्वतः॥65॥

अन्वय

अनन्यभावेन उपाधिनिर्मुक्तं तत्परत्वतः मुहुर्मुहुः सदा परमात्मसेवनम्, खलु तैः महर्षिभिः भक्तिः समुक्ता, अनेकभेदका।

अर्थ

अनन्यभावेन-अनन्यभाव वाले भक्त के द्वारा **उपाधिनिर्मुक्तम्**-फलान्तर की कामना से रहित **तत्परत्वतः**-तत्परता से (और) **मुहुर्मुहुः**-बारम्बार **सदा**-निरन्तर (जो) **परमात्मसेवनम्**-परमात्मा का चिन्तन(स्मरण) है, वह **खलु**-ही **तैः**-भक्तियोगनिष्ठ **महर्षिभिः**-महर्षियों के द्वारा **भक्तिः**-भक्ति **समुक्ता**-कही जाती है, वह **अनेकभेदका**-अनेक प्रकार की होती है।

भाष्य

भक्तियोग-ग्रन्थकार स्वामी जी प्रस्तुत श्लोक से भक्ति का प्रतिपादन आरम्भ करते हैं। अनन्यभाव वाले भक्त के द्वारा परमात्मसेवन अर्थात् भगवान् श्रीराम का स्मरण करना भक्ति है। यही मोक्ष का साधन है। कैसा चिन्तन भक्ति है? त्रिवर्गरूप फल की इच्छा से रहित होकर जिसे किया जाए, तत्परता से किया जाए और बारम्बार किया जाए, इस प्रकार करने से ही चिन्तन की निरन्तरता होती है। बारम्बार किया गया प्रभु का निरन्तर स्मरण सजातीय वृत्तियों का प्रवाहरूप होता है, इस प्रकार किये जाने वाले सतत चिन्तन को श्रीवाल्मीकि, पराशर और वेदव्यास आदि सर्वज्ञ महर्षि भक्ति कहते हैं। भक्ति के भेद का विवेचन आगे किया जायेगा।

कर्मयोग से चित्त शुद्ध होता है, इसके पश्चात् ज्ञानयोग से परिशुद्ध आत्मस्वरूप का साक्षात्कार होता है। परिशुद्ध स्वस्वरूप का साक्षात्कार करते समय साधक यह प्रत्यक्ष जान लेता है कि मैं देहादि से विलक्षण हूँ, ज्ञानानन्द स्वरूप हूँ, भगवान् का शेष हूँ, इत्यादि। ज्ञानयोग से स्वस्वरूप का विशद साक्षात्कार होते ही साधक की अनायास भगवान् में उसी प्रकार भक्ति प्रवहित होती है जिस प्रकार भ्रम से अपने को व्याध मानकर जीवन यापन करने वाला राजकुमार को "मैं राजकुमार हूँ" इस प्रकार स्वस्वरूप के विषय में विशद ज्ञान उत्पन्न होने पर उसका अपने पिता में प्रेम अपने आप उत्पन्न होता है। इस प्रकार साधक का प्रेमात्मक भक्तियोग अंकुरित होता है।

सा तैलधारासमसंस्मृतिप्रसन्तानरूपेशि[1] परानुरक्तिः।
भक्तिर्विवेकादिकसप्तजन्या तथा यमाद्यष्टसुबोधकाङ्गा॥66॥

अन्वय

भक्तिः तैलधारासमसंस्मृतिप्रसन्तानरूपा, ईशि परानुरक्तिः। सा विवेकादिक-सप्तजन्या तथा यमाद्यष्टसुबोधकाङ्गा।

अर्थ

भक्तिः-भक्ति **तैलधारासमसंस्मृतिप्रसन्तानरूपा**-तेल की धारा के समान बीच में न टूटने वाली स्मृतियों का प्रवाहरूप होती है और **ईशि**-ईश्वर में **परानुरक्तिः**-परम प्रेमरूप होती है। **सा**-वह **विवेकादिकसप्तजन्या**-विवेकादि सात साधनों से जन्य होती है **तथा**-तथा **यमाद्यष्टसुबोधकाङ्गा**-सुज्ञेय यमादि आठ अंगों वाली होती है।

भाष्य

पूर्व श्लोक में **भक्तिः समुक्ता परमात्मसेवनम्। अनन्यभावेन मुहुर्मुहुः सदा॥**(श्रीवै.भा.65) इस प्रकार निरन्तर परमात्मस्मृति को भक्ति कहा गया, वह सजातीय स्मृतियों का प्रवाहरूप होती है, किसके समान ? इसके उत्तर में कहा जाता है कि तेल की धारा के समान। तेल की धारा निरन्तर एकरूप होती है, मध्य में विच्छिन्न(टूटने वाली) नहीं होती। परमात्मविषयक

1.**तैलधारासमनित्यसंस्मृतेः सन्तानरूपेशि** इति पाठान्तरम्।

स्मृतिप्रवाह प्रेमरूप होने पर भक्ति कहा जाता है अर्थात् तेल की धारा के समान मध्य में न टूटने वाली प्रीतिरूप स्मृतियों का प्रवाह भक्ति कहलाता है। यह तभी टूटे जब दूसरी स्मृति बीच में आये। बीच में दूसरी स्मृति न आने से यह स्मृतिप्रवाह अविच्छिन्न बना रहता है। प्रिय वस्तु की स्मृति प्रीतिरूप होती है और अप्रिय वस्तु की स्मृति दुःखरूप। भगवान् श्रीराम निरतिशय प्रिय हैं इसलिए उन्हें विषय करने वाली स्मृति भी निरतिशय प्रीतिरूप होती है। **ईशि परानुरक्तिः** इस प्रकार प्रस्तुत श्लोक में परमात्मविषयकस्मृतिप्रवाह को परानुरक्ति अर्थात् निरतिशय प्रीतिरूप होने पर भक्ति कहा जाता है अतः इसके विना स्मृतिप्रवाह के लिए भक्ति शब्द का प्रयोग औपचारिक जानना चाहिए। भक्ति विवेकादि साधनसप्तक से जन्य होती है और यमादि आठ अंगों वाली होती है। इन अंगों को सरलता से समझा जा सकता है इसलिए ग्रन्थकार इन्हें सुबोध कहते हैं।

अपने से कनिष्ठ में प्रीति को करुणा कहा जाता है और अपने समान व्यक्ति में प्रीति को मैत्री तथा अपने से महान् व्यक्ति में प्रीति को भक्ति। यह पूर्व में कहा गया है कि विजातीय स्मृति के व्यवधान से रहित तैल-धारावद् अविच्छिन्न-प्रीतिरूप स्मृतिसंतान ही भक्ति है। ग्रन्थकार स्वामी जी ने **ध्यानं ध्येयस्य चिन्तनम्।**(श्रीवै.भा.54) इस प्रकार पूर्व श्लोक में ध्येय के स्मरण को ध्यान कहा था और यहां भक्ति को परिभाषित किया जा रहा हैं। ध्यान और भक्ति में क्या भेद है? तैल की धारा के समान निरन्तर स्मरणरूप ध्यान जब प्रीतिरूप होता है, तब उसे भक्ति कहा जाता है। ध्येय का सतत ध्यान करने से इसकी निष्पत्ति होती है। यह मोक्ष का साधन है। ध्यान, उपासना आदि शब्दों की वाच्य यह भक्ति वेदान्तवाक्यों के द्वारा विहित है। स्मृतिसंतान को उपासना कहने पर घटादि के स्मृतिसंतान को भी उपासना कहना होगा इसलिए केवल स्मृतिसंतान को उपासना नहीं कहा जाता अपितु उत्कृष्टवस्तुविषयक स्मृतिसंतान को उपासना कहा जाता है। परमात्मा सर्वोत्कृष्ट है, उसे विषय करने वाली स्मृतिसंतति उपासना है। यही स्मृति(उपासना) प्रीतिरूप होने पर भक्ति कही जाती है। स्मृतिमात्र भक्ति नहीं है बल्कि प्रीतिपूर्वकस्मृति भक्ति है-**स्नेहपूर्वमनुध्यानं भक्तिरित्युच्यते बुधैः।**(लि.पु.)। केवल इतना ही नहीं बल्कि निरतिशय महान् परमात्मा की प्रीतिरूप स्मृति ही भक्ति कही जाती है-**महनीयविषयप्रीतिरेव**

हि भक्तिः। निरतिशय प्रिय की स्मृति भी निरतिशय प्रिय होती है इसीलिए ग्रन्थकार कहते हैं कि ईश्वर में निरतिशय(परम) प्रेम(अनुराग) को भक्ति कहते है-**ईशि परानुरक्तिः।** शाण्डिल्य भक्तिसूत्र में भी कहा है कि ईश्वर में परम प्रीतिरूप भक्ति होती है-**सा परानुरक्तिरीश्वरे।**(शां.भ.सू.1.2) और 'ईश्वर में परम प्रेमरूपा भक्ति होती है'-**सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा।**(ना. भ.सू.2) यह नारदभक्तिसूत्र में कहा है, इस विवरण से स्पष्ट है कि अमृतप्रवाह के समान अविच्छिन्न प्रीतिरूप स्मृतियों का प्रवाह ही भक्तियोग का स्वरूप है। जिस प्रकार अमृतप्रवाह मधुर रस से ओतप्रोत होता है, उसी प्रकार भगवान् के विषय में होने वाली यह स्मृतिप्रवाहरूप भक्ति भी प्रेमरस से ओतप्रोत होती है। मोक्ष के साधन बोधक ज्ञान, ध्यान, उपासना, वेदन, विद्या तथा दर्शन आदि शब्दों से यह भक्ति ही कही जाती है। स्मृति ज्ञान है, इसलिए स्मृतिरूप भक्ति ज्ञान शब्द से कही जाती है। यह भक्ति निरन्तर स्मृतिरूप होने से ध्रुवास्मृति कही जाती है एवं ध्यानरूप होने से ध्यान शब्द से कही जाती है। भक्ति निरन्तर बढ़ते-बढ़ते दर्शन(प्रत्यक्ष) के समान आकार वाली हो जाती है, इसलिए उच्च दशा में पहुँची हुई भक्ति दर्शन शब्द से कही जाती है। इस प्रकार ज्ञान, ध्यान, ध्रुवास्मृति और दर्शन आदि सामान्य शब्द भक्तिरूप विशेष अर्थ का बोध कराते हैं। इससे सिद्ध होता है कि भक्तिरूपता को प्राप्त हुआ ज्ञान ही मोक्ष का साधन है। परमात्मा को जानकर ही संसार का अतिक्रमण होता है, मोक्ष प्राप्ति के लिए ज्ञान से अतिरिक्त उपाय नहीं है-**तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।**(श्वे.उ.3.8), जो परमात्मा को जानते हैं, वे मुक्त हो जाते हैं-**य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति।**(क.उ.2.3.9), ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है-**ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।**(मु.उ.3.2.9) और ब्रह्म को जानने वाला साधक परब्रह्म को प्राप्त करता है-ब्रह्मविदाप्नोति परम्।(तै. उ.2.1.1), इत्यादि वाक्यों के द्वारा मोक्ष के साधनरूप से कहा गया वेदन(ज्ञान) भक्तिरूप ही है। प्रीतिरूपापन्न उपासनात्मक ज्ञान ही भक्ति है। यही मोक्षसाधन के बोधक वेदन और ज्ञान शब्दों से कहा जाता है।

सात्त्विक आहार का सेवन करने पर अन्तःकरण शुद्ध होता है, अन्तःकरण शुद्ध होनेपर ध्रुवास्मृति(विजातीय प्रत्यय के व्यवधान से रहित सजातीय स्मृतियों का प्रवाह) होती है। ध्रुवा स्मृति होने पर अविद्या तथा रागादि का

आत्यन्तिक नाश होता है-**आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवास्मृतिः, स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः।**(छां.उ.7.26.2) इस श्रुति से मोक्ष की साधन ध्रुवास्मृति अर्थात् तैलधारावदविच्छिन्न स्मृति कही जाती है अतः मोक्ष का साधन ध्यान केवल स्मृतिरूप नहीं है अपितु तैलधारावदविच्छिन्न स्मृतिसन्तानरूप है। बड़े-बड़े लोग भी जिनसे छोटे हैं ऐसे परात्पर श्रीभगवान् का दर्शन(दर्शन समानाकार ध्यान) करने पर मन की रागादि ग्रन्थियाँ नष्ट हो जाती हैं, संशय-विपर्ययरूप मोक्ष के सभी प्रतिबन्धक नष्ट हो जाते हैं और पुण्यपापरूप सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं-**भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥**(मु.उ.2.2.9) इस श्रुति से मोक्ष का साधन दर्शन कहा जाता है। छान्दोग्य श्रुति मोक्ष का साधन ध्रुवा स्मृति को कहती है तथा मुण्डक श्रुति मोक्ष का साधन दर्शन को। समान प्रकरण में पठित होने से ध्रुवा स्मृति और दर्शन शब्दों का एक अर्थ होना चाहिए। गुरुमुख से वेदान्त वाक्यों का श्रवण तथा मनन करके स्मृतिरूप उपासना की जाती है। परोक्षानुभव से साध्य यह स्मृति परोक्ष ही होगी, अपरोक्ष दर्शनरूप नहीं होगी अतः स्मृति का अर्थ दर्शन नहीं हो सकता, इसलिए दर्शन और स्मृति इन पदों में किसी का औपचारिक अर्थ करना ही पड़ेगा। स्मृति पद का स्मृति के समान यह औपचारिक अर्थ करके इसे दर्शन का विशेषण बनाने पर 'स्मृति के समान आकार वाला दर्शन' यह अर्थ होगा, ऐसा होने पर दर्शन की निन्दा होगी, अतः इस पक्ष को छोड़कर दर्शन पद का दर्शन(प्रत्यक्ष) के समान आकार वाला अतिविशद(अत्यन्त स्पष्ट) ज्ञान यह औपचारिक अर्थ करके इसे स्मृति का विशेषण बनाने पर दर्शन के समान आकारवाली स्मृति मोक्ष का साधन होगी। ऐसा होने पर स्मृति की प्रशंसा होगी। अत्यन्त स्पष्ट ध्रुवास्मृति ही उक्त मन्त्र में दर्शन पद से कही गयी है। इस द्वितीय पक्ष को स्वीकार करके दर्शन के समान आकार वाली स्मृति को मोक्ष का साधन मानने पर मोक्ष के प्रतिपादक सभी वाक्यों का सम्यक् समन्वय हो जाता है। परोक्ष ज्ञान में भी वैशद्य(स्पष्टता)की विवक्षा से दर्शन शब्द का प्रयोग श्रुति में देखा जाता है। भगवान् सनत्कुमार संसार से पर परमात्मा का स्पष्ट ज्ञान कराते हैं-**तमसः पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारः।**(छां.उ.7.26.2)।

वस्तुतः दर्शन शब्द का मुख्यार्थ चाक्षुष ज्ञान होता है। श्रावण आदि ज्ञानों

में दर्शन शब्द का प्रयोग नहीं होता। परमात्मा चक्षु से ज्ञात नहीं होता और वाणी से ज्ञात नहीं होता-**न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा।**(मु.उ.3.1.8), श्रवण, मनन के पश्चात् विशुद्ध मन से परमात्मा को जानना चाहिए-**मनसैवानु द्रष्टव्यम्।**(बृ.उ.4.4.19)। दर्शनसमानाकार-स्मृति मनोजन्य ज्ञानविशेष है, इसलिए दर्शन शब्द का दर्शनसमानाकार ज्ञान अर्थ किया जाता है। दीर्घकाल तक अभ्यास करने पर स्मृति का विषय विशद(स्पष्ट) होता है तथा यह स्मृति भी विशद होती है। इस स्मरणात्मक ध्यान से साध्य जो समाधि होती है, वह दर्शन के समान अत्यन्त विशद होती है तथा उसका विषय भी अत्यन्त विशद होता है, इसलिए इस स्मृति को दर्शन समानाकार कहते हैं। वह साध्य स्मरणात्मक समाधि ध्रुवास्मृतिरूप है। बार-बार आदरपूर्वक किये गये चिन्तन से ध्रुवास्मृतिरूप जो समाधि प्रत्यक्ष के समान रूप वाली होती है, वह मुमुक्षु के लिए है।

स्मरण की बार-बार आवृत्ति करने पर वे(आगे होने वाले स्मरण) इतने विशद हो जाते हैं कि प्रत्यक्ष के समान बन जाते हैं क्योंकि किसी वस्तु का बारम्बार स्मरण होने पर ऐसा भान होने लगता है कि वह वस्तु सामने दिखाई देती है। मारीच भयभीत होकर बारम्बार श्रीरामचन्द्रजी का स्मरण करता रहता था। अनवरत स्मरण के कारण ही उसे भान होने लगा कि श्रीरामचन्द्रजी प्रत्यक्ष दिखाई दे रहे हैं अतएव उसने सहायता लेने के लिए उपस्थित हुए रावण से कहा कि मैं चीर, कृष्णमृगचर्म और धनुष को हाथ में धारण करने वाले श्रीरामचन्द्र को प्रत्येक वृक्ष में देख रहा हूँ, वे हाथ में पाश लिए हुए यमराज की तरह मुझे दिखाई दे रहे हैं-**वृक्षे वृक्षे हि पश्यामि चीरकृष्णाजिनाम्बरम्। गृहीतधनुषं रामं पाशहस्तमिवान्तकम्॥**(वा. रा.3.39.15) रामायण के इस वचन से सिद्ध होता है कि अनवरत आवृत्ति करने पर स्मरण प्रत्यक्ष के समान आकार को धारण करता है।

शंका-जैसे मारीच का वृक्षविशेष्यक रामप्रकारक ज्ञान भ्रान्ति है, वैसे ही स्मरणात्मक भक्तियोग भी भ्रान्तिरूप होगा।

समाधान-यह कथन अनुचित है क्योंकि मुमुक्षु साधक शास्त्र से यथार्थ अर्थ को जानकर परमात्मस्मृति में प्रवृत्त हुआ है, इसलिए उसका स्मरणात्मक भक्तियोग यथार्थ ही है, भ्रान्तिरूप नहीं। जैसे देह में आत्मा होने पर भी आत्मा ही देह की आधार है, वैसे सभी में राम होने पर भी राम ही सभी

के आधार हैं, इसलिए रामविशेष्यक सर्वप्रकारक ज्ञान यथार्थ है। यह ज्ञान मोक्ष के साधन का अनुसंधान करने वाले को होता है। यथार्थ ज्ञान से जन्य होने के कारण इसका बाध भी नहीं होता। इस प्रकार असकृद् आवृत्तिरूप ध्रुवास्मृति की दर्शनरूपता का अर्थ है-ध्रुवास्मृति को प्रत्यक्ष के समानरूप की प्राप्ति। प्रत्यक्ष के समानरूप को प्राप्त हुई ध्रुवास्मृति मोक्ष का साधन है।

उक्त ध्रुवास्मृति की निष्पत्तिकाल में यह भान होने लगता है कि श्रीभगवान् सामने दर्शन दे रहे हैं, इस प्रकार प्रत्यक्ष के समान बनने वाला यह भक्तियोग ही अत्यन्त विशद होने के कारण शास्त्रों में स्वप्नधी और दर्शन इत्यादि शब्दों से वर्णित हुआ है। सबके ऊपर शासन करने वाले, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, शुद्ध स्वर्ण के समान आभा वाले तथा स्वप्नज्ञान के समान विशद ज्ञान से ग्राह्य उस परम पुरुष परमात्मा का चिन्तन करना चाहिए-**प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि। रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम्॥**(म.स्मृ.12.122) इस श्लोक में स्वप्नधी शब्द से मोक्ष का साधन विशदस्मरणधारात्मक भक्तियोग बतलाया गया है। स्वप्नधी शब्द से वर्णन करने का भाव यह है कि जिस प्रकार स्वप्न में होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष प्रतीत होता है, वैसे ही यह स्मरणसन्तान भी अनवरत आवृत्ति के कारण प्रत्यक्ष प्रतीत होता है। उस समय प्रतीत होता है कि परमात्मा का साक्षात्कार हो रहा है।

यह परमात्मा केवल मनन से, निदिध्यासन(ध्रुवास्मृति या ध्यान)से और बहुत श्रवण से प्राप्त नहीं होता किन्तु यह परमात्मा ही जिसका वरण करता है, उसे प्राप्त होता है। यह परमात्मा वरणीय व्यक्ति के लिए अपने स्वरूप को प्रकट कर देता है-**नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्॥**(क.उ.1.2.23, मु.उ.3.2.3) इस मन्त्र में पूर्वार्ध के द्वारा श्रवण, मनन और निदिध्यासन को परमात्मप्राप्ति का उपाय नहीं माना तथा उत्तरार्ध में 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः।' इस प्रकार वरणीय(अनुग्राह्य) के द्वारा परमात्मा को प्राप्य कहा गया है। प्रियतम व्यक्ति ही वरणीय होता है। जिस उपासक को परमात्मा निरतिशय प्रिय होते हैं, वह उपासक भी परमात्मा का प्रियतम होता है। जैसे प्रियतम उपासक भगवान् को प्राप्त करे,

वैसा भगवान् स्वयं ही प्रयत्न करते हैं, यह उन्होनें स्वयं गीता में कहा है। मेरा सतत योग चाहने वाले भक्तों को मैं परिपक्व अवस्था को प्राप्त उस भक्तियोग(दर्शनसमानाकार ध्यान) को प्रीतिपूर्वक देता हूँ, जिससे वे मुझे प्राप्त होते हैं-**तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥**(गी.10.10)। मैं ज्ञानी को अतिशय प्रिय हूँ और मुझे ज्ञानी अतिशय प्रिय है-**प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥** (गी.7.17)। स्मरण का विषय परमात्मा निरतिशय प्रिय होने से उसकी दर्शनसमानाकार स्मृति भी स्वयं निरतिशय प्रिय होती है। ऐसा प्रीतिरूप दर्शनसमानाकार निदिध्यासन करने वाला ज्ञानी ही परमात्मा के द्वारा वरणीय होता है। प्रीति के विना श्रवण, मनन, निदिध्यासन उपाय नहीं हैं। ये प्रीतिरूप होने पर ही उपाय होते हैं, इनमें प्रीतिरूपापन्न निदिध्यासन(ध्यान) तो वरण(अनुग्रह) के द्वारा उपाय बनता है।

भक्तियोग(निदिध्यासन) में मन की एकाग्रता अत्यन्त अपेक्षित है। यदि एकाग्रता के अनुकूल देश और काल में प्रतिदिन इस योग का अनुष्ठान किया जाय तो यह बढ़ता रहता है। साधक को अन्तिम काल तक इस भक्तियोग को जारी रखना चाहिए। यह भक्तियोग बारम्बार शरणागति की भी अपेक्षा रखता है क्योंकि साधक भक्तियोग की उत्पत्ति को रोकने वाले पापों को मिटाने में अपने को असमर्थ पाकर उनको मिटाने के लिए जब रघुनाथ जी की शरण में जाता है, तभी भक्तियोग उत्पन्न होता है और बीच-बीच में विघ्न उपस्थित होने पर उनको मिटाने के लिए भी साधक को श्रीभगवान् की शरण में जाना पड़ता है। तभी अबाधगति से भक्तियोग बढ़ने लगता है इसलिए भक्तियोग बारम्बार शरणागति की अपेक्षा करता रहता है। शरणागति की सहायता के बिना भक्तियोग का आगे बढ़ना कठिन है। जिस प्रकार राजा लोग चलते-फिरते समय अपने अन्तरंग सेवक के हाथ का सहारा लेकर चलते-फिरते हैं और जिस प्रकार कुम्भकार घड़ों का निर्माण करते समय बारम्बार हाथ से जल का स्पर्श करता रहता है, उसी प्रकार भक्तियोग बारम्बार शरणागति की सहायता लेता रहता है।

प्रीतिरूप ध्रुवास्मृति ही भक्ति शब्द से कही जाती है। **सेवा भक्तिरुपास्तिः** इस प्रकार निघण्टुकार ने उपासना का पर्याय भक्ति को कहा है। प्रीतिपूर्वक

किया जाने वाला चिन्तन भक्ति कहा जाता है। वेदन, उपासना आदि शब्दों से भक्ति को ही कहने वाले आगामी श्रुतिस्मृतिवाक्य प्रवृत्त होते हैं। मुमुक्षु परमात्मा को ही जानकर(साक्षात्कारात्मिका भक्ति करके) संसार से पार होता है-**तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति।**(श्वे.उ.3.8)। इस प्रकार परमात्मा की भक्ति करने वाला इस जन्म में ही परमात्मा का अनुभव करता है, परमात्मानुभव के लिए भक्ति से अतिरिक्त उपाय नहीं है-**तमेवं विद्वानमृत इह भवति। नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥**(तै.आ.3.1.3)। हे अर्जुन! तुमने जिस प्रकार मेरा साक्षात्कार किया है, इस प्रकार मेरा साक्षात्कार वेद के अध्ययन(अक्षरराशि का ज्ञान), अध्यापन, अर्थज्ञान, तप, दान और यज्ञ से नहीं किया जा सकता किन्तु हे परन्तप! अनन्य भक्ति के द्वारा इस प्रकार तत्त्वतः मुझे शास्त्र से जाना जा सकता है, अनन्य भक्ति के द्वारा तत्त्वतः मेरा साक्षात्कार किया जा सकता है और अनन्य भक्ति के द्वारा तत्त्वतः मुझे प्राप्त किया जा सकता है-**नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया। शक्य एवं विधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥ भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवं विधोऽर्जुन। ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥**(गी.11.53-54), हे पार्थ! मुमुक्षुओं के द्वारा प्राप्य वह परम पुरुष निरन्तर ध्यानरूप भक्ति से प्राप्य है-**पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।**(गी.8.22)। मैं स्वरूपतः जो हूँ तथा गुणतः और विभूतितः जितना हूँ, इस प्रकार पराभक्ति से मेरा तत्त्वतः साक्षात्कार कर लेता है, तत्त्वतः साक्षात्कार करके भक्ति के द्वारा ही मुझे प्राप्त करता है-**भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः। ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥**(गी.18.55)। उक्त गीतावचन से अनन्य भक्ति के द्वारा शास्त्र से परमात्मा का तत्त्वतः ज्ञान, अनन्य भक्ति के द्वारा उनका तत्त्वतः साक्षात्कार तथा अनन्य भक्ति के द्वारा तत्त्वतः उनकी प्राप्ति कही गयी है। भिन्न-भिन्न अवस्थाओं वाली भक्ति ही ज्ञान, दर्शन और प्राप्ति का हेतु है इसलिए अन्योन्याश्रय दोष नहीं है। पूर्वजन्म के सुकृत के कारण प्राप्त होने वाले महात्माओं के सत्संग से जन्य शास्त्र का यथावत् श्रवण तथा धारण करने का हेतु जो ईश्वर में प्रीति है, वह प्रीतिरूपा भक्ति तत्त्वतः शास्त्रजन्य ज्ञान का कारण है। मैं भक्ति से शुद्ध भाव को प्राप्त होकर शास्त्र से जनार्दन को जानता हूँ-**शुद्धभावं गतो भक्त्या शास्त्राद् वेद्मि जनार्दनम्।**(म.भा.) प्रीतिरूपता को प्राप्त होने वाली तथा दर्शन के समान आकार वाली ध्रुवा स्मृति को ध्यानरूपा

परभक्ति कहते हैं। गीता 18.55 में 'भक्त्या' पद से पर भक्ति को लिया जाता है क्योंकि **मद्भक्तिं लभते पराम्**।(गी.18.54) इस प्रकार पूर्व में परभक्ति को कहा है। प्रबल साक्षात्कार की इच्छा से युक्त परभक्ति परिपूर्ण परमात्मा के साक्षात्कार का साधन है। इस साक्षात्कार को परज्ञान कहा जाता है। इससे अतिशय प्रीतिरूपा परमभक्ति होती है। यह परिपूर्ण परमात्मा का सर्वदा अनुभव करने के लिए प्रेममय उत्कट त्वरारूप होती है, यह उनकी प्राप्ति का साधन है। परमभक्ति वह ज्ञानविशेष है, जो अत्यन्त प्रिय लगता है। जिसे छोड़कर दूसरा कोई भी प्रयोजन समझ में नहीं आता। प्रयोजनाभाव से जो स्वयं होता रहता है तथा जो अपने से इतर समस्त पदार्थों में वैराग्य को उत्पन्न करता रहता है। इस परमभक्ति में पहुँचने पर परब्रह्म को प्राप्त किये विना साधक से रहा नहीं जाता। इस परमभक्तिरूप ज्ञानविशेष का मूलकारण वह भक्तियोग है, जो प्रतिदिन अभ्यास से बढ़ता जाता है। प्रीतिरूप ध्यान से दिव्य, निरतिशय-आनन्दरूप परमात्मस्वरूप का निरतिशय प्रिय अनुसन्धान होता है। यह ही साक्षात्काररूप पर ज्ञान है और यह परमात्मा के सर्वथा अनुभव करने की इच्छा को उत्पन्न करता है। इससे युक्त भक्ति ही परमभक्ति होती है। गीता के उक्त 55 वें श्लोक में 'विशते' पद से प्रकृति के बन्धन से रहित मुक्त पुरुष का अनुभव कहा जाता है-**विशते इति प्रकृतिबन्धविनिर्मुक्तस्यानुभव उच्यते**।(ता. दी.)।

परभक्ति भी तत्त्वज्ञान का ही साधन है, वह तत्त्वज्ञान ही मोक्ष(प्राप्ति)का साधन है, भक्ति साधन नहीं है। इस शंका का परिहार **नाहं वेदै:**।(गी.11.53) इन वचनों से हो जाता है। **भक्त्या त्वन्यया शक्य:**।(गी.11.54) इस प्रकार भी प्राप्ति(मोक्ष) के हेतुरूप से भक्ति कही गयी है। यहाँ गीता(18.55) में तत: पद से प्राप्ति का हेतु भक्ति ही कही जाती है। यद्यपि यहाँ गीता(18.55) में भक्ति शब्द व्यवहित है तथा ज्ञान शब्द अव्यवहित है, फिर भी व्यवहित भक्ति को ही ग्रहण करना उचित है अन्यथा 'तत्त्वतो ज्ञात्वा' इस प्रकार ज्ञान का कथन होने पर भी तत: पद से पुन: ज्ञान को ग्रहण करने पर पुनरुक्ति दोष उपस्थित होगा। भक्ति की उत्तरोत्तर अवस्थाओं को लेकर ही उसे परभक्ति, परज्ञान और परमभक्ति कहा जाता है।

ऊपर उद्धृत गीतावचन परभक्ति से साक्षात्कारात्मक परज्ञान को कहता

है तथा छान्दोग्यश्रुति(7.26.2) ध्रुवास्मृति से ग्रन्थिनाशरूप अविद्यानिवृत्ति को कहती है। जैसे सूर्य के द्वारा अन्धकारनिवृत्तिपूर्वक प्रकाश होता है, वैसे ही दर्शनसमानाकार ध्रुवास्मृतिरूप परभक्ति से ग्रन्थिनाशपूर्वक साक्षात्कार होता है। यह ध्रुवास्मृति ही ग्रन्थिनाश में हेतु होती है। यदि कहना चाहें कि सूर्य से अन्धकारनिवृत्ति और प्रकाश दोनों एक साथ होते हैं तो ऐसा भी कहना चाहिए कि ध्रुवास्मृति से अविद्यानिवृत्ति और साक्षात्कार दोनों एक साथ होते हैं। इस प्रकार भी ध्रुवास्मृति ही ग्रन्थिनाश में हेतु सिद्ध होती है।

शंका-कामातुर व्यक्ति को कामिनी का प्रगाढ़ चिन्तन होने पर उसे ऐसा प्रतीत होता है कि कामिनी सम्मुख खड़ी है। जिस प्रकार भावना से जन्य होने के कारण कामातुर व्यक्ति का कामिनीसाक्षात्कार भ्रम है, वैसे ही भावना से जन्य होने के कारण मुमुक्षु के द्वारा अनुष्ठीयमान ब्रह्म का दर्शनसमानाकार ध्यान भी भ्रम ही होगा।

समाधान-यह कहना उचित नहीं क्योंकि कामिनीसाक्षात्कार के भ्रम होने का कारण भावना से जन्य होना नहीं है, वह तो कामिनीरूप विषय का बाध(निषेध) होने से भ्रम है। सबमें व्याप्त होकर रहने वाला ब्रह्म का किसी भी प्रमाण से बाध नहीं होता इसलिए उसका ध्यान कभी भी भ्रम नहीं हो सकता। शुक्तिरजतज्ञान भावना से जन्य नहीं है फिर भी विषय बाधित होने से भ्रम माना जाता है। व्यवहितकामिनीसाक्षात्कार में भावना दोष होने पर भी वह सर्वव्यापक, अव्यवहित ब्रह्म के ध्यान में दोषरूप नहीं हो सकती।

वेदान्तवाक्यों में कल्याण के साधनरूप से कहा गया ज्ञान दो प्रकार का है-**1.**आत्मज्ञान, **2.**परमात्मज्ञान। इनमें आत्मज्ञान को ज्ञानयोग तथा परमात्मज्ञान को भक्तियोग भी कहा जाता है।

परमात्मज्ञान में आत्मज्ञान की हेतुता

जिस प्रकार वस्त्र में तिरोहित मणि के प्रत्यक्ष के लिए वस्त्र का प्रत्यक्ष अपेक्षित होता है, उसी प्रकार देहादि से भिन्न अपनी सूक्ष्म आत्मा में स्थित सूक्ष्मतम परमात्मा के प्रत्यक्ष के लिए अपनी आत्मा का प्रत्यक्ष अपेक्षित है, इसलिए उपनिषद् आदि अध्यात्म ग्रन्थों में परमात्मा के प्रकरण में जीवात्मा का भी प्रतिपादन देखा जाता है।

आत्मा के ज्ञानरूप साधन से परमात्मा का ध्यान करके धीर पुरुष शोक और मोह को छोड़ देता है-**अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति॥**(क.उ.1.2.12)। विषयों से मन को हटाकर आत्मा में लगाने को अध्यात्मयोग कहते हैं-**विषयेभ्यः प्रतिसंहृत्य चेतस आत्मनि समवधानम् अध्यात्मयोगः॥**(रं.भा.)। इस अध्यात्मयोग से जो अधिगम=जीवात्मा का साक्षात्कार होता है, उसे अध्यात्मयोगाधिगम कहते हैं, उस अध्यात्मयोगा-धिगम से अर्थात् जीवात्मा के साक्षात्काररूप साधन से परमात्मा का साक्षात्कार होता है। इस प्रकार **अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा** इस कथन से परमात्मसाक्षात्कार में आत्मसाक्षात्कार साधन सिद्ध होता है। इस विषय को स्वामी रामप्रसादाचार्य जी ने गीतातात्पर्यनिर्णय में **आत्मज्ञानं विना परमात्मज्ञानस्यानुपपद्यमानत्वात्...**(गी.ता.नि.) इन शब्दों में कहा है। ज्ञानयोग से अपनी आत्मा का साक्षात्कार होने के बाद भक्तियोग में सहज प्रवृत्ति होती है, इस प्रकार आत्मज्ञान भक्तियोग में हेतु होता है।

कर्मयोग से अन्तःकरण निर्मल होने पर देह, इन्द्रिय, मन, प्राण और बुद्धि से विलक्षण ब्रह्मात्मक अपनी आत्मा के साक्षात्कार का साधन ज्ञानयोग उपस्थित होता है, उससे अपनी आत्मा का साक्षात्कार होने पर उसमें अन्तरात्मारूप से विद्यमान परमात्मा के साक्षात्कार के लिए भक्तियोग प्रवृत्त होता है।

छान्दोग्य उपनिषत् में वर्णित प्रजापतिविद्या प्रत्यगात्मविद्या है, दहरविद्या ब्रह्मविद्या है। दहर विद्या की अंगभूत प्रजापतिविद्या है। प्रजापति वाक्य में मुक्तात्मा के यथार्थज्ञान का उपदेश दहर विद्या में उपयोगी होने के कारण किया गया है। यह विषय **अन्यार्थश्च परामर्शः**(ब्र.सू.1.3.19) इस सूत्र के भाष्य में वर्णित है। आविर्भूत, अपरिच्छिन्न ज्ञानगुण वाली ब्रह्मात्मक आत्मा का साक्षात्कार किया हुआ और क्लेश, कर्मादिरूप कलुष से रहित पुरुष न शोक करता है और न ही इच्छा करता है। सभी भूतों में समता को प्राप्त किया हुआ वह आत्मज्ञानी मेरी पराभक्ति को प्राप्त करता है-**ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति। समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥**(गी.18.54)।

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा॥(गी.4.37) यह वचन आत्मा के प्रकरण में है। इसका अर्थ है कि आत्मज्ञानरूप अग्नि से आत्म-

साक्षात्कार के प्रतिबन्धक सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं, फिर भी परमात्मसाक्षात्कार के प्रतिबन्धक कर्म इससे नष्ट नहीं होते, वे परमात्मसाक्षात्कार से ही नष्ट होते हैं, इसलिए परमात्मोपासनरूप भक्तियोग आवश्यक है। परावर परमात्मा का साक्षात्कार होने पर परमात्मसाक्षात्‍ र के प्रतिबन्धक सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं-**क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥**(मु.उ.2.2.9)।

भक्ति का जनक

स्वामी रामानन्दाचार्य जी **भक्तिर्विवेकादिसप्तजन्या** इस प्रकार विवेकादि साधनसप्तक को भक्ति का जनक कहते हैं। इसंका विवरण निम्नलिखित है-

साधनसप्तक

विवेक, विमोक, अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनवसाद और अनुद्धर्ष ये साधनसप्तक कहलाते हैं, इनसे भक्तियोग की निष्पत्ति होती है, यह विषय युक्ति और प्रमाण से सिद्ध है-**तल्लब्धिः विवेकविमोकाभ्यासक्रियाकल्या-णानवसादानुद्धर्षेभ्यः सम्भवात् निर्वचनाच्च।**(ब्र.न.वा.)।

1.विवेक

जाति, आश्रय और निमित्त इन तीन दोषों से रहित अन्न के द्वारा देह और इन्द्रियों की शुद्धि करना विवेक कहलाता है-**जात्याश्रयनिमित्तादुष्टाद् अन्नात् कायशुद्धिः विवेकः।**(ब्र.न.वा.)। जो खाया जाता है, वह अन्न है-'अद्यते इति अन्नम्' इस व्युत्पत्तिके अनुसार फल और शाक आदि भी अन्न हैं।

जीवननिर्वाह के लिए भोजन सभी को अपेक्षित है। दोषयुक्त भोजन से अन्तःकरण अशुद्ध हो जाता है। अन्तःकरण की अशुद्धि का अर्थ है-रजोगुण और तमोगुण की वृद्धि, ऐसा होने से इन्द्रियाँ बहिर्मुख हो जाती हैं, इससे घोर अशान्ति और तनाव का वातावरण बनता है किन्तु दोषरहित भोजन से अन्तःकरण निर्मल होता है। अन्तःकरण की निर्मलता का अर्थ है-सत्त्व गुण की वृद्धि, ऐसा होने से इन्द्रियाँ शान्त और प्रसन्न होकर साधना के अनुकूल हो जाती हैं इसलिए दोषरहित आहार के सेवन का विधान किया जाता है। धर्मशास्त्रों में अभक्ष्य कहे गये लहसुन, प्याज आदि खाद्य पदार्थ जाति दोष से युक्त हैं। उच्छिष्ट तथा केश, कीट आदि से संस्पृष्ट अन्न

निमित्त दोष से युक्त होता है। चोरी, बेईमानी, असत्यभाषण, घूसखोरी, व्यापार में मिलावट, हिंसा-पीड़ा आदि शास्त्रनिषिद्ध कर्म करने वाले तथा सूतक आदि अपवित्र अवस्था वाले मनुष्य के अन्न और धन आश्रयदोष से युक्त होते हैं। इन तीनों दोषों से रहित अन्न का ही सेवन करने पर सत्त्व गुण की वृद्धि होती है तथा रज और तम की अल्पता होती है। सत्त्व गुण की वृद्धि के विना मोक्ष के साधन भक्तियोग का आरम्भ ही नहीं हो सकता इसलिए साधक को अत्यन्त सावधान रहना चाहिए।

साधना मन का कार्य है, मन का पोषण अन्न से होता है इसलिए उक्त तीनों दोषों से रहित अन्न ग्रहण करना चाहिए। आहार की शुद्धि से मन की शुद्धि होती है, मनकी शुद्धि होने पर ध्रुवास्मृति(परमतत्त्व की अविचल स्मृतिरूप भक्ति) होती है-**आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवास्मृतिः।** (छां.उ.7.26.2)। बढ़े हुए रज और तम की निवृत्तिपूर्वक सत्त्व गुण की वृद्धि ही मन की शुद्धि है। यद्यपि आयुर्वेद में प्याज, लहसुन आदि पदार्थों को स्वास्थ्य के लिए हितकर माना गया है, फिर भी धर्मशास्त्र में उनका निषेध किया गया है क्योंकि वे राजस और तामस विचारों को उत्पन्न कर मन को अशुद्ध कर देते हैं। शान्ति की प्राप्ति के लिए मन का स्वास्थ्य ही मुख्य है। शरीर से पूर्ण स्वस्थ होने पर भी मन से अस्वस्थ व्यक्ति अपने को दुःखी मानता है इसलिए लौकिक दृष्टि से भी मानसिक स्वास्थ्य की अधिक आवश्यकता है। आहारशुद्धि तो साधना का प्रथम सोपान है।

2.विमोक

भोग्य विषयों में अभिष्वङ्ग के अभाव को विमोक कहते हैं-**विमोकः कामानभिष्वङ्गः।**(ब्र.न.वा.)। जिस दोष(विकार) के कारण मनुष्य विषय को विना भोगे नहीं रह सकता, वह दोष अभिष्वङ्ग कहलाता है। अभिष्वङ्ग(काम) आसक्ति से जन्य होता है, उसके होने पर तदनुरूप विषय की प्राप्ति न होने पर क्रोध उत्पन्न होता है-**संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।**(गी.2.62)। इस प्रकार सभी अनर्थों का हेतु अभिष्वङ्ग है। क्रोध तथा सम्मोह आदि विकारों का अभाव भी विमोक पद से लिया जाता है। मुमुक्षु पुरुष कामना तथा रागद्वेषादि से रहित होकर ब्रह्म की उपासना करे-**शान्त उपासीत।**(छां.उ.3.14.1) यह श्रुति विमोक का प्रतिपादन करती है।

3.अभ्यास

ध्यान के आलम्बन शुभाश्रय का बारम्बार अनुकूलत्वेन चिन्तन करना अभ्यास कहलाता है-**आरम्भणसंशीलनं पुनः पुनरभ्यासः**।(ब्र.न.वा.)। भक्तियोग पर आरूढ़ होने की इच्छा करने वाले साधक के चित्त का आलम्बन भगवान् का शुभाश्रयरूप दिव्यमंगल विग्रह होता है।

शंका-ध्येय का बार-बार चिन्तनरूप अभ्यास तो साध्य ध्रुवास्मृति ही है, अतः इसका साधन अभ्यास कैसे हो सकता है ?

समाधान-उचित देशकाल में नियमित करने योग्य ध्रुवास्मृतिरूप भक्तियोग साध्य है, उसका उपकारक यह अभ्यास है। इसे न करने पर कालान्तर में विचारित जो विषय हैं, वे योगकाल में स्मृति पथ में आरूढ होगें, इससे ध्येय की स्मृति नहीं होगी अतः योगकाल में ध्येय की अविचल स्मृति के लिए अभ्यास अपेक्षित है। मुमुक्षु ब्रह्मविद्या और बालस्वभाव(अपनी महिमा को प्रकट न करना) से युक्त होकर शुभाश्रय ध्येय का पुनः पुनः संशीलन करे-**बाल्यञ्च पाण्डित्यञ्च निर्विद्याथ मुनिः**।(बृ.उ.3.5.1)। मुमुक्षु मनुष्य मरणपर्यन्त जीवनकाल में ध्रुवास्मृति के हेतु ध्येय की भावना से भावित रहे-**सदा तद्भावभावितः**।(गी.8.6)।

4.क्रिया

अपने सामर्थ्य के अनुसार देवयज्ञ, पितृयज्ञ, मनुष्ययज्ञ, भूतयज्ञ और ब्रह्मयज्ञ इन पञ्चमहायज्ञ आदि नित्यनैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान को क्रिया कहते है-**पञ्चमहायज्ञाद्यनुष्ठानं शक्तितः क्रिया**।(ब्र.न.वा.)। स्वधर्म का पालन करते हुए ब्रह्मविद्या के द्वारा गृहस्थ भी मुक्त हो जाता है। इस अभिप्राय से 'पञ्चमहायज्ञ' पद ग्रहण किया गया है। यहाँ आदि पद से सन्ध्योपासन, वेदाध्ययन, याग, दान, होम, तप आदि वर्णाश्रमविहित कर्म ग्रहण किये जाते हैं। सभी मनुष्यों के सभी कर्म समान नहीं हैं। वर्णाश्रम के अनुसार सभी के कर्म नियत हैं। अपने लिए विहित नित्यनैमित्तिक कर्मों को करना ही क्रिया है। शास्त्रविहित नित्यनैमित्तिक कर्मों को करने वाला व्यक्ति ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ होता है-**क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः**।(मु.उ. 3.1.4) यहाँ पर क्रिया(कर्म का अनुष्ठान करने) वाले को ब्रह्मजिज्ञासुओं में श्रेष्ठ नहीं कहा अपितु ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ कहा है क्योंकि शास्त्रज्ञान वाले मुमुक्षु की उक्त क्रिया से चित्तशुद्धि होने पर ब्रह्मविद्या की निष्पत्ति

होती है किन्तु क्रिया के अभाव वाले ज्ञानी की चित्तशुद्धि न होने से ब्रह्मविद्या की निष्पत्ति नहीं होती। कर्म के अनुष्ठान से जैसे जैसे चित्तशुद्धि होती है, वैसे वैसे भक्तिरूप ब्रह्मविद्या उत्कर्षता को प्राप्त होती है। ब्राह्मण(त्रैवर्णिक) फलाभिसन्धिरहित वेदाध्ययन, यज्ञ, दान और तप से ब्रह्म को जानने की इच्छा करते हैं-**तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणाः विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन**।(बृ.उ.4.4.22) यहाँ ब्रह्मविद्या की निष्पत्ति के लिए वेदाध्ययन आदि क्रियाएँ कही गयी हैं।

5.कल्याण

सत्य, आर्जव, दया, दान, अहिंसा और अनभिध्या को कल्याण कहते हैं-**सत्यार्जवदयादानाहिंसानभिध्याः कल्याणानि**।(ब्र.न.वा.)।

सत्य

प्राणियों के लिए हितकर यथार्थ वचन बोलने को सत्य कहते हैं। परब्रह्म सत्यवचन से (उपासना द्वारा) प्राप्त करने योग्य है-**सत्येन लभ्यः**।(मु.उ.3.1.5)। सत्य की ही विजय होती है, अनृत की नहीं। विस्तृत देवयान मार्ग सत्य से प्राप्त होता है। जिस मार्ग से आप्तकाम ऋषि ही उस स्थान को प्राप्त करते हैं, जहाँ सत्यवचन का परमफल ब्रह्म है-**सत्यमेव** जयति **नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः। येनाक्रामन्ति ऋषयो ह्याप्तकामा यत्र तत् सत्यस्य परमं निधानम्**॥(मु.उ.3.1.6)। सत्यवचन से बढ़कर कोई धर्म नहीं है-**नास्ति सत्यात्परो धर्मः**।(म.भा.शां.162.24, म.स्मृ.8.82), अन्ततः सत्यवादी पुरुष अनृतवादी को परास्त कर ही देता है, इसी अभिप्राय से **यतो धर्मस्ततो जयः** कहा जाता है। सत्यवचन न बोलने पर अन्तःकरण की शुद्धि न होने से ध्रुवास्मृति की निष्पत्ति नहीं हो सकती।

आर्जव

मन से जैसा विचार किया जाय, वाणी से वैसा बोला जाय और शरीर से वैसा ही आचरण किया जाय अर्थात् मन, वाणी और शरीर की एकरूपता को आर्जव कहते हैं-**मनोवाक्कायानाम् ऐकरूप्यम् आर्जवम्**। जिनमें कपट नहीं है, उनके लिए ही यह दोष रहित ब्रह्म है-**तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोकः**[1] **न येषु जिह्मम्**।(प्र.उ.1.16) यह श्रुति आर्जव वाले को ही

1. ब्रह्मैव लोकः ब्रह्मलोकः।

ब्रह्म की प्रप्ति कहती है।

दया

निःस्वार्थ होकर दूसरे के दुःख को दूर करने की इच्छा दया कही जाती है।

दान

न्यायपूर्वक अर्जित किये गये धन को यथाविधि सत्पात्र को देना दान कहलाता है-**दानं न्यायसिद्धद्रव्यस्य यथाविधि पात्रसात्करणम्**।(त.टी.1. 1.1) अथवा लोभ के अभाव को दान कहा जाता है-**दानं लोभराहित्यम्**।(श्रु प्र.1.1.1) इनमें प्रथम लक्षण समर्थ गृहस्थों के लिए है और द्वितीय सभी के लिए है।

अहिंसा

परिणाम में अहितकारी पीड़ा पहुँचाना हिंसा है। इसके विपरीत मन, वाणी और कर्म से दूसरे को पीड़ा न पहुँचाना अहिंसा है। यहाँ शास्त्रनिषिद्ध पीड़ा न पहुँचाना विवक्षित है इसलिए पुत्र और शिष्यादि को सन्मार्ग में लाने के लिए प्रताड़ित करना हिंसा की कोटि में नहीं आता।

अनभिध्या

दूसरे की वस्तु को अपनी समझना अभिध्या है-**अभिध्या परकीये स्वत्वबुद्धिः**।(श्रु.प्र.1.1.1)। व्यर्थ विचार को अभिध्या कहते हैं-**अभिध्या निष्फलचिन्ता**।(श्रु.प्र.1.1.1)। दूसरे के द्वारा किए द्रोह की निरन्तर स्मृति को अभिध्या कहते हैं-**अभिध्या परकृतद्रोहे निरन्तरस्मृतिः**।(त.टी.1.1.1) दूसरे का अनिष्ट चिन्तन करना अभिध्या है-**अभिध्या परप्रतिकूलचिन्ता**। (त.टी.1.1.1) इन सभी के न होने को अनभिध्या कहते हैं।

6.अनवसाद

देश और काल की प्रतिकूलता से, शोक के हेतु अतीत-पुत्रमरण आदि की स्मृति से, भय के हेतु भावी शत्रुवृद्धि आदि के विचार से तथा बन्धुओं की खिन्नता आदि से जो मन का विषादरूप दैन्य होता है, उसे अवसाद कहा जाता है, उससे विपरीत अनवसाद होता है-**देशकालवैगुण्यात् शोकवस्त्वाद्यनुस्मृतेश्च तज्जं दैन्यमभास्वरत्वं मनसः अवसादः**,

तद्विपर्ययः अनवसादः।(ब्र.न.वा.)। यह परमात्मा मनोबल से रहित उपासक के द्वारा प्राप्य नहीं है-**नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः**।(मु.उ.3.2.4)। मन का बल अनवसाद है, इसका अभाव अर्थात् अवसाद से युक्त होना ही मन के बल से रहित होना है।

7.अनुद्धर्ष

देश और काल की अनुकूलता से, प्रिय वस्तु की स्मृति से और बन्धुओं की प्रसन्नता आदि से जन्य सन्तोष को उद्धर्ष कहते हैं और इसके विपरीत भाव को अनुद्धर्ष-**तद्विपर्ययजा तुष्टिः उद्धर्षः, तद्विपर्ययः अनुद्धर्षः**।(ब्र. न.वा.)। उद्धर्ष(सन्तोष) के होने पर भक्तियोग में प्रमाद सम्भावित है अतः इसके विपरीत अनुद्धर्ष को भक्ति का साधन माना गया है। देश-काल अनुकूल हों या प्रतिकूल, उपासना में तत्परता होनी चाहिए। अनुकूलता से उसे करने में सुविधा हो सकती है किन्तु उससे सन्तुष्ट होकर उपासना को छोड़ना अच्छा नहीं। साधक के लिए भगवान् से अतिरिक्त कोई वस्तु प्रिय नहीं होनी चाहिए और न ही उसका स्मरण करना चाहिए। उपासक को बन्धुओं की प्रसन्नता से सन्तोष भी नहीं हाना चाहिए, क्योंकि इससे भी उपासना में शिथिलता आती है, उसका भगवान् से अतिरिक्त कोई नहीं है। उनकी प्रसन्नता ही उसका लक्ष्य है। दूसरे की प्रसन्नता या अप्रसन्नता से उसका कोई प्रयोजन नहीं। जैसे असन्तोष किसी कार्य का विरोधी होता है, वैसे ही अतिसंतोष भी विरोधी होता है। मनुष्य अतिसन्तोष के कारण प्रासंगिक कार्य को छोड़कर विषयान्तर में प्रवृत्त हो जाता है, अतः जीवननिर्वाह के उपयोगी अनिवार्य पदार्थों में सन्तोष करना उचित है किन्तु मोक्ष के साधन में सन्तोष करना उचित नहीं अन्यथा साधन शिथिल हो जाता है और लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होती। जो परमात्मा के यथार्थ ज्ञान से सम्पन्न है, जिसका मन शान्त है, जिसकी इन्द्रियाँ विषयों से निवृत्त हैं, जो निषिद्ध और काम्य कर्मों से उपरत है, जो क्षमाशील है और एकाग्रचित्त ही है, वह अपनी आत्मा में अन्तार्यामी परमात्मा को ध्यानयोग से देखता है-**एवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवाऽऽत्मानं पश्यति**।(बृ.उ.4.4.23)। बीच में सन्तोष कर लेने से परमात्मदर्शन नहीं हो सकता, इसलिए सन्तोष के विरोधी अनुद्धर्ष को भक्तियोग का साधन कहा गया है।

विवेक आदि सात साधनों के अन्तर्गत कुछ प्रवृत्तिरूप धर्म हैं और कुछ निवृत्तिरूप। केवल निवृत्तिरूप धर्म शमादि से अथवा केवल प्रवृत्तिरूप कर्म से भक्ति(ब्रह्मविद्या) की निष्पत्ति नहीं हो सकती। शमादि से युक्त होकर आश्रमविहितकर्म का अनुष्ठान करने से ही ब्रह्मविद्या की निष्पत्ति होती है। संन्यास आश्रम में अग्निहोत्रादि कर्म नहीं हैं, फिर भी सन्ध्योपासन, जप तथा वेदान्तवाक्यों का श्रवण, मनन आदि कुछ कर्म हैं ही। शम और कर्म में विरोध होने से दोनों एक अधिकारी के द्वारा अनुष्ठेय नहीं हो सकते, यह कहना उचित नहीं क्योंकि विहित से अतिरिक्त विषयों में ही शम किया जाता है। विषयभेद होने से दोनों में कोई विरोध नहीं है, कालभेद से दोनों का अनुष्ठान होता है। **विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥**(ई.उ.11) यहाँ अविद्या का अर्थ है-विद्या से भिन्न कर्म। **अविद्या कर्मसंज्ञा**।(वि.पु.6.7.61) इस प्रकार विष्णुपुराण में भी कर्म को अविद्या कहा गया है। उक्त ईशावास्य मन्त्र में ज्ञान के संकोच के हेतु कर्म को मृत्यु कहा गया है। इस मन्त्र का यह अर्थ है कि जो मुमुक्षु ब्रह्मविद्या(भक्ति) तथा उसके अंग कर्म को अंग-अंगी भाव से अनुष्ठेय जानता है, वह कर्म से ज्ञानोत्पत्ति के प्रतिबन्धक प्राचीन पुण्यपापरूप कर्मों का अतिक्रमण कर विद्या से मोक्ष को प्राप्त करता है। मोक्ष का साधन भक्ति ही है, कर्म नहीं। प्रतिबन्धक पुण्यपापरूप कर्मों के रहते भक्ति की निष्पत्ति नहीं हो सकती अतः इनकी निवृत्ति के लिए निष्कामभाव से कर्म का अनुष्ठान करना चाहिए। कर्म के अनुष्ठान से जैसे जैसे चित्त की शुद्धि होती है, वैसे वैसे भक्ति उत्कर्षता को प्राप्त होती है। कर्मानुष्ठान से ब्रह्मविद्या की उत्पत्ति के विरोधी प्राचीन पुण्यपापात्मक कर्मों का नाश होता है और ब्रह्मविद्या से ब्रह्मप्राप्ति के विरोधी समस्त कर्मों का नाश होता है, यही मोक्ष है।

शंका-क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।(मु.उ.2.2.9) इत्यादि शास्त्रवचन ज्ञान(ब्रह्मविद्या) से कर्मनाश को कहते हैं किन्तु यहाँ कर्म से कर्मनाश कहा गया, वह कैसे संभव है?

समाधान-शुभकर्म से पाप का नाश होता है-**धर्मेण पापमपनुदति**।(तै.ना.उ.144)। पाप के समान पुण्य भी भक्ति का प्रतिबन्धक है, इसलिए इसे भी पाप कहा जाता है। उक्त शास्त्रवचन शुभ कर्म से अशुभ कर्म के नाश

को कहता है। पापकर्म के रहते भगवत्प्राप्ति नहीं हो सकती। कठश्रुति कहती है कि 'दुष्कर्म करने वाला, अशान्त अर्थात् काम-क्रोध के वेग वाला, नाना प्रकार के कार्यों से विक्षेप होने के कारण व्यग्र चित्तवाला तथा अनियन्त्रित मन वाला मनुष्य भक्ति से परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सकता'-**नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः। नाशान्तमानसो वाऽपि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥** (क.उ.1.2.24)। **सत्त्वात् संजायते ज्ञानम्**।(गी.14.17) इस प्रकार भगवान् ने सत्त्व गुण को यथार्थज्ञान का हेतु कहा है और रज, तम को यथार्थज्ञान का आच्छादक कहा है। पाप ज्ञान की उत्पत्ति के हेतु सत्त्व के विरोधी रज और तम की वृद्धि करके ज्ञान का विरोधी बनता है। ज्ञान का विरोधी होने के कारण पापकर्मों की निवृत्ति करनी चाहिए। शास्त्रीय कर्मों से ज्ञानोत्पत्ति के विरोधी पुण्यपापरूप कर्म निवृत्त होते हैं।

शंका-तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन **तपसाऽनाशकेन**।(बृ.उ.4.4.22) यह श्रुति यज्ञादि कर्मों का विविदिषा(जिज्ञासा) में उपयोग कहती है, अतः जब तक ब्रह्मजिज्ञासा न हो तब तक कर्म करना चाहिए, जिज्ञासा होने पर कर्म छोड़ देना चाहिए।

समाधान-यह कथन उचित नहीं क्योंकि जैसे घोड़ा से जाने की इच्छा करता है-**अश्वेन जिगमिषति**। तलवार से मारने की इच्छा करता है-**असिना हन्तुम् इच्छति**। यहाँ पर अश्व का जाने की इच्छा में उपयोग नहीं होता, जाने में उपयोग होता है। तलवार का मारने की इच्छा में उपयोग नहीं होता, मारने में उपयोग होता है, उसी प्रकार कर्मों का जानने की इच्छा में उपयोग नहीं होता, जानने में उपयोग होता है। इस प्रकार कर्म विविदिषा के साधन सिद्ध नहीं होते, ज्ञान के ही साधन सिद्ध होते हैं। कर्म चित्तशुद्धि के द्वारा ज्ञान के साधन होते हैं। विविदिषा उत्पन्न होते ही कर्मों का त्याग करने पर भक्ति(उपासनात्मक ज्ञान) की निष्पत्ति न होने से अविद्या निवृत्त नहीं हो सकती।

अब प्रसंगानुसार उपासना(भक्ति) के विषय का कुछ विस्तार किया जाता है-

उपासना के भेद

1.प्रतीकोपासना-ब्रह्म से भिन्न मन आदि को ब्रह्म समझकर की जाने वाली उपासना(चिन्तन, अनुसन्धान) प्रतीकोपासना कहलाती है- अब्रह्मणि

ब्रह्मद्रष्ट्यानुसन्धानं प्रतीकोपासनम्। जैसे 'मन ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करनी चाहिए-**मनो ब्रह्मेत्युपासीत्।**(छां.उ.3.18.1) इत्यादि। ये प्रतीकोपासनाएँ अयथार्थ ज्ञानरूप हैं, इनका क्षुद्र सांसारिक फल कहा गया है। ये मोक्ष की साधन नहीं हैं।

2.अप्रतीकोपासना-प्रतीकोपासना से भिन्न उपासना अप्रतीकोपासना कहलाती है। ब्रह्म को ही ब्रह्म समझकर की जाने वाली उपासना अप्रतीकोपासना है। वह यथार्थज्ञानरूप है, मोक्ष का साधन है। भक्तियोगरूप इस उपासना का पूर्व में विस्तार से प्रतिपादन किया गया है। जैसे-प्रत्यगात्मा(जीवात्मा) अपने शरीर का आत्मा है, वैसे ही परमात्मा प्रत्यगात्मा का भी आत्मा है इसलिए अपनी स्वतन्त्रता की लेशतः भी प्रतीति न होने के लिए तथा ब्रह्म के अधीन अपना स्वरूप है, इस ज्ञान की दृढ़ता के लिए **अहं ब्रह्मास्मि** इस प्रकार उपासना करनी चाहिए।

अहंग्रहोपासना

अहं ब्रह्मास्मि इस प्रकार अहंबुद्धि अर्थात् आत्मबुद्धि से की जाने वाली परमात्मा की उपासना अहंग्रहोपासना कहलाती है। अहं शब्द और अहम् अर्थ परमात्मपर्यन्त होते हैं। अहं शब्द अपनी आत्मा परमात्मा का बोधक है, ऐसा समझकर अहंग्रहोपासना की जाती है। वह **अतस्मिन् तद्बुद्धिरूप** प्रतीकोपासना नहीं है। वह तो अप्रतीकोपासना है, यथार्थज्ञानरूप है। परब्रह्म सभी का आत्मा है, इसलिए उसकी आत्मत्वेन उपासना यथार्थज्ञान ही है। जो आत्मा में रहता है, आत्मा के अन्दर रहता है, आत्मा जिसे नहीं जानती, आत्मा जिसका शरीर है, जो अन्दर रहकर आत्मा का नियमन करता है, वह अमृतस्वरूप परमात्मा तुम्हारा आत्मा है-**य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद, यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति, स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः।**(बृ.उ.मा.पा.3.7.26) इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् का अन्तर्यामी ब्राह्मण प्रत्यगात्मा का भी आत्मा ब्रह्म को कहता है तथा प्रत्यगात्मा को उसका शरीर कहता है। जैसे शरीरवाचक देव, मनुष्यादि शब्द शरीर का बोध कराते हुए शरीर के अधिष्ठाता जीवात्मा का मुख्यवृत्ति से ही बोध कराते हैं, वैसे ही जीवात्मा का वाचक अहं शब्द जीवात्मा का बोध कराते हुए उसके भी अन्तरात्मा ब्रह्म का मुख्यवृत्ति से ही बोध कराता है। इस प्रकार **अहं ब्रह्मास्मि** का 'मेरा(मुझ प्रत्यगात्मा का) अन्तरात्मा ब्रह्म

है' यह अर्थ निष्पन्न होता है।

विशिष्टाद्वैत वेदान्तसिद्धान्त में जीव से भिन्न ब्रह्म माना जाता है, इसलिए भिन्नत्वेन ही ब्रह्म की उपासना करनी चाहिए, अहंग्रहोपासना नहीं करनी चाहिए, ऐसी शंका उचित नहीं क्योंकि 'मेरे स्वामी ब्रह्म हैं' इस उपासना का वेदान्तसिद्धान्त से विरोध न होने पर भी पृथक्त्वेन अपने स्वामी ब्रह्म की उपासना करने पर राजा और भृत्य के समान ब्रह्म और जीव में स्वामी-सेवकभाव सम्बन्ध तो सिद्ध होता है किन्तु इतने से शरीरात्मभाव और सर्वप्रकार से परतन्त्रता(ईश्वराधीनता) बुद्धि में दृढ़ता से आरूढ़ नहीं होती इसलिए उसे दृढ़ता से आरूढ़ करने के लिए अहंग्रहोपासना करनी चाहिए। यह विषय **धर्मोपपत्तेश्च**(ब्र.सू.1.3.8) इस सूत्र के भाष्य में प्रतिपादित है। जैसे शरीर और प्रत्यगात्मा की भिन्नता होने पर भी प्रत्यगात्मा अपने शरीर का आत्मा होने से 'मैं देवताशरीर वाला हूँ,' 'मैं मनुष्यशरीर वाला हूँ'- देवोऽहम्, मनुष्योऽहम् इस प्रकार अपनी आत्मा का अनुसन्धान करता है और इस शरीर का स्वामी मैं हूँ, इस प्रकार अनुसन्धान नहीं करता, वैसे ही प्रत्यगात्मा और परमात्मा की भिन्नता होने पर भी प्रत्यगात्मा का आत्मा परमात्मा होने से उसका भी 'अहम्' इस प्रकार ही अनुसन्धान करना उचित है, ऐसा ही शास्त्रवाक्य प्रतिपादन करते हैं। 'हे भगवन्! ब्रह्मरूप परदेवता! मैं आपसे अभिन्न हूँ।(मेरी अन्तरात्मा आप हैं), आप मेरे से अभिन्न हैं(आप मेरी अन्तरात्मा हैं)।'-**त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते, अहं वै त्वमसि**।(व.उ.2.34), ''उपास्य देवता अन्य है और मैं अन्य हूँ'' इस प्रकार जो उपासक पुरुष अपने से भिन्न उपास्य की उपासना करता है, वह उपासना के प्रकार को नहीं जानता-**अथ योऽन्यां देवतामुपास्ते, अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति, न स वेद**।(बृ.उ.1.4.10), परमात्मा की आत्मत्वेन ही उपासना करनी चाहिए-**आत्मेत्येवोपासीत**।(बृ.उ.1.4.7), जो उपासक सम्पूर्ण जगत् को ब्रह्म से भिन्न तथा अपने में स्थित जानता है, उसे सर्वशरीरक परब्रह्म अपने से दूर कर देता है अर्थात् अपने उपासकरूप से उसे स्वीकार नहीं करता-**सर्वं तं परादाद् योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद**।(बृ.उ.4.5.7) इत्यादि श्रुतियाँ परमात्मा की भिन्नत्वेनन उपासना का निषेध करती हैं। संसारचक्र में घूमने वाली अपनी आत्मा और उसके अन्दर प्रविष्ट होकर अन्तरात्मारूप से स्थित होकर घुमाने वाले परमात्मा का परस्पर

विलक्षण स्वभाव होने के कारण श्रवण-मनन के द्वारा भिन्नत्वेन निश्चय करके उपासना के द्वारा प्रसन्न हुए परमात्मा की प्रीति का पात्र बनकर जीवात्मा मोक्ष को प्राप्त करता है-**पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वम् एति।**(श्वे.उ.1.6) यह श्रुति अपने से भिन्नत्वेन परमात्मा के अनुसन्धान का प्रतिपादन करती है। **अहं ब्रह्मास्मि** इस प्रकार उपासना करने पर विरुद्ध जैसे प्रतीत होने वाले दोनों प्रकार के वचनों की संगति हो जाती है। 'अहम्' इस प्रकार अपनी आत्मारूप से परमात्मा की उपासना करने पर भिन्नत्वेन उपासना का निषेध करने वाले वचन संगत होते हैं। जैसे अपने शरीर से अपनी आत्मा का श्रेष्ठत्वेन अनुसन्धान होता है, वैसे अपनी आत्मा से परमात्मा का श्रेष्ठत्वेन अनुसन्धान करने से भिन्नत्वेन अनुसन्धान का विधान करने वाले वचन संगत होते हैं। इस प्रकार मोक्षप्रकरण में सर्वत्र उपासक की आत्मारूप से ही ब्रह्म उपास्य कहा जाता है। परमात्मा सभी चेतन आत्माओं का भी आत्मा है इसलिए उपासक **अहं ब्रह्मास्मि** इस प्रकार ही उपास्य परब्रह्म की उपासना करते हैं और **आत्मेत्येवोपासीत।**(बृ.उ.1.4.7) इत्यादि शास्त्र भी इसी अर्थ का बोध कराते हैं। **आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राह्यन्ति च**(ब्र.सू.4.1.3) ऐसा सूत्रकार व्यास जी कहते हैं। सूत्र में **आत्मेति तूपगच्छन्ति** वाक्य के द्वारा सम्प्रदाय कहा जाता है और **ग्राह्यन्ति** इस पद के द्वारा उसमें प्रमाण कहा जाता है। **अहं ब्रह्मास्मि** इस उपासना से प्रमाण और सम्प्रदाय दोनों का अनुसरण हो जाता है।

वेदान्त शास्त्र में स्वरूपतः, चिद्विशिष्टत्वेन तथा अचिद्विशिष्टत्वेन इस प्रकार ब्रह्म की त्रिविध उपासना का उल्लेख मिलता है। सत्यत्व, ज्ञानत्व आदि, ज्ञान, बल, ऐश्वर्य आदि गुणविशिष्टत्वेन तथा आदित्यमण्डलान्तर्वर्ती पुण्डरीकाक्षदिव्यमंगलविग्रहविशिष्टत्वेन परब्रह्म की उपासना स्वरूपतः उपासना है। **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।**(तै.उ.2.1.1), **आनन्दो ब्रह्म।**(तै.उ.3.6) इत्यादि वाक्यों में ब्रह्म की स्वरूपतः उपासना प्रतिपादित है। **माम्...उपास्स्व।**(कौ. उ.3.14), **मामेव विज्ञानीहि।**(कौ.उ.3.8) इत्यादि वाक्यों में चिद्विशिष्टत्वेन उपासना प्रतिपादित है। **प्राणोऽस्मि।**(कौ.उ.3.14) इत्यादि वाक्यों में अचिद्विशिष्टत्वेन परमात्मा की उपासना निरूपित है। तैत्तिरीय श्रुति में **तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्।**(तै.उ.2.6.2) यहाँ से आरम्भ करके **सत्यं**

चानृतं च सत्यमभवत्।(तै.उ.2.6.2) यहाँ तक चिद्विशिष्टत्वेन तथा अचिद्विशिष्टत्वेन परमात्मा की उपासना उल्लिखित है। उपासना के लिए श्रवण, मनन अपेक्षित होते हैं।

श्रवण

श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ आचार्य के मुख से वेदान्तवाक्यों के युक्तियुक्त अर्थ को समझना श्रवण कहलाता है-**श्रवणं नाम न्यायसहकृतस्य तत्त्वार्थस्य गुरुमुखात् ग्रहणम्।**

मनन

'सुना हुआ अर्थ युक्तियुक्त है या युक्तिरहित' इस प्रकार विचारपूर्वक किया जानेवाला निश्चयात्मक ज्ञान मनन कहलाता है-**श्रुतार्थविषयक-युक्तायुक्तविचारपूर्वकं निर्णयरूपज्ञानं मननम्।**

निदिध्यासन

विजातीय वृत्तियों के व्यवधान से रहित तैल की धारा के समान सजातीय वृत्तियों का सतत प्रवाह निदिध्यासन कहलाता है-**विजातीयप्रत्यया-न्तराव्यवहिततैलधारावदविच्छिन्नस्मृतिसन्ततिरूपं निदिध्यासनम्।** यह मनन से निश्चय किए गए अर्थ का निरन्तर ध्यानरूप होता है, इसे ही प्रीतिरूप होने पर भक्ति कहा जाता है, इस विषय का भक्तियोग के व्याख्यान में निरूपण किया जा चुका है। निदिध्यासन शब्द की वाच्य अनेक प्रकार की विद्याएँ उपनिषदों में वर्णित हैं। मुक्ति फल देने वाली विद्याओं को ब्रह्मविद्या कहा जाता है। सभी ब्रह्मविद्याएँ सगुणब्रह्मविषयक ही हैं।

श्रवणमात्र से साक्षात्कार नहीं होता

कुछ विद्वानों के मत में विशेष अधिकारी को मनन, निदिध्यासन के विना श्रवणमात्र से साक्षात्कार होता है, पर यह कथन उचित नहीं क्योंकि जैसे विशेष अधिकारी को मनन, निदिध्यासन के विना श्रवणमात्र से साक्षात्कारात्मक ज्ञान होना माना जाता है, वैसे ही अतिशय विशेष अ-धिकारी को श्रवण के विना ही ज्ञान मानना होगा, वामदेव को श्रवण के विना ही गर्भ में ज्ञान हो गया था। यदि यहाँ पूर्वजन्म के श्रवण की कल्पना करें तो जहाँ श्रवणमात्र से ज्ञान माना जाता है, वहाँ भी ज्ञान से पूर्व मनन, निदिध्यासन की कल्पना करनी ही पड़ेगी और उत्तम अधिकारी होने से

उनके मनन, निदिध्यासन की शीघ्र निष्पत्ति माननी पड़ेगी, ऐसा मानने पर ही साधन वाक्यों की एकरूपता तथा श्रुतिकथित श्रोतव्यः, मन्तव्यः, निदिध्यासितव्यः इन तीनों पदों की सार्थकता होगी।

भक्ति के अंग

योगसूत्र में **यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि** (यो.सू.2.29) इस प्रकार यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये आठ योग के अंग कहे गये हैं। इन्हीं को स्वामी रामानन्दाचार्य जी ने प्रस्तुत व्याख्येय श्लोक के **यमाद्यष्टसुबोधकाङ्ग** इस वाक्य से भक्ति के अंग कहा है, इनका संक्षिप्त विवरण निम्न है-

1.यम

अहिंसा, सत्य, अस्तेय(चोरी न करना), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह(संग्रह न करना) ये पाँच यम हैं-**अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः**।(यो. सू.2.30)।

2.नियम

शौच(पवित्रता), संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरशरणागति ये पाँच नियम हैं-**शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः**।(यो.सू.2.32)।

3.आसन

स्थिरता के साथ सुखपूर्वक बैठने का नाम आसन है-**स्थिरसुखमासनम्**। (यो.सू.2.46), जैसे सिद्धासन, पद्मासन आदि। **आसीनः सम्भवात्**।(ब्र.सू. 4.1.7), **ध्यानाच्च**।(ब्र.सू.4.1.8), **अचलत्वं चापेक्ष्य**।(ब्र.सू.4.1.9), **स्मरन्ति च**।(ब्र.सू.4.1.10), **यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात्**।(ब्र.सू.4.1.11) इन सूत्रों से महर्षि वेदव्यास ने भी उपासना के लिए आसन की आवश्यकता कही है।

4.प्राणायाम

आसन स्थिर होने के पश्चात् श्वास और प्रश्वास की गति को रोकना प्राणायाम कहलाता है-**तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः**। (यो.सू.2.49)।

5.प्रत्याहार

इन्द्रियों का विषय से सम्बन्ध न होने पर उनके द्वारा मन का अनुसरण

प्रत्याहार कहलाता है-**स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहार:**।(यो.सू.2.54)।

6.धारणा

मन को ध्येयरूप एक स्थान में लगाना धारणा है-**देशबन्धस्य चित्तस्य धारणा**।(यो.सू.3.1)।

7.ध्यान

चित्त को ध्येय में लगने पर विजातीय वृत्तियों के तिरस्कारपूर्वक जो सजातीय वृत्तियों का प्रवाह होता है, वह ध्यान है-**तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्**।(यो.सू.3.2)।

8.समाधि

ध्येयमात्र को प्रकाशित करने वाला अपने(ध्यानात्मक) रूप से रहित सा ध्यान ही समाधि कहलाता है-**तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधि:**।(यो.सू.3.3)।

ऊपर वर्णित यमादि आठ भक्तियोग के अंग हैं, ये अवश्य आचरणीय हैं। यदि किसी व्यक्तिविशेष के जीवन में योगाभ्यास के विना ही एकाग्रता देखने में आती हो तो ऐसा जानना चाहिए कि पूर्वजन्म में इसने अभ्यास किया था। जो लोग दीर्घकालपर्यन्त श्रद्धापूर्वक अभ्यास तो करते हैं किन्तु यम, नियम की उपेक्षा करते हैं, उन्हें भी सफलता नहीं मिलती अतः इनका भी आचरण अवश्य करना चाहिए।

भक्तियोग के उक्त अंगों में परमात्मविषयक प्रत्याहार आदि विवक्षित हैं। योगदर्शन में यमादि योग के अंग कहे गये हैं, वहाँ योग का अर्थ है-समाधि, यह अंगी समाधि है, आठ अंगों से साध्य है, इसके आठवें अंग का भी नाम समाधि है, यह साधन है। आठ अंगों से युक्त अंगी समाधि पर भक्ति है, इसी को श्रीमद्भागवत में **एतन्मतं समातिष्ठ परमेण समाधिना**।(भा.2.9.36) इस प्रकार परम समाधि कहा है। स्वामी रामानन्दाचार्य के अनुसार यही मोक्ष का साधन है। ध्यान, अंग समाधि और अंगी समाधि रूप परभक्ति ये तीनों उत्तरोत्तर स्पष्ट होती हैं। स्मरणात्मक ध्यान से साध्य अंग समाधि होती है तथा इससे भी साध्य अंगी समाधि। ध्येय परमात्मविषयक

यह समाधि अत्यन्त प्रीतिरूप होने से पर भक्ति कहलाती है। वह दर्शन के समान अत्यन्त विशद होती है तथा उसका विषय भी अत्यन्त विशद होता है, इसलिए इस ध्रुवास्मृतिरूप समाधि को दर्शन समानाकार कहते हैं। बार-बार आदरपूर्वक किये गये चिन्तन से प्रत्यक्ष के समान रूप वाली यह ध्रुवास्मृतिरूप समाधि मुमुक्षु को मोक्ष प्रदान करती है।

*पूर्व श्लोक में **अनेकभेदका भक्तिः**।(श्रीवै.भा.65) इस प्रकार प्रतिज्ञात भक्ति के भेदों का ग्रन्थकार अब निरूपण करते हैं-*

उदारकीर्तेः श्रवणं च कीर्तनं हरेर्मुदा संस्मरणं पदश्रितिः।
समर्चनं वन्दनदास्यसख्यान्यात्मार्पणं सा नवधेति गीयते॥67॥

अन्वय

उदारकीर्तेः हरेः मुदा श्रवणम्, कीर्तनम्, संस्मरणम्, पदश्रितिः, समर्चनम्, वन्दनदास्यसख्यानि च आत्मार्पणम् इति सा नवधा गीयते।

अर्थ

उदारकीर्तेः-निर्मल कीर्ति वाले **हरेः**-श्रीहरि (के स्वरूप, रूप, गुण, लीला और विभूतियों) का **मुदा**-प्रीतिपूर्वक **श्रवणम्**-श्रवण **कीर्तनम्**-कीर्तन **संस्मरणम्**-स्मरण **पदश्रितिः**-पादसेवन **समर्चनम्**-सम्यक् अर्चना, **वन्दनदास्यसख्यानि**-वन्दन, दास्य, सख्य **च**-और **आत्मार्पणम्**-आत्मसमर्पण इति-इस रीति से **सा**-भक्ति **नवधा**-नौ प्रकार की **गीयते**-कही जाती है।

भाष्य

श्लोक में आए मुदा शब्द का अर्थ प्रीतिपूर्वक है, इसका प्रत्येक के साथ अन्वय होता है। 1.निर्मल कीर्ति वाले भगवान् श्रीरामचन्द्र के स्वरूप, श्रीविग्रह, गुण, लीला और विभूति के प्रतिपादक कथा का प्रीतिपूर्वक श्रवण। 2.उनके स्वरूपादि का प्रीतिपूर्वक गान। 3.उनका प्रीतिपूर्वक स्मरण। 4.श्रीरामचन्द्र(के अर्चाविग्रह) की पादसेवा। 5.उनकी पञ्चोपचार, षोडशोपचार आदि रीति से अर्चना। 6.वन्दना। 7.दासभाव। 8.विश्वास। 9. आत्मसमर्पण, इस प्रकार भक्ति के नौ भेद होते हैं।

यह पूर्व में कहा गया है कि तैलधारावदविच्छिन्न दर्शनसमानाकार प्रीतिमयी भगवत्स्मृतियों का प्रवाह ही भक्ति है। श्रीमद्भागवत में कहा है

कि **श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥**(भा.7.5.23) यद्यपि श्रवण कीर्तन आदि नव प्रकार के कर्म हैं, वे भक्ति के उपकारक(अंग) होने से भक्ति कहे जाते हैं, भक्ति के साधन भक्ति नहीं हो सकते। इतना अवश्य है कि अन्य कर्मों की अपेक्षा ये अन्तरंग कर्म हैं अतः अन्य कर्मों की अपेक्षा ये अत्यन्त उपकारक हैं। ये प्रीतिमय स्मृतिप्रवाहरूप भक्ति के जनक हैं तथापि ग्रन्थकार स्वामी जी ने प्रस्तुत श्लोक में प्रीति अर्थ का बोधक मुदा शब्द का प्रयोग किया है, इसका प्रत्येक के साथ अन्वय होता है, अतः 'उदार कीर्ति वाले श्रीहरि का प्रीतिपूर्वक श्रवण, प्रीतिपूर्वक कीर्तन, प्रीतिपूर्वक संस्मरण, प्रीतिपूर्वक पादसेवा, प्रीतिपूर्वक समर्चन, प्रीतिपूर्वक वन्दन, प्रीतिपूर्वक दास्य, प्रीतिपूर्वक सख्य, प्रीतिपूर्वक आत्मसमर्पण इस प्रकार नवधा भक्ति कही जाती है।' प्रीतिमयी ध्रुवास्मृतिरूप भक्ति की निष्पत्ति के पहले किये गये श्रवणादि भक्ति के अंग होते हैं और उसकी निष्पत्ति के पश्चात् प्रीति से किये गये श्रवणादि भक्ति ही होते हैं। यहाँ योगकाल की ध्यानरूप भक्ति संस्मरण पद से कही गयी है और अन्य काल की भक्ति श्रवणादि पदों से, इस प्रकार मुदा पद के प्रयोग से इन सभी को भक्ति कहना संगत होता है। भक्ति ही मन में ध्यानरूप में, वाणी में संकीर्तन और स्तुति आदि के रूप में, शरीर में प्रणाम और अर्चनादि के रूप में अभिव्यक्त होती है। प्रीतिपूर्वक किये जाने से ये सभी भक्ति होते हैं अतः प्रीतिपूर्वक इन्हें करना चाहिए। यह भक्ति ही मोक्ष का उपाय है, इसका फल भगवत्प्राप्ति है, यही मोक्ष है।

मोक्ष के साक्षात् साधन भक्तियोग का निरूपण कर अन्तःकरण की शुद्धिद्वारा उस योग के निष्पादक एकादशी आदि व्रतों का अब निरूपण किया जाता है-

एकादशीत्यादिमहाव्रतानि वै[1] कुर्याद्विवेधानि हरिप्रियाण्यथ।
विद्धा दशम्या यदि साऽरुणोदये स द्वादशीं तूपवसेद् विहाय ताम्॥68॥

अन्वय

अथ सः विवेधानि वै हरिप्रियाणि एकादशीत्यादिमहाव्रतानि कुर्यात्। यदि

1.अत्र **'हि'** इति पाठान्तरम्।

अरुणोदये सा दशम्या विद्धा, तु तां विहाय द्वादशीम् उपवसेत्।

अर्थ

अथ-भक्ति के निरूपण के अनन्तर व्रतों का निरूपण किया जाता है। **सः**-वैष्णव **विवेधानि**-वेधरहित **वै**-ही **हरिप्रियाणि**-हरि के प्रिय **एकादशीत्यादिमहाव्रतानि**-एकादशी इत्यादि महाव्रतो को **कुर्यात्**-करे। **यदि**-यदि **अरुणोदये**-अरुणोदय काल में **सा**-एकादशी **दशम्या**-दशमी से **विद्धा**-युक्त हो, **तु**-तो **ताम्**-उसे **विहाय**-छोड़कर **द्वादशीम्**-द्वादशी में **उपवसेत्**-उपवास करे।

भाष्य

महाव्रत-जो व्रत व्रती के पापों का विनाश करते हैं और भगवान् में प्रीति को उत्पन्न करते हैं, वे महाव्रत कहलाते हैं। वैष्णवों के लिए विहित एकादशी आदि महाव्रत हैं, उन सभी को वेधरहित तिथि में ही करना चाहिए, वेध से युक्त तिथि में नहीं।

एकादशी

यदि अरुणोदय काल में दशमी से संयुक्त एकादशी तिथि हो तो उस दिन उपवास नहीं करना चाहिए अपितु उसे छोड़कर अगले दिन द्वादशी तिथि में उपवास करना चाहिए। अरुणोदय काल और सूर्योदय काल धर्मशास्त्र के पारिभाषिक शब्द हैं, इन्हें ग्रन्थकार के द्वारा आगे 70 वें श्लोक में समझाया जायेगा।

शुद्धा दशम्या सुयुतेति भेदतो ह्येकादशी सा द्विविधा च बुध्यताम्[1]।
वेधोऽपि बोध्यो द्विविधोऽरुणोदये सूर्योदये वा दशमीप्रवेशतः॥69॥

अन्वय

शुद्धा च दशम्या सुयुता इति भेदतः सा एकादशी द्विविधा हि बुध्यताम्। अरुणोदये वा सूर्योदये दशमीप्रवेशतः वेधः अपि द्विविधः बोध्यः।

अर्थ

शुद्धा-शुद्ध **च**-और **दशम्या**-दशमी से **सुयुता**-संयुक्त(विद्ध) **इति**-इन **भेदतः**-भेदों से **सा**-उस **एकादशी**-एकादशी को **द्विविधा**-दो प्रकार

1. च **बुध्यताम्** इत्यस्य स्थाने **प्रबुध्यताम्** इति पाठान्तरम्।

की **हि**-ही **बुध्यताम्**-जानना चाहिए। **अरुणोदये**-अरुणोदय काल में **वा**-और **सूर्योदये**-सूर्योदय काल में **दशमीप्रवेशतः**-दशमी का प्रवेश होने से **वेधः**-वेध को **अपि**-भी **द्विविधः**-दो प्रकार का **बोध्यः**-जानना चाहिए।

भाष्य

एकादशी दो प्रकार की होती है-शुद्धा एकादशी और विद्धा एकादशी। दशमी के संयोग से रहित एकादशी शुद्धा एकादशी कहलाती है और उससे युक्त एकादशी विद्धा एकादशी कहलाती है। एकादशी के समान वेध भी दो प्रकार का होता है-अरुणोदय काल में दशमी तिथि के प्रवेश से एक वेध होता है और सूर्योदय काल में दशमी तिथि के प्रवेश से दूसरा वेध होता है।

स पञ्चपञ्चप्रमितो ह्युषो बुधैः कालस्तु षट्पञ्चमितोऽरुणोदयः।
प्रातस्तु सप्तेषुमितो निगद्यते सूर्योदयः स्यात्तु ततः परं तथा॥70॥

अन्वय

बुधैः सः पञ्चपञ्चप्रमितो कालः हि उषः निगद्यते, तु षट्पञ्चमितः अरुणोदयः। सप्तेषुमितः तु प्रातः स्यात्, तथा तु ततः परं सूर्योदयः।

अर्थ

बुधैः-विद्वान् महापुरुषों के द्वारा **सः**-वह **पञ्चपञ्चप्रमितः**-55 घटी परिमाण से आगे वाला **कालः**-काल **हि**-ही **उषः**-उषाकाल **निगद्यते**-कहा जाता है, **तु**-किन्तु **षट्पञ्चमितः**-56 घटी के बाद वाला काल **अरुणोदयः**-अरुणोदय काल (कहा जाता है।) **सप्तेषुमितः**-57 घटी परिमाण के बाद वाला काल **तु**-तो **प्रातः**-प्रातःकाल **स्यात्**-होता है, **तथा**-उसी प्रकार **तु**-तो **ततः**-प्रातःकाल से **परम्**-परवर्ती काल **सूर्योदयः**-सूर्योदय काल होता है।

भाष्य

यहाँ पर कालपरिमाण को इस प्रकार समझना चाहिए-

1 रात-दिन= 24 घण्टा, 24 घण्टा= 60 घटी, 1 घण्टा= 2.5 घटी, 1 घटी = 24 मिनट।

60 विकला=1 कला, 60 कला = 1 घटी, 60 घटी= 24 घण्टा, 1

घण्टा= 60 मिनट, 1 मिनट= 60 सेकेण्ड।

एक दिन सूर्य के निकलने से दूसरे दिन सूर्य के निकलने का काल 60 घटी होता है।

उष:काल

प्रातःकाल सूर्य के निकलने से 55 घटी परिमाण के अनन्तर आने वाली 5 घटी को उष:काल कहते हैं।

अरुणोदयकाल

सूर्य के निकलने से 56 घटी के बाद वाला 4 घटी अरुणोदय काल होता है।

प्रातःकाल

सूर्य के निकलने से 57 घटी के बाद वाले 3 घटी को प्रातःकाल कहते हैं।

सूर्योदयकाल

प्रातःकाल से परवर्ती काल सूर्योदय काल होता है।

अब इसी विषय को प्रकारान्तर से कहा जाता है-

उष:काल

60 - 55 = 5 घटी = 2 घण्टा (सूर्य निकलने से पहले)

अरुणोदयकाल

60- 56 =4 घटी= 96 मिनट (सूर्य निकलने से पहले)

प्रात:काल

60- 57= 3 घटी= 72 मिनट (सूर्य निकलने से पहले)

सूर्योदयकाल

प्रात:काल से परवर्ती काल।

[1]प्रातश्चतस्रो घटयोऽरुणोदयो विनिश्चयः कालविमर्शिभिः कृतः।
तथाऽत्र वेधप्रभृतेर्विपश्चितः प्राहुर्विभागांश्चतुरो विवेकतः।।71।।

1.अत्र पूर्वार्द्धे घटीचतुष्कं ह्यरुणोदयाभिधः प्रातर्विमृष्टः समयो महर्षिभिः। इति पाठान्तरम्।

अन्वय

कालविमर्शिभिः प्रातः चतस्रः घटयः अरुणोदयः विनिश्चयः कृतः तथा अत्र विपश्चितः विवेकतः वेधप्रभृतेः चतुरः विभागान् प्राहुः।

अर्थ

कालविमर्शिभिः-काल तत्त्व का विमर्श करने वाले मनीषियों के द्वारा **प्रातः**-प्रातः **चतस्रः**-चार **घटयः**-घटी **अरुणोदयः**-अरुणोदय काल होता है, ऐसा **विनिश्चयः**-निश्चय **कृतः**-किया गया है, **तथा**-उसी प्रकार **अत्र**-इस प्रसंग में **विपश्चितः**-विद्वान् (अपने) **विवेकतः**-विवेक से **वेधप्रभृतेः**-वेध आदि के **चतुरः**-चार **विभागान्**-भेदों को **प्राहुः**-कहते हैं।

भाष्य

प्रस्तुत श्लोक में निर्दिष्ट प्रातः शब्द पूर्व श्लोक में निर्दिष्ट पारिभाषिक प्रातःकाल अथवा पारिभाषिक सूर्योदय काल का वाचक नहीं है अपितु सूर्य की प्रभा के फूटने(सूर्य के निकलने) के समय का बोधक है। पूर्व श्लोक में आचार्यचरण ने 56 घटी से परवर्ती काल को अरुणोदय काल कहा था और यहाँ **प्रातश्चतस्रो घटयोऽरुणोदयो विनिश्चयः कालविमर्शिभिः कृतः** इस प्रकार प्रभातकाल की चार घटी(96 मिनट) को अरुणोदय काल कहकर उसी अर्थ को स्पष्ट किया है।

वेध के विभाग

जैसे पूर्व श्लोक में 55 घटी से परवर्ती काल के चार विभाग कहे थे, वैसे ही यहाँ वेध के चार विभाग कहे जाते हैं-

> [1]**घटीत्रयं सार्द्धमथारुणोदये वेधोऽतिवेधो द्विघटिस्तु दर्शनात्।**
> **रविप्रभासस्य तथोदितेऽर्द्धके सूर्ये महावेध इतीर्यते बुधैः॥72॥**

अन्वय

बुधैः रविप्रभासस्य दर्शनात् सार्द्धं घटीत्रयम्, अरुणोदये वेधः इति ईर्यते। अथ द्विघटिः अतिवेधः तथा तु अर्द्धके सूर्ये उदिते महावेधः।

1.अत्र पूर्वार्द्धस्य स्थाने **घटीत्रयं सार्द्धमथारुणोदये वेधोऽतिवेधः कथितो घटीद्वयम्।** इति पाठान्तरम्।

अर्थ

बुधैः-विद्वानों के द्वारा **रविप्रभासस्य**-सूर्य की प्रभा के **दर्शनात्**-दर्शन से पूर्व **सार्द्धम्**-आधी घटी के सहित **घटीत्रयम्**-तीन घटी का जो काल है, उस **अरुणोदये**-अरुणोदय काल में दशमी का संयोग **वेधः**-वेध है, इति-ऐसा **ईर्यते**-कहा जाता है। **अथ**-इसके पश्चात् जो **द्विघटिः**-दो घटी जो समय है, उसमें दशमी का संयोग **अतिवेधः**-अतिवेध कहा जाता है, **तथा**-उसी प्रकार **तु**-तो **अर्द्धके**-आधा **सूर्ये**-सूर्य **उदिते**-उदय होने पर दशमी का संयोग **महावेधः**-महावेध कहलाता है।

भाष्य

वेध-सूर्य की प्रभा के दर्शन से पहले चार घटी=96 मिनट का समय अरुणोदय काल है, ऐसा पूर्व (70 वें श्लोक) में कहा गया था, उस अरुणोदय काल में उत्तरवर्ती (12 मिनट के पश्चात्) साढ़े तीन घटी(84 मिनट) का जो समय है, उसमें दशमी के संयोग को वेध कहा जाता है।

अतिवेध

सूर्यप्रभा के दर्शन से पहले तीन घटी=72 मिनट का समय प्रातःकाल है, ऐसा पूर्व में कहा गया था, उस काल में परवर्ती (1 घटी=24 मिनट के पश्चात्) दो घटी(48 मिनट) का जो समय है, उसमें जो दशमी का संयोग होता है, विद्वान् उसे अतिवेध कहते हैं।

महावेध

सूर्यप्रभादर्शन से लेकर अर्द्ध सूर्य उदय होने तक का जो काल है, उसमें दशमी के संयोग को महावेध कहा जाता है।

वेध के वेध(अरुणोदय वेध), अतिवेध और महावेध इन तीन विभागों का वर्णन करने के पश्चात् अब चतुर्थ विभाग का वर्णन किया जाता है-

योगस्तुरीयस्तु दिवाकरोदये तेऽर्वाक् सुदोषातिशयार्थबोधकाः।
सर्वेऽपि वेधा मुनिभिर्विनिश्चिता निर्णेतृभिस्तस्य तु तत्त्वदर्शिभिः॥73॥

अन्वय

तु दिवाकरोदये योगः तुरीयः, ते अर्वाक् सुदोषातिशयार्थबोधकाः, तु[1]

1.अत्र तुशब्दः पादपूर्तये।

तस्य निर्णेतृभिः तत्त्वदर्शिभिः मुनिभिः सर्वे वेधाः अपि विनिश्चिताः।

अर्थ

तु-किन्तु (अर्ध सूर्य के उदय के अनन्तर पूर्ण) **दिवाकरोदये**-सूर्य का उदय होने पर (जो दशमी का) **योगः**-संयोग होता है, वह **तुरीयः**-चतुर्थ वेध है। **ते**-वे **अर्वाक्**-उत्तरोत्तर वेध **सुदोषातिशयार्थबोधकाः**-अतिशय बढ़े हुए दोष के बोधक हैं, इस प्रकार **तस्य**-तिथि का **निर्णेतृभिः**-निर्णय करने वाले **तत्त्वदर्शिभिः**-कालतत्त्वदर्शी **मुनिभिः**-मुनियों ने **सर्वे**-सभी **वेधाः**-वेध **अपि**-भी **विनिश्चिताः**-सुनिश्चित किये हैं।

भाष्य

तुरीय वेध-पूर्ण सूर्य का उदय होने पर जो एकादशी में दशमी का संयोग है, वह तुरीय वेध है। पूर्व में वर्णित जो वेध, अतिवेध, महावेध और तुरीय नाम वाले चार वेध हैं, उनमें उत्तरोत्तर वेध अत्यन्त उत्कर्षता को प्राप्त दोष के द्योतक हैं अर्थात वेध से अधिक दोष वाला अतिवेध, उससे अधिक दोष वाला महावेध और सर्वाधिक दोषयुक्त तुरीय वेध है, ऐसा तिथि के निर्णायक कालतत्त्ववेत्ता मुनियों ने निश्चय किया है।

वेध के विभागवर्णन के अनन्तर अब एकादशी के विभागों का वर्णन किया जाता है-

> **पूर्णेति सूर्योदयकालतः सा या प्राङ् मुहूर्तद्वयसंयुता च।**
> **अन्या तु विद्धा परिकीर्तिता ज्ञैरेकादशी[1] सा त्रिविधापि शुद्धा॥74॥**

अन्वय

या एकादशी सूर्योदयकालतः प्राक् मुहूर्तद्वयसंयुता, सा पूर्णा इति ज्ञैः च तु अन्या विद्धा परिकीर्तिता। सा शुद्धा अपि त्रिविधा।

अर्थ

या-जो **एकादशी**-एकादशी **सूर्योदयकालतः**-सूर्य निकलने के समय से **प्राक्**-पूर्व **मुहूर्तद्वयसंयुता**-दो मुहूर्त व्यापिनी होती है। **सा**-वह **पूर्णा**-शुद्धा एकादशी है, **इति**-ऐसा **ज्ञैः**-विद्वानों के द्वारा कहा जाता है **च**-और **तु**-तो (जो इससे) **अन्या**-भिन्न एकादशी (होती है, वह) **विद्धा**-वेध से युक्त

---

1. अत्र बुधैरेकादशी इति पाठान्तरम्।

परिकीर्तिता-कही जाती है। **सा**-वह **शुद्धा**-शुद्ध एकादशी **अपि**-भी **त्रिविधा**-तीन प्रकार की होती है।

भाष्य

एकादशी के भेद-एकादशी के दो भेद हैं-शुद्धा और विद्धा।

1 मुहूर्त= 2 घटी= 48 मिनट।

2 मुहूर्त= 4 घटी= 96 मिनट।

शुद्धा एकादशी

70 वें श्लोक में सूर्य के निकलने से पहले 4 घटी=96 मिनट को अरुणोदय काल कहा था, उस सम्पूर्ण काल में रहने वाली एकादशी शुद्धा कहलाती है, वह दशमी के वेध से रहित होती है इसलिए उपवास के लिए ग्राह्य होती है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि दशमी तिथि के वेध से रहित होना ही एकादशी शुद्ध होना है, वह द्वादशी का वेध न होने पर शुद्ध है और वेध होने पर भी शुद्ध है।

विद्धा एकादशी

जो एकादशी सम्पूर्ण अरुणोदय काल में व्याप्त होकर नहीं रहती अर्थात् अरुणोदय में 96 मिनट से कम रहती है, वह विद्धा कही जाती है, अतः उपवासार्थ ग्राह्य नहीं है।

शंका-पहले 72 वें श्लोक में ग्रन्थकार ने **घटीत्रयं सार्द्धमथारुणोदये वेधः** इस प्रकार सूर्य निकलने से पहले अरुणोदय काल में साढ़े तीन घटी=84 मिनट में दशमी से संयुक्त एकादशी होने पर वेध कहा था किन्तु प्रस्तुत श्लोक में अरुणोदय काल में चार घटी=96 मिनट में दशमी से संयुक्त एकादशी होने पर वेध कहा जा रहा है। परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले इन वचनों की क्या संगति है?

समाधान-इसकी संगति निर्णयसिन्धु में उद्धृत हेमाद्रिवचन में इस प्रकार कही है कि 28 घटी=11 घण्टा 12 मिनट की रात्रि होने पर अरुणोदय काल में साढ़े तीन घटी का वेध माना जाता है और इससे अधिक रात्रि का परिमाण होने पर अरुणोदय काल में चार घटी का वेध माना जाता है-**सार्द्धघटिकात्रयोक्तिः अष्टाविंशतिमितरात्रिविषया। महत्तरास्तु रात्रीः**

अपेक्ष्य चतस्रो घटिका इत्युक्तम् इति।(हे.व.)।

शुद्धा और विद्धा एकादशी के निरूपण के अनन्तर अब ग्रन्थकार शुद्धा के तीन भेदों को कहते हैं-

एका तु द्वादशीमात्राधिका ज्ञेयोभयाधिका[1]।
द्वितीया च तृतीया तु तथैवानुभयाधिका[2]॥75॥

अन्वय

द्वादशीमात्राधिका एका ज्ञेया च तु उभयाधिका द्वितीया तु तथा एव अनुभयाधिका तृतीया।

अर्थ

द्वादशीमात्राधिका-केवल द्वादशी की अधिकता वाली एकादशी को **एका**-प्रथम **ज्ञेया**-जानना चाहिए **च**-और **तु**-तो **उभयाधिका**-दोनों तिथियों की अधिकता वाली एकादशी को **द्वितीया**-द्वितीय जानना चाहिए **तु**-किन्तु **तथा**-वैसे **एव**-ही **अनुभयाधिका**-दोनों की अधिकता के अभाव वाली एकादशी को **तृतीया**-तृतीय जानना चाहिए।

भाष्य

शुद्धा एकादशी के भेद

द्वादशीमात्राधिका-कोई तिथि 60 घटी से न्यून होती है, कोई 60 घटी की और कोई उससे अधिक। जब द्वादशी तिथि का परिमाण 60 घटी से अधिक हो और एकादशी का 60 घटी से न्यून, तब वह प्रथम शुद्ध एकादशी मानी जाती है।

उभयाधिका

जब द्वादशी तिथि का परिमाण 60 घटी से अधिक हो और एकादशी का भी 60 घटी से अधिक हो, तब उसे द्वितीय शुद्ध एकादशी जानना चाहिए।

अनुभयाधिका

जब एकादशी और द्वादशी दोनों तिथियों का परिमाण 60 घटी से कम

1.**ज्ञेयोभयाधिका** इत्यस्य स्थाने **ज्ञेयोभयात्मिका** इति पाठान्तरम्। 2.**तथैवानुभया-धिका** इत्यस्य स्थाने **तथैवानुभयात्मिका** इति पाठान्तरम्।

हो, तब तृतीय शुद्ध एकादशी जाननी चाहिए।

तत्राद्या तु परैवास्ति ग्राह्या विष्णुपरायणैः।
शुद्धाप्येकादशी हेया परतो द्वादशी यदि॥76॥

अन्वय

तत्र तु आद्या परा एव अस्ति, विष्णुपरायणैः ग्राह्या। यदि परतः द्वादशी, शुद्धा एकादशी अपि हेया।

अर्थ

तत्र-उन तीनों में **तु**-तो **आद्या**-प्रथम एकादशी **परा**-श्रेष्ठ **एव**-ही **अस्ति**-है, वह **विष्णुपरायणैः**-वैष्णवों के द्वारा **ग्राह्या**-ग्राह्य है। **यदि**-यदि **परतः**-आगामी दिवस (भी) **द्वादशी**-द्वादशी हो, तो **शुद्धा**-शुद्ध **एकादशी**-एकादशी **अपि**-भी **हेया**-त्याज्य है।

भाष्य

पूर्व श्लोक में त्रिविध शुद्ध एकादशी का वर्णन किया गया था। जब द्वादशी तिथि का परिमाण अधिक तथा एकादशी का कम हो, तब अरुणोदय काल में दशमी के वेध से रहित वह एकादशी उसी दिन कालान्तर में द्वादशी से संयुक्त होती है, वह श्रेष्ठ ही होती है और वैष्णवों के द्वारा उपवासार्थ ग्रहण करने योग्य होती है।

यदि प्रथम दिवस दशमी के वेध से रहित एकादशी हो और इसके पश्चात् दो दिवस द्वादशी हो, तो उपवास के लिए उस शुद्ध एकादशी का भी त्याग कर देना चाहिए।

शुद्ध एकादशी के पश्चात् दो दिन द्वादशी होने पर शुद्ध एकादशी भी वैष्णवों के द्वारा त्याज्य है, इस परिस्थिति में वैष्णव किस दिन उपवास करे? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहा जाता है-

उपोष्य द्वादशीं शुद्धां तस्यामेव च पारणम्।
उभयोरधिकत्वे तु परोपोष्या विचक्षणैः॥77॥

अन्वय

शुद्धां द्वादशीम् उपोष्य तस्याम् एव पारणं च तु उभयोः अधिकत्वे विचक्षणैः परा उपोष्या।

अर्थ

दो द्वादशी होने पर **शुद्धाम्**-शुद्ध **द्वादशीम्**-द्वादशी तिथि में **उपोष्य**-उपवास करके (अगले दिन) **तस्याम्**-द्वादशी में **एव**-ही **पारणम्**-पारण करना चाहिए **च**-और **तु**-तो (कदाचित्) **उभयोः**-एकादशी और द्वादशी दोनों तिथियों की **अधिकत्वे**-अधिकता होने पर **विचक्षणैः**-विद्वानों के द्वारा **परा**-दूसरी एकादशी **उपोष्या**-उपवास करने योग्य होती है।

भाष्य

जब अरुणोदय काल में दशमी के वेध से रहित एकादशी हो और इसके अनन्तर दो दिन द्वादशी तिथि हो, तब जो प्रथम द्वादशी होती है, वह शुद्ध द्वादशी होती है। बुद्धिमान् वैष्णव एकादशी का उपवास इस द्वादशी तिथि में करे और आगामी दिवस द्वादशी में ही पारण करे।

75 वें श्लोक में कहा था कि एकादशी और द्वादशी ये दोनों तिथियाँ 60 घटी से अधिक होने पर द्वितीय शुद्ध एकादशी होती है, तब एकादशी का उपवास कब करना चाहिए, ऐसी आकांक्षा होने पर कहते हैं-**उभयोरधिकत्वे तु परोपोष्या विचक्षणैः**। जब प्रथम दिन दशमी के वेध से रहित एकादशी तिथि हो और अगले दिन भी एकादशी तिथि हो तथा द्वादशी तिथि का मान 60 घटी से अधिक होने पर वह भी दो दिन हो, तब बुद्धिमान् वैष्णवों को द्वितीय दिन एकादशी में उपवास करना चाहिए।

75 वें श्लोक में कहा गया कि एकादशी और द्वादशी ये दोनों तिथियाँ 60 घटी से अल्प होने पर तृतीय शुद्ध एकादशी होती है, तब एकादशी का उपवास कब करना चाहिए? उक्त स्थिति में एकादशी तिथि भी एक दिन ही होगी, तब दशमी के वेध से रहित एकादशी को उपवास करना चाहिए और वैसी एकादशी संभव न होने पर अगले दिन उपवास करना चाहिए।

एकादशी का वर्णन करके अब पुण्यदायक द्वादशी का वर्णन किया जाता है-

उन्मीलिनी वञ्जुलिनी सुपुण्याः सा त्रिस्पृशाऽथो[1] खलु पक्षवर्धनी।
जया तथाष्टौ विजया जयन्ती द्वादश्य एता इति पापनाशनी॥78॥

1.अत्र **सा त्रिस्पृशाऽथो** इति स्थाने **सत्रिस्पृशाऽथो** इति पाठान्तरम्।

अन्वय

उन्मीलिनी, वञ्जुलिनी, त्रिस्पृशा, पक्षवर्धनी, जया, विजया अथो जयन्ती तथा पापनाशनी इति सा एताः अष्टौ द्वादश्यः सुपुण्याः खलु।

अर्थ

उन्मीलिनी-उन्मीलिनी **वञ्जुलिनी**-वञ्जुलिनी **त्रिस्पृशा**-त्रिस्पृशा **पक्षवर्धनी**-पक्षवर्धनी **जया**-जया, **विजया**-विजया **अथो**-और **जयन्ती**-जयन्ती **तथा**-तथा **पापनाशनी**-पापनाशनी **इति**-इस प्रकार **सा**-पूर्व में वर्णित एकादशी से सम्बन्ध रखने वाली **एताः**-ये **अष्टौ**-आठ **द्वादश्यः**-द्वादशी तिथियाँ **सुपुण्याः**-महान् पुण्य की जनिका **खलु**-ही हैं।

भाष्य

पुण्यदायक द्वादशी

1.उन्मीलिनी-शुद्ध एकादशी से और अधिक एकादशी से युक्त द्वादशी का नाम उन्मीलिनी है। दो दिन एकादशी होने पर परवर्ती एकादशी को अधिक एकादशी कहा जाता है।

2.वञ्जुलिनी

जब द्वादशी तिथि अधिक(दो दिन) हो तब पूर्व दिन की द्वादशी का नाम वञ्जुलिनी है।

3.त्रिस्पर्शा

जब सूर्योदय में एकादशी हो, इसके बाद क्षययुक्त द्वादशी हो और दूसरे सूर्योदय में त्रयोदशी हो, इस प्रकार एक दिन में तीन तिथियों का स्पर्श होने से द्वादशी को त्रिस्पृशा जानना चाहिए।

4.पक्षवर्धनी

जिस पक्ष में अमावस्या या पूर्णिमा की वृद्धि हो उस पक्ष की द्वादशी को पक्षवर्धनी कहते हैं।

5.जया

पुष्य नक्षत्र से युक्त द्वादशी को जया कहते हैं।

6.विजया

श्रवण नक्षत्र से युक्त द्वादशी विजया कही जाती है।

7.जयन्ती

पुनर्वसु नक्षत्र से युवत द्वादशी जयन्ती कही जाती है।

8.पापनाशनी

रोहिणी नक्षत्र से युक्त द्वादशी का नाम है-पापनाशनी।

उपवास में उपयोगी उक्त आठ महाद्वादशी धर्मसिन्धु आदि धर्मशास्त्र के निबन्ध ग्रन्थों में संग्रहीत हैं, इनका विवरण पद्मपुराणादि से जानना चाहिए।

उपवास और पारण में उपयोगी एकादशी और द्वादशी तिथि का निरूपण कर अब पारण में अनुपयोगी द्वादशी कही जाती है-

आषाढभाद्रोर्जसितेषु सङ्गता मैत्रश्रवोऽन्त्यादिगतद्व्युपान्त्यकैः।
चेद् द्वादशी तत्र न पारणं बुधः पादैः प्रकुर्याद् व्रतवृन्दहारिणी॥79॥

अन्वय

चेत् आषाढभाद्रोर्जसितेषु द्वादशी मैत्रश्रवोऽन्त्यादिगतद्व्युपान्त्यकैः पादैः सङ्गता। तत्र बुधः पारणं न प्रकुर्यात्, व्रतवृन्दहारिणी।

अर्थ

चेत्-यदि **आषाढभाद्रोर्जसितेषु**-आषाढ़, भाद्रपद और कार्तिक मास के शुक्ल पक्ष में **द्वादशी**-द्वादशी तिथि (क्रमशः) **मैत्रश्रवोऽन्त्यादिगतद्व्युपान्त्यकैः**-अनुराधा, श्रवण और रेवती नक्षत्र के क्रमशः प्रथम, द्वितीय और तृतीय **पादैः**-चरण से **सङ्गता**-युक्त हो, तो **तत्र**-उस द्वादशी में बुधः-बुद्धिमान् व्यक्ति **पारणम्**-पारण न-न **प्रकुर्यात्**-करे (क्योंकि वह) **व्रतवृन्दहारिणी**-व्रतसमूह के पुण्यों का नाश करने वाली है।

भाष्य

पारण में निषिद्ध द्वादशी-यदि अनुराधा नक्षत्र के प्रथम चरण से युक्त, आषाढ मास के शुक्ल पक्ष की द्वादशी तिथि हो और इसी प्रकार श्रवण नक्षत्र के द्वितीय चरण से युक्त भाद्रपद मास के शुक्ल पक्ष की द्वादशी

तिथि हो तथा रेवती नक्षत्र के तृतीय चरण से युक्त कार्तिक मास के शुक्ल पक्ष की द्वादशी तिथि हो, तो बुद्धिमान वैष्णव को उसमें पारण नहीं करना चाहिए क्योंकि ऐसी द्वादशी तिथियाँ अनेक व्रतों के पुण्य को नष्ट करने वाली हैं।

एकादशी उपवास सम्बन्धी विशेष विवरण

24 घण्टा = 8 पहर। रात्रि के मध्यवर्ती दो पहरों को महारात्रि समझना चाहिए, उसमें स्नान नहीं करना चाहिए-**महानिशा तु विज्ञेया रात्रौ मध्ययामयोः तस्यां स्नानं न कुर्वीत्**।(वीरमित्रोदय में उद्धृत विश्वामित्र का वचन)। रात्रि के तीन पहर के बाद चौथे पहर में उठकर स्नान किया जाता है, इससे पूर्व स्नान का निषेध है। स्नान के अभाव में व्रत का संकल्प नहीं हो सकता। व्रत की अवधि 24 घंटे होती है।

स्वामी रामानन्दाचार्य जी 56 घटी के पश्चात् अरुणोदय काल में वेध मानते हैं किन्तु कुछ विद्वान् 45 घटी के पश्चात् वेध मानते हैं, वह उचित नहीं क्योंकि 45 घटी के पश्चात् वेध मानने वालों को 24 घंटे का व्रत करने के लिए उनका अभिमत शुद्ध एकादशी में रात्रि के मध्य में ही व्रत का संकल्प करने के लिए स्नान करना पड़ेगा और संकल्प के अनन्तर व्रत का आरम्भ हो जायेगा। मध्य रात्रि में किया जाने वाला वह स्नान शास्त्रनिषिद्ध होने से त्याज्य होगा, तब स्नान का अभाव होने से व्रत भी नहीं हो सकता इसलिए 45 घटी के बाद अर्थात् सूर्योदय से 15 घटी पहले वेध मानने वाला पक्ष शास्त्रसम्मत नहीं है। अरुणोदय वेध स्वीकार करने वाले ग्रन्थकार स्वामी जी के मत में अरुणोदय काल में दशमी का वेध न होने पर शुद्धा एकादशी मानी जाती है, उसमें स्नान करके व्रत का संकल्पादि किया जाता है। इस मत में 24 घंटे के व्रत का निर्विवादरूप से निर्वाह हो जाता है अतः 45 घटी के बाद वेध मानने के वचन का तात्पर्य कैमुतिक न्याय से अरुणोदयवेध होने पर एकादशी व्रत की निन्दा के लिए है। निर्णयसिन्धुकार के अनुसार यह वचन अरुणोदय वेध की स्तुति के लिए है अर्थात् अरुणोदय वेध को ही मानना उचित है, 45 घटी के बाद वेध मानना उचित नहीं अतः 45 घटी के बाद वेध मानने के प्रमाण को प्रक्षेप कहना होगा अथवा बहुत प्रमाणों से विरोध होने के कारण भी त्याज्य होगा।

उपवास और पारण के लिय उपयोगी एकादशी और द्वादशी तिथि का वर्णन करके अब आराध्य प्रभु की अवतरणतिथि का वर्णन किया जाता है-

मासे मधौ या नवमी सुयुक्ता शुक्लाऽदितीशेन[1] शुभेन भेन।
कर्के महापुण्यतमा सुलग्ने जातोऽत्र रामः स्वयमेव विष्णुः॥80॥

अन्वय

मधौ मासे शुभेन अदितीशेन भेन सुयुक्ता या महापुण्यतमा शुक्ला नवमी। अत्र कर्के सुलग्ने विष्णुः रामः स्वयम् एव जातः।

अर्थ

मधौ-चैत्र **मासे**-मास में **शुभेन**-शुभ **अदितीशेन**-पुनर्वसु **भेन**-नक्षत्र से **सुयुक्ता**-युक्त **या**-जो **महापुण्यतमा**-महान् पुण्य की जनक **शुक्ला**-शुक्ला **नवमी**-नवमी तिथि थी, **अत्र**-इस **कर्के**-कर्क नामक **सुलग्ने**-उत्तम लग्न में **विष्णुः**-विष्णुरूप **रामः**-भगवान् राम **स्वयम्**-स्वयं **एव**-ही (दशरथनन्दनरूप में) **जातः**-प्रकट हुए।

भाष्य

श्रीरामनवमी-चैत्र मास में, शुक्ल पक्ष की महापुण्यजनिका नवमी में, शुभ पुनर्वसु नक्षत्र में मध्याह्न काल में, कर्क नामक शुभ लग्न में, अयोध्या में स्वयं त्रिपादविभूतिनायक व्यापक भगवान् राम ने दशरथनन्दनरूप में अवतार लिया। वेदों में कहा है कि अजन्मा परमात्मा ही दशरथनन्दन, यदुनन्दन आदि विविधरूपों में अवतार लेता है-**अजायमानो हि बहुधा विजायते।**(य.सं.31.19)। वेदवेद्य, परब्रह्म, पुरुषोत्तम श्रीराम धराधाम पर अयोध्या में दशरथनन्दन के रूप में अवतरित हुए-**वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे।** इस प्रकार वेदवेद्य परब्रह्म श्रीराम का अयोध्या में श्रीदशरथनन्दनरूप से अवतार लेना प्रसिद्ध है।

तामष्टमीवेधयुतां विहाय व्रतोत्सवं तत्र वैष्णवश्चरेत्[2]।
असङ्ख्यसूर्यग्रहतोऽधिका वै या केवला सा नवम्युपोष्या॥81॥

1.अदितिः ईशः स्वामी यस्य पुनर्वसुनक्षत्रस्य सः अदितीशः तेन। 2.वैष्णवश्चरेत् इत्यस्य स्थाने करोतु भक्तः इति पाठान्तरम्।

अन्वय

अष्टमीवेधयुतां तां विहाय तत्र वैष्णवः व्रतोत्सवं चरेत्। या केवला नवमी, वै असङ्ख्यसूर्यग्रहतः अधिका, सा अपि उपोष्या।

अर्थ

अष्टमीवेधयुताम्-अष्टमी के वेध से युक्त **ताम्**-नवमी को **विहाय**-छोड़कर **तत्र**-नवमी में **वैष्णवः**-वैष्णव **व्रतोत्सवम्**-व्रत और उत्सव का **चरेत्**-आचरण करे। **या**-जो **केवला**-केवल **नवमी**-नवमी है, (वह) **वै**-निश्चितरूप से **असङ्ख्यसूर्यग्रहतः**-असंख्य सूर्यग्रहणों से **अधिका**-अधिक फल प्रदान करने वाली है, (इसलिए) **सा**-वह **अपि**-भी **उपोष्या**-उपवास के योग्य होती है।

भाष्य

वैष्णव को अष्टमी के वेध से युक्त नवमी को छोड़ देना चाहिए तथा वेधरहित शुद्ध नवमी तिथि में व्रत और उत्सव करना चाहिए। जो नवमी पुनर्वसु नक्षत्र इत्यादि से रहित हो, वह भी असंख्य सूर्यग्रहण से अधिक महत्त्व वाली है अतः उस नवमी में भी उपवास करना चाहिए। आचार्य के इस कथन से स्पष्ट है कि श्रीरामनवमी आदि में तिथि की प्रधानता है, नक्षत्रादि की नहीं।

अत्र प्रकुर्वीत मुदा व्रतोत्सवं रामार्चनं जागरणं महाफलम्।
अनेकजन्मार्जितपापनाशनं रामस्य कीर्तेः[1] श्रवणं च कीर्तनम्॥82॥

अन्वय

अत्र मुदा महाफलं रामार्चनम्, व्रतोत्सवम्, जागरणं प्रकुर्वीत। अनेकजन्मार्जित-पापनाशनं रामस्य कीर्तेः श्रवणं च कीर्तनम्।

अर्थ

अत्र-श्रीरामनवमी में **मुदा**-प्रसन्नता से **महाफलम्**-महान् फलदायक **रामार्चनम्**-श्रीरामाराधन **व्रतोत्सवम्**-व्रत और उत्सव तथा **जागरणम्**-रात्रि में जागरण **प्रकुर्वीत**-करना चाहिए। **अनेकजन्मार्जितपापनाशनम्**-अनेक

1. **रामस्य कीर्तेः** इत्यस्य स्थाने **श्रीरामकीर्तेः** इति पाठान्तरम्।

जन्मों में संचित पापराशि का नाश करने वाली **रामस्य**-श्रीरामचन्द्र की **कीर्तेः**-कथा का **श्रवणम्**-श्रवण **च**-और **कीर्तनम्**-नामसंकीर्तन करना चाहिए।

भाष्य

परम पावन श्रीरामनवमी के दिन प्रसन्न चित्त होकर महान् फलदायक, भगवान् श्रीरामचन्द्र की विधिवत् षोडशोपचार पूजा, रात्रिजागरण तथा व्रत और उत्सव करना चाहिए। श्रीरामचन्द्र की कलिमलनाशनी पुनीत कथा का श्रवण और भगवन्नामसंकीर्तन अनेक जन्मों में अर्जित पापराशि का नाश करने वाले हैं, इसलिए भगवत्प्रेमपिपासु को इन्हें भी करना चाहिए।

श्रीरामनवमी पूर्व तिथि के वेध से रहित और मध्यान्हव्यापिनी होनी चाहिए। दो दिनों में मध्याह्नव्यापिनी तिथि होने पर आगामी दिन में व्रत करना चाहिए। इसी प्रकार आगे वर्णित सीतानवमी के विषय में जानना चाहिए।

श्रीरामनवमी का निर्णय कर अब श्रीराम की प्राणवल्लभा भगवती श्रीसीता की आविर्भावतिथि कही जाती है-

पुष्यान्वितायां तु कुजे नवम्यां श्रीमाधवे मासि सिते हलेन।
कृष्टा क्षितिः श्रीजनकेन तस्याः सीताऽऽविरासीद् व्रतमत्र कुर्यात्॥83॥

अन्वय

तु श्रीमाधवे मासि सिते कुजे पुष्यान्वितायां नवम्यां श्रीजनकेन हलेन क्षितिः कृष्टा। तस्याः सीता आविः आसीत्, अत्र व्रतं कुर्यात्।

अर्थ

तु-किन्तु **श्रीमाधवे**-वैसाख **मासि**-मास **सिते**-शुक्ल पक्ष में **कुजे**-मंगलवार (और) **पुष्यान्वितायाम्**-पुष्य नक्षत्र से युक्त **नवम्याम्**-नवमी तिथि में **श्रीजनकेन**-महाराज जनक के द्वारा **हलेन**-हल से **क्षितिः**-भूमि **कृष्टा**-जोती गयी, **तस्याः**-उससे **सीता**-भगवती सीता जी **आविः**-प्रकट **आसीत्**-हुई। **अत्र**-इस तिथि में **व्रतम्**-व्रत **कुर्यात्**-करना चाहिए।

भाष्य

श्रीसीतानवमी-वैशाख मास के शुक्ल पक्ष में मंगलवार और पुष्य नक्षत्र से

युक्त नवमी तिथि में मिथिलानरेश विदेहराज श्रीजनक के द्वारा हल से भूमि जोतने पर उस भूमि से जगज्जननी भगवती श्रीसीता का आविर्भाव हुआ। इस नवमी तिथि में व्रत, पूजा, उत्सव, रात्रिजागरण, कथाश्रवण तथा भगवनामसंकीर्तन करना चाहिए।

महासुन्दरी तन्त्र में कहा है कि वैशाख शुक्ल नवमी में पृथ्वी की पुत्री हल के अग्रभाग से उत्पन्न हुई, उनका महान् ब्रह्मवेत्ता जनक ने पालन किया। सीता नाम से प्रसिद्ध वे महासौभाग्यशालिनी भगवान् श्रीराम की पत्नी हुई। उस दिन धन की कृपणता से रहित सभी रामभक्त श्रद्धा-भक्ति से युक्त होकर गीत, वाद्य और नृत्य के द्वारा महोत्सव सम्पन्न करते हैं। श्रीरामभक्तिनिष्ठ महात्मा पुराण का तथा लक्ष्मीसूक्त का पाठ करते हुए सनातन राम को प्राप्त करते हैं। वे श्रीरामचन्द्र के अनुग्रह से सौभाग्य, धन-धान्य और विपुल सन्तानों को प्राप्त करते हैं और सभी पापों से मुक्त हो जाते हैं-**वैशाखे शुक्लनवम्यामुत्पन्ना सावनीसुता। सीतामुखात्सा संजाता पालिता जनकेन च॥ रामपत्नी महाभागा सीतानामेति विश्रुता। तस्मिन् दिने रामभक्ताः श्रद्धाभक्तिसमन्विताः। महोत्सवपराः सर्वे वित्तशाठ्य-विवर्जिताः। गीतवादित्रनृत्याद्यैः रामभक्तिपरायणाः॥ वैशाखसितनवम्यां पुराणपठनं तथा। लक्ष्मीसूक्तं पठंस्तत्र याति रामं सनातनम्॥ सौभाग्यं धनधान्यं च पुत्रसंततिविस्तृतम्। रामप्रसादाल्लभते मुच्यते सर्वपातकात्॥** (म.त.)।

भगवती श्रीसीता की अवतारतिथि का वर्णन कर अब उनके लाड़ले हनुमान् जी की अवतारतिथि का वर्णन किया जाता है-

स्वात्यां कुजे शैवतिथौ तु कार्तिके कृष्णेऽञ्जनागर्भत एव मेषके।
श्रीमान् कपीट् प्रादुरभूत् परन्तपो व्रतादिना तत्र तदुत्सवं चरेत्॥84॥

अन्वय

तु कार्तिके कृष्णे शैवतिथौ स्वात्यां कुजे मेषके अञ्जनागर्भतः एव परन्तपः श्रीमान् कपीट् प्रादुः अभूत्, तत्र व्रतादिना तदुत्सवं चरेत्।

अर्थ

तु-किन्तु **कार्तिके**-कार्तिक मास **कृष्णे**-कृष्ण पक्ष **शैवतिथौ**-चतुर्दशी तिथि **स्वात्याम्**-स्वाति नक्षत्र **कुजे**-मंगलवार **मेषके**-मेष लग्न में

अञ्जनागर्भतः-माता अञ्जना के गर्भ से **एव**-ही **परन्तपः**-दुष्टों को सन्ताप देने **श्रीमान्**-श्रीमान् **कपीट्**-हनुमान् जी **प्रादुः**-प्रकट **अभूत्**-हुए, **तत्र**-उस तिथि में **व्रतादिना**-व्रतादि के द्वारा **तदुत्सवम्**-श्रीहनुमान् जी का उत्सव **चरेत्**-मनाना चाहिए।

भाष्य

श्रीहनुमज्जयन्ती-कार्तिक मास के कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी तिथि, मंगलवार, स्वाति नक्षत्र तथा मेष लग्न में माता अञ्जना के गर्भ से दुष्टों को सन्ताप देने वाले श्रीमान् हनुमान् जी आविर्भूत हुए। उस दिन श्रीहनुमान् जी का व्रत और पूजन करते हुए उत्सव मनाना चाहिए।

श्रीहनुमान् जी नित्य मुक्त आत्मा हैं, वे साकेत धाम में सदा अपने आराध्य भगवान् श्रीसीताराम जी की सेवा में संलग्न रहते हैं, वहाँ सेवारत रहते हुए भी जहाँ जहाँ श्रीरामकथा होती है, वहाँ भी उपस्थित रहते हैं और भगवान् के अवतारकाल में उनकी सेवा के लिए स्वयं अवतार लेते हैं।

हनुमान् जी को पुराणादि में शिव का अवतार कहा गया है। वायु पुराण में कहा है कि आश्विन(चान्द्र मास के अनुसार कार्तिक) मास के कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी तिथि में, स्वाती नक्षत्र और मेष लग्न में माता अञ्जना के गर्भ से स्वयं भगवान् शंकर ही प्रकट हुए-**आश्विनस्यासिते पक्षे स्वात्यां भौमे च मारुतिः। मेषलग्नेऽञ्जनागर्भात् स्वयं जातो हरः शिवः॥**(वा.पु.)। अगस्त्यसंहिता में भी हनुमान् जी के अवतार की तिथि आदि का स्पष्ट वर्णन करते हुए कहा गया है कि कार्तिक कृष्ण चतुर्दशी, भौमवार, स्वाति नक्षत्र, मेष लग्न में माता अञ्जना के गर्भ से कपीश्वर के रूप में स्वयं शिव ने अवतार ग्रहण किया-**ऊर्जे कृष्णचतुर्दश्यां भौमे स्वात्यां कपीश्वरः। मेषे लग्ने अञ्जनागर्भात् स्वयं शिवः॥**(अग.सं.33.11)। इस प्रकार श्रीरघुनाथ जी की सेवा के लिए भगवान् शंकर का भी हनुमान् रूप से अवतार वर्णित है। श्रीहनुमान् का हनुमान्रूप से अवतार और शिव जी का हनुमान्रूप से अवतार इन दोनों की संगति कल्पभेद से जाननी चाहिए। कार्तिक मास में श्रीहनुमान् जी का अवतार लेना प्रसिद्ध है, किन्तु कुछ स्थानों पर चैत्र मास में भी उनका अवतार लेना वर्णित है, उक्त दोनों वचनों की संगति आनन्दरामायण में इस प्रकार कही गयी है कि कल्प भेद से चैत्र पूर्णिमा

में श्रीहनुमान् जी अवतरित हुए, ऐसा भी कुछ विद्वान् कहते हैं- **महाचैत्रीपूर्णिमायां समुत्पन्नोऽञ्जनीसुतः। वदन्ति कल्पभेदेन बुधा इत्यपि केचन॥**(आ.रा.सा.का.13.162)।

श्रीहनुमान् जी के अवतार का वर्णन करके अब भगवान् के नृसिंहावतार का वर्णन किया जाता है-

वैशाखमासीयचतुर्दशी सिता निशामुखे याऽनिलभेन संयुता।
सोमेऽवतारो नृहरेरभूदथो व्रतोत्सवं तत्र मुदा समाचरेत्॥85॥

अन्वय

अथो[1] अनिलभेन संयुता या सिता वैशाखमासीयचतुर्दशी, सोमे निशामुखे नृहरेः अवतारः अभूत्, तत्र मुदा व्रतोत्सवं समाचरेत्।

अर्थ

अनिलभेन-स्वाती नक्षत्र से **संयुता**-संयुक्त **या**-जो **सिता**-शुक्ल पक्षीया **वैशाखमासीयचतुर्दशी**-वैशाखमास की चतुर्दशी तिथि थी, उसमें **सोमे**-सोमवार **निशामुखे**-सायंकाल में **नृहरेः**-श्रीनृसिंह भगवान् का **अवतारः**-अवतार **अभूत्**-हुआ, **तत्र**-उस पुण्य तिथि में **मुदा**-आनन्दोल्लास से **व्रतोत्सवम्**-व्रत और उत्सव **समाचरेत्**-करना चाहिए।

भाष्य

श्रीनृसिंहजयन्ती-वैशाख मास के शुक्ल पक्ष की चतुर्दशी तिथि, स्वाती नक्षत्र से युक्त थी, उसमें सोमवार को सायंकाल भक्तराज प्रह्लाद की रक्षा के लिए और उसके निमित्त सभी भक्तों को विश्वास दिलाने के लिए श्रीनृसिंह भगवान् का अवतार हुआ, उस पुण्य दिवस में प्रसन्नतापूर्वक व्रत और उत्सव मनाना चाहिए।

स्मरेण विद्धा तु चतुर्दशी यदा भवेद्धनापत्यविनाशिनी तदा।
तत्रोपवासो न जनैर्विधीयतां महात्मभिर्विष्णुपरायणैरपि॥86॥

अन्वय

तु यदा चतुर्दशी स्मरेण विद्धा भवेत्, तदा धनापत्यविनाशिनी, तत्र अपि

---

1. अत्र अथो शब्दः वाक्यान्तरोपक्रमे।

विष्णुपरायणैः महात्मभिः जनैः उपवासः न विधीयताम्।

अर्थ

तु-किन्तु **यदा**-जब **चतुर्दशी**-चतुर्दशी तिथि **स्मरेण**-त्रयोदशी से विद्धा-विद्धा **भवेत्**-हो, **तदा**-तब (वह) **धनापत्यविनाशिनी**-धन और सन्तान का नाश करने वाली होती है अतः **तत्र**-उसमें **अपि**-भी **विष्णुपरायणैः**-वैष्णव **महात्मभिः**-भक्त **जनैः**-जन **उपवासः**-उपवास **न**-न **विधीयताम्**-करें।

भाष्य

जब त्रयोदशी तिथि से विद्धा चतुर्दशी हो, तब उपवास करने पर धन और पुत्र का नाश होता है अतः उसमें भी वैष्णव भक्तजन उपवास न करें, ऐसी स्थिति में अग्रिम दिवस में उपवास आदि करना चाहिए।

श्रीनृसिंहजयन्ती के वर्णन के अनन्तर अब जन्माष्टमी का वर्णन किया जाता है-

भाद्रेऽसिते निशीथेऽथ रोहिण्यामष्टमीतिथौ।
सिंहमर्के गते सौम्ये कृष्णो जातो विधूदये॥87॥

अन्वय

सिंहम् अर्के गते भाद्रे असिते अष्टमीतिथौ निशीथे अथ रोहिण्यां विधूदये सौम्ये कृष्णः जातः।

अर्थ

सिंहम्-सिंह राशि में **अर्के**-सूर्य **गते**-जाने पर **भाद्रे**-भाद्रपद मास असिते-कृष्णपक्ष **अष्टमीतिथौ**-अष्टमी तिथि **निशीथे**-मध्यरात्रि **अथ**-और **रोहिण्याम्**-रोहिणी नक्षत्र में **विधूदये**-चन्द्रमा का उदय होने पर **सौम्ये**-प्रशान्त वातावरण में **कृष्णः**-भगवान् श्रीकृष्ण **जातः**-अवतरित हुए।

भाष्य

श्रीकृष्णजन्माष्टमी-सिंह राशि का सूर्य होने पर भाद्रपद मास, कृष्ण पक्ष, अष्टमी तिथि, रोहिणी नक्षत्र और अर्धरात्रि के समय चन्द्रोदय होने पर शान्त वातावरण में भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र मथुरा में श्रीवसुदेव की धर्मपत्नी देवकी जी के गर्भ से आविर्भूत हुए।

[1]जन्माष्टमी सात्र मुदा व्रतोत्सवं कृष्णार्चनं जागरणं महाफलम्।
अनेकजन्मार्जितपापनाशनं कृष्णस्य कीर्तेः श्रवणं च कीर्तनम्।।88।

अन्वय

सा जन्माष्टमी, अत्र मुदा महाफलं कृष्णार्चनं व्रतोत्सवं जागरणम्। कृष्णस्य कीर्तेः श्रवणं च कीर्तनम् अनेकजन्मार्जितपापनाशनम्।

अर्थ

पूर्व श्लोक में जो वर्णित है, **सा**-वह **जन्माष्टमी**-श्रीकृष्णजन्माष्टमी है, **अत्र**-इसमें **मुदा**-आनन्दपूर्वक **महाफलम्**-महान् फलदायक **कृष्णार्चनम्**-श्रीकृष्ण की अर्चना **व्रतोत्सवम्**-व्रत और उत्सव (तथा) **जागरणम्**-रात्रिजागरण करना चाहिए। इस दिन **कृष्णस्य**-भगवान् श्रीकृष्ण की **कीर्तेः**-कथा का **श्रवणम्**-श्रवण **च**-और **कीर्तनम्**-हरिनामसंकीर्तन **अनेकजन्मार्जित-पापनाशनम्**-अनेक जन्म में संचित पापराशि का नाश करने वाला है।

भाष्य

प्रस्तुत अष्टमी तिथि में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों फलों को प्रदान करने वाली पूजा, व्रत और उत्सव को विधिपूर्वक सम्पन्न करना चाहिए। इस दिन हरिकथा का श्रवण और भगवन्नामसंकीर्तन से अनेक जन्मों में अर्जित पापपुञ्ज का विनाश होता है।

त्याज्याष्टमी चेदथ वाजिविद्धा तथाग्निविद्धं विधिभं च हेयम्।
चेदष्टमी नो विधिभेन युक्ता महात्मभिर्विष्णुपरायणैस्तैः।।89।।

अन्वय

चेत् अष्टमी वाजिविद्धा त्याज्या च तथा अग्निविद्धं विधिभं हेयम् अथ चेत् अष्टमी विधिभेन युक्ता, तैः विष्णुपरायणैः महात्मभिः नो।

अर्थ

चेत्-यदि **अष्टमी**-अष्टमी तिथि **वाजिविद्धा**-सप्तमी से युक्त हो, तो वह **त्याज्या**-त्याज्य है **च**-और **तथा**-उसी प्रकार **अग्निविद्धम्**-कृतिका नक्षत्र से युक्त **विधिभम्**-रोहिणी नक्षत्र **हेयम्**-त्याज्य है **अथ**-और **चेत्**-यदि

1.अस्य श्लोकस्य स्थाने **कृष्णजन्माष्टमी सोक्ता तस्यां कृष्णव्रतोत्सवम्। कुर्वीत विधियुक्तं चतुर्वर्गफलप्रदम्।।** इति पाठान्तरम्।

अष्टमी-अष्टमी तिथि **विधिभेन**-रोहिणी नक्षत्र से **युक्ता**-युक्त हो, तो वह **तैः**-व्रतोपवासपरायण **विष्णुपरायणैः**-वैष्णव **महात्मभिः**-महात्माओं के द्वारा त्याज्य **नो**-नहीं है।

भाष्य

यदि सप्तमी तिथि से युक्त अष्टमी हो, तो वह उपवास के लिए त्याज्य है और यदि कृतिका नक्षत्र से युक्त रोहिणी हो, तो वह भी त्याज्य है। यदि सप्तमी के वेध से रहित अष्टमी में कृतिका के वेध से रहित रोहिणी नक्षत्र हो, तो वह प्रशस्त है अतः वैष्णवों के द्वारा त्याज्य नहीं है।

वैष्णवमतानुसार जन्माष्टमी निर्णय में सूर्योदयकालीन वेध ग्रहण किया जाता है। स्मार्त मत में जन्माष्टमी वेध मध्य रात्रि में माना जाता है।

विद्धा जयन्ती यदि सप्तमीयुता शुद्धा तथा सा नवमीयुता यदि।
या रोहिणी वह्नियुता तु विद्धिका ज्ञेया च[1] शुद्धा यदि सा परान्विता॥90॥

अन्वय

यदि जयन्ती सप्तमीयुता, विद्धा ज्ञेया तथा यदि सा नवमीयुता, शुद्धा, तु या रोहिणी वह्नियुता विद्धिका च यदि सा परान्विता शुद्धा।

अर्थ

यदि-यदि **जयन्ती**-अष्टमी तिथि **सप्तमीयुता**-सप्तमी से संयुक्त हो, तो उसे **विद्धा**-विद्धा **ज्ञेया**-जानना चाहिए **तथा**-उसी प्रकार **यदि**-यदि **सा**-अष्टमी तिथि **नवमीयुता**-नवमी से संयुक्त हो, तो उसे **शुद्धा**-शुद्धा जानना चाहिए **तु**-किन्तु **या**-जो **रोहिणी**-रोहिणी नक्षत्र **वह्नियुता**-कृत्तिका से संयुक्त हो, उसे **विद्धिका**-विद्धा जानना चाहिए **च**-और **यदि**-यदि **सा**-रोहिणी **परान्विता**-मृगशिरा नक्षत्र से युक्त हो, तो उसे **शुद्धा**-शुद्ध जानना चाहिए।

भाष्य

अष्टमी तिथि सप्तमी से युक्त होने पर विद्धा कहलाती है और वह

---

1. **या रोहिणी वह्नियुता तु विद्धिका ज्ञेया च** इत्यस्य स्थाने **विद्धाऽथवेद्याऽग्नियुता हि रोहिणी ज्ञेया तु** इति पाठान्तरम्।

नवमी से युक्त होने पर शुद्धा कहलाती है। रोहिणी नक्षत्र कृतिका से युक्त होने पर विद्ध कहलाता है और रोहिणी मृगशिरा नक्षत्र से युक्त होने पर शुद्ध कहलाता है। ब्रह्मवैवर्त पुराण में कहा है कि सप्तमी से संयुक्त अष्टमी सर्वथा त्याज्य है-**वर्जनीया प्रयत्नेन सप्तमी सहिताऽष्टमी।**(ब्र.वै.पु. 4.8.55)।

श्रीकृष्णजयन्ती

यदि अष्टमी तिथि में थोड़ा भी रोहिणी नक्षत्र पड़ता है तो वह तिथि जयन्ती नाम से जानी जाती है, उसमें उपवास अवश्य करना चाहिए- **कृष्णाष्टम्यां भवेद्यत्र कलैका रोहिणी यदि। जयन्ती नाम सा प्रोक्ता उपोष्या सा प्रयत्नतः॥**(अ.पु.)।

अष्टमी तिथि का क्षय होने पर शुद्ध नवमी में ही उपवास करना चाहिए। दो दिन सूर्योदय में अष्टमी तिथि हो और पूर्व दिवस में सप्तमी के वेध से रहित अष्टमी हो तो पहली अष्टमी ही ग्रहण करनी चाहिए। यदि अष्टमी के दिन रोहिणी नक्षत्र बिल्कुल न हो और नवमी को भी रोहिणी न हो तो अष्टमी को उपवास करना चाहिए। यदि नवमी तिथि में रोहिणी है तथा अष्टमी सप्तमी से विद्धा हो तो नवमी को ही उपवास करना चाहिए।

भाद्रेऽथ शुक्लेऽभिजिति प्रभुर्हरिर्या द्वादशी वैष्णवभेन संयुता।
तत्रादितावाविरभूच्च वामनो व्रतोत्सवं तत्र मुदा समाचरेत्॥91॥

अन्वय

च अथ भाद्रे शुक्ले वैष्णवभेन संयुता या द्वादशी तत्र अभिजिति हरिः प्रभुः वामनः अदितौ आविः अभूत् तत्र मुदा व्रतोत्सवं समाचरेत्।

अर्थ

च-और **अथ**-भाद्रपद कृष्णपक्ष के पश्चात् **भाद्रे**-भाद्रपद मास **शुक्ले**-शुक्लपक्ष में **वैष्णवभेन**-श्रवण नक्षत्र से **संयुता**-संयुक्त **या**-जो **द्वादशी**-द्वादशी तिथि थी, **तत्र**-उसमें **अभिजिति**-अभिजित मुहूर्त में **हरिः**-भक्तों का संताप हरण करने वाले **प्रभुः**-सर्वसमर्थ **वामनः**-भगवान् वामन **अदितौ**-माता अदिति के यहाँ **आविः**-प्रादुर्भूत **अभूत्**-हुए, **तत्र**-उस दिन **मुदा**-प्रसन्नता से **व्रतोत्सवम्**-व्रत और उत्सव **समाचरेत्**-मनाना चाहिए।

भाष्य

श्रीवामनद्वादशी-भाद्रपद मास, शुक्लपक्ष, श्रवण नक्षत्र से युक्त द्वादशी तिथि, अभिजित मुहूर्त में प्रभु श्रीहरि ने माता अदिति और पिता कश्यप के यहाँ वामन के रूप में अवतार लिया, इसलिए इस दिन प्रसन्नतापूर्वक व्रत और उत्सव मनाना चाहिए।

स्पृशत्येकादशीं किं वा श्रवणं द्वादशी यदि[1]।
[2]विष्णुशृङ्खलयोगोऽसौ तत्रोपोष्य महत्फलम्॥92॥

अन्वय

यदि द्वादशी एकादशीं स्पृशति किं वा श्रवणम् असौ विष्णुशृङ्खलयोगः, तत्र उपोष्य महत् फलम्।

अर्थ

यदि-यदि **द्वादशी**-द्वादशी तिथि **एकादशीम्**-एकादशी को **स्पृशति**-स्पर्श करती हो **किं वा**-और **श्रवणम्**-श्रवण नक्षत्र को भी स्पर्श करती हो, तो **असौ**-यह **विष्णुशृङ्खलयोगः**-विष्णुश्रृंखलयोग कहलाता है, **तत्र**-उसमें (उपवासकर्ता) **उपोष्य**-उपवास करके **महत्**-महान् **फलम्**-फल को प्राप्त करता है।

भाष्य

यदि द्वादशी तिथि एकादशी से संयुक्त हो तथा श्रवण नक्षत्र से भी संयुक्त हो तो भाद्रपद शुक्ल पक्ष में होने वाला यह योग 'विष्णुशृंखलयोग' कहलाता है, इसकी बहुत महिमा है, इसमें उपवास करने से महान् फल प्राप्त होता है।

तथा यथाकालमतन्द्रितैस्तै रथाधिरोपादिकमुत्सवादिकम्।
सदा विधेयं हरितोषणं परं शुभप्रदं तद् बहुशास्त्रसम्मतम्॥93॥

अन्वय

तथा तैः अतन्द्रितैः यथाकालं बहुशास्त्रसम्मतं शुभप्रदं रथाधिरोपादिकम् उत्सवादिकं सदा विधेयम्, तत् परं हरितोषणम्।

1. **किं वा श्रवणं द्वादशीं यदि** इत्यस्य स्थाने **द्वादशी श्रवणेन चेत्** इति पाठान्तरम्।
2. उत्तरार्धस्य स्थाने **विष्णुशृङ्खलयोगोऽयं भाद्रे शुक्ले प्रकीर्तितः** इति पाठान्तरम्।

अर्थ

जिस प्रकार भगवान् की प्रसन्नता के जनक एकादशी आदि व्रत किए जाते हैं, **तथा**-उसी प्रकार **तैः**-वैष्णवों के द्वारा **अतन्द्रितैः**-आलस्यरहित होकर **यथाकालम्**-यथासमय **बहुशास्त्रसम्मतम्**-अनेकशास्त्रसम्मत **शुभप्रदम्**-कल्याणकारक **रथाधिरोपादिकम्**-रथयात्रादिरूप **उत्सवादिकम्**-उत्सवादि को **सदा**-सदा **विधेयम्**-मनाना चाहिए क्योंकि **तत्**-वह **परम्**-श्रेष्ठ आचरण **हरितोषणम्**-भगवान् को सन्तुष्ट करता है।

भाष्य

जिस प्रकार एकादशी, श्रीरामनवमी, श्रीसीतानवमी, श्रीहनुमज्जयन्ती, श्रीनृसिंहचतुर्दशी, जन्माष्टमी और आदि व्रत भगवत्प्रीति के समुत्पादक होने के कारण किए जाते हैं, उसी प्रकार यथासमय वैष्णवों के द्वारा आलस्य-प्रमाद रहित होकर अनेक शास्त्रों से समर्थित, कल्याणकारक रथयात्रा, झूला, जलविहार और वसन्तादि उत्सव करने चाहिए तथा रामलीला, रासलीला व भक्तलीला का आयोजन करना चाहिए क्योंकि वे कर्म श्रीहरि को सन्तुष्ट करने वाले होते हैं।

भगवद्भक्ति के जनक एकादशी से लेकर रथयात्रादिपर्यन्त व्रत और उत्सवों का वर्णन करके अब कृपासागर भगवान् की अहेतुकी कृपा का वर्णन किया जाता है-

कर्मप्रवाहेण तु चेतनस्य संमग्नस्य संसारमहार्णवे चिरम्।
उपर्यहो संसरतोऽवशस्य सा कृपोद्भवत्येव[1] हरेरहेतुका॥94॥

अन्वय

कर्मप्रवाहेण संसारमहार्णवे चिरं संमग्नस्य संसरतः अवशस्य चेतनस्य उपरि तु हरेः सा अहेतुका कृपा उद्भवति एव अहो।

अर्थ

कर्मप्रवाहेण-कर्म के अनादि प्रवाह से **संसारमहार्णवे**-संसाररूप महासागर में **चिरम्**-चिरकाल से **संमग्नस्य**-निमग्न होकर **संसरतः**-संसरण करने वाले **अवशस्य**-परवश **चेतनस्य**-जीव के **उपरि**-ऊपर (कभी) **तु**-तो

1.**सा कृपोद्भवत्येव** इत्यस्य स्थाने **सत्कृपोद्भवत्येव** इति पाठान्तरम्।

हरेः-हरि की **सा**[1]-वह **अहेतुका**-अहेतुकी **कृपा**-कृपा **उद्भवति**-होती **एव**-ही है, **अहो**-यह बड़े आनन्द का विषय है।

भाष्य

अनादि बन्धन-जीव का बन्धन अनादि है। कुछ विद्वानों का कहना है कि जीव पहले भगवान् के पास ही था, बाद में उनसे अलग होकर बन्धन में हो गया और अन्य विद्वानों का कहना है कि यह पहले मुक्त ही था, बाद में अविद्या उपाधि के आने से बन्धन हो गया। ये दोनों कथन अनुचित हैं क्योंकि ऐसा होने पर मुक्तिप्राप्ति का प्रयास व्यर्थ होगा। वह जैसे पूर्वकाल में मुक्त था, भगवान् के पास था फिर बन्धन में आ गया तो पुनः मुक्त होने पर, भगवद्धाम पहुँचने पर फिर उसका बन्धन हो जायेगा। इससे शास्त्रों में प्रतिपादित मोक्ष की नित्यता भी सिद्ध नहीं होगी, इसलिए शास्त्रों में जीव के बन्धन को अनादि माना गया है और मुक्तावस्था को नित्य माना गया है। जीव अनादि काल से बन्धन में है और मुक्त होने पर पुनः संसार में नहीं आयेगा।

जीवात्मा का संसरण अनादि है क्योंकि वह अनादि काल से परमात्मा की आराधना न करके बहुविध सांसारिक फलों की प्राप्ति के लिए विविध प्रकार के पुण्य-पाप कर्म करता रहा है, उसके फल का भोग कराने के लिए भगवान् ने आत्मा का अचेतन प्रकृति के साथ संबन्ध कराया। देह, इन्द्रिय, मन और प्राण के रूप में परिणत अचेतन प्रकृतिरूप निमित्त के साथ आत्मा का सम्बन्ध होने से आत्मा में अविद्या आदि दोष हो गये। अज्ञान, विपरीत ज्ञान और अन्यथा ज्ञान इन तीनों को अविद्या कहा जाता है। अज्ञान का अर्थ है-ज्ञानाभाव अर्थात् अचेतन के साथ सम्बन्ध होने से आत्मज्ञान और परमात्मज्ञान नहीं होते अपितु विपरीत ज्ञान और अन्यथा ज्ञान होते हैं। देहात्मबुद्धि विपरीत ज्ञान है, ब्रह्मात्मक(ब्रह्म का शरीरभूत) अपने आत्मस्वरूप और जगत् को स्वतन्त्र समझना अन्यथा ज्ञान है और जो वस्तु अपनी नहीं है, उसमें अपनत्व बुद्धि भी अन्यथा ज्ञान है। अविद्या के कारण ही जीवात्मा मोक्षसाधन का अनुष्ठान न कर अपने शरीर और सम्बन्धियों की सुविधा के लिए विविध कर्मों को करता रहता है। इन कर्मों

1.अत्र सर्वनामशब्दः बुद्धिस्थपरामर्शकः। पूर्वं व्रतजन्या कृपा(प्रसन्नता) उक्ता, सम्प्रति अहेतुक्यपि सा भवतीत्युच्यते।

से वासना उत्पन्न होती है और वासना से विषयों में रुचि तथा पूर्व कर्म के सजातीय कर्म को करने में भी रुचि होती है, उस रुचि के कारण आगामी जन्म अर्थात् अचेतन देह के साथ सम्बन्ध हो जाता है। उससे पुनः अविद्या, कर्म, वासना और रुचि होती है, फिर अचेतन के साथ सम्बन्ध होकर पुनः पुनः अविद्या आदि होते रहते हैं। इस प्रकार अचेतन प्रकृति के साथ संबन्ध, अविद्या, कर्म, वासना और रुचि इनका प्रवाह चलता रहता है। यह अनादि है। जिस प्रकार गङ्गा आदि नदियों में एक प्रवाह के बाद दूसरा प्रवाह चलता रहता है, प्रवाह का विच्छेद नहीं होता, उसी प्रकार यहाँ भी अचित् के साथ सम्बन्ध, अविद्या, कर्म, वासना और रुचियों का प्रवाह अविच्छिन्न रूप से अनादि काल से चला आ रहा है, इस प्रकार भवसागर में निमग्न परवश संसारी जीव एक योनि से दूसरी योनि में संसरण करता रहता है। बन्धन के कारण कर्म का और उसके विविध भेदों का सप्तम श्लोक की व्याख्या में आत्मस्वरूप के निरूपण के प्रसंग में विस्तार से वर्णन किया जा चुका है।

भगवान् की अहेतुकी कृपा

जीव अनादिकाल से अनेक प्रकार के पुण्य-पाप कर्मों को करता आया है, वे कर्म शुभाशुभ फलों को देकर नष्ट हो जाते हैं। कर्ता के द्वारा कर्म किये जाते हैं अतः वे अनादि नहीं हो सकते। कर्म अनादि न होने पर भी उनका प्रवाह अनादि है। एक कर्म, इसके पश्चात्, दूसरा कर्म, फिर तीसरा कर्म और चौथा कर्म इत्यादि प्रकार पुण्यपापात्मक कर्मों का प्रवाह अनादिकाल से प्रवर्तमान है। यही बन्धन का कारण है, इसके कारण जीवात्मा घोर संसाररूप महासागर में अनादिकाल से पड़कर, जो उसका सदा अधोपतन करने वाले हैं, उन्हीं विषयों के वश में हो गया है, ऐसी दुर्दशा को प्राप्त संसारी जीव के ऊपर भी कभी कृपासागर राम की अहेतुकी कृपा होती ही है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी राम जी को **कारन बिनु रघुनाथ कृपाला।**(रा.च.मा.3.312.1) इस प्रकार अहेतुक कृपा करने वाला कहा है।

जीव अनादि काल से अनन्त पापराशियों को संचित करते आया है। इससे उसकी विनाशी और अन्ततः दुखदायी क्षुद्र विषयों में ही प्रीति होती है, इस कारण वह पुनः पुनः पाप करता रहता है। ऐसे जीव पर भगवत्कृपा

का कोई कारण परिलक्षित नहीं होता। यदि भगवान् अहेतुकी कृपा न करें तो पतित जीव का कैसे उद्धार हो सकता है? वे अनन्त पापराशि और उससे जन्य भयंकर दुःखों के भावी परिणाम को देखकर द्रवित हो जाते हैं और अहेतुकी कृपा की वृष्टि करने लगते हैं, तब जीव उनकी ओर उन्मुख होकर जब उन्हें अपना आश्रय स्वीकार कर लेता है, तब उसके उद्धार का मार्ग प्रशस्त हो जाता है।

मोक्षे मुमुक्षोर्नहि तारतम्यं फले प्रपन्नस्य तु सत्प्रपत्तेः।
अस्त्येव तद्विष्णुकृपोपलभ्ये[1] पतिं श्रियोऽनन्तगुणार्णवं तम्॥95॥

अन्वय

अनन्तगुणार्णवं श्रियः पतिं तं सत्प्रपत्तेः प्रपन्नस्य मुमुक्षोः तद्विष्णु-कृपोपलभ्ये मोक्षे फले तु तारतम्यम् अस्ति एव नहि।

अर्थ

अनन्तगुणार्णवम्-अनन्त कल्याण गुणों के सागर **श्रियः**-सीता जी के **पतिम्**-पति **तम्**-श्रीरामचन्द्र की **सत्प्रपत्तेः**[2]-शरणागति को स्वीकार करने वाले **प्रपन्नस्य**-शरणागत **मुमुक्षोः**-मुमुक्षु के **तद्विष्णुकृपोपलभ्ये**-व्यापक भगवान् श्रीराम की ही कृपा से प्राप्य **मोक्षे**-मोक्ष **फले**-फल में तु-तो **तारतम्यम्**-तारतम्य **अस्ति**-है **एव**-ही **नहि**-नहीं।

भाष्य

शरणागति-श्रुतियों में मोक्ष के साधनरूप से वर्णित ज्ञान उपासनात्मक ज्ञान है, इसे ही भक्ति कहते हैं, भक्ति का विस्तृत वर्णन पूर्व में किया जा चुका है। प्रपत्ति अर्थात् शरणागति भी ज्ञानविशेष है, यह भी मोक्ष का साधन है, प्रपत्ति भक्तिविशेष ही है। प्रपत्ति को स्वीकार करने वाले मुमुक्षु को प्रपन्न मुमुक्षु कहते हैं।

मोक्ष में तारतम्य

द्वैतवादी माध्वमत मोक्ष में तारतम्य को स्वीकार करता है, उसके अनुसार मुमुक्षुओं को प्राप्त होने वाला आनन्दात्मक मोक्ष फल एक नहीं है, वह तारतम्य से युक्त है।

1.**तद्रामकृपोपलभ्ये** इति पाठान्तरम्। 2.सती विद्यमाना प्रपत्तिर्यस्य सः सत्प्रपत्तिः तस्य।

तारतम्य का खण्डन

ग्रन्थकार स्वामी रामानन्दाचार्य मुमुक्षु के मोक्षरूप फल में तारतम्य का निराकरण करते हैं, उनका कहना है कि शरणागत को श्रीभगवान् कृपा करके मोक्ष प्रदान करते हैं, उस मोक्षरूप फल में तारतम्य नहीं होता। सांसारिक फलों में तारतम्य होता है। तारतम्य का अर्थ है-अतिशय। जैसे किसी बुभुक्षु का सांसारिक(धर्म, अर्थ, कामरूप) फल किसी की अपेक्षा कम होता है और किसी की अपेक्षा ज्यादा किन्तु सभी मुक्तात्माओं का मोक्ष फल समान ही होता है, उनमें तारतम्य नहीं होता। बन्धन से सर्वथा विनिर्मुक्त होकर निरतिशय आनन्दरूप परमात्मा का सतत अनुभव करना ही मोक्ष कहलाता है। मुक्त का आनन्दात्मक ब्रह्मानुभवरूप फल समान ही है, उसमें कोई भेद नहीं। सभी के कर्मों में तारतम्य होता है, उनमें तारतम्य होने से उनसे प्राप्य त्रिवर्ग रूप फल में तारतम्य संभव है किन्तु मोक्ष के साधन में कोई तारतम्य नहीं होता अतः उससे प्राप्य मोक्ष फल में भी तारतम्य नहीं होता।

भवन्त्युपायान्तर एव सर्वे स्वातन्त्र्यतो मुक्तिपदप्रदास्ते।
सुकर्मसंवेदनभक्तियोगाः प्रपत्तिनिष्ठैः समनुष्ठितास्तु॥96॥

अन्वय

प्रपत्तिनिष्ठैः समनुष्ठिताः सुकर्मसंवेदनभक्तियोगाः उपायान्तरः एव भवन्ति। ते सर्वे तु स्वातन्त्र्यतः मुक्तिपदप्रदाः।

अर्थ

प्रपत्तिनिष्ठैः-प्रपन्नों के द्वारा **समनुष्ठिताः**-विधिवत् अनुष्ठान किए गये **सुकर्मसंवेदनभक्तियोगाः**-कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग (प्रपत्ति की अपेक्षा) **उपायान्तरः**-अन्य उपाय **एव**-ही **भवन्ति**-होते हैं। **ते**-वे **सर्वे**-सभी तु-तो **स्वातन्त्र्यतः**-स्वतन्त्रता से(प्रपत्ति की अपेक्षा के विना) **मुक्तिपदप्रदाः**-मोक्ष फल प्रदान करते हैं।

भाष्य

प्रपत्ति से प्रसन्न होकर भगवान् ही प्रपन्न को अभीष्ट फल प्रदान करते हैं, उसे कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग इन उपायों में प्रवृत्त ही नहीं होना चाहिए। प्रपत्ति की मोक्षजनकता में संदेह होने पर ही वह मोक्ष की इच्छा

से प्रेरित होकर कर्मयोगादि का अनुष्ठान करता है, तब उसकी प्रपत्ति निष्फल हो जाती है, वह फल की जनक नहीं रहती। कर्मयोगादि का विधिवत् अनुष्ठान करने पर भी वे प्रपत्ति की अपेक्षा अन्य उपाय होते हैं और स्वतन्त्रता से मोक्ष देते हैं। स्वतन्त्रता से मोक्ष देने का अर्थ है-प्रपत्ति की अपेक्षा के विना ही मोक्ष देना। कर्मयोग और ज्ञानयोग भक्तियोग के द्वारा मोक्ष देते हैं तथा भक्तियोग साक्षात् मोक्ष देता है, इस प्रकार उसे अत्यन्त कठिन उपाय से मोक्ष मिल पाता है अतः प्रपन्न को दूसरे उपाय का आश्रय नहीं लेना चाहिए। भक्तियोग में व्यवधान उपस्थित होने पर उसे अविच्छिन्नरूप से चलाने के लिए जो प्रपत्ति की जाती है, वह भक्तियोग का अंग होती है, वह उसे उत्पन्न करके सार्थक हो जाती है, निष्फल कभी नहीं होती। प्रपत्ति स्वतन्त्र उपाय है, उसका कोई अंग नहीं है, वह अकेले ही फल देने में समर्थ है एवं ब्रह्मास्त्र के समान है अतः दूसरे का सहयोग लेने पर निष्फल हो जाती है।

अणुत्वतो निर्भरतापरैस्तैः श्रीव्याप्तिरार्यैरभिधीयते हि।
प्रपञ्चनिर्मातृविरिञ्चिहेतुश्रीरामपादाब्जनिविष्टचित्तैः॥97॥

अन्वय

प्रपञ्चनिर्मातृविरिञ्चिहेतुश्रीरामपादाब्जनिविष्टचित्तैः निर्भरतापरैः आर्यैः तैः श्रीव्याप्तिः अणुत्वतः हि अभिधीयते।

अर्थ

प्रपञ्चनिर्मातृविरिञ्चिहेतुश्रीरामपादाब्जनिविष्टचित्तैः-जगत् के उत्पादक (जो) ब्रह्मा (हैं, उन) के कारण श्रीरामचन्द्र के चरणकमलों में लीन चित्त वाले **निर्भरतापरैः**-श्रीरामचन्द्र पर ही निर्भर रहने वाले **आर्यैः**-विद्वान् **तैः**-प्रपन्न महात्माओं के द्वारा (चेतनाचेतनात्मक समस्त जगत् में) **श्रीव्याप्तिः**-भगवती सीता जी की(जो) व्याप्ति (है, वह उनकी) **अणुत्वतः**-सूक्ष्मता के कारण **हि**-ही **अभिधीयते**-कही जाती है।

भाष्य

भगवान् राम महदादि पदार्थों से लेकर ब्रह्माण्ड की सृष्टि और इसके पश्चात् ब्रह्मा की सृष्टि स्वयं करते हैं, उनके द्वारा की जाने वाली यह सृष्टि समष्टिसृष्टि कहलाती है और इसके अनन्तर ब्रह्मा जी सृष्टि करते हैं, इसे

व्यष्टि सृष्टि कहते हैं। प्रस्तुत श्लोक में इसी व्यष्टि जगत् का निर्माता ब्रह्मा को कहा है, इन्हें भी उत्पन्न करने वाले भगवान् श्रीराम हैं, इस विषय को **यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्।**(श्वे.उ.6.18) यह श्वेताश्वतर श्रुति कहती है, ऐसे प्रियतम प्रभु के पावन पादपद्मों में लीन चित्त वाले और उन्हीं पर निर्भर जो विद्वान् महात्मा हैं, वे भगवान् राम के समान ही व्यापक श्रीसीता जी की सम्पूर्ण जगत् में व्याप्ति मानते हैं, इसका कारण उनका अणुत्व अर्थात् सूक्ष्मता है।

प्रस्तुत श्लोक में 'श्रीव्याप्ति' इस प्रकार श्रीसीता की सभी में व्याप्ति के कथन से उनका विभु होना सिद्ध है क्योंकि विभु(व्यापक) की ही सभी में व्याप्ति होती है, अणु की नहीं। पूर्व में श्रीतत्त्व के प्रतिपादन के प्रसंग में यह विस्तार से बताया गया है कि भगवान् के समान श्रीसीता जी भी विभु हैं, इस कारण ही श्रीराम के समान वे भी सभी में व्याप्त हैं। सभी में व्याप्ति का अर्थ है-सम्पूर्ण पदार्थों के अन्दर, बाहर और उनके सन्धिस्थान में भी रहना। सूक्ष्म वस्तु ही दूसरे के भीतर प्रविष्ट होकर रह सकती है, जो जिसमें प्रविष्ट होकर रहता है, वह उससे सूक्ष्म होता है। व्यापक वस्तु यदि स्थूल हो तो किसी के भीतर प्रविष्ट नहीं हो सकती। सभी में उसी का प्रवेश हो सकता है, जो सभी की अपेक्षा सूक्ष्म हो। ग्रन्थकार ने प्रस्तुत श्लोक में सूक्ष्मता अर्थ का द्योतक 'अणुत्वतः' शब्द का प्रयोग किया है। श्री जी व्यापक होने पर भी स्थूल नहीं हैं अपितु सूक्ष्म हैं, वे अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण ही अन्दर और बाहर से सभी पदार्थों को व्याप्त कर स्थित हैं। श्री तत्त्व को विभु न मानने वाले कुछ व्याख्याकार अणुत्वतः का अर्थ अणु परिणाम करते हैं और उनकी सभी में व्याप्ति मानते हैं, उनका यह कथन व्याघात दोष से युक्त है क्योंकि अणुपरिमाण वाली वस्तु सभी में व्याप्त होकर नहीं रह सकती। श्रीव्याप्ति शब्द के प्रयोग से यह स्पष्ट है कि स्वामी रामानन्दाचार्य जी को श्रीजी का विभु परिमाण ही मान्य है, अणु परिमाण मान्य नहीं, तथापि विभु पदार्थ का सभी के भीतर प्रवेश करके व्याप्त होकर रहने का हेतु सूक्ष्मता होती है, इस हेतु को ही उन्होंने अणुत्वतः पद से व्यक्त किया है।

मेरे हृदय के अन्दर रहने वाला यह परमात्मा धान से, जौ से, सरसों से, साँवा से और साँवा के चावल से भी अतिशय सूक्ष्म है-**एष म**

आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान् व्रीहेर्वा यवाद् वा सर्षपाद् वा श्यामाकाद् वा श्यामाकतण्डुलाद् वा।(छां.उ.3.14.3)। जैसे इस श्रुति में अणु शब्द सूक्ष्म अर्थ में प्रयुक्त है, अणु परिमाण अर्थ में नहीं। वैसे ही श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर ग्रन्थ में भी अणु शब्द सूक्ष्म अर्थ में ही है।

श्रीरामचन्द्र के समान सीता जी की भी सभी में तीन प्रकार से व्याप्ति होती है। विभुस्वरूप होने के कारण उनकी सभी में स्वरूपत: व्याप्ति है, उनका धर्मभूत ज्ञान विभु होने से सभी में धर्मभूतज्ञानत: व्याप्ति है और श्रीविग्रह विभु होने से सभी में विग्रहत: भी व्याप्ति होती है। श्री जी का परिच्छिन्न विग्रहों के समान विभु विग्रह भी है। विभु की व्याख्या 99 वें श्लोक की व्याख्या में देखनी चाहिए।

नित्यं सा पुरुषकारभूता श्रीरनपायिनी[1]।
अनुपायान्तरैर्विज्ञैरुच्यते तदुपायता॥98॥

अन्वय

सा श्री: अनपायिनी पुरुषकारभूता। अनुपायान्तरै: विज्ञै: नित्यं तदुपायता उच्यते।

अर्थ

सा-पूर्व में वर्णित **श्री:**-भगवती सीता (श्रीरामचन्द्र के) **अनपायिनी**-साथ ही रहती हैं, वे **पुरुषकारभूता**-पुरुषकार स्वरूप हैं। मोक्षप्राप्ति में **अनुपायान्तरै:**-अन्य उपायों को न मानने वाले **विज्ञै:**-विद्वान् पुरुष (मोक्षप्राप्ति में) **नित्यम्**-सदा **तदुपायता**-उनका ही उपायत्व **उच्यते**-कहते हैं।

भाष्य

जगन्माता भगवती श्रीसीता का कभी अपने स्वामी से विश्लेष नहीं होता। लीलाकाल में उनका विश्लेष और शोकादि तो अभिनयमात्र(लीला) है। वे सदा प्रभु के साथ ही रहती हैं। रघुनाथ जी जब जिस रूप में अवतरित होते हैं, तब ये उस रूप के अनुरूप ही अपने को बना लेती हैं। जब वे श्रीविष्णुरूप होते हैं, तब ये अपने को लक्ष्मीरूप में कर लेती हैं और जब वे कृष्णरूप होते हैं तब ये अपने को राधा और रुक्मिणी रूप में कर लेती

1.अत्र **सीताऽनपायिनी** इति पाठान्तरम्।

हैं। उनके अन्य रूपों में रहने पर भी श्रीसीताराम का युगलरूप भी सदा रहता ही है, वह नित्य है। श्रीकिशोरी जी श्रीराम जी के साथ सदा क्यों रहती हैं? पुरुषकार(सिफारिश) करने के लिये। पुरुषकार करने के कारण ही वे प्रस्तुत श्लोक में पुरुषकाररूप कही गयी हैं। भगवान् भक्तों का कार्य करने के लिए उनके मुखाम्बुज की ओर निहारते हैं। **यस्या वीक्ष्य मुखं तदिङ्गितपराधीनो विधत्तेऽखिलम्।** सीता जी पापी भक्तों के भी उद्धार के लिए श्रीरामचन्द्र जी से पुरुषकार करती हैं। वे उनका संकेत पाकर ही जीवात्मा का उद्धार करते हैं। श्रीकिशोरी जी की कृपाकादम्बिनी के विना कोई श्रीराम के करकमलों का स्पर्श भी प्राप्त नहीं कर सकता। उनकी सन्निधि के कारण प्रभु पापी को दण्डप्रदान करने में उसी प्रकार संकुचित होते है, जिस प्रकार माता की सन्निधि में पुत्र को दण्डप्रदान करने में पिता संकुचित होते हैं। इस प्रकार जीव के उद्धार में श्रीजी की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है, इसी कारण वे सदा श्रीरामभद्र के साथ ही रहती हैं। जो विद्वान् श्रीभगवान् की प्राप्ति में कर्म, ज्ञान और भक्ति को उपाय न जानकर भगवान् को ही उपाय जानते हैं, वे यह कहते हैं कि जब तक श्रीजी अनुग्रह करके पुरुषकार नहीं करतीं, तब तक रघुनाथ जी कुछ नहीं कर सकते, इस प्रकार भगवत्प्राप्ति में श्रीजी का उपाय होना कहा जाता है।

श्रीसीता जी को उपाय कहने के पश्चात् अब भगवान् के वात्सल्य गुण का निरूपण किया जाता है-

[1]विभोश्च वात्सल्यमहार्णवस्य वै वात्सल्यमिष्टं जनदोषभोगिता।
समुच्यते तैर्नृभिरस्वतन्त्रकैः सदा सदाचारपरायणैर्वरैः॥99॥

अन्वय

सदा सदाचारपरायणैः च अस्वतन्त्रकैः तैः वरैः नृभिः वात्सल्यमहार्णवस्य विभोः जनदोषभोगिता वै इष्टं वात्सल्यं समुच्यते।

अर्थ

सदा-सदा **सदाचारपरायणैः**-सदाचारपरायण **च**-और **अस्वतन्त्रकैः**-ईश्वर

1.अस्य श्लोकस्य स्थाने **इष्टं वात्सल्यसिन्धोश्च** वात्सल्यं दोषभोगिता। **नित्यं समुच्यते तज्ज्ञैः सदाचारपरायणैः॥** इति पाठान्तरम्।

के अधीन अपने स्वरूप को जानने वाले **तै:**-उन **वरै:**-श्रेष्ठ **नृभि:**-पुरुषों के द्वारा **वात्सल्यमहार्णवस्य**-वात्सल्य गुण के महासागर **विभो:**-व्यापक परमात्मा का **जनदोषभोगिता**-भक्तजनों के दोषों को भोगना **वै**-ही (भक्तों के लिए) **इष्टम्**-हितकर **वात्सल्यम्**-वात्सल्य **समुच्यते**-कहा जाता है।

भाष्य

सदाचार-आचरण ही मनुष्य का प्रथम धर्म है-**आचार: प्रथमो धर्म:**। शास्त्र से विहित आचरण को सदाचार कहते हैं। इसके अनुसार चलने से भगवान् साधक का अन्त:करण निर्मल कर देते हैं, जिससे उसे ईश्वराधीन अर्थात् ईश्वरात्मक अपने आत्मस्वरूप का ज्ञान होता है। माता का वात्सल्य गुण प्रसिद्ध है, वह अपनी संतान का सर्वाधिक मंगल चाहती है, भगवान् तो हजारों माताओं से भी बढ़कर सभी का मंगल चाहते हैं, इसलिए ग्रन्थकार उन्हें **वात्सल्यमहार्णव** अर्थात् वात्सल्य गुण का महासागर कहते हैं। जैसे जल के महासागर में असीमित जल रहता है, उसमें जल की थाह नहीं मिल पाती, ऐसे ही वात्सल्य के महासागर भगवान् श्रीराम में असीमित वात्सल्य रहता है, उनमें वात्सल्य की थाह नहीं मिल पाती। इसी महागुण के कारण वे महापातकी से भी घृणा नहीं करते और **कोटि विप्र वध लागहिं जाहू। आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू**॥(रा.च.मा.5.43.1) ऐसा लोककल्याणकारी डिण्डिम उद्घोष करते हैं अतएव **सरन गएँ प्रभु ताहू न त्यागा। बिस्व द्रोह कृत अघ जेहि लागा**॥(रा.च.मा.5.38.7) ऐसी उनकी पावन कीर्ति लोक में विश्रुत है। वात्सल्य के कारण माता अपने पुत्र के दोष को भोगने के लिए तैयार हो जाती है और पुत्र की भयंकर व्याधि की निवृत्ति के लिए ईश्वर से प्रार्थना करती है कि मेरे पुत्र का रोग मुझे दे दो और उसे स्वस्थ कर दो, वैसे ही वात्सल्य गुण के अतिरेक के कारण ही भगवान् भी भक्त के पापों का परिणाम भयंकर दु:खरूप दोष को स्वयं भोगने के लिए तैयार हो जाते हैं और उन पर आये संकट को दूर करके उनका परित्राण करने के लिए भगवान् असुरों, राक्षसों और दैत्यों से युद्ध करने को भी लालायित रहते हैं और युद्ध करते समय भक्तों के दु:खरूप दोष को स्वयं भोगते हैं इत्यादि रीति से भक्तों के दोष को भोगना ही भगवान् का वात्सल्य गुण है, इससे भक्तों का परम हित होता है और वे दोष से बच जाते हैं। वात्सल्य गुण का वर्णन आगे किया जायेगा। प्रस्तुत

श्लोक में स्वामी रामानन्दाचार्य ने भगवान् को विभु अर्थात् व्यापक कहा है। वे व्यापक होने के कारण ही सभी स्थानों में रहकर भक्तजनों के दुःखरूप दोष को अपने ऊपर लेकर भक्त की त्रास से रक्षा करते हैं। विभु पद के प्रयोग से स्वामी जी ने यह सिद्ध किया है कि भगवान् वात्सल्य के कारण अवतारकाल में युद्ध के अवसर पर ही नहीं अपितु सर्वकाल में सभी स्थानों पर रहकर भक्तों के दुःखों को दूर करते ही रहते हैं। अब प्रसंगानुसार विभु की भी व्याख्या की जाती है-

विभु

सभी द्रव्यों के साथ संयुक्त होकर रहने वाली वस्तु विभु कहलाती है- **सर्वद्रव्यसंयोगित्वं विभुत्वम्।** भगवान् सभी द्रव्यों से संयुक्त होकर रहते हैं, इसलिए विभु कहलाते हैं। देशपरिच्छेद से रहित वस्तु ही सभी द्रव्यों से संयुक्त होकर रह सकती है। भगवान् देशपरिच्छेद से रहित हैं इसलिए सभी से संयुक्त होकर रहते हैं। इस प्रकार विभु का अर्थ देशपरिच्छेद का अभाव है। सर्वव्यापक परब्रह्म चेतनाऽचेतनात्मक सभी वस्तुओं के अन्दर रहता है और उनके बाहर भी-**तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वास्यास्य बाह्यतः।** (ई.उ.5)। वस्तु का कोई भी भाग ऐसा नहीं है, जिसमें परब्रह्म न रहता हो। वह तिल में तेल की तरह समग्र वस्तुओं के अन्दर व्याप्त होकर रहता है। भगवान् जैसे वस्तु के अन्दर रहते हैं, वैसे ही उनके अभाव स्थान में भी रहते हैं। इसे तैत्तिरीय श्रुति भी स्पष्टरूप से कहती है। इस जगत् में जो कुछ पदार्थ दिखाई देता है या सुनाई देता है, उस सभी को अन्दर और बाहर से व्याप्त करके नारायण स्थित हैं-**यच्च किंचिज्जगत्यस्मिन् दृश्यते श्रूयतेऽपि वा। अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः।**(तै.ना.उ.94)।। घर के अन्दर रहने वाले घटादि पदार्थ उसी काल में घर के बाहर नहीं रहते और बाहर रहने वाले उसी काल में अन्दर नहीं रहते किन्तु परमात्मा युगपद् सभी पदार्थों के अन्दर और बाहर रहते हैं। यह परमात्मा का सकलेतरवैलक्षण्य है। 'कोई भी स्थान ऐसा नहीं है, जिसमें परमात्मा न हो' इस अभिप्राय से अणु आत्मा में भी उनका रहना संभव होता है। उनका बाहर रहना तो अविभु(परिच्छिन्न) द्रव्य की अपेक्षा से कहा गया है। सभी वस्तुओं में अन्दर और बाहर से परमात्मा की व्याप्तिका अर्थ है-परमात्मा से अव्याप्त प्रदेश का अभाव। इस प्रकार अन्दर और बाह्य प्रदेश के अभाव वाले

निरवयव, अणु जीव और विभु काल में भी उनकी व्याप्ति संभव होती है।

परमात्मा आत्मा में रहता है और आत्मा के अन्दर भी। जिसे आत्मा नहीं जानती, आत्मा जिसका शरीर है, जो आत्मा के अन्दर रहकर उसका नियमन करता है, वह निरतिशय भोग्य परमात्मा तुम्हारा अन्तर्यामी है-य **आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद, यस्यात्मा** शरीरं य **आत्मानमन्तरो यमयति। स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः**।(बृ.उ.मा.पा.3.7.26) यह श्रुति अणु प्रत्यगात्मा में परमात्मा की व्याप्ति को कहती है। यहाँ य **आत्मनि तिष्ठन्** इस प्रकार पूर्व में कहकर **आत्मनोऽन्तरः** यह पुनः कथन प्रत्यगात्मा में परमात्मा की बहिर्व्याप्तिमात्र का निराकरण करने के लिए है। यहाँ पर प्रत्यगात्मा में अन्दर प्रवेश करके परमात्मा की नियन्तारूप से स्थिति का प्रतिपादन करके प्रत्यगात्मा और परमात्मा के शरीरशरीरिभाव का प्रतिपादन करने से भी अणु प्रत्यगात्मा में परमात्मा की अन्तर्व्याप्ति सिद्ध होती है। परमात्मा अपने से भिन्न सभी वस्तुओं से सूक्ष्म है इसलिए उसकी सभी में अन्तर्व्याप्ति सिद्ध होती है। सभी में अन्तर्व्याप्ति का हेतु उसका सूक्ष्मतमत्व है।

परमात्मा के वात्सल्य और विभुत्व के निरूपण के पश्चात् अब उनकी दया गुण का निरूपण किया जाता है-

दयान्यदुःखस्य निगद्यते बुधैरप्राकृतैस्तैरसहिष्णुता स्तुता।
कृपामहाब्धेः [1]समुदारकीर्तेर्विष्णोरचिन्त्याखिलवैभवस्य वै॥100॥

अन्वय

अप्राकृतैः तैः बुधैः अचिन्त्याखिलवैभवस्य समुदारकीर्तेः कृपामहाब्धेः विष्णोः अन्यदुःखस्य असहिष्णुता वै दया निगद्यते, स्तुता।

अर्थ

अप्राकृतैः-त्रिगुणातीत **तैः**-प्रपन्न **बुधैः**-विद्वानों के द्वारा **अचिन्त्याखिल-वैभवस्य**-अचिन्त्य अखिल महिमा वाले **समुदारकीर्तेः**-समुज्ज्वल कीर्ति वाले **कृपामहाब्धेः**-कृपा के महासागर **विष्णोः**-व्यापक राम का (जो) **अन्यदुःखस्य**-दूसरे के दुःख को **असहिष्णुता**-न सहन करना (है, वह)

1.**समुदारकीर्तेः** इत्यस्य स्थाने स्तुतकीर्तिसन्ततेः इति पाठान्तरम्।

वै-ही (उनका) **दया**-दया गुण **निगद्यते**-कहा जाता है, वह दया स्तुता-प्रशंसनीय है।

भाष्य

प्राकृत का अर्थ होता है-अज्ञानी मनुष्य, जो कि प्रकृति के सत्त्व, रज और तम गुणों से प्रभावित होता है किन्तु ब्रह्मदर्शी प्रपन्न जो कि इनसे प्रभावित नहीं होता है, वह श्लोक में आये अप्राकृत पद से विवक्षित है। भगवान् अचिन्त्य वैभव वाले हैं, उनके वैभव की सीमा का मन से चिन्तन भी नहीं किया जा सकता। उनकी उज्ज्वल कीर्ति भी सभी ओर प्रसरित है और वे कृपा गुण के महासागर हैं। जैसे जल के महासागर में जल के अनन्त प्रवाह प्रवहित होते रहते हैं, वैसे ही कृपा के महासागर श्रीराम में भी कृपा के अनन्त प्रवाह प्रवहित होते रहते हैं। इसके लिए केवल उनकी ओर उन्मुख होने की ही देर है। कृपा आगे होगी, ऐसी बात नहीं वह तो अविरल गति से हो ही रही है। यदि हम उसकी ओर उन्मुख होकर उसका कुछ भी आस्वादन कर सकें तो परम विश्राम प्राप्त कर जीवन धन्य हो जाय। कृपा के महासिन्धु श्रीराम परदुःख असहिष्णु हैं, वे दूसरे के दुःखों को सहन नहीं कर सकते, उनकी यह असहिष्णुता अर्थात् दूसरे के दुःखों को सहन न कर सकना ही दया गुण है, इसमें उनका कुछ भी स्वार्थ नहीं होता। दया के कारण ही भगवान् असहाय गजेन्द्र की रक्षा करने को दौड़ पड़े थे, असहाय द्रौपदी की रक्षा के लिए वस्त्ररूप में अवतरित हुए थे और आज भी असंख्य भक्तों का उपकार कर ही रहे हैं। इस महान् गुण के कारण वे दीन भक्त का उपकार किये विना नहीं रह सकते अतः उनका यह गुण अत्यन्त प्रशंसनीय है।

स्वीयप्रवृत्तेस्तु निवृत्तिरिष्टो न्यासोऽथ वेद्योऽपि बुधैः सदैव।
एकान्तिकैस्तत्त्वविचारदक्षैः परात्मनिष्ठैः परमास्तिकैस्तैः॥101॥

अन्वय

अथ तु तैः परमास्तिकैः तत्त्वविचारदक्षैः परात्मनिष्ठैः एकान्तिकैः बुधैः अपि इष्टः स्वीयप्रवृत्तेः सदा एव निवृत्तिः वेद्यः न्यासः।

अर्थ

अथ-दया के निरूपण के पश्चात् तु-तो **तैः**-उन **परमास्तिकैः**-परम

आस्तिक **तत्त्वविचारदक्षैः**-परमात्म तत्त्व का विचार करने में कुशल **परात्मनिष्ठैः**-परमात्मनिष्ठ **एकान्तिकैः**-प्रपन्न **बुधैः**-विद्वानों के द्वारा (यह) **अपि**-भी **इष्टः**-माना जाता है (कि) **स्वीयप्रवृत्तेः**-अपनी प्रवृत्ति का **सदा**-सदा **एव**-ही **निवृत्तिः**-त्याग **वेद्यः**-वेदवेद्य **न्यासः**- शरणागति है।

भाष्य

शरणागति

वेदप्रतिपाद्य विषयों में विश्वास करने वाले को आस्तिक कहा जाता है-**वेदोक्तविषयेषु विश्वासकर्ता आस्तिकः**। वह निखिलहेयप्रत्यनीक, कल्याणैकतानगुणगण और दिव्यमंगलविग्रह से विभूषित प्राप्य परब्रह्म, प्राप्ता शेषभूत ब्रह्मात्मक आत्मा, प्राप्ति का साधन आराधनरूप कर्म, ज्ञान तथा भक्ति इत्यादि सभी वेदप्रतिपाद्य विषयों में विश्वास करने वाला होता है। आस्तिक होकर जो गुरुपरम्परा से वेदादि शास्त्रों को पढ़कर पारगत विद्वान् हो गये हैं, इसलिए परमात्म तत्त्व का विचार करने में कुशल हैं और प्रपत्ति करके परमात्मनिष्ठ हो गये हैं, ऐसे महापुरुष अपनी प्रवृत्ति के सर्वथा त्याग को ही शरणागति कहते हैं। **सर्वधर्मान् परित्यज मामेकं शरणं ब्रज**।(गी.18.66) इस प्रकार भगवान् ने सकल प्रवृत्तियों का त्याग करके शरणागति करने को कहा है। प्रवृत्ति की निवृत्तिपूर्वक शरणागति होने से प्रस्तुत व्याख्येय श्लोक में प्रवृत्ति की निवृत्ति को शरणागति कहा गया है। शरणागत की शरणागति ही अभीष्ट फल की साधक है, उसके लिए उसे किसी अन्य उपाय में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए, इस अभिप्राय से प्रवृत्ति की निवृत्ति को शरणागति कहा गया है, ऐसा जानना चाहिए। शरणागति भी वेद प्रतिपाद्य है। वेदों में **मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये**।(श्वे.उ.6.18) इत्यादि प्रकार से शरणागति का वर्णन है। न्यास, निक्षेप, निवृत्ति, त्याग, प्रपत्ति, शरण, शरणागति, याञ्चा ये सभी पर्याय शब्द हैं। शरणागति **सकृदेव प्रपन्नाय** (वा.रा.6.18.33) तथा **सर्वधर्मान् परित्यज्य** के अनुसार सर्वपापविनिर्मुक्तिपूर्वक भगवत्प्राप्तिरूप मोक्षात्मक अभय के लिए की जाती है।

शरणागति के स्वरूप का वर्णन करके अब उसके अधिकारी का वर्णन किया जाता है–

सर्वे प्रपत्तेरधिकारिणो मताः[1] शक्ता अशक्ताः पदयोर्जगत्प्रभोः।
[2]नापेक्ष्यते तत्र कुलं बलञ्च नो न चापि कालो न च शुद्धतापि वै॥102॥

अन्वय

शक्ताः च अशक्ताः सर्वे जगत्प्रभोः पदयोः प्रपत्तेः अधिकारिणः मताः। तत्र कुलं न अपेक्ष्यते, बलं नो च कालः अपि न च शुद्धता अपि न वै।

अर्थ

शक्ताः-समर्थ **च**-और **अशक्ताः**-असमर्थ **सर्वे**-सभी प्राणी **जगत्प्रभोः**-जगत् के स्वामी श्रीरामचन्द्र जी के **पदयोः**-चरणों की **प्रपत्तेः**-प्रपत्ति के **अधिकारिणः**-अधिकारी **मताः**-माने जाते हैं (क्योंकि) **तत्र**- प्रपत्ति में **कुलम्**-कुल **न अपेक्ष्यते**-अपेक्षित नहीं है, **बलम्**-बल **नो**-अपेक्षित नहीं है **च**-और **कालः**-काल **अपि**-भी **न**-अपेक्षित नहीं है **च**-तथा **शुद्धता**-शुद्धि **अपि**-भी **न**-अपेक्षित **वै**-ही नहीं है।

भाष्य

शरणागत के अभीष्ट फल की प्राप्ति के लिए भगवान् श्रीराम के चरणारविन्दों की शरणागति ही सबसे सुगम और उत्तम साधन है, इसकी ऐसी अद्भुत महिमा है कि इसमें उच्च कुल में जन्म लेना भी अपेक्षित नहीं है। प्रह्लाद का दैत्य कुल में जन्म हुआ था, विभीषण का राक्षस कुल में तथा सुग्रीव, गजेन्द्र और कालिय का तिर्यक् कुल में। निम्न कुल में जन्म लेने पर भी इन सभी की शरणागति सफल हुई। प्रह्लाद को प्रभु प्राप्त हुए, सुग्रीव को सर्वस्व प्राप्त हुआ और विभीषण को श्रीरामचन्द्र। शरणागति से ही पाण्डवों को राज्य प्राप्त हुआ और कालियनाग की प्राणरक्षा हुई। शरणागति के लिए किसी भी प्रकार का बल अपेक्षित नहीं है। बल के समाप्त होने पर ही गजेन्द्र ने शरण ग्रहण की, उसकी शरणागति की सफलता हुई, उसे भगवत्कैंकर्य प्राप्त हुआ।

वसन्ते ब्राह्मणो अग्नीनादधीत। ग्रीष्मे राजन्यः। शरदि वैश्यः। वर्षासु

1.**प्रपत्तेरधिकारिणो मताः** इत्यस्य स्थाने **प्रपत्तेरधिकारिणः सदा** इति पाठान्तरम्।
2.**नापेक्ष्यते तत्र कुलं बलञ्च** इत्यस्य स्थाने **अपेक्ष्यते तत्र कुलं बलं च** इति पाठान्तरम्।

रथकारोऽग्नीनादधीत॥ इन विधिवाक्यों के अनुसार जैसे अग्न्याधान करने के लिए ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और रथकार को क्रमशः वसन्त, ग्रीष्म, शरद और वर्षा काल अपेक्षित होते हैं, जैसे दर्शपौर्णमास याग के लिए अमावस्या और पूर्णिमा काल अपेक्षित होते हैं एवं अग्निहोत्र के लिए प्रातःकाल और सायंकाल अपेक्षित होते हैं, वैसे शरणागति के लिए संक्रान्ति आदि पुण्य काल अपेक्षित नहीं होते, इसे किसी भी समय किया जा सकता है। जब जीव की भगवान् की शरण में जाने की इच्छा हो, उसी समय वह शरण में जा सकता है। प्रपत्ति के लिए शुद्धि की भी आवश्यकता नहीं होती। द्रोपदी ने अशुद्ध रजस्वलावस्था में ही भगवान् की प्रपत्ति स्वीकार की थी, जिसके फलस्वरूप भगवान् ने उसकी प्रतिष्ठा बचायी। किसी भी देश, काल और अवस्था में जीव का भगवान् से सम्बन्ध कराने के लिए माता सीता सदा उनके साथ ही विराजमान रहती हैं, वे एक क्षण भी भगवान् को नहीं छोड़ती, वे सोचती हैं कि जीवों का मन चंचल ही रहता है, किसी एक क्षण में जीव के मन में भगवच्छरणागति को ग्रहण करने की इच्छा होती है किन्तु दूसरे क्षण में वह इच्छा मिटकर दूसरी इच्छा हो सकती है अतः उसके मिटने से पूर्व ही जीव को भगवान् की शरण में पहुँचा देना चाहिए, इस अभिप्राय से वे सदा रघुनाथ जी के साथ ही विराजती हैं। इस विवेचन से सिद्ध होता है कि शरणागति करने के लिए कुल, बल, देश और कालादि का नियम नहीं है।

त्रैवर्णिक व्यक्ति शास्त्रविधि के अनुसार यथासमय उपनयन संस्कार से सम्पन्न होकर सन्ध्योपासन, गुरुकुलवास आदि नियमों के आचरणपूर्वक वेदाध्ययन करके गार्हस्थ आश्रम में प्रविष्ट होने पर समग्र वैदिक कर्मों का अधिकारी होता है। अन्धा मनुष्य आज्यावेक्षण(घृत को देखने) में समर्थ न होने से याग का अधिकारी नहीं होता, पङ्गु अभिक्रमण(चलने) में समर्थ न होने से याग का अधिकारी नहीं होता किन्तु शरणागति के सभी अधिकारी होते हैं। गृहस्थाश्रमी से अतिरिक्त आश्रमियों के लिए भी शास्त्रनियत कर्म हैं। उपनीत द्विजमात्र सन्ध्या कर्म का अधिकारी है। उपनयनपूर्वक सन्ध्योपासन आदि कर्म करने वाला ब्रह्मचारी वेदाध्ययन कर्म का अधिकारी है। एकाग्रता से युक्त अन्तःकरण वाला मनुष्य ज्ञानयोग का अधिकारी होता है। उपनिषत्प्रतिपाद्य विद्याओं का अध्ययन कर चुका

व्यक्ति भक्तियोग का अधिकारी होता है, इस प्रकार शास्त्रों ने कर्म, ज्ञान तथा भक्ति के लिए विविध प्रकार की योग्यताएँ निर्धारित की हैं किन्तु शरणागति के लिए इनमें से कोई योग्यता अपेक्षित नहीं है अतः अन्य सभी साधनों को करने में असमर्थ व्यक्ति ही शरणागति का अधिकारी होता है इसीलिए कहा है कि **न धर्मनिष्ठोऽस्मि न चात्मवेदी न भक्तिमांस्त्वच्चरणारविन्दे। अकिंचनोऽनन्यगतिश्शरण्य त्वत्पादमूलं शरणं प्रपद्ये।**(आ.स्तो.25)।

उक्त विवेचन का सार यह है कि जगत् के स्वामी श्रीरामचन्द्र के चरणों की शरण को ग्रहण करने में सभी व्यक्ति अधिकारी हैं, चाहे वे समर्थ हो या असमर्थ क्योंकि उसमें कुल, बल, काल और शुद्धि की भी अपेक्षा नहीं हैं। यदि उनकी अपेक्षा होती तो उनसे जन्य सामर्थ्यवाला व्यक्ति ही उसका अधिकारी होता, असमर्थ अधिकारी नहीं होता किन्तु परम कारुणिक भगवान् इनकी अपेक्षा नहीं करते, इसलिए समर्थ और असमर्थ सभी लोगों को शरणागति का अधिकारी माना जाता है।

धर्मत्यागोऽपि परमैकान्तिकैरुच्यते वरैः।
इत्थं हि कर्मणां त्यागः स्वरूपस्याखिलस्य च॥103॥

अन्वय

वरैः परमैकान्तिकैः धर्मत्यागः अपि उच्यते। इत्थं कर्मणां त्यागः च अखिलस्य स्वरूपस्य हि।

अर्थ

वरैः-श्रेष्ठ **परमैकान्तिकैः**-पारंगत प्रपन्नों के द्वारा (शरणागत के लिए) **धर्मत्यागः**-धर्म(विहित कर्म) का त्याग **अपि**-भी **उच्यते**-कहा जाता है। **इत्थम्**-इस प्रकार **कर्मणाम्**-सम्पूर्ण कर्म का **त्यागः**-त्याग **च**-और **अखिलस्य**-सम्पूर्ण कर्म के **स्वरूपस्य**-स्वरूप का (त्याग) **हि**-ही धर्म का त्याग कहा जाता है।

भाष्य

शास्त्रों के निष्णात प्रपन्न प्रपत्ति को भगवदनुग्रह का हेतु मानते हैं, वे श्रेष्ठ होते हैं, ऐसे श्रेष्ठ परमैकान्तिकों के द्वारा शरणागत के लिए धर्म का भी त्याग कहा जाता है।

जो कर्म वेदों के द्वारा प्रतिपाद्य तथा फल का साधन होता है, वह धर्म कहलाता है-**वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्मः।**(अर्थसं.) इस प्रकार धर्म का अर्थ होता है-वेदविहित कर्म, अतः धर्मत्याग का अर्थ है-विहित कर्म का त्याग। परमैकान्तिक जन प्रपन्न के लिए कर्मत्याग करने को कहते हैं। श्लोक में आए अपि शब्द से अधर्म का ग्रहण होता है। निषिद्ध कर्म को अधर्म कहा जाता है। धर्म और अधर्म को छोड़कर ही प्रपत्ति की जाती है और इसे स्वीकार करने के पश्चात् अधर्म की भाँति धर्म का भी त्याग करना चाहिए।

श्लोक के पूर्वार्ध में प्रतिज्ञात धर्मत्याग को ग्रन्थकार उत्तरार्ध से समझाते हैं-सम्पूर्ण कर्म का त्याग और सम्पूर्ण कर्म के स्वरूप का त्याग ही धर्म त्याग कहा जाता है-**इत्थं हि कर्मणां त्यागः स्वरूपस्याखिलस्य च।** यदि धर्मत्याग का अर्थ केवल कर्मणां त्यागः अर्थात् कर्मत्याग किया जाता तो कोई शंका करता कि प्रपन्न के लिए केवल फलेच्छापूर्वक किये जाने वाले कर्म त्याज्य है अतः फलेच्छापूर्वक काम्य कर्मों को नहीं करना चाहिए किन्तु फलेच्छा के विना उन्हें करना चाहिए, इस शंका के निवारण के लिए सम्पूर्ण कर्म के स्वरूप का त्याग कहा जाता है। जैसे प्रपन्न के लिए फलेच्छा से काम्य कर्म त्याज्य हैं, वैसे ही फलेच्छा के न होने पर भी काम्य कर्म त्याज्य हैं। भक्त और प्रपन्न दोनों के लिए फलेच्छापूर्वक काम्य कर्म त्याज्य हैं किन्तु भक्त फलेच्छा को छोड़कर काम्य कर्म कर सकता है किन्तु प्रपन्न उसे नहीं कर सकता, यह अभिप्राय है।

प्रपन्न के लिए काम्य कर्म का स्वरूपतः भी त्याग कहकर उपायान्तरमात्र का त्याग कहने के अभिप्राय से उसे प्रपत्ति का विरोधी कहा जाता है-

अथोपायान्तराण्येव प्रवदन्ति मनीषिणः।
विरोधीनि प्रपत्तेः[1] सम्बन्धज्ञानस्वरूपिणः[2]॥104॥

अन्वय

अथ सम्बन्धज्ञानस्वरूपिणः मनीषिणः प्रपत्तेः विरोधीनि उपायान्तरणि एव

1.प्रपत्तेः इतिस्थाने प्रपत्तेस्तु इति पाठान्तरम्। 2.अत्र सम्बन्धज्ञानकोविदाः इति पाठान्तरम्।

श्रीरामानन्दाचार्यविरचितः

श्रीवैष्णवमताब्जभास्करः

(हिन्दीभाष्यसहित)

भाष्यकार

स्वामी त्रिभुवनदास

ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ

प्रवदन्ति।

अर्थ

अथ-काम्य कर्मों का स्वरूपतः त्याग कहने के पश्चात् (अब) **सम्बन्धज्ञानस्वरूपिणः**-आत्मा और परमात्मा के सम्बन्धज्ञान (के स्वरूप) के **मनीषिणः**-विद्वान् **प्रपत्तेः**-प्रपत्ति के **विरोधीनि**-विरोधी **उपायान्तरणि**-उपायान्तर **एव**-ही है, ऐसा **प्रवदन्ति**-कहते हैं।

भाष्य

स्वामी रामानन्दाचार्य जी ने प्रस्तुत श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर में 14 वें से 17 वें श्लोक पर्यन्त जीव और ब्रह्म के निम्नलिखित 9 प्रकार के सम्बन्धों का उल्लेख किया था-1.पितापुत्रभाव सम्बन्ध 2.रक्ष्यरक्षकभाव सम्बन्ध 3.शेषशेषिभाव सम्बन्ध 4.भार्याभर्तृभाव सम्बन्ध 5.स्वस्वामिभाव सम्बन्ध 6.आधार-आधेयभाव सम्बन्ध 7.सेव्यसेवकभाव सम्बन्ध 8. आत्मा-आत्मीय भाव सम्बन्ध 9.भोग्यभोक्तृभाव सम्बन्ध।

जीव और ब्रह्म दोनों नित्य हैं, इसलिए उनके उक्त सम्बन्ध भी नित्य हैं, फिर भी महान् आश्चर्य यह है कि जिनके साथ जीव के सभी प्रकार के शाश्वत सम्बन्ध हैं, जीव उन्हें विस्मृत किये रहता है और जिनके साथ कदाचित् थोड़ा भी सम्बन्ध हो जाता है, उन्हें स्मरण करता रहता है। भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध का अनुसन्धान करने से भगवान् में दृढ़ प्रीति हो जाती है। ऐसे सम्बन्धों के ज्ञाता मनीषी नित्य नैमित्तिक कर्म, ज्ञान और भक्ति इन सभी साधनों को प्रपत्ति का विरोधी मानते हैं। जैसे काम्य कर्म प्रपत्ति का विरोधी है, वैसे ये सभी विरोधी हैं और जैसे भक्त भक्ति के अंगरूप से नित्यनैमित्तिक कर्म करता है, वैसे शरणागत उन्हें भी नहीं कर सकता तथा ज्ञान और साधनभक्ति(भक्तियोग) में भी प्रवृत्त नहीं हो सकता। वेदों के द्वारा ऐहिक, आत्मसाक्षात्कार तथा परमात्मसाक्षात्कार रूप फल के साधन क्रमशः कर्म, ज्ञान और उपासना का प्रतिपादन किया जाता है। श्रीमद्रामायण में श्रीरामभद्र ने 'सकृदेव' इस प्रकार एक बार ही प्रपत्ति करने के लिए कहा है, यही अभीष्ट फल को प्रदान करने में समर्थ है अतः प्रपत्ति करने वाले को कर्म, ज्ञान और उपासना सभी का त्याग कर देना चाहिए। आत्मा और परमात्मा के सम्बन्धों को जानने वाले विद्वानों के

अनुसार प्रपत्ति से अतिरिक्त सभी उपाय प्रपन्न के स्वरूप के विरोधी हैं अतः उनके अनुष्ठान से प्रपत्ति व्यर्थ हो जायेगी इसलिए उन्हें नहीं करना चाहिए।

कर्म, ज्ञान और भक्ति इन सभी उपायान्तरों को प्रपत्ति का विरोधी कहा गया, ऐसी स्थिति में क्या इनका सर्वथा त्याग करना चाहिए? ऐसी शंका होने पर कहते हैं-

लोकसङ्ग्रहणार्थन्तु श्रुतिचोदितकर्मणाम्।
शेषभूतैरनुष्ठानं तत्कैङ्कर्यपरायणैः॥105॥

अन्वय

तु तत्कैङ्कर्यपरायणैः शेषभूतैः लोकसङ्ग्रहणार्थं श्रुतिचोदितकर्मणाम् अनुष्ठानम्।

अर्थ

तु-किन्तु **तत्कैङ्कर्यपरायणैः**-भगवत्कैंकर्यपरायण **शेषभूतैः**-शेषभूत प्रपन्नों के द्वारा (यह कहा जाता है कि) **लोकसङ्ग्रहणार्थम्**-लोकसंग्रह के लिए **श्रुतिचोदितकर्मणाम्**[1]-श्रुतिविहित सभी कर्मों का **अनुष्ठानम्**-अनुष्ठान करना चाहिए।

भाष्य

पूर्व में 103 वें श्लोक में परमैकान्तिकों के द्वारा प्रपन्न के लिये काम्य कर्म का स्वरूपतः त्याग और 104 वें श्लोक में अन्य सभी उपायों को प्रपत्ति का विरोधी कहकर अब प्रस्तुत श्लोक में भगवत्कैंकर्यपरायणों के द्वारा शास्त्रविहित सभी कर्मों का अनुष्ठान प्रपन्न के लिए कहा जाता है।

यह पूर्व में कहा गया है कि जिसे करने से भगवान् प्रसन्न होते हैं, उसे कैंकर्य कहते हैं। भगवान् शास्त्रविहित कर्म, ज्ञान और उपासना को करने से प्रसन्न होते हैं अतः वे सभी कैंकर्य हैं। भगवान् सबके स्वामी हैं, सब कुछ उनका शेष है, प्रपन्न भी उनका शेष है। जिन कर्मों के करने से लोक को उसे करने के लिए शिक्षा प्राप्त होती है, वे कर्म लोकसंग्रहार्थ कहे जाते हैं। यद्यपि प्रपन्न का कोई कर्तव्य नहीं होता तथापि यदि वह उनका पूर्णतः त्याग कर दे तो उसके अनुयायियों में प्रमाद और अज्ञान का प्रसार होगा।

1.अत्र श्रुतिशब्दः स्मृतेः उपलक्षणम्, तेन श्रुतिस्मृतिविहितसर्वकर्मणाम् इत्यर्थः।

इसलिए उसे लोकसंग्रहार्थ नित्य, नैमित्तिक कर्म करने चाहिए। प्रपन्न और सामान्य व्यक्ति के कर्मानुष्ठान में इतना अन्तर है कि सामान्य व्यक्ति 'अमुक कर्म अमुक फल का उपाय है' इस प्रकार उपायबुद्धि से कर्म करता है, प्रपन्न उपायबुद्धि से कर्म नहीं करता है बल्कि कैंकर्यबुद्धि से करता है।

उक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि जिस प्रपन्न के अनुयायी हों, वह लोकसंग्रह के लिए उक्त रीति से कर्म करे, इस प्रकार किये जाने वाले कर्म प्रपत्ति के विरोधी नहीं है और जिसके अनुयायी नहीं है, वह कर्मों का पूर्णतः त्याग कर सकता है अथवा कैंकर्यबुद्धि से उन्हें कर भी सकता है। प्रस्तुत श्लोक में श्रुतिचोदितकर्मणाम् यहाँ कर्मणाम् पद को ज्ञान और भक्ति का भी उपलक्षण जानना चाहिए अतः लोकसंग्रह के लिए इनका भी अनुष्ठान किया जा सकता है पर उपायबुद्धि से नहीं किया जा सकता।

तन्न्यासाङ्गानुकूल्यादौ यस्य कस्य महात्मभिः।
शेषवृत्तिपरैर्हानौ प्रपत्तिन्यूनता न हि॥106॥

अन्वय

शेषवृत्तिपरैः महात्मभिः तन्न्यासाङ्गानुकूल्यादौ यस्य कस्य हानौ प्रपत्तिन्यूनता हि न।

अर्थ

शेषवृत्तिपरैः-कैंकर्यपरायण **महात्मभिः**-महात्माओं के द्वारा **तन्न्यासाङ्गानुकूल्यादौ**-प्रपत्ति के अंग अनुकूलता के संकल्पादि में **यस्य**-जिस **कस्य**-किसी अंग की **हानौ**-न्यूनता होने पर **प्रपत्तिन्यूनता**-प्रपत्ति की न्यूनता होती **हि**-ही **न**-नहीं।

भाष्य

आनुकूल्यस्य संकल्पः...(अहि.सं.) इत्यादि रीति से वर्णित छः प्रकार की प्रपत्ति में आनुकूल्यसंकल्प आदि पाँच अंग तथा आत्मनिक्षेप अंगी है। प्रपत्ति स्वीकार करते समय हे प्रभो! मैं आज से आपके अनुकूल होकर ही रहूँगा, इस प्रकार वर्णित आनुकूल्यसंकल्प इत्यादि अंगों में किसी अंग की

न्यूनता होने पर भी अर्थात् भगवत्सन्निधि में प्रपत्ति करते समय किसी अंग का निवेदन न करने पर भी कैंकर्यपरायण प्रपन्नों की प्रपत्ति की न्यूनता नहीं हो सकती क्योंकि उसके द्वारा सदा अपने स्वामी के अनुकूल ही आचरण होता है, प्रतिकूल आचरण नहीं होता। कहने का तात्पर्य यह है कि कैंकर्यपरायण व्यक्ति के द्वारा प्रपत्ति के अनुष्ठान में न्यूनता होने पर भी भगवान् उसे स्वीकार करते हैं और वह पूर्ण ही मानी जाती है। प्रस्तुत श्लोक से भगवत्कैंकर्य की अतिशय महिमा द्योतित होती है।

रामप्रसादहेतुर्हि न्यासोऽयं विनिगद्यते।
नित्यशूरैः सदाचारैर्हरिपादाब्जमानसैः॥107॥

अन्वय

सदाचारैः हरिपादाब्जमानसैः नित्यशूरैः विनिगद्यते, अयं न्यासः रामप्रसादहेतुः हि।

अर्थ

सदाचारैः-सदाचारपरायण **हरिपादाब्जमानसैः**-श्रीहरि के चरणारविन्दों में लीन मन वाले **नित्यशूरैः**-नित्य सूरियों के द्वारा **विनिगद्यते**-कहा जाता है कि **अयम्**-यह **न्यासः**-शरणागति **रामप्रसादहेतुः**-श्रीराम की प्रसन्नता का हेतु **हि**-ही है।

भाष्य

जिनका संसार में कभी भी बन्धन नहीं हुआ, वे श्रीहनुमान् आदि नित्य या नित्य सूरि कहे जाते हैं। प्रस्तुत श्लोक में नित्यशूर पद से ये ही विवक्षित हैं। यह प्रपत्ति श्रीरामचन्द्र के अनुग्रह का हेतु है। इसे करने से उनकी अपार कृपावृष्टि होती है। नित्यसूरि सर्वदा सदाचारपरायण ही रहते हैं, और इनका मन सदा भगवान् के चरणों में लगा रहता है। इनका कहना है कि शरणागति भगवान् की प्रसन्नता का हेतु है। शरणागति से प्रसन्न हुए भगवान् शरणागत को अभीष्ट फल प्रदान करते हैं, इससे स्पष्ट है कि फलप्राप्ति का उपाय भगवान् ही हैं और शरणागति उनकी प्रसन्नता का उपाय है।

कृतप्रपत्तिस्मरणं प्रायश्चित्तमथोच्यते।

परमाप्तैश्च तन्निष्ठैः कोविदैस्तैर्मुमुक्षुभिः॥108॥

अन्वय

च अथ तैः परमाप्तैः तन्निष्ठैः कोविदैः मुमुक्षुभिः उच्यते, कृतप्रपत्तिस्मरणं प्रायश्चित्तम्।

अर्थ

च-और **अथ**-प्रपत्ति को प्रभु की प्रसन्नता का हेतु कहने के पश्चात् **तैः**-उन **परमाप्तैः**-परम आप्त **तन्निष्ठैः**-प्रपत्ति में निष्ठा रखने वाले **कोविदैः**-विद्वान् **मुमुक्षुभिः**-मुमुक्षुओं के द्वारा **उच्यते**-कहा जाता है (कि प्रपन्न के लिए) **कृतप्रपत्तिस्मरणम्**-पूर्वकृत प्रपत्ति का स्मरण (ही) **प्रायश्चित्तम्**-प्रायश्चित्त है।

भाष्य

वस्तु के यथार्थज्ञानपूर्वक यथार्थवचन बोलने वाले को आप्त कहते हैं। परम आप्त, प्रपत्तिनिष्ठ, शास्त्रज्ञानी मुमुक्षु पूर्वकृत प्रपत्ति के स्मरण को ही प्रायश्चित्त कहते हैं। यह पूर्व में कहा गया है कि प्रपन्न षड्विध प्रपत्ति करके सदा के लिए निर्भय हो जाता है। श्रीरामचन्द्र प्रसन्न होकर उसका सभी भार अपने ऊपर ले लेते हैं और उसे मोक्ष प्रदान करते हैं। यदि किसी प्रपन्न से प्रारब्धवशात् कोई अपराध हो जाए तो उसे क्या करना चाहिए? अपराध की निवृत्ति के लिए प्रायश्चित्त करना चाहिए? अथवा पुनः प्रपत्ति करना चाहिए? इसके उत्तर में कहा जाता है कि **कृतप्रपत्तिस्मरणं प्रायश्चित्तमथोच्यते** अर्थात् प्रपन्न के पाप की निवृत्ति के लिए उसके द्वारा पूर्व में की गयी प्रपत्ति का स्मरण ही प्रायश्चित्त है, उसे इससे अतिरिक्त किसी प्रायश्चित्त की आवश्यकता नहीं है और पुनः प्रपत्ति करने की भी आवश्यकता नहीं अतः पूर्वकृत प्रपत्ति का स्मरण ही पर्याप्त है।

भक्तियोग(साधन भक्ति) प्रारब्ध से व्यतिरिक्त कर्मों को नष्ट करने की क्षमता रखता है और प्रपत्ति(साध्य भक्ति) प्रायः प्रारब्ध को भी नष्ट करने की क्षमता रखती है-**उपायभक्तिः प्रारब्धव्यतिरिक्ताघनाशिनी। साध्यभक्तिः तु सा हन्त्री प्रारब्धस्यापि भूयसी॥**(न्या.सि.जी.)। यद्यपि शरणागति सम्पूर्ण प्रारब्ध का नाश करने में समर्थ है तथापि शरणागत जितने प्रारब्ध को

बनाये रखना चाहता है, उतने को वह नष्ट नहीं करती। यदि उसका सम्पूर्ण प्रारब्ध में वैराग्य है तो शरणागति सम्पूर्ण प्रारब्ध को नष्ट करती है। यदि कोई शरणागत भगवद्-विरह से अत्यन्त व्याकुल होकर शीघ्र ही साकेत धाम जाकर भगवान् को प्राप्त करना चाहता है तो शरणागति उसके सम्पूर्ण प्रारब्ध का नाश करती है और यदि कोई यहीं पर शीघ्र भगवद्दर्शन के लिए व्याकुल होता है तो प्रपत्ति यहीं पर शीघ्र साक्षात्कार कराके प्रारब्ध से भिन्न कर्मों का नाश करती है और प्रारब्ध के अवसानकाल में साकेत की प्राप्ति कराती है। कौन प्रपन्न कितने प्रारब्ध को बचाए रखना चाहता है? इसका निर्णय करना दुष्कर है क्योंकि सभी पुरुषों के अभिप्राय एक जैसे नहीं होते। शरणागति में अन्तिम स्मरण की भी अपेक्षा नहीं होती।

आर्त प्रपन्न को तुरन्त मोक्ष प्राप्त होता है और दृप्त प्रपन्न का भोग से प्रारब्ध क्षीण होने पर देह शान्त होते ही मोक्ष प्राप्त होता है। भक्तियोगनिष्ठ को प्रारब्ध के समाप्त होने पर मोक्ष प्राप्त होता है। किसी भक्त का प्रार-ब्धवशात् अगला जन्म भी हो सकता है और किसी का प्रारब्ध उसी शरीर के साथ ही समाप्त हो जाता है, जिस शरीर से भक्तियोग की निष्पत्ति हुई है किन्तु शरणागत को शरीरान्तर की प्राप्ति होती ही नहीं।

पूर्व में 66 वें श्लोक की व्याख्या में जिस भक्ति(भक्तियोग) का वर्णन किया गया था, वह साधन भक्ति कहलाती है। 'भगवान् की प्राप्ति में भक्ति ही साधन है' इस प्रकार साधनबुद्धि से की जाने वाली भक्ति ही साधनभक्ति या उपायभक्ति कहलाती है। अब प्रसंगानुसार साध्यभक्तिरूप प्रपत्ति का विस्तृत वर्णन किया जाता है-

शरणागति का विस्तृत विवेचन

भगवान् की प्राप्ति में भगवान् ही साधन हैं, ऐसी जो बुद्धि होती है। वही साध्यभक्ति कहलाती है, इसे ही प्रपत्ति कहा जाता है। भक्ति प्रीतिरूप होती है और प्रपत्ति भी प्रीतिरूप होती है इसलिए प्रपत्ति भी भक्ति है, इसी को शरणागति, प्रपत्ति, निक्षेप, याञ्चा आदि नामों से कहा जाता है। उपनिषदों में जिस न्यासविद्या नामक ब्रह्मविद्या का वर्णन किया गया है, वह यही साध्य भक्ति है। मनीषीगण मोक्ष का साधन ब्रह्मविद्यारूप न्यास को कहते हैं- **न्यास इत्याहुर्मनीषिणः**।(तै.ना.उ.।45) यहीं पर **वसुरण्यो विभू**....(तै.ना.

उ.148) इत्यादि मन्त्र से न्यास का प्रयोग बताया गया है। **यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्, यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै। तं देवात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये।**(श्वे.उ.6.18), यह भी न्यासमन्त्र है। यह न्यास विद्या भी ब्रह्मविषयक ज्ञानविशेष है, यह ब्रह्मज्ञानरूप होने से मोक्ष का उपाय है अतः ज्ञान से अतिरिक्त मोक्ष के उपाय का निषेध करने वाले उपनिषद्वचनों से विरोध नहीं है।

जीव को स्वकल्याणार्थ शरणागति करने के लिए अकिञ्चन और अनन्यगति होना चाहिए। शरणागत के गुण हैं-आकिञ्चन्य और अनन्यगतित्व। कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग को करने में समर्थ न होना ही आकिञ्चन्य है। भगवत्प्राप्तिरूप मोक्ष को छोड़कर दूसरे किसी फल को न चाहना ही अनन्यगतित्व है। दूसरे फलों को न चाहने वाला अन्य देवताओं का आश्रय नहीं लेगा, वह उनसे विमुख हो जायेगा क्योंकि अन्य देवता मोक्ष नहीं दे सकते। शरणागति के लिए आकिञ्चन्य और अनन्यगतित्व ही अपेक्षित है, जिनमें ये दोनों हों, वे ही शरणागति के अधिकारी हैं।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कर्मयोगादि उपायान्तरों से रहित, भगवत्प्राप्ति को छोड़कर अन्य प्रयोजनों से विमुख तथा दूसरे देवताओं से विमुख होकर श्रीभगवान् की कृपा पर पूर्ण विश्वास रखने वाले साधक शरणागति के पूर्ण अधिकारी होते हैं। अहिर्बुध्न्यसंहिता में कहा है कि **1.**आनुकूल्यसंकल्प **2.**प्रातिकूल्यत्याग **3.**कार्पण्य अर्थात् आकिञ्चन्य आदि का अनुसन्धान **4.**भगवान् रक्षा करेंगे, ऐसा महाविश्वास **5.**रक्षक होने के लिए भगवान् का वरण और **6.**आत्मसमर्पण, इस प्रकार शरणागति छः प्रकार की होती है-**आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्। रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा। आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड् विधा शरणागतिः॥**(अहि.सं)। उक्त छः अंगों में आत्मनिक्षेप अंगी (प्रधान) है और शेष पाँच अंग(सहायक) हैं। जैसे भक्ति अष्टांग योग है, वैसे ही प्रपत्ति पंचांग योग है।

हे 'प्रभो! मैं आज से आपके अनुकूल होकर रहूँगा,' इस संकल्प को आनुकूल्यसंकल्प कहते हैं तथा 'कभी भी प्रतिकूल होकर नहीं रहूँगा।' इस संकल्प को प्रातिकूल्यवर्जन कहते हैं। ये दोनों संकल्प शरणागत के अवश्य कर्तव्य हैं क्योंकि शरणागत अपने को प्रभु का दास समझता है।

दास को स्वामी की इच्छा के अनुकूल आचरण करना चाहिए और प्रतिकूल आचरण का त्याग करना चाहिए। उक्त संकल्पों का यह महा फल है कि शरणागत पाप के आचरण से विरत हो जाता है क्योंकि वह आचरण संकल्पों के विपरीत है। शरणागति का तीसरा अंग कार्पण्य है। अपने आकिञ्चन्य अर्थात् साधनहीनता का अनुसन्धान कार्पण्य कहलाता है। कहने का सार यह है कि अपनी दीन-हीन दशा का भगवान् के सान्निध्य में निवेदन करना ही कार्पण्य है। अपनी इस दशा के अनुसन्धान का यह फल है कि शरणागत अन्य उपायों में प्रवृत्त होने की इच्छा को सदा के लिए छोड़ देता है। 'प्रभु किसी उपाय की अपेक्षा न करके अवश्य रक्षा करते हैं, ऐसे निश्चय को महाविश्वास कहते हैं, यह शरणागति का चतुर्थ अंग है। यह विश्वास आवश्यक है क्योंकि ऐसा विश्वास रखने वाला पुरुष ही भगवान् की शरण में जा सकता है और अपने रक्षाभार को भगवान् के चरणों में सौंपकर निर्भर होकर रह सकता है क्योंकि विश्वास में कमी होने पर 'भगवान् रक्षा करेंगे, इसमें क्या भरोसा?' ऐसा सोचता हुआ साधक अपने को निर्भर नहीं मानेगा, और उपायान्तरों में प्रवृत्त भी हो जायेगा इसलिए शरणागति में महाविश्वास की अत्यन्त आवश्यकता समझी जाती है। रक्षक बनने के लिए भगवान् से प्रार्थना करना ही गोप्तृत्ववरण है। 'मैं अमुक फल चाहता हूँ, आप मुझे दीजिए' अथवा 'मैं अपनी रक्षा चाहता हूँ, आप मेरी रक्षा कीजिए' ऐसी प्रार्थना करने पर ही श्रीभगवान् रक्षा करते हैं क्योंकि जीवों की प्रार्थना से उनकी इच्छा को जानकर भगवान् फल देते हैं तभी वे पुरुषार्थदाता कहलाते हैं। जीवों की इच्छा को बिना जाने यदि भगवान् महा फल भी दें, तो भी पुरुषार्थदाता नहीं माने जा सकते क्योंकि जो पुरुषों से माँगा जाता है, वही पुरुषार्थ होता है इसलिए जीव को प्रार्थना द्वारा अपनी इच्छा को व्यक्त करना पड़ता है अतः गोप्तृत्ववरण की आवश्यकता समझी जाती है, इस प्रकार पाँच अंगों का निरूपण सम्पन्न होता है। शरणागति में निक्षेप अर्थात् समर्पण अंगी है। स्वरूप, भर और फल इन तीन वस्तुओं को भगवान् को समर्पित करना पड़ता है। स्वरूपसमर्पण एक अनुसन्धान है, वह इस प्रकार है कि 'हे प्रभो! मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ, आपका ही हूँ, अन्य किसी का नहीं' इस प्रकार अनुसन्धान करना ही स्वस्वरूप का समर्पण करना है। 'भगवन्! मैं अपनी तथा अपनी कही जाने वाली वस्तुओं की रक्षा नहीं कर सकता,

आप ही मेरी तथा इन वस्तुओं की रक्षा कर सकते हैं' ऐसा समझकर रक्षाभार का भगवान् के चरणों में समर्पण करना ही भरसमर्पण कहलाता है। 'रक्षा होने पर मिलने वाले फल के प्रधान भोक्ता आप(भगवान्) ही हैं, मैं नहीं' ऐसा समझकर फल को भगवान् के चरणों में समर्पित कर देना फलसमर्पण कहलाता है, इस प्रकार अंगीस्वरूप का व्याख्यान निष्पन्न होता है। उक्त पाँच अंगों तथा तीन प्रकार के समर्पण का शरणागति में समावेश है, इनमें प्रार्थना और भरसमर्पण इन दोनों को मिलाने पर शरणागति का लक्षण बन जाता है।

लोक में यह देखा जाता है कि कुछ लोग भिक्षा माँगते हैं, वे प्रार्थना अवश्य करते हैं किन्तु इतने से उन्हें शरणागत नहीं कहा जाता क्योंकि वे किसी पर अपने कर्तव्यभार को नहीं सौंपते तथा कुछ स्वामी अपने सेवकों को आदेश देते हैं कि तुम सभी आज से इस कर्तव्यभार को सँभालो, इस प्रकार वे भरसमर्पण अवश्य करते हैं किन्तु इतने से यह नहीं कहा जाता कि स्वामी सेवकों के शरणागत हो गये क्योंकि यह प्रार्थना नहीं है, यह तो आदेश है, इस विवरण से यह सिद्ध होता है कि केवल प्रार्थना शरणागति नहीं है और केवल भर समर्पण भी शरणागति नहीं है अपितु प्रार्थनायुक्त भरसमर्पण ही शरणागति है, इसी भाव को मन में रखकर श्रीभरतमुनि ने कहा है कि अपना अभीष्ट दूसरे के द्वारा साध्य न होने पर उसे करने में समर्थ महापुरुष से आप ही उपाय बन जाइए, ऐसी प्रार्थना करना ही प्रपत्ति है, यही शरणागति है-**अनन्यसाध्ये स्वाभीष्टे महाविश्वासपूर्वकम्। तदेकोपायता याञ्चा प्रपत्तिः शरणागतिः।** यहाँ याञ्चा शब्द से प्रार्थना निर्दिष्ट है और स्वाभीष्ट है-भगवत्प्राप्ति तथा भगवान् ही उसे करने में समर्थ हैं अतः हे प्रभो! अपनी प्राप्ति में आप ही एक उपाय बन जाइए, ऐसी प्रार्थना की जाती है, इसमें भरन्यास भी निहित है क्योंकि अपने भार को दूसरे पर समर्पित करने के बाद ही ऐसी प्रार्थना की जा सकती है। यह भरसमर्पण एक बार ही कर्तव्य होता है अतः शरणागति में आवृत्ति की अपेक्षा नहीं होती।

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥(वा.रा.6.18.33) इस प्रकार श्रीरामचन्द्र के कथनानुसार शरणागत को एक बार ही शरणागति करनी पड़ती है तथा भगवान् को भी एक बार

ही संकल्प करना पड़ता है, इस प्रकार दोनों को अपना अपना काम एक बार ही करना पड़ता है। जिस प्रकार धनुर्धारी पुरुष बाणप्रयोग करके एक बार में ही लक्ष्य का वेधन करता है, उसी प्रकार शरणागत को एक बार ही शरणागति करनी पड़ती है। शरणागति ब्रह्मास्त्र के समान प्रभाव रखती है, इस विषय में सनत्कुमारसंहिता में कहा है कि मेघनाद ने श्रीहनुमान् जी को ब्रह्मास्त्र से बाँधा था और वे ब्रह्मास्त्र से बँधकर नीचे गिर पड़े, तब राक्षसों ने ब्रह्मास्त्र पर विश्वास न करके उन्हें रस्सियों से बाँधना आरम्भ किया। उस समय अमोघ ब्रह्मास्त्र हट गया क्योंकि वह दूसरे बन्धन को नहीं सहन कर सकता, वैसे ही यदि कोई पुरुष शरणागति करके उत्तर काल में उस पर विश्वास न करके इष्टसिद्धि के लिए दूसरे उपाय का आश्रय लेगा तो शरणागति हट जायेगी क्योंकि वह दूसरे उपाय को सहन नहीं कर सकती। इससे स्पष्ट है कि विश्वासयुक्त अधिकारी को शरणागति शीघ्र मुक्ति देगी-**राक्षसानामविस्रम्भादाञ्जनेयस्य बन्धने। यथा विगलिता सद्यस्त्वमोघाऽप्यस्त्रबन्धना॥ तथा पुंसामविस्रम्भात् प्रपत्तिः प्रच्युता भवेत्। तस्माद् विस्रंम्भयुतानां मुक्तिं दास्यति साऽचिरात्॥**(स.सं.), ब्रह्मास्त्र के प्रभाव के सामने इन तुच्छ रस्सियों का क्या प्रभाव हो सकता है? अतः श्रीहनुमान् जी को रस्सियों से बाँधने पर ब्रह्मास्त्र लज्जित होकर हट गया। वैसे ही शरणागति के सामने दूसरे उपायों का भला क्या प्रभाव हो सकता है? अतः दूसरे उपाय का आश्रय लेने पर शरणागति निष्फल हो जायेगी। भगवान् पर विश्वास करने वाले को शरणागति शीघ्र ही फल देती है, इस विषय में कोई संदेह नहीं अतः शरणागत को कभी भी उपायान्तर में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए। तो क्या शरणागत एक बार शरणागति करके निकम्मा होकर बैठा रहे? उक्त कथन का यह तात्पर्य नहीं है। शरणागत कैंकर्यबुद्धि से सब कुछ कर सकता हैं, पर उपायबुद्धि से नहीं कर सकता, ऐसा जानना चाहिए। ब्रह्मास्त्र के समान केवल शरणागति का प्रभाव है, दूसरे किसी उपाय का नहीं। शरणागति तीन प्रकार की होती है-1.स्वनिष्ठा 2. उक्तिनिष्ठा और 3.आचार्यनिष्ठा।

स्वनिष्ठा उस शरणागति को कहते हैं, जो शिष्य आचार्य से शरणागति-विषयक पूर्ण ज्ञान को प्राप्त कर स्वयं भगवान् के सान्निध्य में महाविश्वास-पूर्वक मन्त्रद्वय का उच्चारण कर पाँच अंगों से युक्त आत्मसमर्पण करता है।

पूर्णज्ञान सम्पन्न महानुभाव ही स्वनिष्ठा शरणागति कर सकते हैं।

उक्तिनिष्ठा उस शरणागति को कहते हैं जो कि आनुकूल्यसंकल्प इत्यादि अंगों का विशद ज्ञान न होने पर भी शिष्य साधारण ज्ञान की सहायता से ही भगवान् के सान्निध्य में आचार्य से उपदिष्ट मन्त्रद्वय का उच्चारण कर भगवान् के चरणों में आत्मरक्षाभार का समर्पण करता है। पूर्ण विशद ज्ञान न होने पर भी शिष्य उक्तिनिष्ठा शरणागति कर सकता है, इससे भी कल्याण होता है। लोक में देखा जाता है कि राजाओं का पारस्परिक युद्ध होता है, उसमें एक राजा मारा जाता है, उसका तीन वर्ष का एक छोटा बालक बचा रहता है। विजयी राजा पराजित राजा के राज्य में प्रवेश करता है। धात्री लघु राजकुमार को 'त्वमेव शरणं मम' इस वाक्य को सिखाती है। जब विजयी राजा आकर सिंहासन पर विराजमान होता है, तब शिशु राजकुमार धात्री के द्वारा सिखाए गये वाक्य को कहता हुआ राजा के समक्ष हाथ जोड़कर खड़ा हो जाता है। यद्यपि शिशु उक्त वाक्य का अर्थ नहीं जानता, वह इतना ही जानता है कि इसे राजा को सुनाना चाहिए किन्तु इसे सुनकर भी राजा प्रसन्न हो जाता है और वह कहता है कि यह राजकुमार अत्यन्त बुद्धिमान् है, हमसे कहता है कि आप ही मेरे लिए शरण हैं अतः इसे अवश्य राज्य देना चाहिए, ऐसा कहकर वह उसे युवराज पद पर अभिषिक्त कर देता है। इस दृष्टान्त से स्पष्ट है कि विना समझे बोला गया वाक्य भी दूसरे को प्रभावित कर मनोरथ को पूर्ण कर देता है। जैसे उपनयन संस्कार के समय ब्रह्मचारी को 'भवति भिक्षां देहि।' यह वाक्य सिखाया जाता है। यद्यपि ब्रह्मचारी इस वाक्य का अर्थ नहीं समझता, तथापि गृहस्थों के घर में पहुँचकर उक्त वाक्य को बोलने से सुनने वाले की दया उस पर उमड़ पड़ती है और वे तुरन्त भिक्षा दे देते हैं। इस दृष्टान्त से भी स्पष्ट है कि विना अर्थ समझे बोला गया वाक्य भी दूसरे को ज्ञान कराकर मनोरथ पूर्ण करता है। वैसे ही पूर्ण ज्ञान न होने पर भी यदि शिष्य परम कृपालु भगवान् श्रीमद्रामचन्द्र की सन्निधि में मन्त्रद्वय बोलकर प्रार्थना करे तो सर्वज्ञ भगवान् उसके अर्थ को समझकर जीव को शरणागत मानकर अपना लेते हैं और उसके मनोरथ को पूर्ण करते हैं।

आचार्यनिष्ठा शरणागति शिष्य को नहीं करनी पड़ती प्रत्युत आचार्य को करनी पड़ती है। आचार्यनिष्ठा उस शरणागति को कहते हैं जो आचार्य

शिष्य के कल्याणार्थ भगवान् के सान्निध्य में जाकर आनुकूल्यसंकल्प इत्यादि पाँच अंगों के साथ शिष्य का रक्षाभार भगवान् के चरणों में समर्पित कर देते हैं। इसमें शिष्य को कुछ भी करना नहीं पड़ता केवल आचार्य के आश्रय में रहना पड़ता है। जिस शिष्य को यह निश्चित रूप से विदित है कि आचार्य ने मेरे लिए शरणागति की है, वह शिष्य पुनः शरणागति नहीं कर सकता क्योंकि शरणागति एक बार ही की जाती है। शिष्य का विश्वास न्यून होने पर स्वनिष्ठा और उक्तिनिष्ठा शरणागति विफल हो सकती है किन्तु आचार्यनिष्ठा शरणागति कभी विफल नहीं हो सकती, यही इसकी विशेषता है। यदि यह शरणागति शिष्य को विदित न हो, तो वह आत्मकल्याणार्थ शरणागति कर सकता है, ऐसा करने पर भी आचार्यकृत शरणागति बाधित नहीं होगी। वह अवश्य फल देगी। शिष्य के द्वारा की गयी शरणागति भगवान् का मुखोल्लास(प्रसन्नता) अवश्य करेगी किन्तु वह मोक्ष नहीं दे सकती, उसके मोक्ष का जनक आचार्यनिष्ठ शरणागति ही है।

शरणागत का कब क्या हित करना चाहिए? इस विषय को भगवान् अच्छी तरह जानते हैं और वे दया के वशीभूत होकर उसके योगक्षेम को यथासमय सम्पन्न करते रहते हैं अतः शरणागत को उसकी भी चिन्ता नहीं करनी पड़ती। श्रीरामचन्द्र की दया नदीप्रवाह के समान है। नदीप्रवाह निम्न भूमि में विना व्यवधान के बहता रहता है और वह उन्नत भूमि में नहीं चढ़ सकता, उसी प्रकार भगवान् की दया भी उन दीन-हीन जीवों पर बहती है, जो संसार में अपने को सभी से निम्न कोटि का समझते हैं। प्रभु की दया उन अहंकारी और साधनान्तरनिष्ठ जीवों पर नहीं बहती, जो लोक में उन्नत माने जाते हैं। संसार में निम्न कोटि के माने जाने वाले शरणागत जीवों पर उनकी दया बहती ही रहती है। वस्तुतः अहंकारी जीव उन्नत पुरुष हैं ही नहीं, वे तो अत्यन्त नीच हैं। भगवान् पर पूर्ण विश्वास करने वाले और साधनान्तर में हाथ न लगाने वाले दीन-हीन जन ही उन्नत पुरुष हैं, तथापि लोकदृष्टि से यह कहा जाता है कि भगवान् की कृपा नदीप्रवाह के समान दीन-हीन जन पर सदा स्वयं प्रवहित होती रहती है तथा अहंकारी व साधनान्तरनिष्ठ उच्चकोटि के जीवों पर प्रवहित नहीं होती। कहने का अभिप्राय यह है कि अहंकारी जीव पर भगवान् की कृपा

सहज ही प्रवहित नहीं होती अपितु अहंकार के गलने पर ही होती है, इसके लिए उसे कठिन साधनान्तर का अनुष्ठान करना पड़ता है। दयालु भगवान् शरणागत का सर्वविध हित करने के लिए जुट जाते हैं। शरणागति के अनन्तर मोक्षप्राप्ति तक उसका जो हित अपेक्षित होता है, श्रीभगवान् उसे करते ही रहते हैं। वे मानते हैं कि शरणागत का हित करना मेरा कर्तव्य है, इसे न करने पर मैं कर्तव्यच्युत हो जाऊँगा और जीवात्मा की प्राप्ति मेरे लिए अलभ्य लाभ है। खोई हुई वस्तु स्वामी को यदि मिल जाय तो यह उसका अलभ्य लाभ माना जाता है, वैसे ही संसार में खोया हुआ जीवात्मा यदि भगवान् को मिल जाय तो वे उसे अलभ्य लाभ मानते हैं और फूले नहीं समाते।

यह पूर्व में कहा गया है कि भगवत्प्राप्ति में उपायबुद्धि से की जाने वाली भक्ति ही उपाय भक्ति है। प्रीति से पूर्ण ध्यान को भक्ति कहते हैं। ध्यान उपाय होता है, इसलिए उसमें निहित प्रीति भी उपाय बन जाती है, अत एव वह उपायभक्ति कहलाती है। इसकी निष्पत्ति के लिए कर्मयोग और ज्ञानयोग की अपेक्षा होती है किन्तु साध्यभक्तिरूप प्रपत्ति की निष्पत्ति के लिए कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग इनमें से किसी की भी अपेक्षा नहीं होती। इन तीनों को करने में जो अपने को असमर्थ समझता है, वह शरणागति का अधिकारी है। शरणागति इतर उपायों की अपेक्षा न रखते हुए मोक्ष का साधन होती है।

शंका-भक्तियोगी साधक भक्तियोग की निष्पत्ति के लिए भगवत्-शरणागति करके भक्तियोग का अनुष्ठान करता है। इस प्रकार शरणागति का भक्ति योग के साथ कैसे समुच्चय होता है?

समाधान-मोक्ष के लिए की जाने वाली शरणागति से किसी का समुच्चय नहीं होता। भक्तियोगी साधकों द्वारा की जाने वाली शरणागति दूसरी है, वह भक्तियोग में व्यवधान उपस्थित होने पर की जाती है और वह भक्तियोग का अंग होती है तथा भक्तियोग अंगी। इस प्रकार शरणागति और भक्तियोग में अंगांगिभाव होता है किन्तु यहाँ भी समुच्चय नहीं होता। स्वतन्त्र शरणागति भगवत्प्राप्ति के विरोधी पापों को नष्ट करती है और भक्ति की अंग शरणागति भक्तियोग के विरोधी पापों को नष्ट करके भक्तियोग को सतत प्रवाहित करने के लिए की जाती है। यद्यपि दोनों प्रकारों की

शरणागति को करने में समानता है फिर भी दोनों के उद्देश्य और फल में भेद होने से दोनों भिन्न हैं। शरीरान्तकाल में परिपक्व अवस्था को प्राप्त हुआ भक्तियोग मोक्ष प्रदान करता है, इसलिए भक्तियोग मरणपर्यन्त बारम्बार करने योग्य है तथा शरणागति जीवन में एक बार की जाती है।

यद्यपि यह न्यासविद्यारूप प्रपत्ति एक बार कर्तव्य होने से सुगम उपाय प्रतीत होती है और भक्तियोग का बारम्बार अभ्यास कर्तव्य होने से एवं अन्य साधनों की अपेक्षा रखने से दुष्कर उपाय प्रतीत होता है, तथापि कठिनता से होने वाले महाविश्वास आदि की अपेक्षा रखने से न्यासविद्या दुष्कर उपाय प्रतीत होती है और महाविश्वास की अपेक्षा सरलता से होने वाले जो कर्मयोगादि हैं, उनकी अपेक्षा करने से भक्तियोग सरल उपाय प्रतीत होता है। इस प्रकार दोनों में दृष्टिभेद से सरलता एवं कठिनता प्रतीत होती है। महाविश्वासी के लिए तो न्यासविद्या ही सुगम साधन है। साधन भक्ति एवं साध्यभक्तिरूप शरणागति दोनों का अनुष्ठान करने वालों के लिए निषिद्ध कर्म का त्याग समानरूप से है। शरणागत उपायत्वबुद्धि का त्याग करता है, उपाय का त्याग नहीं करता, इसलिए शरणागति स्वीकार करने वाले भी नित्य, नैमित्तिक कर्म करते हैं किन्तु उपाय बुद्धि से नहीं करते। प्रपत्ति करने वाले के उपाय तो भगवान् ही हैं। प्रपत्ति स्वयं उपाय नहीं है इसलिए उसमें निहित प्रीति भी उपाय नहीं है फिर भी वह प्रपत्ति सिद्ध करने योग्य होती है इसलिए वह साध्य भक्ति कहलाती है। भक्ति का फल जिस प्रपत्ति से साध्य है, वह साध्यभक्ति है-**साध्या भक्तिः=भक्तिजन्यफलं यया, सा साध्यभक्तिः** इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रपत्ति को साध्यभक्ति कहा जाता है। प्रपत्ति करने के बाद फलरूप से भक्ति रहती ही है, साधनरूप से नहीं रहती, इसलिए भी प्रपत्ति को साध्यभक्ति कहते हैं।

भक्ति और प्रपत्ति से प्रसन्न हुए भगवान् ही मोक्ष प्रदान करते हैं, इसलिए वे ही मुक्ति में परमकारण हैं। भक्ति और प्रपत्ति तो भगवदनुग्रह के द्वारा कारण होती हैं। भगवान् अव्यवहितकारण हैं तथा भक्ति और प्रपत्ति व्यवहितकारण हैं। श्रीभगवान् सिद्धोपाय हैं, भक्ति और प्रपत्ति साध्योपाय हैं। इस प्रकार भक्त और प्रपन्न दोनों ही सिद्धोपायनिष्ठ होते हैं फिर भी बहुलता से स्वतन्त्र प्रपत्ति करने वाले को ही सिद्धोपायनिष्ठ कहा जाता है

क्योंकि वह प्रपत्ति से भरसमर्पण के द्वारा अपनी रक्षा का भार परमात्मा को सौंप देता है। उत्तरकाल में प्रपत्ति की अनुवृत्ति नहीं रहती, उसके स्थान पर परमात्मा ही रहते हैं। शरीरान्तकाल में परिपक्व अवस्था को प्राप्त हुआ भक्तियोग मोक्षप्रदान करता है, इसलिए वह योग मरणपर्यन्त अनुष्ठेय है। इस प्रकार भक्ति की जीवनपर्यन्त अनुवृत्ति होने से भक्त को सिद्धोपायनिष्ठ नहीं कहा जाता, वस्तुतः वह भी सिद्धोपायनिष्ठ ही है। उपायदशा में भक्ति साधनरूप से रहती है और मुक्ति दशा में फलरूप से रहती है।

वेदों में शरणागति

वेद धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चतुर्विध पुरुषार्थों का प्रतिपादन करता है, इसके दो भाग मन्त्र और ब्राह्मण हैं-**मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्।** (आ.श्रौ.सू.)। वेद अपौरुषेय और अनादि है। पाश्चात्य विद्वानों की दृष्टि से भी ऋग्वेद विश्वसाहित्य में सर्वाधिक प्राचीन है। प्राचीनता और मान्यता की दृष्टि से वेद ही भारतीय विचारप्रवाह का मूलस्रोत है।

ऋग्वेद संहिता में शरणागति

ऋग्वेद संहिता के चतुर्थ मण्डल में भगवती श्रीसीता जी की शरणागति इस प्रकार वर्णित है कि हे परम ऐश्वर्यशालिनि माता सीते ! हम सभी आपकी वन्दना करते हैं। आप हमारे अनुकूल हों। जैसे आप हम सभी को ऐश्वर्य प्रदान करके प्रकाशित होती है और जैसे अन्य सुन्दर फलों को भी देकर प्रकाशित होती हैं, वैसी ही आप हमें श्रीरामचन्द्र जी की प्राप्ति कराकर प्रकाशित होइये-**अर्वाची सुभगे भव सीते वन्दामहे त्वा। यथा नः सुभगाससि यथा नः सुफलाससि॥**(ऋ.सं. 3.8.9)। इस मन्त्र में भगवान् श्रीराम की प्राप्ति के लिए जानकी जी से प्रार्थना की गई है, इसीलिए कहा जाता है कि हे सर्वलोकेश्वर श्रीरामचन्द्रजी की प्रिय श्रीसीता जी! आप सभी लोकों की माता हैं इसलिए अनेक अपराधों से युक्त इस पुत्र को भगवान् श्रीराम का आश्रय प्रदान कीजिए-**त्वं माता सर्वलोकानां सर्वलोकेश्वर प्रिये। अपराधशतैर्जुष्टमाश्रयस्वैनमच्युतम्॥**

ऋग्वेद का **सनायुवो नमसा नव्यो अर्कैर्वसूयवो मतयो दस्म दद्रुः। पतिं न पत्नीरुशतीरुशन्तं स्पृशन्ति त्वा शवसावन्मनीषाः॥**(ऋ.सं.1.5.3) यह मन्त्र भी शरणागति का प्रतिपादक है। **दस्म**-हे दर्शनीय परम ऐश्वर्य

सम्पन्न प्रभो! (आप) **अर्कैः**-शस्त्र[1] रूप मन्त्रों से **नमसा**-नमस्कार द्वारा **नव्यः**-स्तुति के योग्य हैं। **सनायुवः**-अग्निहोत्र आदि नित्य, नैमित्तिक कर्म करने वाले (और) **वसूयवः**-परमात्मरूप धन की कामना करने वाले **मतयः**-मेधावी साधक **त्वाम्**-आपकी **दद्रुः**-शरण में जाते हैं। **शवसावन्**-हे बलवान् परम ऐश्वर्यशाली प्रभो! जिस प्रकार **उशतीः**-शरण देने वाले रक्षक पति की कामना करते हुए **पत्नीः**-शरणागत पत्नीरूप जीव **उशन्तम्**-कामना के विषय **पतिम्**-रक्षक परमात्मा को प्राप्त करते हैं। **न**[2]-उसी प्रकार(उन साधकों के द्वारा की गयी) **मनीषाः**-स्तुतियाँ आपको **स्पृशन्ति**-प्राप्त होती हैं। इस मन्त्र के द्वारा शरणागति और उसके लिए परम उपयोगी सर्वेश्वर भगवान् और जीवमात्र का पति-पत्नी भावरूप मधुर सम्बन्ध कहा गया है।

ऋक्संहिता में ही शरणागति करने के लिए जीव और ब्रह्म के मधुर सख्य सम्बन्ध का मार्मिक प्रतिपादन किया है। समान गुण वाले, पक्षी के समान साथ रहने वाले, दो सखा जीव और ईश्वर एक शरीररूप वृक्ष में रहते हैं। उनमें एक सखा जीव परिपक्व कर्मफल को भोगता रहता है और दूसरा सखा ईश्वर कर्मफल को न भोगते हुए खूब प्रकाशित रहता है-**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥**(ऋ.सं.2.3.17, मु.उ.3.1.1, श्वे.उ. 4.6)। वृक्ष के तुल्य छेदनयोग्य एक शरीर में परमात्मा के साथ ही रहने वाला, तिरोहित ज्ञानानन्दगुण वाला जीवात्मा असमर्थ होने के कारण मोहग्रस्त होकर दुःखी होता रहता है, वह जब शरणागति से प्रसन्न हुए अपने से भिन्न अपने समर्थ सखा का और इसकी महिमा का साक्षात्कार करता है, तब दुःखरहित हो जाता है-**समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः। जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः॥ 2॥**(मु.उ.3.1.2, श्वे.उ.4.7)।

जीव और ब्रह्म दोनों साथ रहने वाले सखा हैं और वृक्ष के समान विनाशशील एक शरीर में रहते हैं। वृक्ष में पक्षी निवास करते हैं। शरीररूप वृक्ष में निवास करने वाले ये दोनों पक्षी के समान हैं। एक शरीर नष्ट हो जाने पर दोनों दूसरे शरीर में रहने चले जाते हैं, उनमें एक सखा जीव कर्म के परिपक्व फल सुख-दुःख को भोगता रहता है और दूसरा सखा ईश्वर

1.अविगीतमन्त्रसाध्या स्तुतिः शस्त्रम्। 2. न-यथा(सा.भा.), न-इव(वै.जी.भा.)।

कर्मफल को न भोगते हुए आनन्दित रहता है।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया यह ऋक् संहिता का मन्त्र स्पष्ट शब्दों में परमात्मा को जीव का सखा कहता है। जीव का परमात्मा के साथ नित्य, अपरिहार्य सम्बन्ध है। श्रुतियों में उन दोनों के अनेक मधुर सम्बन्धों का वर्णन है, यहाँ तो केवल सख्य सम्बन्ध का विश्लेषण किया जाता है। सम्बन्ध तो सभी मधुर होते हैं किन्तु सखा का सम्बन्ध कितना मधुर होता है, इसकी कल्पना दो घनिष्ठ सखा ही कर सकते हैं, वह मधुर सम्बन्ध अन्य सभी सम्बन्धों में समानरूप से विद्यमान रहता है। भाई-भाई, पिता-पुत्र और पति-पत्नी भी परस्पर एक दूसरे के सच्चे सखा होते हैं। भगवान् श्रीराघवेन्द्र सरकार के अयोध्यावासी व जनकपुरवासी उच्च कुल में उत्पन्न सखा थे तथा सुग्रीव, विभीषण, निषाद, वानर, भालू आदि पामर जाति में उत्पन्न जीव भी सखा थे। भगवान् श्रीकृष्ण के एक ओर तो अर्जुन, उद्धव, ग्वालवाल जैसे सर्वगुण सम्पन्न सखा थे तो दूसरी ओर सुदामा सदृश दीन-हीन भिखारी भी सखा थे। भगवान् प्राणीमात्र के सखा हैं अतः भगवती श्रुति हम सभी भूले-भटके जीवों को अपने सच्चे सखा भगवान् का स्मरण कराती है।

यह आत्मा पापरहित, जरारहित, मृत्युरहित, शोकरहित, क्षुधारहित, पिपासा-रहित, सत्यकाम और सत्यसंकल्प है-**य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः।**(छां.उ.8.7.1) इस प्रकार प्रजापतिविद्या में अपहतपाप्मत्वादि जीवात्मा के गुण कहे गये हैं और **एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सो-ऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः।**(छां.उ.8.1.5) इस प्रकार दहरविद्या में वे ब्रह्म के गुण कहे गये हैं। अपहतपाप्मत्वादि दोनों के समान गुण हैं किन्तु बद्धावस्था में अनादि कर्मात्मिका अविद्या से जीव के गुण तिरोहित हो जाते हैं और ब्रह्म के गुण कभी भी तिरोहित नहीं होते। जीवात्मा ब्रह्म के समान ज्ञानानन्दस्वरूप, ज्ञानानन्द गुण वाला है और ब्रह्म का शेष भी है। जीवात्मा के ज्ञानानन्द गुण, परमात्मशेषत्व, धार्यत्व, नियाम्यत्व और अपहतपाप्मत्वादि स्वाभाविक धर्म उसके ही अनादि कर्मरूप अज्ञान के कारण परमात्मा के संकल्प से तिरोहित होते हैं-**पराभिध्यानात्तु तिरोहितम्** (ब्र.सू.3.2.4)। परमात्मसंकल्प से होने वाला वह तिरोधान भी अचेतन देह

के सम्बन्ध से होता है–**देहयोगाद् वा सोऽपि**(ब्र.सू.3.2.5), वह सृष्टिकाल में शरीररूप में उपस्थित अचेतन प्रकृति के संयोग से और प्रलयकाल में नामरूपविभाग से रहित सूक्ष्म अचेतन प्रकृति के संयोग से होता है। इस प्रकार वृक्ष के समान विनाशी एक ही शरीर में परमात्मा के साथ रहने वाला जीवात्मा के ज्ञानानन्दगुण और परमात्मशेषत्वादि धर्म तिरोहित रहते हैं। प्रकृति सृष्टिकाल में देह, इन्द्रिय और विषयरूप से जीव के समक्ष उपस्थित होती है। तिरोहितस्वरूप वाला जीव 'मैं ब्रह्मज्ञानी हूँ' 'मैं सुखी (सुखरूप आत्मानुभव और परमात्मानुभव करने वाला) हूँ' इस प्रकार अपने वास्तविक स्वरूप को नहीं जानता अपितु 'मैं मोटा हूँ', 'मैं पतला हूँ' 'मैं देवता हूँ' 'मैं मनुष्य हूँ' 'यह वस्तु मेरी है' 'तुम्हारी नहीं है' इत्यादि प्रकार से मोहग्रस्त होता है इसलिए शोक करता है। विपरीत ज्ञान को मोह कहते हैं–**मोहः विपरीतज्ञानम्** (गी.रा.भा.14.13)। आत्मा न तो स्थूल होती है और न ही कृश। स्थूल और कृश तो देह होती है। आत्मा न तो देवता है और न ही मनुष्य। देहविशेष के संयोग से उसे देवता और मनुष्य कहा जाता है इसलिए मैं स्थूल हूँ, मैं कृश हूँ, इस प्रकार आत्मा को स्थूल और कृश समझना विपरीत ज्ञान अर्थात् मोह है। इसी प्रकार आत्मा को देवता और मनुष्य समझना भी मोह है। आत्मा स्वाभाविकरूप से परमात्मा का शेष है। परमात्मा को छोड़कर उसकी कोई भी भोग्य वस्तु स्वाभाविक नहीं, वह कर्मरूप अविद्या के कारण सांसारिक वस्तुओं को अपनी मानता है। ये वस्तुएँ अपनी न होने से इन्हें अपना समझना मोह है और उससे ही विविध प्रकार की चिन्ताओं के कारण जीव शोक करता रहता है। वह संसार सागर से स्वयं अपना उद्धार करने में असमर्थ होने के कारण जब कभी प्रभु की कृपा से उसे करने में समर्थ प्रभु को प्रेमपूर्वक देखता है अर्थात् उनकी शरण ग्रहण करता है और उससे प्रसन्न हुए, अपने से भिन्न और अपने ही हृदय में विराजमान सबके प्रेरक असाधारण सामर्थ्य तथा उद्धारकर्तृत्वादि रूप महिमा से सम्पन्न अपने सच्चे सखा परमात्मा का साक्षात्कार करता है, तब शोकरहित हो जाता है। **समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः। जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः॥**(मु.उ.3.1.2, श्वे.उ.4.7)।

जिस प्रकार नदी के दलदल में फँसा कोई दीन-हीन असहाय मानव

समर्थ सखा को निकट में सहसा देखकर उसकी ओर देखते ही रक्षा के लिए चिल्लाने लगता है और उसके सहयोग को पाकर शोकरहित हो जाता है, उसी प्रकार जीव प्रकृतिसंसर्ग से जन्य शोक-मोह के दलदल में फँसा रहता है। वह जब अपने समर्थ सखा की शरण में जाता है, तब शोकरहित हो जाता है। शरणागति में सख्यभाव का अधिक महत्त्व है। जिस प्रकार एक सखा का दूसरे सखा में भारी विश्वास रहता है, उसी प्रकार शरणागत का प्रभु में पूर्ण विश्वास रहता है। श्रीराघवेन्द्र ने विभीषण को सख्यभाव से शरण में आया हुआ जानकर अभय किया था, उन्होंने कहा था कि **मित्रभावेन सम्प्राप्तं न त्यजेयं कथञ्चन। दोषो यद्यपि तस्य स्यात् सतामेतदगर्हितम्॥**(वा.रा.6.18.3)। इस मित्रभाव की महती महिमा होने के कारण ही माता सीता ने भी रावण को श्रीरामभद्र से मित्रता कर लेने का आदेश दिया था कि अपने स्थान की रक्षा के लिए तथा अपनी मृत्यु से बचने के लिए तू शरणागतवत्सल श्रीरामजी से मित्रता कर ले-**मित्रमौपयिकं कर्तुं रामः स्थानं परीप्सता। वधं[1] चानिच्छता घोरं त्वयासौ पुरुषर्षभः॥**(वा.रा.5.21.19)।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया(मु.उ.3.1.1) इस श्रुति के समान **गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्**(ब्र.सू.1.2.11) इस सूत्र में भी जीवात्मा और परमात्मा को एक ही स्थान पर रहने वाला सखा कहा गया है। इस प्रकार श्रुति-सूत्रों में भी अनेक स्थलों पर जीवात्मा और परमात्मा के परस्पर मधुर सख्य सम्बन्ध का विवेचन प्राप्त होता है, जो कि शरणागति का पोषक है। मनुष्य सभी प्राणियों का एकमात्र सुहृद् मुझ ईश्वर को जानकर शान्ति प्राप्त करता है-**सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।**(गी.5.29) इस प्रकार भगवद्गीता भी परमात्मा को जीवमात्र का सुहृद् अर्थात् सखा कहती है। भगवान् श्रीकृष्ण के प्रिय सखा अर्जुन थे, उन्होंने कहा कि आपकी इस महिमा को न जानने के कारण ही अपना समवयस्क सखा समझकर मैंने प्रमाद या प्रेम से 'हे कृष्ण! हे यादव, हे सखा!' इस प्रकार आपको सम्बोधित किया है और हे अच्युत! भ्रमण, शयन, और भोजन के समय अकेले अथवा अन्य लोगों के सामने परिहास के लिए मैंने जो आपका तिरस्कार किया है, उसके लिए हे प्रभो! मैं आपसे क्षमा चाहता

1.अत्र **बन्धम्** इति पाठान्तरम्।

हूँ-**सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण! हे यादव! हे सखेति। अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात् प्रणयेन वापि॥ यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु। एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहम् अप्रमेयम्॥**(गी.11.41-42) इस प्रकार गीता में भी भगवान् के साथ अर्जुन का सख्य सम्बन्ध सुस्पष्ट दीखता है। वाल्मीकीय रामायण में भी अनेक स्थानों पर भगवान् श्रीराघवेन्द्र ने सुग्रीव-विभीषण आदि को सखा कहा है। वानरों को सखा बनाकर भगवान् श्रीराम ने असाधारण शील का परिचय दिया है।

भक्तों में अग्रगण्य श्रीहनुमान् जी कहते हैं कि श्रीरामभद्र की प्रसन्नता के लिए उत्तम कुल में जन्म, सुन्दरता, वाक्चातुर्य, बुद्धि एवं आकृति आदि गुणों की आवश्यकता नहीं है क्योंकि इन गुणों से रहित हम वनचारियों को लक्ष्मणकुमार के अग्रज श्रीरामचन्द्र जी ने सखा बनाया, यह महान् आश्चर्य है-**न जन्म नूनं महतो न सौभगं न वाङ् न बुद्धिर्नाकृतिस्तोषहेतुः। तैर्यद् विसृष्टानपि नो वनौकसश्चकार सख्ये बत लक्ष्मणाग्रजः।**(भा.5.19.7)। भगवान् राम ने स्वयं कहा है कि **ए सब सखा सुनहु मुनि मेरे। भये समर सागर कहँ बेरे॥**(रा.च.मा.7.7.7), **तुम्ह मम सखा भरत सम भ्राता। सदा रहेउ पुर आवत जाता॥**(रा.च.मा.7.19.3) इस प्रकार श्रुति स्मृति, इतिहास-पुराण आदि में सर्वत्र परमात्मा को जीवात्मा का सखा कहा है और ऐसा होने से शरणागति में जीव का सहज आकर्षण होता है।

ईशावास्योपनिषत् में शरणागति

वेद के मन्त्र भाग की ईशावास्योपनिषत् है, यजुर्वेदीय इस उपनिषत् के अन्तिम मन्त्र में प्रपत्ति इस प्रकार प्रदर्शित है कि हे प्रभो! आप सभी उपायों को जानने वाले हैं। हे परमात्मदेव! आप अपनी प्राप्ति के प्रतिबन्धक पापों को हमसे अलग कर दीजिए और अपनी प्राप्तिरूप धन के लिए हम सभी को अर्चिरादि मार्ग से ले चलिए। हम आपको बारम्बार नमस्कार वचन कहते हैं-**अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्। युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम॥**(ई.उ.18)। इस मन्त्र में सर्वसाधनहीन जीव भगवान् को केवल नमस्कार करता है तथा उनसे अपने धाम ले चलने की प्रार्थना करता है। **अग्रं ऊर्ध्वं नयति प्रापयति इति अग्निः।** हे अग्ने!=शरणागतों को ऊर्ध्व लोक की प्राप्ति

कराने वाले प्रभो! हम शरणागतों को सुन्दर मार्ग से अपनी नित्य सेवा प्रदानार्थ यहाँ से ले चलिए। आपकी प्राप्ति में बाधक पुण्य-पाप को हमसे दूर करने में आप ही समर्थ हैं अतः इन्हें दूर कर दीजिए। हे आराध्य देव! आप सर्वज्ञ हैं, आप से कुछ छिपा नहीं है। हम सभी प्रकार से साधनहीन हैं, कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग का आचरण करने के सर्वथा अयोग्य हैं। हे शरणागतवत्सल! हम तो केवल आपके श्रीचरणों में नमस्कार करके आत्मसमर्पण करते हैं। हे स्वामिन्! आप स्वाभाविक रूप से सबके शेषी हैं, अवाप्तसमस्तकाम हैं। मैं अकिञ्चन हूँ, अनन्यगति हूँ। मेरा मरणकाल उपस्थित हो रहा है इसलिए अब मैं और कुछ नहीं कर सकता, आपको केवल पुनः पुनः नमस्कार वचन कहता हूँ-**भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम।** अन्त में शरीर के असमर्थ होने से कायिक नमस्कार नहीं कर सकूँगा, कण्ठ अवरुद्ध होने से वाचिक नमस्कार नहीं कर पाऊँगा और यदि मन विक्षिप्त हुआ तो मानस नमस्कार भी नहीं कर सकूँगा। अतः अभी आप का स्मरण करते हुए 'नमः' उच्चारण करके पुनः पुनः नमस्कार करता हूँ। हे नाथ! आप प्रसन्न हो जाइए और **नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता।**(गी.10.11) इस प्रकार की गयी अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार मेरी बुद्धिवृत्ति का विषय बनकर सभी प्रतिबन्धकों की निवृत्ति कर मुझे अर्चिरादि से स्वधाम ले चलिए। इस अभिप्राय से की जाने वाली शरणागति का सूचक **भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम** यह वचन है। **ततस्तं म्रियमाणं तु काष्ठपाषाणसन्निभम्। अहं स्मरामि मद्भक्तं नयामि परमां गतिम्॥**(व.पु.) इस प्रकार श्रीभगवान् ने अन्तकाल में भक्त को परमगति(मोक्षपद) पर पहुँचाने की प्रतिज्ञा की है, प्रस्तुत ईशावास्यमन्त्र में उसी के लिए प्रार्थना की जा रही है।

श्वेताश्वतरोपनिषत् में शरणागति

श्वेताश्वतर उपनिषद् में भगवान् की शरणागति इस प्रकार वर्णित है कि जो सर्वप्रथम ब्रह्मा को उत्पन्न करता है और जो उसे वेदों का उपदेश करता है, मैं मोक्षप्राप्ति का इच्छुक अपनी बुद्धि के प्रकाशक उस परमात्मा की शरण में जाता हूँ-**यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यौ वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै। तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥**(श्वे.उ.6.18) प्रस्तुत श्रुति से सिद्ध होता है कि संसार से मुक्त होने का उपाय शरणागति

है, इसलिए मुमुक्षु होकर प्रभु की शरण में जाना आवश्यक है। भगवान् की शरणागति के बिना त्रिगुणत्मिका माया से बचना असम्भव है इसीलिए गीता में श्रीभगवान् ने स्वयं कहा है कि जो मेरी ही शरण में आते हैं, वे इस माया को पार कर जाते हैं-**मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥**(गी.7.14)। इस प्रकार शरणागत जीव संसारचक्र से मुक्त हो जाता है। ज्ञान, वैराग्य सम्पन्न मुमुक्षु जीव जब **दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।**(गी.7.14) इस प्रकार कही गयी भगवान् की दुर्गम माया के बल से पराजित होने लगता है तब प्रभु की शरणागति करता है, और निर्भय हो जाता है। श्रीमद्भागवत् पुराण में कहा है कि हे प्रभो! आप से रक्षित शरणागत विघ्नकर्ताओं के शिर पर पैर रखकर निर्भय होकर विचरण करते हैं-**त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो॥**(भा.पु. 10.2.33)।

कठोपनिषत् और मुण्डकोपनिषत् में शरणागति

कठोपनिषत् और मुण्डकोपनिषत् में शरणागति की महिमा इस प्रकार वर्णित है कि यह परमात्मा शास्त्रों के बहुत श्रवण से नहीं मिलता, मनन से नहीं मिलता और निदिध्यासन से भी नहीं मिलता। यह परमात्मा ही जिसका वरण(स्वीकृति) करता है, उसे मिलता है, उसके लिए यह परमात्मा ही अपने स्वरूप को प्रकट कर देता है-**नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥**(क.उ.1.2.23, मु.उ.3.2.3)। प्रस्तुत श्रुति में श्रुत शब्द से श्रवण का ग्रहण होता है और इसके साथ एक ही वाक्य में उच्चरित होने से प्रवचन शब्द का अर्थ मनन होता है। प्रवचन शब्द का मुख्यार्थ अध्यापन है। मनन करने पर ही कुशलता से अध्यापन(प्रवचन) होता है। उक्त श्रुति में प्रवचन शब्द लक्षणा से प्रवचन के साधन मनन को कहता है अथवा **प्रोच्यतेऽनेन** इस प्रकार करण में ल्युट् प्रत्यय करने पर प्रवचन शब्द शक्तिवृत्ति से ही (प्रवचन के साधन) मनन को कहता है और मेधा शब्द निदिध्यासन को। यह परमात्मा बहुत श्रवण से प्राप्त नहीं होता, बहुत मनन से प्राप्त नहीं होता और बहुत निदिध्यासन से भी प्राप्त नहीं होता।

शंका-परमात्मा का श्रवण करना चाहिए, मनन करना चाहिए और

दर्शनसमानाकार निदिध्यासन करना चाहिए-**आत्मा वा अरे द्रष्टव्यश्श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।**(बृ.उ.2.4.5) इस प्रकार बृहदारण्यक श्रुति परमात्मा की प्राप्ति के लिए श्रवण, मनन और निदिध्यासनरूप उपायों को कहती है किन्तु **नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः** यह श्रुति श्रवण, मनन और निदिध्यासन से परमात्मा की प्राप्ति असम्भव कहती है अतः क्या श्रवणादि साधनों को व्यर्थ मानना चाहिए?

समाधान-ऐसा कहना उचित नहीं क्योंकि 'परमात्मा श्रवणादि से प्राप्त नहीं होता' यह श्रुति कहती है किन्तु इससे वे व्यर्थ नहीं होते। **नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः** यह श्रुति परमात्मप्राप्ति में श्रवणादि के उपाय होने का निषेध करती है तो परमात्मा किस साधन से प्राप्त होते हैं? ऐसी शंका होने पर वही श्रुति कहती है कि **यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः।** परमात्मा जिसका वरण करते हैं, उसे ही प्राप्त होते हैं। वे किस जीव का वरण करते है? श्रीरामानुजाचार्य जी कहते हैं कि भगवान् प्रियतम का ही वरण करते हैं-**प्रियतम एव हि वरणीयो भवति।**(श्रीभा.1.1.1), यही नियम सार्वत्रिक है। अब प्रश्न उठता है कि प्रियतम कौन हो सकता है? इसका भी ब्रह्मसूत्रभाष्य में इस प्रकार समाधान किया जाता है कि परमात्मा जिस जीव को सर्वाधिक प्रिय लगते हैं, वही परमात्मा का प्रियतम होता है-**यस्यायं निरतिशयप्रियस्स एवास्य प्रियतमो भवति।**(श्रीभा.1.1.1)। परमात्मा से निरतिशय प्रीति करने वाला शरणागत भगवान् का प्रियतम होता है।

जिस प्रकार स्वयंवर में राजकुमारी हाथ में जयमाला लेकर विविध राजा और राजकुमारों के मध्य में विराजमान सर्वगुणसम्पन्न व्यक्ति को ही अपना प्रियतम स्वीकार करती है और उसी के गले में जयमाला पहनाती है, उसी प्रकार भगवान् भी विविध जीवों के मध्य में विराजमान प्रियतम के ही गले में कृपा की माला पहनाते हैं। राजकन्या की दृष्टि में वही प्रियतम होता है जो रूप, बल, धन-धान्य, प्रभुता और यौवन से सम्पन्न होता है किन्तु भगवान् की दृष्टि में जीव में ऐसे कौन-कौन से गुण सम्भव हैं, जिनसे आकर्षित होकर वे जीव को प्रियतम के रूप में स्वीकार करते हैं? इसका उत्तर श्रीरामचरितमानस में इस प्रकार दिया है-**सोई सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानै जोई॥**(रा.च.मा.7.42.5)। करुणानिधान भगवान् श्रीरामचन्द्र जी कहते हैं कि वही मेरा प्रियतम सेवक है जो मेरी आज्ञा का

ठीक-ठीक पालन करता है। इस प्रसंग का तात्पर्य यही है कि **आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।**(अहि.सं.) इस प्रकार वर्णित शरणागति के अङ्गों से युक्त जीव ही प्रभु का प्रियतम होता है। शरणागत जीव सर्वसाधनरहित होने पर भी शरणागति के अङ्गों से सम्पन्न होने के कारण ही प्रभु के आकर्षण का पात्र बनता है। सर्वसाधनहीन होने पर भी वह भगवान् का इसीलिए प्रियतम है कि उसने प्रभु को छोड़कर अन्य का आश्रय नहीं लिया, अपने प्रियतम प्रभु के अतिरिक्त किसी अन्य देवता से भूल से भी किसी वस्तु की याचना नहीं की। भला हो या बुरा, शरणागत जैसा भी है, एक मात्र प्रभु का है, उसकी धारणा है कि **बने तो रघुबर से बने बिगड़े तो भरपूर, तुलसी बने जो और से ता बनिबै पै धूर।।** स्वामी यामुनाचार्य जी शरणागत की योग्यता का इस प्रकार प्रतिपादन करते हैं कि हे नाथ! मैं धर्मात्मा नहीं हूँ, आत्मज्ञानी भी नहीं हूँ। आपके चरणकमलों में मेरी भक्ति भी नहीं है। मैं अकिंचन हूँ, अनन्यगति हूँ, हे! शरणागतरक्षक! मैं आपके श्रीचरणों की शरण ग्रहण करता हूँ-**न धर्मनिष्ठोऽस्मि न चात्मवेदी, न भक्तिमांस्त्वच्चरणारविन्दे। अकिञ्चनोऽनन्यगतिश्शरण्य, त्वत्पादमूलं शरणं प्रपद्ये।।**(आ.स्तो.25), बस सर्वसाधनहीन होना ही शरणागति करने की योग्यता है, इसीलिए शरणागत प्रभु का प्रियतम है और वरणीय है।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः इस श्रुति का यह वैशिष्ट्य है कि इसके अनुसार प्रभु स्वयं जीव का वरण करते हैं। इसी श्रुति पर विचार करते हुए ब्रह्मसूत्रभाष्य में कहा है कि यह परमात्मा केवल श्रवण, मनन और निदिध्यासन से नहीं मिलता किन्तु जिस बड़भागी साधक को यह परमात्मा ही कृपा करके स्वीकार कर लेता है, उसे ही मिलता है-**केवल श्रवणमनन-निदिध्यासनानाम् आत्मप्राप्त्यनुपायत्वमुक्त्वा यमेवैष आत्मा वृणुते तेनैव लभ्यः।**(श्रीभा.1.1.1)।

श्रुतिवाक्यों से श्रवण करना चाहिए, इसके पश्चात् युक्तियों से मनन और तदनन्तर ध्यान करना चाहिए। इस प्रकार किये जाने वाले श्रवण आदि साधनों में अवरोध उपस्थित होने पर भगवत्-शरणागति करनी ही पड़ती है, अतः वे साधन शरणागति से ही सफल होते हैं। इससे स्पष्ट है कि शरणागति के बिना श्रवण आदि से परमात्मा की प्राप्ति सम्भव नहीं। यह

नायमात्मा इस श्रुति का तात्पर्य है अत एव पूर्व में प्रस्तुत ब्रह्मसूत्रभाष्य में केवल शब्द का प्रयोग किया है।

परमात्मा से प्रेम करने वाला उपासक ही उनका प्रियतम होकर वरणीय हो जाता है, इससे सिद्ध होता है कि प्रीति से रहित श्रवणादि उपाय नहीं हैं। वे प्रीतिपूर्वक सम्पन्न होने पर उपाय हो जाते हैं। मुमुक्षु श्रवण, मनन के पश्चात् निदिध्यासन करता है। तेल की धारा के समान कभी न टूटने वाली परमात्मस्मृति का निरन्तर प्रवाह ही निदिध्यासन है। अभ्यास करते करते जब वह प्रीतिरूप हो जाता है, तब परमात्मा उसका वरण कर लेते हैं। प्रीतिरूपता को प्राप्त हुआ परमात्मा का निरन्तर स्मरण ही भक्ति कहलाता है। उत्तम साधक प्रीति से श्रवण, प्रीति से मनन और प्रीति से निदिध्यासन करता है। प्रीति की विभिन्न अवस्थाएँ होती हैं। उत्तरोत्तर सतत् अभ्यास से दृढ प्रीतिरूप निदिध्यासन होने पर साधक जब उनका वरणीय हो जाता है, तब वे उसे अपना साक्षात्कार प्रदान करते हैं। इस विवरण से सिद्ध होता है कि वरणीय होने की योग्यता के लिए श्रवणादि सभी साधन अपेक्षित होते हैं, उनके विना योग्यता ही नहीं आ सकती अतः वे साधन व्यर्थ नहीं हैं। प्रीतिरूपापन्न दर्शनसमानाकार ज्ञान ही उनका साक्षात्कार है। मुझमें निरन्तर लगकर भजन करने वालों को मैं उस बुद्धियोग(प्रीतिरूपापन्न दर्शनसमानाकार ज्ञान) को प्रदान करता हूँ, जिससे वे मुझे प्राप्त हो जाते हैं–**तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।।**(गी.10.10) इस प्रकार श्रीभगवान् ने स्वयं अपनी प्राप्ति के साधन बुद्धियोग(भक्ति) को प्रदान करने की बात कही है। भक्ति परमात्मप्राप्ति में अनुग्रहकर्ता परमात्मा के द्वारा उपाय होती है और परमात्मा साक्षात् उपाय होते हैं।

उक्त रीति से **नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः**।(क.उ.1.2.23, मु.उ.3.2.3) और **आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः**। (बृ.उ.2.4.5) इन दोनों श्रुतियों का सम्यक् समन्वय हो जाता है, किसी को भी व्यर्थ मानने का प्रसंग प्राप्त नहीं होता।

भक्त की भगवान् में जो प्रीति होती है, उससे भगवान् की भी भक्त में प्रीति हो जाती है और वह भगवान् का प्रिय हो जाता है। प्रिय होने पर भगवान् उसका वरण कर लेते हैं और वरणीय के लिए सुलभ हो जाते हैं। जो परमात्मा से निरतिशय प्रेम करता है, उनके साक्षात्कार के विना अत्यन्त व्याकुल हो जाता है और एक क्षण भी जीवनधारण करना संभव नहीं

मानता, परमात्मा भी उसके विरह को सहन नहीं कर पाते, वे प्राप्य बनने के लिए उसका वरण कर लेते हैं और उसके लिए अपने दिव्यमंगलविग्रह-विशिष्टरूप को प्रकट कर देते हैं। इस प्रकार उपासक के उपेय(प्राप्य) परमात्मा अपनी प्राप्ति में स्वयं उपाय भी बन जाते हैं।

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः इस बृहदारण्यक श्रुति का तात्पर्य यह है कि आचार्यसमाश्रयण के बिना श्रवण की पूर्णता असम्भव है, इस विषय को कठश्रुति इस प्रकार कहती है कि मोह निद्रा से जागो, विषयशय्या से उठो और ब्रह्मवेत्ता आचार्यों को प्राप्त कर उनसे ब्रह्म तत्त्व का ज्ञान प्राप्त करो। ब्रह्म तत्त्व दुरधिगम है। उस तत्त्व को जानने वाले उसके ज्ञानरूप मार्ग को जानते हैं और उसे छुरे की तीक्ष्ण, दुस्तर धार के समान कहते हैं-**उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत। क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति॥**(क.उ.1.3.14)। मनुष्य शय्या में निद्रा लेता है। अज्ञानी जीव की चित्तवृत्तियाँ विषयों में लगी रहती हैं। 1.शब्द 2.स्पर्श और स्पर्शवान् वस्तु 3.रूप और रूपवान् वस्तु 4.रस 5.गन्ध ये श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों के विषय हैं। 1.बोलना 2. आदान-प्रदान 3.संचरण 4.मलमूत्र का त्याग 5.संभोग ये वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ इन पाँच कर्मेन्द्रियों के विषय हैं। मन के विना किसी भी इन्द्रिय की कार्य में प्रवृत्ति नहीं होती, वह सभी का सहकारी है। मन का स्वतन्त्र कार्य है-स्मरण। सभी संसारी प्राणी इन विविध-विचित्र, आकर्षक आपातरमणीय शब्दादि विषयरूप शय्या में मोहरूप निद्रा ले रहे हैं। **मोह निसाँ सबु सोवनिहारा।**(रा.च.मा.2.92.2)। सहस्रों माता-पिता से भी बढ़कर हित चाहने वाली भगवती श्रुति कहती है कि मोहरूप निद्रा से जागो, दुःखदायी विषयरूप शय्या से उठो और विधिवत् श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ आचार्यों के पास जाकर मोक्ष का साधन ब्रह्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त करो। **उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत।**(क.उ.1.3.14) इस प्रकार श्रुति श्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता आचार्यों से ज्ञान प्राप्त करने को कहती है, ऐसा क्यों? क्योंकि ब्रह्मतत्त्व दुर्गम है अतः उसे आचार्य के उपदेश विना अपनी बुद्धि से नहीं जान सकते और सामान्य उपदेशकों से भी नहीं जान सकते। ब्रह्मवेत्ता पुरुष ब्रह्म के ज्ञानरूप मार्ग को जानते हैं तथा उसे छुरे की तीक्ष्ण और अत्यन्त खतरनाक धार के समान कहते हैं। जैसे-पैनी की हुई छुरे की तीक्ष्ण और दुस्तर

धार पर चलना अत्यन्त कठिन है, कोई प्रशिक्षित कुशल व्यक्ति ही उस पर चल सकता है, अन्य व्यक्ति यदि चलने का प्रयास करे तो उस धार से अवश्य कट जाएगा, वैसे ही आचार्य से ज्ञान प्राप्त करके ही उस मार्ग पर चला जा सकता है। आचार्य से वेदान्त वाक्यों के अर्थ का ज्ञान प्राप्त करना ही श्रवण है। उस पर चलने का अर्थ है-मनन और निदिध्यासन करना। श्रुत अर्थ को युक्तियों से दृढ करना ही मनन है। ध्येय के आकार की वृत्ति की अपेक्षा विजातीय वृत्ति के व्यवधान से रहित सजातीय वृत्तियों का निरन्तर प्रवाह ही निदिध्यासन है और यह निदिध्यासनात्मक ज्ञान ही प्रीतिरूप होने पर भक्ति कहा जाता है। साक्षात्कारापन्न इसी भक्तिरूप निदिध्यासन से परमात्मप्राप्तिरूप मोक्ष प्राप्त होता है। आचार्य से ज्ञान प्राप्त करने वाला प्रशिक्षित शरणागत मुमुक्षु उनके द्वारा उपदिष्ट रीति से उस पथ पर चल सकता है अन्यथा वह इस तीक्ष्ण, दुरत्यय मार्ग पर नहीं चल पाएगा और कट जाएगा अर्थात् श्रेयपथ से च्युत होकर प्रेयपथ पर आ जायेगा। इससे साक्षात्कार न होने से लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होगी, इसीलिए ब्रह्मविद् आचार्य से ही उपदेश प्राप्त करके परमात्मसाक्षात्कार के पथ पर चलना चाहिए और आचार्य के उपदेश के विना स्वयं चलने का प्रयास नहीं करना चाहिए इसीलिए कठोपनिषत् में कहा है कि **प्राप्यवरान्निबोधत** अर्थात् आचार्यों की शरण में जाकर ब्रह्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त करो। इस प्रकार मोक्षसाधन तत्त्वज्ञान के लिए आचार्य-शरणागति भी कठोपनिषत् में विहित है।

वाल्मीकीय रामायण में शरणागति

वेदावतार श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण शरणागति का सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ है। महर्षि वाल्मीकि ने श्रीरामायण में परब्रह्म, पुरुषोत्तम श्रीमद्रामचन्द्र के लोकोत्तर, अतुलनीय, अनवधिकातिशय, अनुकरणीय, परमपावन, उदात्त चरित का मार्मिक चित्रण प्रस्तुत किया है। सम्पूर्ण रामायण काव्य में पराम्बा भगवती श्रीसीता जी का भी महान् चरित है। **काव्यं रामायणं कृत्स्नं सीतायाश्चरितं महत्।**(वा.रा.1.4.7)।

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण का प्रथम श्लोक शरणागति से प्रारम्भ होता है। तप और स्वाध्याय में सतत संलग्न, व्याकरण आदि शास्त्रों के ज्ञाता, मुनिश्रेष्ठ श्रीनारद से तपस्वी वाल्मीकि जी ने पूछा कि इस समय इस लोक

में वेदान्तवेद्य, समस्त कल्याणगुणसम्पन्न कौन है? **ओम् तपःस्वाध्यायनिरतं तपस्वी वाग्विदां वरम्। नारदं परिपप्रच्छ वाल्मीकिर्मुनिपुङ्गवम्॥ कोन्वस्मिन् साम्प्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान्। धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्यो दृढ़व्रतः॥**(वा.रा.1.1.1-2), इत्यादि रीति से महर्षि वाल्मीकि ने देवर्षि श्रीनारद के शरणागत होकर ब्रह्मतत्त्व की जिज्ञासा की। यह सामान्य जिज्ञासा नहीं है अपितु अखिलहेयप्रत्यनीक, सर्वकल्याणगुणाकर, जगत्कारण परतत्त्व की जिज्ञासा है। देवर्षि नारद ने उत्तर दिया कि इक्ष्वाकु वंश में अवतीर्ण श्रीरामजी ही वेदान्तवेद्य, निखिल कल्याणगुणगणसम्पन्न हैं- **इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः। नियतात्मा महावीर्यो द्युतिमान् धृतिमान् वशी॥**(वा.रा.1.1.8)। अहल्या का उद्धार, शिवधनुर्भंग, परशुराम-पराजय आदि प्रसङ्गों द्वारा स्थल-स्थल पर महर्षि ने श्रीराम की भगवत्ता का वर्णन किया है। रावणवध के पश्चात् ब्रह्मादि देवताओं ने जो श्रीरामभद्र की प्रार्थना की है उसमें उनके असाधारण परत्व का प्रतिपादन किया गया है। वाल्मीकीय रामायण के प्रतिपाद्य परब्रह्म श्रीजानकीपति रामचन्द्र जी हैं। श्रीरामायण में श्रीसीताजी को लक्ष्मी का कारण एवं श्रीरामजी को विष्णु का भी कारण कहा गया है। वनवासकाल में वन में निवास करने वाली पतिव्रता शिरोमणि, सर्वाङ्गसुन्दरी श्रीसीताजी क्षमाशीला पृथ्वी से भी अधिक क्षमाशीला एवं लक्ष्मी की भी कारण हैं-**वसुधाया हि वसुधां श्रियाः श्रीं भर्तृवत्सलाम्। सीतां सर्वानवद्याङ्गीमरण्ये विजने शुभाम्॥**(वा. रा.6.111.21-22) श्रीरामजी सूर्य, अग्नि के भी प्रकाशक तथा प्रभु श्रीहरि के भी कारण हैं-**सूर्यस्यापि भवेत् सूर्यो ह्यग्नेरग्निः प्रभो प्रभुः॥**(वा.रा.2. 44.15) जिस प्रकार छत्र और चामर राजा के असाधारण चिह्न होते हैं, उसी प्रकार शरणागतरक्षक भगवान् श्रीरामचन्द्र के परत्व एवं सौलभ्य दोनों असाधारण गुण हैं। भगवान् श्रीराम जहाँ एक ओर त्रिदेवों के भी कारण हैं, वहीं निषाद, शबरी एवं वानरों पर कृपा करने के कारण सर्वसुलभ भी सिद्ध होते हैं।

प्रभु के शरणागत श्रीलक्ष्मणकुमार सुमन्त जी से कहते हैं कि मैं अब महाराज दशरथ में पितृभाव नहीं मानता, मेरे भ्राता, स्वामी, बन्धु तथा पिता श्रीरामचन्द्र हैं-**अहं तावन्महाराजे पितृत्वं नोपलक्षये। भ्राता भर्ता च बन्धुश्च पिता च मम राघवः॥**(वा.रा.2.58.31)। इसके पहले जब श्रीरामभद्र

ने लक्ष्मणकुमार से अयोध्या लौटने का बार-बार आग्रह किया, तब श्रीराम के प्रति श्रीलक्ष्मण का वचन भी मननीय है। उन्होंने कहा कि हे राघव! जैसे जल से निकली मछली जल के विना जीवित नहीं रहती, वैसे ही श्रीसीताजी तथा मैं आपके बिना जीवित नहीं रह सकते-**न च सीता त्वया हीना न चाहमपि राघव। मुहूर्तमपि जीवावो जलान् मत्स्याविवोद्धृतौ॥** (वा.रा.2.53.31) इस प्रकार शरणागत लक्ष्मण ने श्रीराघव से अपने हृदय का भाव व्यक्त किया। महर्षि ने अयोध्याकाण्ड में लक्ष्मण जी के शरणागत होने का इस प्रकार वर्णन किया है कि रघुकुल को आनन्दित करने वाले श्रीलक्ष्मण ने ज्येष्ठ भ्राता श्रीरामचन्द्र जी के दोनों पैर जोर से पकड़ लिए और अत्यन्त यशस्विनी श्रीसीता तथा महान् व्रत का पालन करने वाले रामचन्द्रजी से कहा-**भ्रातुश्चरणौ गाढं निपीड्य रघुनन्दनः। सीतामुवाचातियशां राघवं च महाव्रतम्॥**(वा.रा.2.31.2)। इस प्रकार पुरुषकारभूता श्रीजनकनन्दिनी के समक्ष लक्ष्मणजी ने श्रीराघव के चरणों की शरणागति स्वीकार की है।

मुनियों के सहित हम सभी देवता, सिद्ध, गन्धर्व तथा यक्ष रावण के वध के लिए आपकी शरण में आए हैं-**वधार्थं वयमायातास्तस्य वै मुनिभिः सह॥ सिद्धगन्धर्वयक्षाश्च ततस्त्वां शरणं गताः।**(वा.रा.1.15.24-25)। इस प्रकार रावण के भय से त्रस्त देवताओं ने भगवान् की शरणागति की। देवताओं की शरणागति को सफल करने के लिए रावण का वध अनिवार्य था, अतः उस समय भगवान् श्रीराघव भरतजी के साथ चित्रकूट से अयोध्या नहीं लौटे किन्तु अपने प्रतिनिधिस्वरूप श्रीचरणपादुकाएँ देकर भरत जी की शरणागति को सफल बनाया, इसके पश्चात् रावण का वध करके देवताओं की शरणागति को सफल किया और अयोध्या में अपने राज्याभिषेक से श्रीभरत के मनोरथ को पूर्ण किया।

ऋषियों ने श्रीरामभद्र से कहा कि हम शरणागतरक्षक आपकी शरण लेने के लिए आए हैं। निशाचरों से मारे जाते हुए हम सभी की रक्षा कीजिए-**ततस्त्वां शरणार्थं च शरण्यं समुपस्थिताः। परिपालय नो राम वध्यमानान् निशाचरैः॥**(वा.रा.3.6.19) इस प्रकार अरण्यकाण्ड में दण्डकारण्यवासी ऋषियों ने शरणागति की है। इसी काण्ड में जयन्त की शरणागति से यह सिद्ध होता है कि भगवद्भागवत-अपराध और अन्य असह्य अपराधों से

परिपूर्ण जीव भी प्रभु की शरण में जाकर अभय हो सकता है। भगवान् ने स्वयं कहा है कि **कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आएँ सरन तजउँ नहिं ताहू॥ सनमुख होई जीव मोहिं जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥**(रा.च.मा.5.43.1-2)। जयन्त ने जगज्जननी जानकी जी का अपराध किया था, भगवान् ने ब्रह्मास्त्र से उसे भस्म करने का संकल्प किया। जयन्त अस्त्र से भयभीत होकर अपने पिता इन्द्र, माता शची, समस्त देवता एवं सभी महर्षियों के पास गया किन्तु किसी ने भी उसकी रक्षा नहीं की। **काहूँ बैठन कहा न ओही। राखि को सकइ राम कर द्रोही॥**(रा.च.मा.3.1.5)। महर्षि वाल्मीकि कहते हैं कि माता-पिता ने जयन्त का परित्याग कर दिया तथा देवताओं और महर्षियों ने भी परित्याग किया। अन्त में तीनों लोकों में घूमने पर भी जब कहीं भी त्राण नहीं मिला, तब वह श्रीराघवेन्द्र की ही शरण में गया-**स पित्रा च परित्यक्तः सुरैः सर्वैर्महर्षिभिः**[1]**। त्रींल्लोकान् संपरिक्रम्य तमेव शरणं गतः॥**(वा.रा.5.38.32)। जब जयन्त राघवेन्द्र का शरणागत होकर भूमि में आ गिरा तब वध के योग्य होने पर भी

शरणागतवत्सल प्रभु ने कृपा करके उसकी रक्षा की--**स तं निपतितं भूमौ शरण्यः शरणागतम्। वधार्हमपि काकुत्स्थः कृपया पर्यपालयत्॥**(वा.रा. 5.38.33)। पद्मपुराण के अनुसार जब जयन्त प्रभु के चरणों में गिरा तब उल्टा ही गिरा। अन्त में पुरुषकारस्वरूपा माता श्रीसीता जी ने उसके शिर को प्रभु के पावन पादपद्मों में लगा दिया-**तच्छिरःपादयोस्तस्य योजयामास जानकी।**(प.पु.) और करुणा से प्रेरित होकर प्रभु से उसकी रक्षा के लिए प्रार्थना की-**त्राहि त्राहीति भर्तारमुवाच दयया विभुम्।**(प.पु.)। अन्त में श्रीकिशोरीजी की कृपा से जयन्त की प्राणरक्षा हुई। माता सीता ने दुष्ट रावण को भी शरणागति का उपदेश किया कि हे रावण! श्रीरामभद्र शरणागतवत्सलता में प्रसिद्ध हैं, यदि तू उनसे मित्रता कर ले, तो जीवित रह सकता है-**विदितः सर्वधर्मज्ञः शरणागतवत्सलः। तेन मैत्रीं भवतु ते यदि जीवितुमिच्छसि॥**(वा.रा.5.21.20)।

रामायण में श्रीविभीषण की शरणागति का विशद वर्णन है। विभीषण जी ने निवेदन किया कि मैं रावण का छोटा भाई हूँ, उसने दास के समान मेरा तिरस्कार किया है, अतः घर, स्त्री और पुत्रों को छोड़कर श्रीराघव की

1.**सुरैश्च समहर्षिभिः** इत्यस्य स्थाने **सर्वैश्च परमर्षिभिः** इति पाठान्तरम्।

शरण में आया हूँ-**सोऽहं परुषितस्तेन दासवच्चावमानितः। त्यक्त्वा पुत्रांश्च दारांश्च राघवं शरणं गतः॥**(वा.रा.6.17.16)। यद्यपि हनुमान् जी को छोड़कर सुग्रीव आदि मन्त्रियों ने विभीषण को स्वीकार करने में अपनी असहमति प्रकट की तथापि श्रीरामचन्द्र ने कहा कि **सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम॥**(वा.रा.6.18.33)। यहाँ 'सर्वभूतेभ्यः' पद में चतुर्थी तथा पञ्चमी दोनों विभक्तियाँ स्वीकार की जाती हैं। चतुर्थी पक्ष में अर्थ है-मैं केवल विभीषण को ही अभय नहीं देता अपितु जो कोई भी मेरी शरण में आता है, उन सभी को अभय प्रदान करता हूँ। पञ्चमी पक्ष में अर्थ है-मेरे शरणागत का जो भी विरोधी होगा उन सभी से शरणागत को अभय करता हूँ। 'ददामि' इस वर्तमानकालिक क्रियापद से युक्त श्लोक के चतुर्थ पाद का अर्थ है कि शरणागत को तत्काल अभय अर्थात् मुक्त कर देता हूँ। वह सांसारिक शत्रुओं से उसी क्षण मुक्त हो जाता है और वर्तमान शरीर के समाप्त होने पर संसारचक्र से मुक्त हो जाता है। यह श्लोक श्रीवैष्णवसम्प्रदाय में चरम मन्त्र के नाम से प्रसिद्ध है। इस मन्त्र की असाधारण महिमा है। इसकी व्याख्या प्रस्तुत ग्रन्थ में चरम मन्त्रार्थ के प्रसंग में देखनी चाहिए।

माता सीताजी के पुरुषकारत्व(सिफारिश) द्वारा श्रीरामभद्र की शरण ग्रहण करना सभी को सुलभ है, इस विषय का रामायण में निरूपण किया गया है। इस विषय को सर्वसामान्य भी जानते हैं कि श्रीरामचन्द्र शरणागतवत्सल हैं। वे जब माता सीता जी और श्रीलक्ष्मण के साथ होते हैं, तब सभी को उनकी शरण में जाने में सुविधा रहती है। जीवमात्र के आचार्य श्रीलक्ष्मण जी हैं अतः जीवों को प्रभु के समीप पहुँचाने में सदा सहायक बने रहते हैं और जगज्जननी श्रीजानकी जी में सर्वाधिक मातृस्नेह सदा विद्यमान रहता है अतः अपराधी जीवों को प्रभु की शरण के योग्य बनाने में सदा तत्पर रहती हैं।

श्रीपराशरभट्ट स्वामी श्रीजानकीजी की महिमा के विषय में कहते हैं कि हे जगज्जननि श्रीजानकि! भुजा उठाकर आपको इस जगत् की नियामिका केवल वेदों ने ही नहीं कहा अपितु श्रीरामायण भी आपके निर्मल चरित्र की गरिमा से परिपूर्ण होकर परम उत्कर्ष के साथ जीवित है। इतिहास-पुराणों द्वारा ऋषियों ने आपकी महिमा का सर्वत्र गान किया है, इस प्रकार वेद,

इतिहास, पुराण और आगम शास्त्रों में आपकी महिमा का वर्णन प्राप्त होता है-**उद्बाहुस्त्वामुपनिषदसावाह नैका नियन्त्रीं श्रीमद्रामायणमपि परं प्राणिति त्वच्चरित्रे॥ स्मर्तारोऽस्मज्जननि यतमे सेतिहासैः पुराणैः निन्युर्वेदानपि च ततमे त्वन्महिम्नि प्रमाणम्॥**(श्रीगु.को.14)। श्रीपराशर भट्ट स्वामी जी श्रीमद्रामायण को आधार बनाकर कहते हैं कि हे माता मैथिलि! अशोकवाटिका से लेकर रावणवध तक राक्षसियों ने आपको अनेक प्रकार से कष्ट दिया किन्तु जब श्रीहनुमान्‌जी ने रावणवध के पश्चात् उनको दण्ड देना चाहा तो आपने श्रीहनुमान्‌जी से उन राक्षसियों की रक्षा कर, श्रीरामजी की सभा को भी लघु कर दिया क्योंकि काकासुर जयन्त और विभीषण के द्वारा मैं आपकी शरण में हूँ, ऐसा कहने पर भगवान् श्रीराम ने उनकी रक्षा की किन्तु आपने शरणागति के बिना ही उन राक्षसियों की रक्षा की अतः आपकी अहेतुकी क्षमा ही हम आश्रित जनों की रक्षा करने में समर्थ है-**मातर्मैथिलि! राक्षसीस्त्वयि तदैवार्द्रापराधास्त्वया। रक्षन्त्या पवनात्मजाल् लघुतरा रामस्य गोष्ठी कृता॥ काकं तं च विभीषणं शरणमित्युक्तिक्षमौ रक्षतः। सा नः सान्द्रमहागसस्सुखयतु क्षान्तिस्तवाकस्मिकी॥**(श्रीगु.को. 50), इस प्रकार अकारणकरुणावरुणालया श्रीजनकनन्दिनी की शरणागत-वत्सलता की महती महिमा है।

गीता में शरणागति

श्रीमद्भगवद्गीता महाभारत का सारतम भाग है। इसमें कर्म, ज्ञान, भक्ति और शरणागति इन सभी विषयों का विस्तृत वर्णन है तथापि गीता का अन्तिम तात्पर्य शरणागति ही है।

श्रीवैष्णवाचार्यों के मतानुसार **कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः। यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।**(गी.2.7) इस श्लोक से गीताशास्त्र का आरम्भ हुआ और **सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥**(गी.18.66) इस श्लोक से उपसंहार हुआ, इससे स्पष्ट है कि गीता का तात्पर्य शरणागति में है। श्रीयामुनाचार्य जी कहते हैं कि शरणागत अर्जुन को उद्देश्य कर भगवान् श्रीकृष्ण ने गीताशास्त्र का उपदेश किया-**पार्थं प्रपन्नमुद्दिश्य शास्त्रावतरणं कृतम्।**(गी.सं.5)। शास्त्र के आरम्भ में ही अर्जुन ने भगवान् से कहा कि नाथ! मैं आपका शिष्य हूँ, आप मुझ

शरणागत पर कृपा करें-**शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्**।(गी. 2.7)। भगवान् ने कहा है कि बहुत जन्मों के पश्चात् ज्ञानी पुरुष मेरी शरण में आते हैं-**बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते**।(गी.7.19)। मेरी त्रिगुणात्मिका माया अत्यन्त बलवती है। जो मेरी ही शरण में आते हैं, वे इस माया को पार कर जाते हैं-**दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते**।(गी.7.14)। **तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत**। (गी.18.62) इत्यादि वचन शरणागति विद्या में प्रमाण हैं, इस प्रकार सम्पूर्ण गीता का सार भगवत्-शरणागति है।

गीता के अन्तिम अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि ध्यानरूपा सिद्धि को प्राप्त किया पुरुष जिस प्रकार ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है और ध्यानात्मक ज्ञान की जो परा निष्ठा होती है, उसे संक्षेप में ही मुझसे जानो-**सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे। समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा**।।(गी. 18.50)। इससे आगे ज्ञान की परा निष्ठा इस प्रकार वर्णित है। यथावस्थित आत्मतत्त्वविषयक बुद्धि से युक्त साधक मन को विषयों से विमुख कर तथा उसे योग के अनुकूल बनाकर, शब्दादि विषयों का परित्याग कर, रागद्वेष को निकाल कर, एकान्तसेवी और स्वल्पाहारी होकर, शरीर, मन और वाणी को संयमित कर ध्यानयोग में परायण, वैराग्य से परिपूर्ण होकर अहङ्कार, बल, दर्प, काम, क्रोध एवं परिग्रह को छोड़कर, ममता को छोड़कर, शान्त रहने वाला साधक आत्मा के यथार्थ स्वरूप का अनुभव करता है-**बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च। शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च।। विविक्तसेवी लघ्वाशी यत्वाक्कायमानसः। ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः। अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्। विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते**।।(गी.18.51-53)। इस प्रकार आत्मा का अनुभव करने वाला जो ज्ञानी भक्त है, वह पराभक्ति का अधिकारी होता है, यह विषय आगे के श्लोक से स्पष्ट है। आत्मा का साक्षात्कार करने वाला क्लेशादि विकारों से रहित पुरुष नष्ट हुई वस्तु के विषय में शोक नहीं करता और अप्राप्त वस्तु की कामना नहीं करता। सभी प्राणियों में सम दृष्टि वाला वह मेरी अत्यन्त प्रीतिरूपा परा भक्ति को प्राप्त करता है-**ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति। समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं**

लभते पराम्॥(गी.18.54), इसके पश्चात् **भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः। ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥**(गी.18.55) इस श्लोक से भक्ति के द्वारा ही परमात्मा का तत्त्वतः ज्ञान एवं परमात्मा में प्रवेश कहा गया है। इस ज्ञान को भगवान् ने गुह्यतर (गोपनीय से भी गोपनीय) ज्ञान कहा है। हे अर्जुन! मैंने तुम्हें गुह्य से गुह्यतर ज्ञान का उपदेश किया है-**इदं ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया।**(गी.18.63)। जब इस उपदेश से भी अर्जुन की उदासीनता निवृत्त नहीं हुई, उसका मुखम्लान बना रहा, वह शोकरहित नहीं हुआ, तब भगवान् ने उसे अत्यन्त गोपनीय शरणागति रहस्य का उपदेश किया। अर्जुन! अब तुम पुनः मेरा गुह्यतम(सबसे गोपनीय) श्रेष्ठ वचन सुनो। तुम मुझे अत्यन्त प्रिय हो अतः मैं तुम्हारे हित की बात तुमसे कह रहा हूँ-**सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः। इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥**(गी.18.64), इस प्रकार गुह्यतम विषय शरणागति का इस प्रकार उपदेश किया-**मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु। मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥ सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥**(गी.18.65-66)। गुह्य[1] से गुह्यतर, श्रेष्ठ होता है तथा गुह्यतर से गुह्यतम श्रेष्ठ होता है। इस प्रकार शरणागति ही सबसे श्रेष्ठ भगवत्प्राप्ति का साधन होती है।

सभी धर्मों को त्यागकर एक मेरी ही शरण में आ जाओ, मैं तुम्हें सभी पापों से मुक्त कर दूँगा, तुम शोक मत करो-**सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥**(गी.18.66)। भगवान् शरणागत के सभी पापों, विघ्नों एवं विकारों को दूर करते हैं, उन्होंने यह आश्वासन चरम श्लोक से दिया है-**अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि।** भगवान् के **मा शुचः** इस वचन से स्पष्ट है कि अर्जुन का शोक अभी तक दूर नहीं हुआ था। अब शरणागति के गूढ़ रहस्यों के श्रवण के बाद अर्जुन का शोक-मोह दूर हो गया और वह स्वयं भगवान् से कहने लगा कि हे! अच्युत! अब मेरा मोह नष्ट हो गया-**नष्टो मोहः।**(गी.18.73)।

धर्मों का त्याग भी सामान्य त्याग से विलक्षण है। त्याग दो प्रकार का

1.गीताभाष्य की तात्पर्यचन्द्रिका व्याख्या के अनुसार स्वर्गादि और उसके उपाय-सम्बन्धी वेदादिशास्त्र से होने वाला ज्ञान यहाँ गुह्य शब्द से विवक्षित है।

होता है-एक तो स्वरूपतः धर्म का त्याग, दूसरा धर्म के फल का त्याग। भगवत्-शरणागति से धर्म का स्वरूपतः त्याग भी संभव है। वस्तुतः जो महापुरुष स्वरूपतः भी धर्मों का त्याग करते हैं, वे शरणागति के प्रभाव से भगवत्पादारविन्द मकरन्दरससुधासिन्धु में सदा निमग्न रहते हैं। जो भगवद्भक्त भक्तिरस में लीन रहते हैं उन्हें धर्मों को छोड़ना नहीं पड़ता, प्रत्युत् धर्म ही विवश होकर उन्हें छोड़ देते हैं, ऐसा परमरसिकाचार्य श्रीहितहरिवंश महाप्रभुजी कहते हैं, उन्होंने श्रीराधासुधानिधि में लिखा है कि **त्यक्ता कर्मभिरात्मनैव भगवद् धर्मेप्यहो निर्ममाः। सर्वाश्चर्यगतिगताः रसमयीं तेभ्यो महदभ्यो नमः॥**(रा.सु.80) अर्थात् मैं उन भगवद्रसिक सन्तों की वन्दना करता हूँ, जिन्हें कर्मों ने ही अपनी ओर से छोड़ दिया है। वे प्रियतम प्राणनाथ की मधुर स्मृति में इस प्रकार खोये रहते हैं कि उन्हें सन्ध्यावन्दन-तर्पण आदि बाह्य कर्मों की स्मृति होती ही नहीं, उन्हें न प्रातःकाल का ज्ञान होता है और न ही सायं का। जब समय का ज्ञान नहीं, तब समय के बन्धन में बँधे कर्मों के स्मरण का उन्हें अवकाश ही कहाँ? अतः वे कर्म कर ही कैसे सकते हैं? इसलिए कहा जाता है कि अन्त में लाचार होकर कर्म ही ऐसे शरणागतों को छोड़ देते हैं।

अत्यन्त आश्चर्य की बात यह है कि ऐसे रसिक सन्त कभी कभी भगवदर्चनरूप धर्मों का अनुष्ठान भी नहीं कर पाते। यद्यपि वे धर्म सर्वदा अनुष्ठेय हैं तथापि ऐसे सन्त उनमें भी आग्रह नहीं रख पाते। वे प्रियतम प्रभु और उनकी दिव्य, रसमयी लीलाओं को ध्यान की गहराई में निहारते रहते हैं अतः उनका उन बाह्य धर्मों में आग्रह नहीं रहता। श्रीराधासुधानिधि कार ऐसे ही शरणागत सन्तों की वन्दना करते हैं। कर्म में आसक्ति का और उनके फल का त्याग करने वाले महापुरुष भी नितान्त वन्दनीय होते हैं, वे भगवदर्पणबुद्धि से कर्मों को करते रहते हैं और सकाम कर्म करने वालों से अत्यन्त विलक्षण होते हैं क्योंकि सकामकर्मी भगवान् तथा विभिन्न देवी-देवताओं की अर्चनाद्वारा उनसे विविध फलों की याचना करते हैं किन्तु भगवत्-शरणागत तो उन देवताओं को पूजकर भी, उनसे कुछ न माँगकर अपने प्रभुप्रेम में ही निमग्न रहते हैं। सामान्यजन अन्य देवताओं की इष्टबुद्धि से अर्चना करते हैं किन्तु शरणागत उन देवताओं की भगवदात्मकबुद्धि से अर्चना करते हैं। सामान्य जन इन देवताओं के स्वामी भगवान् को

भूलकर इनकी पूजा करते हैं किन्तु भगवत्-शरणागत तो देवताओं के अन्तरात्मा भगवान् को ठीक से जानकर उनके शरीरभूत देवताओं की पूजा करते हैं। वे भलीभाँति इस रहस्य को जानते हैं कि मेरे प्रभु की सेवा के लिए देवतागण भी तरसते हैं। देवताओं के भी प्राप्य मेरे प्रभु हैं अत: साधारण जन के एवं भगवत्-शरणागत के धर्मानुष्ठान में महान् भेद है। इन्हीं भेदों के कारण भगवान् अपने शरणागत को आदेश देते हैं कि **सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।**(गी.18.66)। सभी धर्मों को छोड़ने पर शरणागत पर पाप होने की शंका नहीं हो सकती, इस बात की पुष्टि के लिए भगवान् विशेषरूप से आश्वासन देते हैं कि मैं तुम्हें सभी पापों से मुक्त कर दूँगा, तुम शोक मत करो-**अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच:।**(गी.18.66)। 'सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि' यह वचन अत्यन्त विचारणीय है। मुमुक्षु के प्रकरण में पढ़े जाने से यहाँ पाप शब्द पुण्य का भी उपलक्षण है। जैसे पाप बन्धनकारक है, वैसे ही पुण्य भी। जैसे पाप भगवत्प्राप्ति का प्रतिबन्धक है, वैसे पुण्य भी। पाप के फल दु:खभोग से सभी की अरुचि होती है किन्तु पुण्य के फल सुखभोग में आसक्ति होती है और उससे दु:खमिश्रित इन क्षणिक सुख के जनक क्षुद्र सांसारिक विषयों में भी आसक्ति होती है, इस प्रकार पुण्य-पापात्मक सभी कर्म उत्तरोत्तर बन्धन के जनक होते हैं, इसलिए भगवान् शरणागत को उन सभी कर्मों से मुक्त करने का आश्वासन देते हैं। क्रियमाण, सञ्चित और प्रारब्ध के भेद से कर्म तीन प्रकार के होते हैं। जन्म-जन्मान्तर के शुभाशुभ आचरण से जन्य पुण्य-पाप के पुञ्जों को सञ्चित कर्म कहते हैं। प्रारब्ध कर्म सञ्चित कर्मों के अक्षय भण्डार से बनते हैं। सञ्चित कर्म का जो अंश जन्म, आयु और सुखदु:ख के भोग का जनक होता है, वह प्रारब्ध कहलाता है। वर्तमान में जान कर अथवा विना जाने शुभाशुभ आचरण से होने वाले पुण्य-पाप को 'क्रियमाण कर्म' कहते हैं। वेदान्तसिद्धान्त के अनुसार ब्रह्मोपासना से सञ्चित एवं क्रियमाण कर्म नष्ट हो जाते हैं किन्तु प्रारब्ध भोग के द्वारा ही विनष्ट होता है। शरणागति उपासना से विलक्षण हैं क्योंकि ब्रह्मोपासक को प्रारब्ध कर्म का फल भोगना पड़ता है। यदि वर्तमान शरीर से ब्रह्मोपासक सम्पूर्ण प्रारब्ध का भोग नहीं कर पाता तो अगले जन्म में उसे भोगना पड़ता है किन्तु शरणागत को इसी जन्म में प्रारब्ध का भोग कराकर भगवान् अपने

धाम में बुला लेते हैं। आचार्यों का कहना है कि प्रारब्ध से अतिरिक्त सभी पाप शरणागति से दूर हो जाते हैं। अभ्युपगत तथा अनभ्युपगत के भेद से प्रारब्ध के दो भेद हैं। इसी शरीर से भोगने योग्य पापों को अभ्युपगत तथा शरीरान्तर से भोगने योग्य पापों को अनभ्युपगत कहते हैं। शरणागत को केवल इसी शरीर से भोगने योग्य अभ्युपगत प्रारब्ध को भोगना पड़ता है तथा अगले जन्म में भोगने योग्य अनभ्युपगत प्रारब्ध को शरणागति स्वयं नष्ट कर देती है। वाल्मीकीय रामायण में विभीषण के प्रति जो श्रीरामचन्द्र के द्वारा विभीषण को अभय प्रदान के प्रसंग में 'ददामि' यह वर्तमानकाल की क्रिया है, इससे 'अस्मिन् एव शरीरे अभयं ददामि' शरणागतों को इसी शरीर से अभय प्रदान करता हूँ, यह अर्थ निकलता है। शरणागत का पुनर्जन्म नहीं होता, यह शरणागति की विशेषता है।

भागवत में शरणागति

जिस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को गीता में उपदेश दिया, उसी प्रकार उन्होंने श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध में उद्धवजी को उपदेश दिया है। यह उपदेश समस्त भागवत का सारतम भाग है। भगवान् के सर्वश्रेष्ठ प्रियपात्र श्रीउद्धव जी हैं। भगवान् कहते हैं कि हे उद्धवजी! जैसे आप मुझे प्रिय हैं, वैसे ब्रह्मा, शंकर, बलराम, लक्ष्मी जी तथा अपनी आत्मा भी प्रिय नहीं है-**न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शङ्करः। न च सङ्कर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्॥**(भा.11.14.15)। जिस प्रकार श्रीकृष्ण ने गीता में अर्जुन से कहा है कि तुम मेरे प्रिय सखा हो अतः तुम्हे अत्यन्त गोपनीय रहस्य कहूँगा-**सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः। इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्॥**(गी.18.64), इसके पश्चात् **सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।**(गी.18.66) इस प्रकार शरणागति का उपदेश दिया है, उसी प्रकार भागवत में श्रीभगवान् उद्धवजी से कहते हैं कि हे! उद्धव! तुम मेरे सेवक तथा प्रिय सखा हो इसलिये तुमसे अत्यन्त गोपनीय रहस्य कहूँगा-**अथैतत् परमं गुह्यं शृण्वतो यदुनन्दन। सुगोप्यमपि वक्ष्यामि त्वं मे भृत्यः सुहृत्सखा॥**(भा.11.11.49)। भगवान् ने उद्धव को समस्त धर्मों एवं रहस्यों का भी उपदेश किया है। बारहवें अध्याय में सर्वप्रथम सत्संग को भगवत्प्राप्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन कहा है। सत्संग के प्रभाव से ही अनेक साधनहीन भक्तों ने मुझे प्राप्त किया, ऐसा भगवान् ने

स्वयं कहा है। भक्तों में विशेष रूप से विभीषण, प्रह्लाद, हनुमान्जी एवं गोपियों के नाम गिनाये गये हैं। अन्त में श्रीकृष्णचन्द्र उद्धवजी से कहते हैं कि उद्धव! तुम श्रुति-स्मृति, विधि-निषेध, प्रवृत्ति-निवृत्ति, सुनने योग्य तथा सुने गये समस्त साधनों का परित्याग करके समस्त प्राणियों के आत्मस्वरूप मुझ एक परमात्मा की ही सर्वतोभावेन शरण ग्रहण करो क्योंकि मेरी शरण में आने से तुम सर्वथा अभय हो जाओगे-**तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम्। प्रवृत्तं च निवृत्तं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च॥ मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम्। याहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकुतोभयः॥**(भा. 11.12.14-15) इसके अतिरिक्त नव योगेश्वर संवाद के अन्त में भी शरणागति की महती महिमा का वर्णन किया गया है। योगेश्वर राजा निमि से कहते हैं कि हे राजन्! जो मनुष्य समस्त विधि-निषेध का परित्याग कर भगवान् श्रीमुकुन्द की शरण में आ जाता है, वह देवताओं, ऋषियों, पितरों, प्राणियों, कुटुम्बियों और अतिथियों के ऋण से मुक्त हो जाता है-**देवर्षिभूताप्तनृणां पितृणां न किङ्करो नायमृणी च राजन्। सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्॥**(भा.11.5.41), इस प्रकार श्रीभागवत में स्थल-स्थल पर शरणागति का वर्णन मिलता है। भागवत के मतानुसार भगवत्-शरणागत जीव ही भगवत्प्रेम का अधिकारी होता है। जो अन्य आश्रयों को छोड़कर केवल श्रीभगवान् के श्रीचरणों की शरण ग्रहण करता है वही दिव्य प्रभुप्रेम का परम पात्र बनता है। हम लोग भी सभी आश्रयों को छोड़कर केवल प्रभु के पावन पादपद्मों की प्रपत्ति ग्रहण करें, बस यही सभी शास्त्रों का सार है।

शरणागति का वर्णन कर अब हरिभक्तों के द्वारा अनुकरणीय विषय कहा जाता है-

उत्कृष्टवर्णैरपि वैष्णवैर्जनैर्निकृष्टवर्णः स तदीयसेवने।
तथानुसर्त्तव्य इतीष्यते बुधैः शास्त्रैर्विधेये विधिगोचरैः परैः॥109॥

अन्वय

विधिगोचरैः परैः शास्त्रैः विधेये तदीयसेवने इति इष्यते, उत्कृष्टवर्णैः बुधैः वैष्णवैः जनैः अपि निकृष्टवर्णः सः तथा अनुसर्त्तव्यः।

अर्थ

विधिगोचरैः-विधि के प्रतिपादक [illegible] शास्त्रों के द्वारा

विधेयैः-विहित **तदीयसेवने**-हरिभक्त वैष्णवों की सेवा के विषय में **इति**-यह **इष्यते**-माना जाता है कि **उत्कृष्टवर्णैः**-श्रेष्ठ वर्ण के **बुधैः**-विद्वान् **वैष्णवैः**-वैष्णव **जनैः**-जनों के द्वारा **अपि**-भी **निकृष्टवर्णः**-निम्न वर्ण वाला **सः**-वैष्णव (जिस प्रकार निम्न वर्ण के द्वारा श्रेष्ठ वर्ण वाले का अनुसरण किया जाता है), **तथा**-उसी प्रकार **अनुसर्त्तव्यः**-अनुसरण करने योग्य है।

भाष्य

वैष्णव-विष्णु शब्द से **भक्तिः**(अ.सू.4.3.95) इस सूत्र के द्वारा 'भक्तिः अस्य' इस अर्थ में अण्प्रत्यय तथा आदि वृद्धि करने पर वैष्णव शब्द सिद्ध होता है। यहाँ भज् धातु से कर्म में क्तिन् प्रत्यय करने पर भक्ति शब्द निष्पन्न हुआ है। **भज्यते सेव्यत इति भक्तिः** इस व्युत्पत्ति के अनुसार भगवान् की सेवा अर्थात् आराधना को भक्ति कहा जाता है। विष्णु जिसका सेवित(आराधित) है, उसे वैष्णव कहते हैं-**विष्णुः भक्तिरस्य इति वैष्णवः**। संसारी प्राणियों के द्वारा विषय सेवित होते हैं और विषयों की प्राप्ति के लिए अन्य देवता सेवित होते हैं किन्तु सकलविषयों की कामना से रहित वैष्णव के द्वारा भगवान् श्रीहरि ही सेवित होते हैं, इसलिए वैष्णव को श्रेष्ठ कहा जाता है।

विष्णु शब्द से **सास्य देवता**(अ.सू.4.2.24) इस सूत्र के द्वारा 'विष्णुरेव देवता अस्य' इस अर्थ में अण्प्रत्यय तथा आदि वृद्धि करने पर भी वैष्णव शब्द सिद्ध होता है। सकल सांसारिक विषयों से विरक्त वैष्णव का अन्य देवताओं से कोई प्रयोजन नहीं रहता क्योंकि वे मोक्ष नहीं दे सकते। भगवान् विष्णु ही उसे देने में समर्थ हैं, इसलिए केवल विष्णु ही जिसके देवता हैं, आराध्य हैं, उसे वैष्णव कहा जाता है। भगवद्दर्शन से अतिरिक्त विषय की इच्छा न होने से दर्शनार्थी वैष्णव सर्वश्रेष्ठ होता है।

वैष्णव का सम्मान

शास्त्र भगवत्सेवा और भागवत्सेवा का विधान करते हैं, वे वैष्णवों की सेवा के विषय में यह भी कहते हैं कि जिस प्रकार निम्न वर्ण के द्वारा श्रेष्ठ वर्ण के विद्वान् पुरुष का अनुसरण किया जाता है, उसी प्रकार उत्तम विद्वान् ब्राह्मण वैष्णवों के द्वारा भी निम्न वर्गीय वैष्णव का अनुसरण करना

चाहिए। प्रायः यह सभी सज्जनों का स्वभाव देखने में आता है कि वह अपने समान वर्ग के व्यक्ति से घनिष्ठ सम्बन्ध रखना चाहता है। जैसे शास्त्रज्ञानी शास्त्रज्ञानी से, अभियन्ता अभियन्ता से और चिकित्सक चिकित्सक से तथा किसी विशिष्ट व्यक्ति के पास पहुँच वाला व्यक्ति उसके पास पहुँच वाले दूसरे व्यक्ति से, ऐसा करने से ही वह अपने कर्तव्य क्षेत्र में सफलता प्राप्त कर सकता है, तैसे ही वैष्णव का वैष्णव से प्रीतिमय सम्बन्ध होता है। कर्तव्य और लक्ष्य को लेकर सभी वैष्णव एक समान हैं, उनका कर्तव्य क्या है? हरिभक्ति, इस प्रकार समान कार्य करने वालों में प्रेम अवश्यंभावी है। स्वामी रामानन्दाचार्य के द्वारा प्रस्तुत श्लोक में प्रयुक्त अनुसर्तव्यः पद ध्यान देने योग्य है, इसका अर्थ है अनुसरण करना चाहिए। किसी की श्रेष्ठता होने पर और उसमें श्रद्धाभाव होने पर ही अनुसरण किया जा सकता है। लौकिक जनों में निम्न कहा जाने वाला हरिभक्त भी प्रवृद्ध भक्तियोग के कारण श्रेष्ठ होता है इसलिए उसके प्रति श्रद्धा का उदय होना चाहिए और उसका अनुसरण भी करना चाहिए। उस वैष्णव ने कैसे भजन आरम्भ किया? विषम परिस्थितियों में रहकर भी कैसे भजन किया? जिसका परिणाम निरन्तर पल्लवित व पुष्पित निरतिशयप्रीतिरूप भक्तियोग है। उससे प्रेरणा प्राप्तकर प्रेमपथ का पथिक बनने के लिए उसका अनुसरण कर उच्च कुल का विद्वान् वैष्णव भी अपने को भरपूर भक्तिरस में रंगकर भगवान् को प्राप्त कर सकता है। हरिभक्ति दुर्लभ है अतः जहाँ कहीं से भी संभव हो , उसे प्राप्त कर लेना चाहिए। जो वैष्णव हरिभक्ति से ओतप्रोत होते हैं, उनका सम्मान करने से श्रीहरि का सम्मान हो जाता है, उनकी प्रसन्नता से श्रीहरि की प्रसन्नता हो जाती है, इसलिए भगवत्प्रसाद आदि देकर वैष्णवमात्र की सेवा करना चाहिए। केवल हरिभक्त का सम्मान करें, इतना ही नहीं अपितु श्रीमद्भागवतमहापुराण के अनुसार तो सभी में श्रीभगवान् विद्यमान हैं, ऐसा समझकर सभी का सम्मान करना चाहिए। भगवान् ने स्वयं कहा है कि देहदृष्टि को, लोकलज्जा को और हँसी उड़ाने वाले अपने लोगों की भी परवाह छोड़कर कुत्ता, चाण्डाल, गाय और गधे को भी पृथ्वी पर लेटकर साष्टांग प्रणाम करना चाहिए-**विसृज्य स्मयमानान् स्वान् दृशं व्रीडां च दैहिकीम्। प्रणमेद् दण्डवद् भूमावाश्वचाण्डालगोखरम्॥**(भा.11.29.16) इससे पूर्व के श्लोक में समदर्शी पण्डित का उल्लेख कर उसके भगवद्भाव को दृढ करने के लिए प्रस्तुत श्लोक

में सभी को दण्डवत् प्रणिपात करने को कहा है। यह सर्वहितकारी करुणामय, पतितपावन श्रीभगवान् का साक्षात् कथन है। जब सभी का सम्मान किया जा सकता है तो हरिभक्त वैष्णव का अवश्य किया जा सकता। सर्वोत्तम फल भगवत्प्राप्ति का साधन हरिभक्ति से युक्त होने के कारण ही "निम्न वर्ग के व्यक्ति से भी मोक्ष के साधन को प्राप्त कर लेना चाहिए"-**अन्त्यादपि परं धर्मम्**।(म.स्मृ.2.238, भ.पु.1.4.207), ऐसा महाराज मनु ने कहा है। कुलूकभटट् की मन्वर्थमुक्तावली टीका में अन्त्याद् का अर्थ चाण्डालादपि किया है। अतिदुर्लभ मोक्ष का साधन प्राप्त कर उसका अनुष्ठान करने से सभी दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्तिपूर्वक निरतिशय आनन्दरूप परमात्मा की प्राप्ति होती है। वैष्णव की हरिभक्ति की महिमा के कारण ही कहा जाता है कि भगवद्भक्त शूद्र नहीं कहे जाते, भगवद्भक्त विप्र कहे जाते हैं। चारों वर्णों में वे ही शूद्र हैं जो कि भगवान् के भक्त नहीं हैं-**न शूद्रा भगवद्भक्ता विप्रा भागवताः स्मृताः। सर्ववर्णेषु ते शूद्रा ये न भक्ता जनार्दने॥** इस प्रकार शास्त्र भगवद्भक्त वैष्णव की प्रशंसा करते हैं। देहदृष्टि(देहभाव) और भगवद्दृष्टि(भगवद्भाव) ये भिन्न फल की जनक भिन्न दृष्टियाँ हैं, इनमें प्रथम अधम दृष्टि का अनुसरण करने वाले अहंकाराग्नि में जलते हुए **अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः**।(क.उ. 1.2.5) इस कठश्रुति के अनुसार उत्तरोत्तर घोर दुस्तर संसार गर्त में गिरते रहते हैं और द्वितीय उत्तम दृष्टि का आश्रय लेने वाले शीघ्र संसार से पार हो जाते हैं। सभी में श्रीहरि की विद्यमानता के कारण इस दृष्टि का आश्रय लेने वाले महापुरुष सभी को प्रणम्य समझते हैं। इसी कल्याणकारक, उदार, उदात्तभावना से भावित होकर सन्तप्रवर गोस्वामी तुलसीदास जी **सीयराममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥**(रा.च.मा.1.7.2)। इस प्रकार सभी को प्रणाम करते हैं।

सभी में भगवद्भाव करने के लिये अपने आत्मस्वरूप का भी यथार्थ ज्ञान आवश्यक है। सभी को अपना आत्मस्वरूप इस प्रकार समझना चाहिए कि मैं देह नहीं हूँ, चक्षु आदि बाह्येन्द्रिय नहीं हूँ, मन नहीं हूँ, प्राण नहीं हूँ और बुद्धि(धर्मभूतज्ञान) भी नहीं हूँ। मोटा-पतला, गोरा-काला शरीर होता है, आत्मा नहीं होती, वह शरीर से भिन्न है। आत्मा ब्रह्मचारी, गृही, वानप्रस्थी और संन्यासी नहीं होती तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भी

नहीं होती। लूला-लंगड़ा, अन्धा-बहरा भी आत्मा नहीं होती, शरीर और इन्द्रियाँ ही वैसी होती हैं। आत्मा देहादि से भिन्न है, नित्य है, ज्ञानानन्दस्वरूप है, भगवान् का शेष है और भगवदात्मक है, उसमें अन्तरात्मारूप से भगवान् सदा विद्यमान रहते हैं। जैसी अपनी आत्मा है, ऐसी ही अन्य सभी आत्माएँ हैं, सभी आत्माओं में और अचेतन पदार्थों में भी भगवान् विद्यमान हैं, सभी में विद्यमान भगवान् का चिन्तन ही भगवद्दृष्टि या भगवद्भाव कहलाता है।

वैष्णव की महिमा

महाभारत में स्पष्ट कहा है कि शीलरहित ब्राह्मण का भी आदर न करें किन्तु सदाचारी धर्मज्ञ शूद्र का भी आदर करें-**ज्यायांसमपि शीलेन विहीनं नैव पूजयेत। अपि शूद्रं च धर्मज्ञं सद्वृत्तमभिपूजयेत्॥**(म.भा.अ.48. 48)। इसी कारण वैदिक सनातन धर्म में अनादिकाल से ही सभी भक्तों का सम्मान होते आया है। महाभारतकाल में विदुर और धर्मव्याध भी सम्मानित होते रहे हैं। श्रीकबीर और रैदास आदि भी सम्मानित हैं। दक्षिण भारत में भगवत्साक्षात्कारी वैष्णव भक्त हुए हैं, जिन्हें आलवार कहा जाता है, वे सभी वर्ग के हैं, उनमें अनेक शूद्र हैं, चाण्डाल हैं, प्रसिद्ध आलवार श्रीशठकोप स्वामी भी शूद्र हैं[1]। कुछ मन्दिरों में वे सभी प्रतिष्ठित होते हैं, ब्राह्मण अर्चकों के द्वारा उनकी विधिवत् आराधना होती है और सभी लोग उनका उच्छिष्ट तथा पादोदक लेते हैं अतः ग्रन्थकार ने कोई नूतन बात नहीं कही है, शास्त्र और आचार में जो देखा जाता है, उसी का उल्लेख उन्होंने किया है।

श्रीचैतन्य महाप्रभु ने कहा है कि अपने को तिनके से भी नीच समझकर, वृक्ष से अधिक सहनशील होकर, स्वयं के सम्मान की भावना न रखकर सदा श्रीहरि का कीर्तन करना चाहिए-**तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना। अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥**(शि.)। पूजनीय शालग्रामस्वरूप में शिला(पाषाण) बुद्धि, गुरु में मनुष्यबुद्धि, वैष्णव में जातिबुद्धि, कलि के पापनाश करने वाले विष्णु तथा वैष्णवों के

1.इस विषय की जानकारी के लिए बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना से प्रकाशित महामहोपाध्याय डा. गोपीनाथ कविराज कृत भारतीय संस्कृति और साधना ग्रन्थ में वैष्णव साधना और साहित्य नामक लेख देखना चाहिए।

चरणोदक में जलबुद्धि, कलि के पाप दूर करने वाले भगवान् के नाम और मन्त्र में शब्दसामान्यबुद्धि और सर्वेश्वर भगवान् में सामान्य देवबुद्धि जो रखता है, वह मनुष्य नरकगामी होता है-**अर्च्ये विष्णौ शिलाधीर्गुरुषु नरमतिर्वैष्णवे जातिबुद्धिर्विष्णोर्वा वैष्णवानां कलिमलमथने पादतीर्थेऽम्बुबुद्धिः॥ सिद्धे तन्नाम्नि मंत्रे कलिकलुषहरे शब्दसामान्यबुद्धिः श्रीशे सर्वेश्वरेशे तदितरसमधीर्यस्य वा नारकी सः॥** प्रतिमा, मन्त्र, तीर्थ, भगवद्भजन, वैष्णव और गुरु में जिसकी जैसी भावना होती है, उसके अनुसार ही उसे सिद्धि प्राप्त होती है-**प्रतिमामन्त्रतीर्थेषु भजने वैष्णवे गुरौ। यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी॥**

यदि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अन्य कोई भी विष्णुभक्ति से सम्पन्न हो तो उसे सर्वश्रेष्ठ जानना चाहिये-**ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो वा यदि वेतरः। विष्णुभक्तिसमायुक्तो ज्ञेयः सर्वोत्तमश्च सः॥**(स्क.पु. 4.21.63)सभी धर्मों में वैष्णव धर्म उत्तम है और सभी धर्म के अनुयायियों के मध्य में श्रीवैष्णव सदा पूज्य है-**धर्माणामथ सर्वेषां वैष्णवो धर्म उत्तमः। सर्वेषां धर्मिणां मध्ये पूज्यः श्रीवैष्णवः सदा॥** हे मुनिश्रेष्ठ! विष्णुभक्त चण्डाल भी द्विज(विष्णुभक्तिरहित द्विज) से श्रेष्ठ है और विष्णुभक्तिरहित द्विज भी चण्डाल से अधम है-**चण्डालोऽपि मुनिश्रेष्ठ विष्णुभक्तो द्विजाधिकः। विष्णुभक्तिविहीनश्च द्विजोऽपि श्वपचाधमः॥**(ना.पु.पू.34.41)। हे राजन्! चाण्डाल वैष्णव भी भक्तिरहित द्विज से श्रेष्ठ है तथा विष्णु की भक्ति से रहित यति भी चाण्डाल से अधम है-**श्वपचोऽपि महीपाल विष्णुभक्तो द्विजाधिकः। विष्णुभक्तिविहीनस्तु यतिश्च श्वचाधमः॥** इत्यादि प्रकार से शास्त्रों ने भक्तियुक्त होने के कारण वैष्णवों की महिमा का वर्णन किया है।

पूर्व श्लोक के द्वारा जिस व्यापक परमात्मा से प्रीति करने वाले वैष्णव की महिमा कही गयी, अब उस परमात्मा की सर्वव्यापकत्वरूप महिमा का प्रतिपादन किया जाता है।

अणुव्याप्तौ च भगवानणुषु त्वणुरुच्यते।
पराकाष्ठापरैर्विज्ञैर्मतविद्भिर्महात्मभिः॥110॥

अन्वय

मतविद्भिः च पराकाष्ठापरैः विज्ञैः महात्मभिः उच्यते, अणुव्याप्तौ

भगवान् तु अणषु अणुः।

अर्थ

मतविद्भिः-सिद्धान्तवेत्ता **च**-और **पराकाष्ठापरैः**-परमात्मपरायण **विज्ञैः**-विद्वान् **महात्मभिः**-महात्माओं के द्वारा (यह) **उच्यते**-कहा जाता है कि **अणुव्याप्तौ**[1]-सूक्ष्म आत्मा में व्याप्ति होने के कारण **भगवान्**-परमात्मा तु-तो **अणषु**-सूक्ष्मों में **अणुः**-सूक्ष्म हैं।

भाष्य

परमात्मा से श्रेष्ठ कुछ नहीं है, वह काष्ठा(अवधि, सीमा) है और वही परम प्राप्य है-**पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः॥**(क.उ.1.3.11), इस कठमन्त्र में काष्ठा शब्द से परमात्मा कहे जाते हैं, वे कैसी काष्ठा हैं? इस प्रश्न के उत्तर में प्रस्तुत श्लोक कहता है-परा अर्थात् चरम। ऐसे परमात्मपरायण भक्त श्लोक में पराकाष्ठापर कहे जाते हैं। जिन्होंने वेदान्तप्रतिपाद्य सविशेषाद्वैत सिद्धान्त को जान लिया है, ऐसे सिद्धान्तवेत्ता परमात्मपरायण विद्वान् महात्माओं के द्वारा यह कहा जाता है कि **अणुव्याप्तौ च भगवानणुषु त्वणुरुच्यते।** आत्मा का परिमाण अणु है और परमात्मा का विभु। आत्मस्वरूप और परमात्मस्वरूप के निरूपण के प्रसंग में इन दोनों का व्याख्यान किया जा चुका है। प्रस्तुत श्लोक में प्रयुक्त अणु शब्द का सूक्ष्म अर्थ है। आत्मा सूक्ष्म है और परमात्मा निरतिशय सूक्ष्म। सूक्ष्म आत्मा में भी परमात्मा की व्याप्ति शास्त्रों में कही जाती है। आत्मा में वही व्याप्त होकर रह सकता है, जो उससे अधिक सूक्ष्म हो। अचेतन पदार्थों और चेतन आत्माओं के मध्य में सबसे सूक्ष्म आत्मा है, इसलिए शिला में भी उसके प्रवेश में कोई रुकावट नहीं होती। परमात्मा विभु होते हुए भी आत्मा से अधिक सूक्ष्म हैं, इसलिए वह आत्मा में भी प्रविष्ट होकर रहता है। इस विषय का विस्तार 97 वें और 99 वें श्लोक की व्याख्या मे किया गया है, वहीं देखना चाहिए।

पूर्व में मुक्तिसाधन भक्तियोग का और उसके उपकारक एकादशी आदि व्रतों का प्रतिपादन किया गया था, इसके अनन्तर मुक्तिसाधन प्रपत्तियोग का भी प्रतिपादन किया गया। मुमुक्षु भक्ति और प्रपत्ति इन दोनों में अपनी

1.**निमित्तात्कर्मयोगे** इति वार्तिकेनात्र हेतुवाचकाद् अणुव्याप्तिशब्दात् सप्तमी।

रुचि और सामर्थ्य के अनुसार किसी एक का अनुष्ठान कर सकता है। इनसे प्राप्त होने वाले मोक्ष का आगे प्राप्यस्वरूप के प्रतिपादन के प्रसंग में ग्रन्थकार वर्णन करेंगे। आत्मा ब्रह्मात्मक है अर्थात् ब्रह्म का शरीर है, परमात्मा आत्मा में प्रविष्ट होकर उसका नियमन करते हैं, इस (प्रवेश) के लिए उपयोगी परमात्मा के सूक्ष्मतमत्व का वर्णन अभी किया गया। इस प्रकार ब्रह्मात्मक आत्मस्वरूप को समझाकर अब प्रसंगतः उसके अनुभवरूप कैवल्य का वर्णन किया जाता है, वह ज्ञानयोग से साध्य है। प्रपत्ति सर्वफलदायिनी है, इसके लिए प्रपत्ति करने पर वह प्रपत्ति से भी साध्य है, इसलिए प्रपत्ति के प्रतिपादन के पश्चात् इसका प्रतिपादन किया जाता है-

आत्मारामैस्तथोपायस्वरूपज्ञानिभिश्च तैः।
मतज्ञैर्विरजापारं कैवल्यमिति मन्यते॥111॥

अन्वय

आत्मारामैः च तथा उपायस्वरूपज्ञानिभिः मतज्ञैः तैः इति मन्यते, विरजापारम् कैवल्यम्।

अर्थ

आत्मारामैः-परमात्मा में रमण करने वाले **च**-और **तथा**-उसी प्रकार **उपायस्वरूपज्ञानिभिः**-उपाय के स्वरूप को जानने वाले **मतज्ञैः**-सिद्धान्तवेत्ता **तैः**-विद्वानों के द्वारा **इति**-यह **मन्यते**-माना जाता है (कि) **विरजापारम्**-विरजा के पार **कैवल्यम्**-कैवल्य प्राप्त होता है।

भाष्य

कैवल्यस्थान-आत्मा शब्द के जीवात्मा और परमात्मा दोनों अर्थ होते हैं। प्रस्तुत श्लोक में आत्मा का अर्थ परमात्मा है। जो परमात्मा में रमण करता(आनन्दित होता) है, वह उससे पहले अपनी आत्मा में रमण कर चुका है क्योंकि आत्मसाक्षात्कार के अनन्तर ही परमात्मसाक्षात्कार होता है। कर्म, ज्ञान, भक्ति तथा प्रपत्तिरूप उपायों का वर्णन पूर्व में किया जा चुका है। उपायस्वरूप को जानने वाले सिद्धान्तवेत्ता आत्माराम विद्वानों के द्वारा यह माना जाता है कि कैवल्य की प्राप्ति विरजा के पार होती है। कौषीतकी उपनिषत् में **विरजा नदी**।(कौ.उ.1.23) और **सा आगच्छति विरजां नदीम्**।(कौ.उ.1.37) इस प्रकार विरजा नदी का वर्णन प्राप्त होता

है। विरजा प्राकृत लोक और अप्राकृत भगवद्धाम की सीमा है। कैवल्य की प्राप्ति प्राकृत लोक में नहीं होती अपितु अप्राकृत लोक में होती है। यह पूर्व में कहा ही गया है कि कैवल्य की प्राप्ति ज्ञानयोग से होती है और प्रपत्ति से भी। कैवल्य को प्राप्त करने वाले भगवद्धाम में ही रहते हैं, प्राकृत लोकों में नहीं रहते।

कैवल्य

मुक्तिः कैवल्यनिर्वाणश्रेयः।(अ.को.1.5.6) इस प्रकार मोक्ष का पर्याय कैवल्य शब्द देखा जाता है, फिर भी स्वात्मानन्दानुभव के अर्थ में भी यह शब्द प्रयुक्त होता है। प्रकृति के सम्बन्ध से विनिर्मुक्त होकर अपने ब्रह्मात्मक आनन्दस्वरूप आत्मा का अनुभव कैवल्य कहलाता है- **स्वब्रह्मात्मकस्वरूपानुभवः कैवल्यम्।** तापत्रय से संतप्त मनुष्य 'अपनी आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है, ब्रह्मात्मक है' इस प्रकार शास्त्र से जानकर ज्ञानयोग के अभ्यास से ब्रह्मात्मकत्वेन ज्ञानानन्दस्वरूप अपनी आत्मा का अनुसंधान करते हैं तथापि 'मैं ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ, ब्रह्मात्मक हूँ इस प्रकार वे अपनी आत्मा का ही प्रधानरूप से अनुसंधान करते हैं और उसके विशेषणरूप से ब्रह्म का अनुसन्धान करते हैं किन्तु 'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रकार स्वात्मशरीरक ब्रह्म की उपासना करने वाले ब्रह्म का ही प्रधानरूप से अनुसंधान करते हैं और उसके विशेषणरूप से आत्मा का अनुसन्धान करते हैं। इस प्रकार ज्ञानयोग और भक्तियोग दोनों में दोनों का अनुसंधान होता है फिर भी ज्ञानयोग में आत्मा के अनुसंधान की प्रधानता होती है और भक्तियोग में परमात्मा के अनुसंधान की प्रधानता। उपनिषदों में इस लोक से अर्चिरादि मार्ग के द्वारा जाने वालों की ही मुक्ति कही गयी है। छान्दोग्योपनिषत् में कहा गया है कि प्रकृति के सम्बन्ध से रहित ब्रह्मात्मक अपनी आत्मा की उपासना करने वाले तथा वन में रहकर श्रद्धापूर्वक परब्रह्म की उपासना करने वाले जीव अर्चिरादि को प्राप्त होते हैं-**तद् य इत्थं विदुः ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते। तेऽर्चिषम् अभिसंभवन्ति।** (छां.उ.5.10.1), ब्रह्मसूत्र के **कार्याधिकरण**(ब्र.सू.4.3.5) में यह विषय निर्धारित किया गया है। इस प्रकार ब्रह्मात्मक-आत्मोपासक और परमात्मोपासक दोनों को अर्चिरादि की प्राप्ति कही है। उक्त छान्दोग्यमन्त्र के प्रसंग में तथा बृहदारण्यक(6.2.13)में पठित पञ्चाग्निविद्या ब्रह्मात्मक-आत्मविद्या है।

ब्रह्मात्मक-आत्मवेत्ता अर्चिरादि से अप्राकृत धाम जाकर ब्रह्म को प्राप्त कर इस संसार में नहीं आता, इस प्रकार परिशुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति भी ब्रह्मप्राप्ति के अन्तर्गत है। वह वहाँ अपने ब्रह्मात्मक आत्मस्वरूप का अनुभव करता रहता है। प्रस्तुत ग्रन्थ के अनुसार संसारबन्धन से रहित होकर विरजा के पार ब्रह्म को प्राप्त कर ब्रह्मात्मक अपनी आत्मा का अनुभव ही कैवल्य है, इस अनुभव में अपनी आत्मा का विशेष्यत्वेन और ब्रह्म का प्रकारत्वेन अनुभव होता है।

परब्रह्म का अनुभव ही मोक्ष है। कैवल्यसुख विषयसुख से अत्यन्त उत्कृष्ट है किन्तु ब्रह्मानन्दरूप मोक्षसुख से अत्यन्त निकृष्ट है। कैवल्य में विषयसुख और ब्रह्मानन्दरूप सुख ये दोनों ही नहीं मिलते, ब्रह्मात्मक-आत्मानन्दरूप सुख तो मिलता ही है।

जिस प्रकार मधुविद्यानिष्ठ साधक आरम्भ में फलरूप से वसुदेवता पद को प्राप्त कर उत्तरकाल में उससे विरक्त होकर परब्रह्म को प्राप्त करता है, उसी प्रकार ब्रह्मात्मक आत्मा की उपासना करने वाला साधक भी आरम्भ में फलरूप से ब्रह्मात्मक आत्मा का अनुभवरूप कैवल्य को प्राप्त कर उत्तरकाल में उससे विरक्त होकर परब्रह्मानुभवरूप मोक्ष को प्राप्त करता है, ऐसा श्रीवेदान्तदेशिक स्वामी ने गीताभाष्य की तात्पर्यचन्द्रिका व्याख्या में कहा है।

प्राणविद्यानिष्ठ साधक आत्मा का अनुसन्धान करने वाला है किन्तु ब्रह्मात्मक-आत्मा का अनुसन्धान करने वाला नहीं है अतः उसे अर्चिरादि मार्ग प्राप्त नहीं होता अपितु प्रकृतिमण्डल के ही उच्चलोक प्राप्त होते हैं। उनमें से जिसे कल्पान्त में हिरण्यगर्भ के उपदेश के अनन्तर ज्ञानयोग या उपासना से ब्रह्मात्मक आत्मा या परमात्मा का साक्षात्कार हो जाता है, वह मुक्त होकर अप्राकृत लोक को जाता है और जिसे साक्षात्कार नहीं होता, वह पुनः शरीर धारण करता है।

सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक और शांकर सिद्धान्त में आत्मा ब्रह्मात्मक (ब्रह्म का शरीर) नहीं मानी जाती अतः उनके मत में अपने ब्रह्मात्मक आत्मस्वरूप का अनुभवरूप कैवल्य नहीं कहा जा सकता। उनके मत में कैवल्य क्या है? अपने शुद्धस्वरूप का ही अनुभव कैवल्य है- **स्वस्वरूपमात्रानुभवः कैवल्यम्**, ऐसा सामान्यतः उक्त सभी मतों में कहा

जाता है। कुछ दार्शनिक इस कैवल्य को मोक्ष कहते हैं। वास्तव में यह मुख्य मोक्ष नहीं है, इसे गौणरूप से मोक्ष कहा जाता है क्योंकि इस कैवल्य में मनुष्य सभी कर्मों से छुटकारा नहीं पाता, इसमें कम से कम ब्रह्मानुभव के प्रतिबन्धक कर्म रहते ही हैं, इस कारण आत्मानुभव होने पर भी ब्रह्म का किसी भी प्रकार अनुभव नहीं होता तथा आत्मा के भी यथार्थस्वरूप का अनुभव नहीं होता। शास्त्रों में आत्मा ब्रह्मात्मक कही गयी है किन्तु मतान्तर में विश्वास करने वाले वैसा नहीं समझते। जो इस कैवल्यपद में पहुँचकर अपने आत्मस्वरूप का अनुभव करते हैं, उनका धर्मभूतज्ञान संकुचित होकर आत्माकार रहता है। ब्रह्मानुभव करने वालों का ही ज्ञान विभु रहता है। इस प्रकार कैवल्य ज्ञान का संकोचरूप सिद्ध होता है। विष्णु पुराण में कहा है कि अपने आत्मस्वरूप के अनुभव में सन्तोष करने वाले अर्थात् कैवल्यार्थी योगियों का अमृत स्थान है। अनन्य होकर ब्रह्म का ध्यान करने वाले योगियों का वह परम स्थान है, सूरिगण जिसका सदा दर्शन करते रहते हैं-**योगिनाममृतं स्थानं स्वात्मसन्तोषकारिणाम्। एकान्तिनः सदा ब्रह्मध्यायिनो योगिनश्च ये। तेषां तु परमं स्थानं यत् तत् पश्यन्ति सूरयः॥**(वि.पु.1.6.38-39) यहाँ जो द्वितीय स्थान परमपद वर्णित है, वह ब्रह्म का ध्यान करने वाले भक्तियोगियों को प्राप्त होता है, इसका **सदा पश्यन्ति सूरयः।**(सु.उ.6) इस प्रकार श्रुति वर्णन करती है। इससे सिद्ध होता है कि आत्मानुभव करने वालों का प्राप्य अमृतस्थान परम पद नहीं है, वह ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत ही है। आत्मानुभव करने वालों का वह प्राप्य अमृतस्थान कौन है? इसके उत्तर में कहा जाता है कि भूतों के प्रलयपर्यन्त रहने वाला स्थान अमृतस्थान कहा जाता है-**आभूतसंप्लवं स्थानममृतत्वं विभाव्यते।**(वि.पु.2.8.95)। महाभारत में कहा है कि आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी इस प्रकार मेरे भक्तजन चार प्रकार के सुने जाते हैं, उनमें एकमात्र मुझ भगवान् में निष्ठा रखने वाले ज्ञानी भक्त श्रेष्ठ हैं। फलेच्छारहित होकर भक्ति के अंगभूत कर्म करने वाले ज्ञानी भक्तों की मैं ही गति हूँ। जो अन्य तीन प्रकार के भक्त हैं, वे फल चाहने वाले माने जाते हैं, वे तीनों ही अपने-अपने फल से च्युत होते हैं और ब्रह्मोपासक ज्ञानी भक्त ही मोक्ष प्राप्त करता है-**चतुर्विधा मम जना भक्ता एव हि ते श्रुताः। तेषामेकान्तिनः श्रेष्ठास्ते चैवानन्यदेवताः। अहमेव गतिस्तेषां निराशीः कर्मकारिणाम्। ये**

तु शिष्टास्त्रयो भक्ताः फलकामा हि ते मताः। सर्वे च्यवनधर्माणः प्रतिबुद्धस्तु मोक्षभाक्।(म.भा.शां.341.33-35) इस प्रकार स्वतन्त्र आत्मा का अनुसन्धान करने वाले जिज्ञासु को प्राप्त होने वाला कैवल्य विनाशी सिद्ध होता है अतः इसे प्राप्त करने पर संसार में आना ध्रुव है। अपनी स्वतन्त्र आत्मा का अनुभवरूप कैवल्य की कामना करने वाले संसार(धर्म, अर्थ और काम) को नहीं चाहते, वे विषयों से मन को हटाकर आत्मा में केन्द्रित करते हैं, अतः कैवल्यप्राप्ति के अनन्तर दीर्घकाल तक उनका संसार में जन्म नहीं होता किन्तु उन्हें ब्रह्मसाक्षात्कार और ब्रह्मात्मक आत्मा का साक्षात्कार दोनों ही नहीं होते, इसलिए बन्धन का जनक अविद्या का नाश नहीं होता और अर्चिरादि मार्ग भी प्राप्त नहीं होता। अतः वे प्राकृतलोक में ही आत्मानुभव करते है और आत्मानुभवरूप कैवल्य के पश्चात् उनका संसार में पुनर्जन्म होता है।

उक्त विवरण का सार यह है कि ब्रह्मात्मक आत्मा का अनुभवरूप कैवल्य त्रिपादविभूति में प्राप्त होता है, उसे प्राप्त करने वालों की संसार में पुनरावृत्ति नहीं होती। प्रस्तुत श्लोक में श्रीरामानन्द स्वामी जी ने इसी कैवल्य का वर्णन किया है। स्वतन्त्र(अब्रह्मात्मक) आत्मा का अनुभवरूप कैवल्य प्रकृतिमण्डल में ही प्राप्त होता है, उसे प्राप्त करने वालों की संसार में आवृत्ति होती है। श्रीयामुनाचार्य जी के द्वारा गीतार्थसंग्रह में विनाशी कहा गया कैवल्य अब्रह्मात्मक आत्मा का अनुभवरूप ही है और यहाँ प्रस्तुत ग्रन्थ में श्रीरामानन्दाचार्य जी के द्वारा प्रतिपादित कैवल्य का न्यायसिद्धाञ्जन में श्रीवेदान्तदेशिक स्वामी के द्वारा प्रतिपादित कैवल्य में पर्यवसान होता है, ऐसा जानना चाहिए।

कैवल्यस्थान के वर्णन के पश्चात् सभी योगों की सिद्धि का अन्तरंग साधन भगवान् के मंगलमय नाम के उच्चारण का विधान किया जाता है-

जितेन्द्रियश्चात्मरतो बुधोऽसकृत्सुनिश्चितं नाम हरेरनुत्तमम्।
अपारसंसारनिवारणक्षमं समुच्चरेद् वैदिकमाचरन् सदा॥112॥

अन्वय

जितेन्द्रियः च आत्मरतः बुधः सुनिश्चितं वैदिकं सदा आचरन् अपारसंसार-निवारणक्षमं हरेः अनुत्तमम् नाम असकृत् समुच्चरेत्।

अर्थ

जितेन्द्रियः-जितेन्द्रिय **च**-और **आत्मरतः**-परमात्मा में प्रीति करने वाला **बुधः**-बुद्धिमान् व्यक्ति **सुनिश्चितम्**-निर्धारित **वैदिकम्**-वैदिक कर्मों का **सदा**-सदा **आचरन्**-आचरण करते हुए **अपारसंसारनिवारणक्षमम्**-घोर संसारबन्धन का निवारण करने में समर्थ **हरेः**-भगवान् के **अनुत्तमम्**-सर्वश्रेष्ठ **नाम**-नाम का **असकृत्**-बारम्बार **समुच्चरेत्**-उच्चारण करे।

भाष्य

भगवन्नाम[1] का उच्चारण-बुद्धिमान् साधक को चाहिए कि वह अपनी अन्तर् और बाह्य सभी इन्द्रियों को निग्रहीत करने का प्रयास करे, इसके लिए परमात्मा में प्रीति होना अत्यन्त आवश्यक है। संसारी जीव की विषयों में सहज प्रीति होती है। पूर्व विषय से उत्कृष्ट विषय में प्रीति होने पर पूर्व

1.भगवन्नाम-जप

श्रद्धा, प्रीति और तन्मयता की आवश्यकता-भगवान् का नाम ही, नाम ही, नाम ही मेरा जीवन है, कलियुग में नाम को छोड़कर दूसरी गति नहीं है, नहीं है, नहीं है-**हरेर्नामैव नामैव नामैव मम जीवनम्। कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥**(ना.पु.पू.ख.41.15), निरन्तर मुझ में मन लगाये हुए, प्रेमपूर्वक भजन करने वाले उन भक्तों को मैं तत्त्वज्ञान देता हूँ, जिससे वे मुझे प्राप्त हो जाते हैं-**तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥**(गी. 10.10), **अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी। उभय प्रबोधक चतुर दुभाषी॥**(रा.च. मा.1.20.8), **जाना चहहिं गूढ़ गति जेऊ। नाम जीहँ जपि जानहिं तेऊ॥**(रा. च.मा.1.21.3), **साधक नाम जपहिं लय लाएँ। होहिं सिद्ध अनिमादिक पाएँ॥**(1. 21.4), **चहुँ जुग चहुँ श्रुति नाम प्रभाऊ। कलि बिसेषि नहिं आन उपाऊ॥**(रा.च. मा.1.21.8), **सादर सुमिरन जे नर करहीं। भव बारिधि गोपद इव तरहीं॥**(रा. च.मा.1.118.4), इन शास्त्रवचनों से यह अति स्पष्ट होता है कि योग, ध्यान आदि साधनों के बाधक इस कराल कलिकाल में साधक के लिए सकलसिद्धि-प्रसाधक भगवन्नाम-जप ही है। **भजतां प्रीतिपूर्वकम्, सादर सुमिरन जे नर करहीं, साधक नाम जपहिं लय लाएँ** इन वाक्यों में 'प्रीति' 'लय' 'सादर' ये शब्द यह सिद्ध कर रहे हैं कि श्रद्धा-प्रेमपूर्वक मन लगाकर नाम-जप करने पर ही सिद्धि की प्राप्ति होती है, उसके बिना नामजप से नहीं होती। योगसूत्र **तज्जपस्तदर्थभावनम्**(यो.सू.1.28) में भी स्पष्ट कहा है कि ईश्वर के नाम-जप के साथ उसके अर्थ की भावना भी करनी चाहिए।

विषय में प्रीति समाप्त हो जाती है, यह सभी का अनुभूत विषय है। सर्वोत्कृष्ट वस्तु परमात्मा ही है अतः उसमें जैसे जैसे प्रीति होती जाएगी,

---

नामापराध

शंका-भगवन्नाम-जप के साथ 'श्रद्धा-प्रीतिपूर्वक मन लगाकर करना चाहिए' यह शर्त लगाना ठीक नहीं, क्योंकि शास्त्रों में किसी प्रकार भी लिया गया भगवन्नाम सम्पूर्ण पापों का नाशक तथा यमयातना से रक्षक और कल्याणकारक माना गया है। भागवत में कहा है कि संकेत, परिहास, गाने तथा पुकारने में भी वैकुण्ठनाथ का नाम-ग्रहण सम्पूर्ण पापों का नाश कर देता है। गिरते, फिसलते, टूटते, काटते, तपते, चोट खाते हुए पुरुष द्वारा परवश होकर 'हरि' ऐसा कहने पर भी वह यम-यातना नहीं भोगता-**सांकेत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा। वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः॥ पतितः स्खलितो भग्नः सन्दष्टस्तप्त आहतः। हरिरित्यवशेनाह पुमान्नार्हति यातनाम्॥**(भा. 6.2.14-15), **भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥**(रा.च.मा.1.27.1), **बिबसहुँ जासु नाम नर कहहीं। जन्म अनेक रचित अघ दहहीं॥**(रा.च.मा.1.118.3)। यदि कहा जाए कि ये वचन नामजप में प्रवृत्ति कराने के लिए अर्थवादमात्र हैं, इनका स्वार्थ में तात्पर्य नहीं है तो यह कथन ठीक नहीं क्योंकि नाम-जप के फल को अर्थवाद मानना नाम-अपराध माना गया है। 1.सन्तों की निन्दा करना। 2.नाम माहात्म्य की कथाओं को असत् पुरुषों में कहना। 3.भगवान् विष्णु और शंकर में भेदबुद्धि करना। 4. गुरु के वचनों में अश्रद्धा करना। 5.अपौरुषेय वेद के वचनों में अश्रद्धा करना। 6.वेदमूलक अन्य शास्त्र के वचनों में अश्रद्धा करना। 7.नामजप के फल में अर्थवाद का भ्रम होना। 8.मेरे पास भगवन्नाम है, ऐसा अभिमान करके निषिद्ध कर्म का आचरण करना। 9.मेरे पास भगवन्नाम है, ऐसा अभिमान करके विहित कर्म का त्याग करना। 10.नाम जप को दूसरे धर्मों के समान मानना। ये दश नामापराध भगवान् विष्णु और शंकर के नामजप में माने गये हैं-**सन्निन्दाऽसति नामवैभवकथा श्रीशेशयोर्भेदधीः अश्रद्धागुरुशास्त्रवेदवचने नाम्न्यर्थवादभ्रमः। नामास्तीति निषिद्धवृत्तिविहितत्यागौ च धर्मान्तरैः साम्यं नामजपे शिवस्य च हरेर्नामापराध दश॥**

समाधान-कुछ विद्वानों का कहना है कि पूर्वोक्त भागवत के श्लोकों में ही, किसी प्रकार भी लिये गये भगवन्नाम को केवल पापनाशक तथा नरकयातना-रक्षक ही बताया है, कल्याणकारक नहीं। भागवत में अजामिल के प्रसंग में पूर्वोक्त श्लोक आये हैं। पुत्र के व्याज से लिए गये भगवन्नाम द्वारा अजामिल के भी केवल पापों का ही नाश हुआ, कल्याण तो हरिद्वार में जाकर साधना करने पर ही हुआ था। भागवत में ही स्पष्ट लिखा है कि पीछे के सभी बन्धनों से मुक्त हुआ अजामिल हरिद्वार गया, उस देवसदन तीर्थ में उसने योग का आश्रय लिया-**गङ्गाद्वारमुपेयाय मुक्तसर्वानुबन्धनः। स तस्मिन् देवसदन आसीनो योगमाश्रितः॥**(भा.6.2.39-40), इससे यही

वैसे वैसे विषयों से विरति होती चली जायेगी, इस प्रकार आराध्य प्रभु में प्रीति होने पर विषयों में प्रीति समाप्त हो जायेगी। कर्मयोगी, ज्ञानयोगी और

सिद्ध होता है कि श्रद्धा-प्रेमरहित किसी भी प्रकार लिया गया भगवन्नाम केवल पापनाशक तथा यमयातना से रक्षक ही होता है और श्रद्धा, प्रेम तथा तन्मयता से लिया गया भगवन्नाम कल्याणकारी होता है। यदि ऐसा न माना जाय तो शास्त्रों में जो श्रद्धा, प्रेम तथा तन्मयता का कथन है, उसकी सार्थकता सिद्ध न होगी तथा शास्त्रवचनों में विरोध उपस्थित होगा। अतः कुभाव से लिये गये नाम को भी कल्याणकारी कहने वाले शास्त्रवचनों की संगति यही लगानी चाहिए कि प्रथम तो उससे उनके पाप का नाश ही होता है, जिससे शुद्ध अन्तःकरण होने पर वे श्रद्धा-प्रेमपूर्वक नामजप करने लग जाते हैं और उनका भविष्य में कल्याण हो जाता है। ऐसा ही अजामिल का हुआ था।

अन्य विद्वानों का कहना है कि कुभाव आदि से एकबार भी लिया गया भगवन्नाम पूर्व के सभी पापों का नाश कर देता है, यदि व्यक्ति फिर पाप न करे तो उसका कल्याण हो जाता है। पुनः पुनः पाप करने पर पुनः पुनः लिया गया नाम पाप का ही नाश करता रहेगा, उससे कल्याण नहीं होगा। अन्य विद्वानों का कहना है कि मरते समय कुभाव आदि से भी लिया गया नाम पापनाश तथा कल्याण दोनों कर देता है, क्योंकि नाम ने अपनी शक्ति से सम्पूर्ण पापोंका नाश कर दिया, नया पाप करे, ऐसा अवसर ही नहीं आया, अतः उसका कल्याण हो जाता है। अन्य विद्वानों का कहना है कि कुभाव आदि से लिया गया नाम सामान्यरूप से पापका नाश करता है और श्रद्धा-प्रेमपूर्वक लिया गया नाम विशेषरूप से पाप-नाश करता है। यदि आगे पाप न किया जाय और श्रद्धा प्रेमपूर्वक नामजप करता रहे तो पाप-वासना का भी नाश होता है। इसके बाद भगवद्भक्तिका उदय होता है, तब कल्याण होता है।

कुछ नापजप करने वाले सच्चे साधकों के सम्मुख एक प्रसिद्ध सन्त के साथ उक्त विद्वानों के मतों पर विस्तारपूर्वक विचार कर रहा था। उनमें से सन्तस्वभाव के एक सच्चे साधक ने कहा-**भायँ कुभायँ अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥**(रा.च.मा. 1.27.1), **बारक नाम कहत जग जेऊ। होत तरन तारन नर तेऊ॥**(रा.च.मा.2.216.4)। जो मनुष्य आश्चर्य, भय, शोक, और घायल होने आदि की स्थिति में किसी भी बहाने मेरा नाम स्मरण करता है, वह परमगति को प्राप्त होता है-**आश्चर्ये वा भये शोके क्षते वा मम नाम यः। व्याजेन वा स्मरेद्यस्तु स याति परमां गतिम्॥**(ब्रह्म पु.), इन शास्त्रवचनों में कुभाव आदि से एक बार भी लिया गया नाम पाप-नाशक ही नहीं, किन्तु परमगति देने वाला बताया है। भगवन्नाम की इस महिमा में जरा भी सन्देह करना या जरा भी संकुचित अर्थ करना तो नाममहिमा में अर्थवाद की कल्पना करना ही कहा जाएगा। यह तो नामापराध ही होगा, क्योंकि दश

भक्तियोगी इन सभी के लिए उक्त योगों के अंगरूप से नित्य-नैमित्तिक कर्म निर्धारित हैं, वे आजीवन अनुष्ठेय हैं। **कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं**

नामापराधों में एक नामापराध है-**नाम्न्यर्थवादभ्रमः**। इससे तो नरक में ही जाना पड़ेगा। जो मनुष्य भगवान् के नाम में अर्थवाद की सम्भावना करता है, वह मनुष्यों में महापापी है। निश्चय ही वह नरक में पड़ता है-**अर्थवादं हरेर्नाम्नि संभावयति यो नरः। स पापिष्ठो मनुष्याणां नरके पतति स्फुटम्॥** उनके इन वचनों को सुनकर उनकी भगवन्नामनिष्ठा से भीतर से प्रसन्न, बाहर से गम्भीर मुद्रापन्न होकर मैंने पूछा कि आपको 20 वर्षों से मैं भलीभाँति जानता हूँ। इन 20 वर्षोंमें आपने एक बार नहीं, किन्तु करोड़ों बार, कुभाव से नहीं, सद्भाव से भगवन्नाम लिया है। आप सत्य सत्य बताइये कि क्या आपका कल्याण हो गया ? दूसरे का कल्याण करने में आप समर्थ हो गये ? मेरा भी कल्याण कर सकते हैं तो करके दिखाइये। मेरे इस प्रकार कहने पर उन्होंने स्वीकार किया कि यह सत्य है कि 20 वर्षों में मैंने करोड़ों बार सद्भाव से नामजप किया है, तो भी दूसरों को तारने की बात तो बहुत दूर रही, मैं स्वयं भी अभी तक नहीं तर पाया। इसका एकमात्र कारण यह है कि जितनी श्रद्धा तथा तन्मयता से नामजप करना चाहिए, वैसा मैं नहीं कर पाया। सच्चे सरल भाव से कहे सदुत्तर को सुनकर प्रसन्न-मुद्रापन्न होकर मैंने कहा कि इस प्रकार का सदुत्तर देकर आपने अपने मुखारविन्द से ही यह स्वीकार कर लिया कि श्रद्धा-प्रेमपूर्वक तन्मयता से लिया गया नाम ही कल्याणकारी होता है। मेरे युक्तियुक्त वचन को सुनकर तथा अपनी अनुभूति से समर्थन पाकर मौन-आलम्बन द्वारा उन्होंने उसे स्वीकार कर लिया।

पूर्वोक्त दश नामापराधों में नाम को अन्य धर्म कार्यों के समान मानना भी एक अपराध माना है-**धर्मान्तरैः साम्यम्**। इस पर विचार करनेसे भी यही अर्थ निकलता है कि नाम पर सर्वोपरि '**श्रद्धा**' होनी चाहिए। इससे तो यही सिद्ध होता है कि नामजप में '**श्रद्धा**' की शर्त लगाना या आवश्यकता बताना नामापराध नहीं, किन्तु श्रद्धा की शर्त न लगाना या आवश्यकता न बताना ही नामापराध है। श्रद्धापूर्वक नामजप करने वाले भी जो साधक खान-पान आदि के शास्त्रीय विधि-निषेध का पालन नहीं करते, और ऐसा मानते हैं कि इनका पालन करना तो नाम को सर्वसमर्थ माननेमें सन्देह करना है, नाममहिमा को घटाना है, उन साधकों से प्रार्थना है कि **नामास्तीति निषिद्धवृत्तिविहितत्यागौ** अर्थात् नाम के बलपर शास्त्रनिषिद्ध आचरण करना और शास्त्रविहित आचरण का त्याग करना, इन दो नामापराधों पर ध्यान दें। इन दोनों पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है कि नाम जप को कल्याण का मुख्य साधन मानना तो ठीक है, किन्तु अन्य साधनों की अवहेलना करना ठीक नहीं। अन्य साधनों की अवहेलना से नामापराध बनकर नाम-महिमा घटती है, उनका आदर करने से नहीं। आदरणीय विश्वनाथ चक्रवर्ती, गिरिधरलाल शर्मा आदि विद्वानों ने भागवत 6.2 में नामापराधों पर विस्तार से विचार किया है, जिज्ञासुओं को उसे अवश्य देखना चाहिए।

समाः।(ई.उ.2) ऐसा ईशावास्य श्रुति कहती है। सभी साधनों की सफलता का मूल है-भगवन्नामजप, इसलिए उसका निरन्तर उच्चारण करना चाहिए।

अनेक बार नामजप की आवश्यकता

शंका-भगवान् के एक नाम में ही यह सामर्थ्य है कि उसका एक बार भी उच्चारण करने से मनुष्य तरणतारण हो जाता है। **बारक नाम कहत जग जेऊ। होत तरन तारन नर तेऊ।**(रा.च.मा.2.216.4)। जिसने एक बार भी 'हरिः' इन दोनों अक्षरों का उच्चारण किया, उसने मोक्षप्राप्ति के लिए कमर कस ली-**सकृदुच्चरितं येन हरिरित्यक्षरद्वयम्। बद्धः परिकरस्तेन मोक्षाय गमनं प्रति॥** अतः अनेक बार नामजप की क्या आवश्यकता?

समाधान-पहले कहा जा चुका है कि जिन्होंने एक बार नहीं हजार-हजार बार लगातार वर्षों श्रद्धापूर्वक नाम का उच्चारण किया है वे भी अपने अनुभव से यही कहते हैं कि दूसरों को तारने की बात ही क्या, स्वयं हम ही तर नहीं पाये अतः अनुभवविरुद्ध होनेसे उक्त अर्धाली और लोक में कथित 'एकबार' का अर्थ मरणकाल में उच्चारण किया गया एक बार समझना चाहिए। दूसरी बात यह है कि यदि एक बार नाम के उच्चारण से ही सम्पूर्ण पापों का संहार और जीव का संसारसागर से उद्धार हो जाता, तो अल्प तथा महान् पापों से उत्पन्न रोगों का नाश करने के लिए पाप की अल्पता महत्ता के अनुसार मृत्युञ्जय जप की न्यूनाधिक संख्या का विधान न किया जाता। गायत्री के 24 लाख मन्त्र का एक पुरश्चरण होता है, 'हरे राम' मन्त्रों के 3 करोड़ जप से ब्रह्महत्यादि पाप नष्ट होकर मनुष्य मुक्त हो जाता है, ऐसा जो कलिसन्तरण उपनिषद्में कहा है, वह सब व्यर्थ हो जाएगा।

कर्मों से नामजप की विशेषता

शंका-पापों की मात्रा के अनुसार नाम-जप की संख्या का विधान मानने पर तो नाम-जप भी अन्य पुण्य कर्मों के अनुष्ठान के समान ही वाणी से किया जाने वाला पुण्यकर्मानुष्ठान ही सिद्ध होगा, ऐसी दशा में नाम में पुण्यकर्म से क्या विशेषता रह जायेगी?

समाधान-शास्त्रीय पुण्यकर्मानुष्ठान में जाति, देश, काल आदि के नियमों का पालन करना अत्यावश्यक है। इन नियमों का पालन किये बिना पुण्यकर्मानुष्ठान पापनाशक न होकर पाप के उत्पादक भी हो सकते हैं। किन्तु भगवन्नाम-जप में जाति आदि के नियम-पालन की आवश्यकता नहीं, शास्त्रों में स्पष्ट कहा है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, स्त्री, शूद्र, अन्त्यज जाति के भी लोग जहाँ-तहाँ भगवन्नाम-संकीर्तन करते रहते हैं, वे भी समस्त पापों से विनिर्मुक्त होकर सनातन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। नाम-जप में देश, काल, शौचाचार आदि का नियम नहीं। यज्ञ, दान, पुण्यस्नान में और (विधिपूर्वक अनुष्ठानरूप) सत्जप के लिए शुद्ध कालादि की आवश्यकता है, भगवन्नाम-जप में नहीं। चलते, फिरते, खड़े रहते, ऊँघते, खाते, पीते 'कृष्ण-कृष्ण' ऐसा संकीर्तन करके

उच्चारण के विना मानस जप करने पर आरम्भिक साधक का मन भटक जाता है और मन भगवन्नाम से हट जाता है, इसलिये ग्रन्थकार ने नाम का

मनुष्य पापरूपी केंचुल से छूट जाता है। अप. त्र हो या पवित्र, सभी अवस्थाओं में कमलनयन भगवान् का स्मरण जो करता है, वह बाहर-भीतर पवित्र हो जाता है-**ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः स्त्रियः शूद्रान्त्यजातयः। यत्र तत्रानुकुर्वन्ति विष्णोर्नामानुकीर्तनम्॥ सर्वपापविनिर्मुक्तास्तेऽपि यान्ति सनातनम्। न देशकालनियमः शौचाचारविनिर्णयः॥ कालोऽस्ति यज्ञदाने वा स्नाने कालोऽस्ति सज्जपे। विष्णुसंकीर्तने कालो नास्त्यत्र पृथिवीपते॥ गच्छंस्तिष्ठन् स्वपन्वापि पिबन् भुञ्जन्स्वपंस्तथा। कृष्ण कृष्णेति संकीर्त्य मुच्यते पापकञ्चुकात्॥ अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा। यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः॥**

शंका-सत्जप में काल का नियम है-**कालोऽस्ति सज्जपे**, ऐसा जब स्पष्ट कहा है, तब नामजप में कालादि का नियम नहीं, ऐसा कहना परस्पर विरुद्ध है।

समाधान-सज्जपे यहाँ जप में 'सद्' शब्द लगाकर यह बताया है कि साधारण रीति से नामजप में नहीं, किन्तु विधिपूर्वक अनुष्ठानरूप में किये जाने वाले सत्जप में ही कालादि नियम की अपेक्षा है। इसी अभिप्राय से तुलसीदास जी ने कराल-कलिकाल में जप को भी साधन नहीं माना- **एहिं कलिकाल न साधन दूजा। जोग जग्य जप तप ब्रत पूजा।**(रा.च.मा.7.129.5)

कुछ विद्वानों का कहना है कि गुरु द्वारा दिये गये मन्त्रविशेष का स्नान आदि से पवित्र होकर पवित्र देश-काल में जप करने का विधान है, उसी को यहाँ **'सज्जप'** शब्द से कहा है, सर्वसाधारण भगवन्नाम को नहीं। यही कारण है कि इस रहस्य को जानने वाले गुरुजन अपने शिष्य को गुरुमन्त्र के अतिरिक्त सर्व-अवस्था में जप करने योग्य छोटा सा भगवन्नाम अलग से बताते हैं।

नाम-जप और उससे फल में भेद

विधिपूर्वक किये गये यज्ञ से नाम-संकीर्तनरूप यज्ञ दस गुना श्रेष्ठ है और उपाँशु जप सौ गुना तथा मानसिक जप हजार गुना श्रेष्ठ है-**विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः। उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः॥**(म.स्मृ.2.85) इस श्लोक में मनु महाराज ने नाम-जप के वाचिक, उपाँशु और मानसिक ये तीन भेद बताये हैं। जो जप वाणी से इतनी जोर से बोलकर किया जाता है कि उसे दूसरे लोग भी सुन सकते हैं, उस जप को वाचिक जप कहते हैं। जो जप ओठ हिलाते हुए इतने मन्द स्वर में किया जाता है कि दूसरे लोग सुन नहीं सकते, जप करने वाला ही सुन पाता है, उसे उपाँशु जप कहते हैं। जो जप केवल मन से ही किया जाता है, उसे मानसिक जप कहते हैं। वाचिक से उपाँशु और उपाँशु से मानसिक जप का दस गुना अधिक फल बताने का कारण यह है कि इनमें उत्तरोत्तर मन का सम्बन्ध भगवन्नाम

उच्चारण करने को कहा है। अभ्यास में परिपक्वता होने पर मानस जप भी किया जा सकता है। नामजप सभी साधनों का उपकारक होने के साथ ही

से अधिक रहता है और संसार से सम्बन्ध अधिक कटता है। देखिए-बातचीत करते हुए संसारी मनुष्य संसार के कार्य और संसार के पदार्थों का चिन्तन जैसे करते रहते हैं, वैसे ही अभ्यासशील साधक वाणी से नाम-संकीर्तन करते हुए संसार के कार्य तथा संसार के पदार्थों का चिन्तन कर सकता है किन्तु पूर्णतया संसार के कार्य में संलग्न हो जाने पर उपाँशु जप बन्द हो जाता है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि उपाँशु जप तभी हो सकता है, जब वाचिक जप की अपेक्षा संसार का कार्य कम किया जाय और भगवन्नाम में मन अधिक लगाया जाय। इस विवेचन से यह भी शिक्षा मिलती है कि संसार का अधिक कार्य करते हुए वाचिक जप ही करना चाहिए। इस धोखे में नहीं रहना चाहिए कि उस समय भी मेरा उपाँशु या मानसिक जप चलता रहता है। संसार का कार्य करते रहने की बात तो दूर रही, संसार के पदार्थ का मन से चिन्तन होते रहने पर भी मानसिक जप वैसे ही नहीं हो सकता जैसे वाणी से अन्य सांसारिक बातें करते समय वाचिक नाम-जप नहीं किया जा सकता। मन से मानसिक जप तो तभी होगा, जब मन में भगवन्नाम को छोड़कर अन्य किसी का चिन्तन न हो। ऐसी दशा में यह सिद्ध हो जाता है कि उपाँशु जप की अपेक्षा भी मानसिक जप में संसार के सम्बन्ध का अधिक त्याग और भगवन्नाम से अधिक सम्बन्ध होता है। कारण उपाँशु जप में भी संसार का कुछ कार्य तथा सांसारिक पदार्थ का चिन्तन हो सकता है, मानसिक जप में नहीं, अतः इसका हजार गुना फल बताना ठीक ही है।

भ्रमनिवारण

'मानसिक जप हजार गुना श्रेष्ठ है' इसे पढ़-सुनकर अधिक फल के लोभ से मानसिक जप के अनधिकारी साधक भी 'मानसिक जप ही हम करेंगे' ऐसा निश्चय करके उपाँशु और वाचिक जप का परित्याग कर देते हैं, उनसे जब हम यह पूछते हैं कि जब आप मानसिक जप करने बैठते हैं, तब आपका मन भगवन्नाम को छोड़कर अन्य का चिन्तन तो नहीं करता? तो वे कहते हैं कि शायद घंटे भर में सब मिलाकर 2-4 मिनट भगवन्नाम का चिन्तन होता हो, बाकी समय तो अन्य का ही चिन्तन चलता रहता है। यह उत्तर सुनकर हम उनसे पुनः प्रश्न करते हैं कि एक व्यक्ति को आपने मंदिर में 4 से 5 बजे तक बैठने को कहा, उसी समय वह बाजार में भ्रमण करता हुआ आपको मिला। ऐसी दशा में उस व्यक्ति द्वारा हजार बार शपथ करके कहने पर भी जब आप यह नहीं मानते कि वह व्यक्ति 4 से 5 बजे तक मंदिर में बैठा रहा, तब 56-58 मिनट अन्य का चिन्तन मन करता रहा, ऐसा स्वयं अनुभव करके भी यह कैसे मानते हैं कि मन एक घंटे मानसिक जप करता रहा ? अधिक लाभ के लोभ से तो आप वाचिक, उपांशु जप के लाभ से भी वञ्चित रह गये। इसके विपरीत एक साधक झाँझ-करताल बजाकर वाणी द्वारा उच्च स्वर से नाम-संकीर्तन में इतना

भक्तियोग का अन्तरंग साधन है।

तन्मय हो जाता है कि बाजे-गाजे के साथ कोलाहल करती हुई पास से निकलकर जाती हुई बारात का भी पता उसे नहीं लगता। अल्प फलप्रदायक कहे जाने वाले ऐसे वाचिक जप का मानसिक जप से कम फल नहीं होता। इसका एकमात्र कारण यही है कि जिस जप या साधना द्वारा साधक के मन का भगवान् से अधिक सम्बन्ध जुड़ता हो और संसार से सम्बन्ध कटता हो, वही जप या साधना श्रेष्ठ मानी जाती है। साधनाओं में स्वरूपतः श्रेष्ठता-अश्रेष्ठता नहीं होती।

नाम-जप में रस न आने का कारण

शंका-हमें श्रद्धापूर्वक निष्काम भाव से नाम-जप करते हुए 20 वर्ष हो गये, तो भी अभी तक नाम-जप में रस नहीं आता, भगवान् में तथा उनके नाम में प्रीति नहीं हुई तथा संसार की आसक्ति ज्यों की त्यों बनी हुई है, इसका क्या कारण है?

समाधान-आप अपनी वस्तुस्थिति को ठीक-ठीक नहीं समझते इसलिए ऐसी शंका करते हैं। अनेक सच्चे साधक इसी प्रकार की शंका करते हैं। जब हम उनसे पूछते हैं कि प्रारम्भ में जब आपने नामजप करना शुरू किया था, तब जैसे थोड़ी देर में ही मन उकता जाता था, क्या वैसे ही अब भी उकता जाता है? क्या प्रथम की तरह भगवान् और उनके नाम का स्मरण तथा उच्चारण किये बिना दो-चार दिन भी आप रह सकते हैं? संसार के कार्य तथा पदार्थ का परित्याग करके 1-2 दिन के लिए भी आप सत्संग-संकीर्तन आदि में नहीं जाते थे, क्या आज भी वैसी ही स्थिति बनी हुई है? मेरे इन सभी प्रश्नों का उत्तर 'नहीं' के रूप में जब वे देते हैं, तब हम कहते हैं-इससे यह सिद्ध हो गया कि आपको ऐसी शंका अपनी वस्तुस्थिति को न समझने के कारण ही होती है। कारण ऐसा कभी हो ही नहीं सकता कि कोई सच्चा साधक 20 वर्षों तक श्रद्धापूर्वक निष्काम भाव से नाम-जप या अन्य कोई साधना करे और कुछ भी लाभ न हो।

प्रश्न-आपका कथन ठीक है, तो भी विशेष उल्लेखनीय लाभ नहीं हुआ, इसका कारण क्या है?

उत्तर-पापकर्म के दो परिणाम होते हैं, एक तो पापकर्मों से अशुभ अदृष्टरूप पाप उत्पन्न होता है, जिससे कालान्तर या जन्मान्तर में दुःखरूप फल भोगना पड़ता है। दूसरा, बार-बार पापकर्मों को करने से उनके संस्कार दृढ़ होकर पाप-वासना हृदय में जम जाती है। नामजप के भी दो परिणाम होते हैं। एक तो नाम जप से पाप का नाश होता है। दूसरा बार-बार नाम जप करने से नामजप के संस्कार दृढ़ होकर नामवासना हृदय में जम जाती है। जब नाम-वासना हृदयमें जम जाती है, तभी पाप-वासनाका विनाश होता है। इसके बाद भी श्रद्धा तथा प्रेमपूर्वक नामजप करते रहने पर नामजप

एवं तेऽभिहितं वत्स प्रकृष्टं मुक्तिसाधनम्।
उत्तमं सर्वधर्माणां शृणु धर्मं सनातनम्॥113॥

में रस आने लगता है और भगवान् में भक्ति तथा भगवान् के नाम में विशेष प्रीति होने लगती है, जिससे संसार की आसक्ति मिटने लगती है, ऐसा क्रम है। अतः जिन लोगों के पापकर्म जितने अधिक होते हैं या पाप-वासना जितनी अधिक सुदृढ़ होती है, उसके अनुरूप नाम-जप तथा नाम-वासना सुदृढ़ होने पर ही उनका विनाश होता है इसीलिए किसी को अल्प काल में एवं किसी को दीर्घ काल में लाभ प्रतीत होता है।

भगवन्नामरूप अलौकिक शब्द में तथा भगवान् के अलौकिक दिव्य रूपादि में ही नहीं, किन्तु लौकिक शब्द-रूपादि विषयों में भी तभी रस(आनन्द) आता है, जब मन-इन्द्रियाँ उनमें तन्मय हो जाती हैं। तन्मयता की योग्यता जन्मान्तर में या इस जन्म में सम्पादित अभ्यास तथा सात्विक गुण की तारतम्यता के कारण प्रत्येक व्यक्ति में न्यूनाधिक होती है। यही कारण है कि लौकिक अतिप्रिय शब्द-रूपादि विषयों में भी मनुष्य को एक साथ दीर्घकाल तक आनन्द नहीं आता अतः भगवान् के नाम-रूपादि में दीर्घकाल तक रसास्वादन के लिए धैर्यपूर्वक क्रमशः तन्मयता की योग्यता बढ़ाने का प्रयास करना चाहिए।

नाम-जप में मन स्थिर क्यों नहीं होता?

प्रायः नाम-जप करने वाले यह प्रश्न किया करते हैं कि श्रद्धापूर्वक भी नाम-जप करते समय मन स्थिर क्यों नहीं होता ? इस प्रश्नका उत्तर प्रायः सन्त यही देते हैं कि नामी या नाम में प्रीति न होने के कारण मन स्थिर नहीं होता। अपने उत्तरकी सत्यता सिद्ध करने के लिए वे कहते हैं कि देखो, तुम्हारी पुत्र, पैसा और प्रतिष्ठा में प्रीति है, इनमें तुम्हारा मन लग जाता है? या नहीं? अनुभूतिमूलक युक्तियुक्त उत्तर सुनकर प्रश्नकर्ता को तत्काल तो बहुत सन्तोष हो जाता है, परन्तु स्थिति ज्यों-की-त्यों बनी रहती है, क्योंकि 10-20 वर्ष बीत जाते हैं, फिर-फिर वही प्रश्न करते रहते हैं, सन्त वही उत्तर देते रहते हैं अतः यह विचारणीय हो जाता है कि इस उत्तर में कुछ कमी है या उनके साधन में कुछ कमी है ? इस प्रश्न का सत्य उत्तर पाने के लिए यह देखना होगा कि जिनमें मनुष्य की अति प्रीति है, ऐसे पुत्र, पैसा आदि में क्या मन स्थिर हो जाता है? इसका उत्तर युक्ति आदि से देने की आवश्यकता नहीं, जिसकी पुत्र आदि जिस पदार्थ में अतिप्रीति हो, उस पदार्थ को नेत्रों के सम्मुख रखकर उसी में मन स्थिर करके देखे। तब वह यही उत्तर देगा कि घंटे-दो घंटे की तो बात ही क्या, 5-10 मिनट भी ऐसी स्थिति नहीं रही कि उस प्रीति के आस्पद पदार्थ में ही मन स्थिर रहा हो, बीच में किसी अन्य पदार्थ पर न गया हो। इस प्रयोग से यह सिद्ध हो जाता है कि जिस पदार्थ में प्रीति ही नहीं, किन्तु अतिप्रीति है, उसमें भी मन स्थिर नहीं होता। अतः मन की स्थिरता के लिए प्रीति का होना मात्र पर्याप्त नहीं, इसके लिए तो जहाँ-जहाँ मन जाय वहाँ-वहाँ से उसे खींचकर प्रेमास्पद में लगाने का अभ्यास भी

अन्वय

वत्स! एवं ते प्रकृष्टं मुक्तिसाधनम् अभिहितम्। सर्वधर्माणाम् उत्तमं सनातनम् धर्मं शृणु।

अर्थ

वत्स-हे वत्स! **एवम्**-इस प्रकार (मैंने) **ते**-तेरे लिए **प्रकृष्टम्**-श्रेष्ठ

अपेक्षित है। यही कारण है कि गीता तथा योगसूत्र में मन का निग्रह करने के लिए निरन्तर दीर्घकालपर्यन्त अभ्यास करना आवश्यक बताया है। **अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।**(गी. 6.35) **यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्। ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥**(गी. 6.26) **अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।**(यो.सू.1.12) **स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।**(यो.सू.1.14) ऐसा होने पर भी इतना अवश्य मानना होगा कि जिस पदार्थ में प्रीति होती है, उसमें अभ्यासद्वारा मन स्थिर करने में वह प्रीति सहायक होती है। इसलिए मन स्थिर करने के लिए आलम्बन का विधान करते समय अपने को जो अभिमत हो अर्थात् जिसमें प्रीति हो, जो रुचिकर हो, ऐसा आलम्बन लेने का विधान योगसूत्रकार ने किया है-**यथाभिमत ध्यानाद्वा।**(यो.सू.1.39)। इसी दृष्टि से सन्त जन प्रीति को मन की स्थिरता में हेतु कह देते हैं, परन्तु पूर्ण सत्य उत्तर यह है कि प्रीति के साथ-साथ निरन्तर दीर्घकालीन अभ्यास के विना मन स्थिर नहीं होता। इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि नाम-जपजन्य सुख सात्त्विक सुख है। सात्त्विक सुख प्रारम्भ में तो विषतुल्य अरुचिकर ही होता है और परिणाम में ही हितकर होता है, इसमें अभ्यास द्वारा ही रमण अर्थात् रसास्वादन होता है, ऐसा गीता में कहा है-**अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति। यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्॥**(गी.18.36-37)।

सारांश

इस कराल कलिकाल में विविध विधानों से युक्त अनुष्ठान करना संभव न होने के कारण देश, काल, जाति आदि विधान-निरपेक्ष नाम-जप ही कल्याण का मुख्य साधन है। नाम-जप में श्रद्धा, प्रेम तथा तन्मयता की परम आवश्यकता है, अन्यथा इनका विधान करने वाले शास्त्रवचनों से विरोध होता है। नामापराधप्रतिपादक शास्त्रवचनों की पर्यालोचना करने पर श्रद्धा की ही नहीं किन्तु अन्य शास्त्रीय विधि-निषेध पालन की आवश्यकता भी सिद्ध होती है। पूर्व के पाप और पाप-वासना के तारतम्य के अनुसार नाम-जप और नाम-वासना की सुदृढ़ता होने पर ही उनका सम्यक् विनाश होता है और इसके बाद ही भगवान् में विशुद्ध भक्ति होती है। वाचिक, उपांशु, मानसिक जपों में से जिस प्रकार के जप से संसार का सम्बन्ध अधिक कटता हो और भगवान् में अधिक सम्बन्ध जुड़ता हो, वही जप श्रेष्ठ है। नाम-जप में मन को स्थिर करने के लिए श्रद्धा और प्रीति के साथ-साथ निरन्तर दीर्घकाल पर्यन्त अभ्यास की भी आवश्यकता होती है।(पूज्य स्वामी शंकरानन्द सरस्वती)।

मुक्तिसाधनम्-मुक्ति के साधन का **अभिहितम्**-उपदेश किया। अब तुम **सर्वधर्माणाम्**-सभी धर्मों में **उत्तमम्**-उत्तम **सनातनम्**-सनातन **धर्मम्**-धर्म को **शृणु**-सुनो।

भाष्य

स्वामी रामानन्दाचार्य जी अपने शिष्य सुरसुरानन्द जी से कहते हैं कि मैंने तुम्हें मुक्ति के उत्तम साधन भक्ति और प्रपत्ति का वर्णन किया। भक्ति के उपकारक व्रत तथा भगवन्नामजप का भी वर्णन किया। प्रपत्ति की निरपेक्षसाधनता का भी निरूपण पूर्व में किया जा चुका है। हे सुरसुरानन्द! अब तुम सभी धर्मों में श्रेष्ठ सनातन धर्म को सुनो।

सनातन धर्म

धर्मो रक्षति रक्षितः अर्थात् आचरण किया गया धर्म रक्षा करता है। धर्म क्या है? वैदिक सनातन धर्म। यह सदा रहने से सनातन धर्म कहलाता है-**सना सदा भवः सनातनः**। यह अपौरुषेय वेदों से प्रतिपाद्य है, इसलिए वैदिक कहलाता है। यह अनादि काल से विद्यमान है, किसी ने इसका प्रवर्तन नहीं किया, इसलिए यह व्यक्तिविशेष के नाम पर नहीं है। जैसे श्रीईसा मसीह द्वारा प्रवर्तित ईसाई धर्म है और श्रीमोहम्मद साहब द्वारा प्रवर्तित इस्लाम धर्म, वैसा यह नहीं है। ईसा से पूर्व ईसाई धर्म नहीं था और मोहम्मद से पूर्व इस्लाम नहीं था किन्तु सनातन धर्म ऐसा नहीं है। अन्य धर्मों में जो सद्गुण हैं, वे उससे पूर्ववर्ती सनातन धर्म से ही आए हैं, इस प्रकार यह सबसे महान् धर्म सिद्ध होता है।

प्रमाणों का पौर्वापर्य

पुरुषप्रणीत ग्रन्थों में पुरुषगत भ्रम, लिप्सा, प्रमाद एवं करणापाटव आदि दोष होने के कारण उनके अप्रामाण्य की आशंका होती है क्योंकि मानवमात्र में उक्त दोषों की संभावना होती है अत एव पौरुषेय ग्रन्थ स्वतः प्रमाण नहीं हैं। उनका प्रामाण्य तभी माना जा सकता है, जब उनका मूल आप्त हो किन्तु ईश्वरीयसंविधानरूप जो अनादि अपौरुषेय वेद हैं, वे पुरुषगत भ्रमादि की आशंकारूप दोष से सर्वथा रहित होने के कारण स्वतः प्रमाण हैं। जो पौरुषेय स्मृति, इतिहास, पुराण और आगम शास्त्र हैं, वे वेदमूलक होने से प्रमाण हैं तथा शिष्टाचार श्रुतिस्मृतिमूलक होने से

प्रमाण है। समबल शास्त्रों में समबल पदार्थों का परस्पर विरोध प्रतीत होने की परिस्थिति में विकल्प स्वीकार किया जाता है इसीलिए कहा जाता है-**श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः। एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षात् धर्मस्य लक्षणम्॥** शिष्टाचार को स्वतन्त्ररूप से प्रमाण मानने पर धर्मराज युधिष्ठिर की द्यूतक्रीडा एवं महर्षि पराशर के मत्स्यकन्यागमन जैसे कार्यों का प्रामाण्य स्वीकार करना होगा और इससे वे अनुकरणीय होंगे किन्तु उक्त शिष्टाचार अनुकरणीय नहीं हो सकता इसी कारण श्रीभगवान् ने कहा है-**तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ। ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्मकर्तुमिहार्हसि॥** (गी.16.24)। इस विवेचन से सिद्ध होता है कि वैदिक सनातन धर्म में किसी का शास्त्रविरुद्ध कोई भी आचरण प्रमाण नहीं हो सकता।

धर्म का लक्षण

वेद के विधिवाक्यों से ज्ञात होने वाला अर्थ ही धर्म कहलाता है-**चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः**(जै.सू.1.1.2)। जो वेदों से प्रतिपादित हो और फल का साधन हो, उसे धर्म कहते हैं-**वेदप्रतिपाद्यः प्रयोजनवदर्थो धर्मः।** (अ.सं), जिससे लौकिक उन्नति और मोक्ष की प्राप्ति होती है, उसे धर्म कहते हैं-**यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।**(वै.सू.1.1.2) इन लक्षणों के अनुसार याग, होम, दान, तप, तीर्थसेवन, जप, हिंसा न करना, मांस न खाना, सुरापान न करना इत्यादि कर्म और ज्ञानयोग तथा भक्तियोग भी धर्म हैं। 'अग्निहोत्र, तप, सत्यभाषण, वेदों का रक्षण, अतिथिसत्कार और बलिवैश्वदेव ये कर्म इष्ट(श्रौत) कहलाते हैं। बावली, कूप, तालाव और देवमन्दिर का निर्माण तथा अन्नदान और उद्यान लगाना ये कर्म पूर्त्त(स्मार्त) कहलाते हैं'-**अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चैव पालनम्। आतिथ्यं वैश्वदेवश्च इष्टमित्यभिधीयते॥ वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च। अन्नप्रदानमारामाः पूर्त्तमित्यभिधीयते॥**(अत्रि सं.43-44) इस प्रकार वर्णित इष्टापूर्त्त कर्मों को धर्म कहा जाता है। धर्म का क्षेत्र व्यापक है। सभी लोग मलनिवृत्तिके लिए स्नान करते हैं। यदि इसे प्रातःकाल और पावन नदीजल से किया जाये तो यही कर्म धर्म बन जाता है। क्षुधानिवृत्ति हेतु भोजन सभी को आवश्यक है। न्यायार्जित अन्न को भगवदर्पण करके सेवन करने से यही भोजन क्रिया धर्म हो जाती है, इसी प्रकार शास्त्रीय रीति से सम्पन्न

प्रत्येक कर्म धर्म है।

भक्ति के अत्यन्त अन्तरंग उपकारक सनातन धर्म का अब वर्णन किया जाता है–

दानं तपस्तीर्थनिषेवणं जपो न चास्त्यहिंसासदृशी शुभा कृतिः[1]।
हिंसामतस्तां परिवर्जयेज्जनः सुधर्मनिष्ठो दृढधर्मवृद्धये॥114॥

अन्वय

दानं तपः तीर्थनिषेवणं च जपः। अहिंसासदृशी शुभा कृतिः न अस्ति अतः सुधर्मनिष्ठः जनः दृढधर्मवृद्धये तां हिंसां परिवर्जयेत्।

अर्थ

दानम्-दान **तपः**-तप **तीर्थनिषेवणम्**-तीर्थसेवन **च**-और **जपः**-जप (सनातन धर्म हैं।) **अहिंसासदृशी**-अहिंसा के समान (कोई) **शुभा**-शुभ **कृतिः**-कर्म **न**-नहीं **अस्ति**-है **अतः**-अतः **सुधर्मनिष्ठः**-शास्त्रविहित धर्म-परायण **जनः**-व्यक्ति (अपने) **दृढधर्मवृद्धये**-दृढधर्म की अभिवृद्धि के लिए **ताम्**-उस **हिंसाम्**-हिंसा का **परिवर्जयेत्**-पूर्णतः त्याग करे।

भाष्य

धर्म-पूर्व श्लोक से इस श्लोक में '**धर्म सनातनम्**' की अनुवृत्ति आ रही है। दान, तप, तीर्थसेवन और जप आदि सनातन धर्म हैं, इनका विवरण निम्न है-

दान

1. लोभ के अभाव को दान कहा जाता है-**दानं लोभराहित्यम्**।(श्रु.प्र.1. 1.1), यह सभी का कर्तव्य है। 2. न्यायपूर्वक अर्जित किये गये धन को विधि के अनुसार सत्पात्र को प्रदान करना दान कहलाता है। धनार्जन गृहस्थ का कर्तव्य है अतः यह उसका ही कर्म है। दान के विषय में तैत्तिरीय श्रुति कहती है कि सत्पात्र को श्रद्धा से दान देना चाहिए और श्रद्धा के विना भी दान देना चाहिए। आर्थिक स्थिति के अनुसार दान देना चाहिए। लज्जा से दान देना चाहिए। भय से दान देना चाहिए। विवेक से दान

1.चास्त्यहिंसासदृशी शुभा कृतिः इत्यस्य स्थाने **चास्त्यहिंसासदृशं सुपुण्यकम्** इति पाठान्तरम्।

देना चाहिए-**श्रद्धया देयम्। अश्रद्धया देयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्।**(तै.उ.1.11.3) ब्राह्मणों को श्रद्धा से दान[1] देना चाहिए। दाता को दान का फल प्राप्त करने की इच्छा होती है, वह श्रद्धा के विना नहीं मिलता। फलप्राप्ति की इच्छा का मूल वह श्रद्धा ही होती है अतः उन्हें श्रद्धा से दान देना चाहिए। यदि दाता निष्काम है, उसे फलप्रप्ति की इच्छा नहीं है इस कारण दान देने में श्रद्धा भी नहीं है, तो श्रद्धा के विना ही दान करना चाहिए। दान गृहस्थ का नित्य कर्म है और नैमित्तिक भी, अतः निष्काम होने पर भी उसे अवश्य करना चाहिए। निष्काम कर्म के आचरण से अन्तःकरण की शुद्धि होती है। श्री का अर्थ आर्थिक स्थिति है, अपने आर्थिक सामर्थ्य के अनुसार ही दान देना चाहिए, पत्नी और पुत्र को भूखे रखकर दान देना उचित नहीं। श्री का अर्थ प्रसन्नता भी होता है। तब विषाद के विना प्रसन्नचित्त से दान देना चाहिए, यह अर्थ होता है। दान लेने वाला पात्र महान् है, मैं तुच्छ हूँ, मेरे द्वारा दी जाने वाली वस्तु भी तुच्छ है, इस भाव से दीन होकर दान करना चाहिए, ऐसा करने से दान देने का अहंकार नहीं हो सकता। शास्त्रीय रीति से दान न करने पर प्रत्यवाय(पाप) होगा अतः प्रत्यवाय के भय से भी दान देना चाहिए। संविद् का ज्ञान (विचार) अर्थ होता है-**संविद् ज्ञानम्।**(आ.भा.) देश, काल और पात्र का विचार करके दान करना चाहिए।

अन्याय से प्राप्त धन का दान निषिद्ध

शंका-जो व्यक्ति डाका डाल कर सम्पूर्ण धन का सुपात्रों में दान कर देता है, उसे दान का फल मिलता है या नहीं ? डाका डालने का पाप लगता है या नहीं ?

समाधान-मत्स्यपुराण में कहा है कि जो मनुष्य प्रत्यक्ष में धनहरण(डाका डाल) करके बाद में दान कर देता है, उस दाता को नरक जाना पड़ता है। जिसका वह धन होता है, उसी को दान का फल प्राप्त होता है-**प्रत्यक्षं हरते यस्तु पश्चाद् दानं प्रयच्छति। स दाता नरकं याति यस्यार्थः तस्य तत्फलम्॥**(म.पु.), इसी प्रकार जो परोक्ष में अर्थात् चोरी, चतुराई, कपट,

---

1.दान को विस्तार से समझने के लिए पूज्य गुरुदेव स्वामी शंकरानन्दसरस्वती द्वारा लिखित साधकशंकासमाधान(भाग 1, 2) तथा वैदिकचर्याविज्ञान ग्रन्थ पढ़ने चाहिए।

छल, मिलावट आदि शास्त्रनिषिद्ध अन्याय के मार्ग से धनार्जन करके दानादि करता है, उसे भी उसका का फल नहीं मिलता-**द्रव्येणान्यायलब्धेन यः करोत्यौर्ध्वदेहिकम्। न तत्फलमवाप्नोति तस्यार्थस्य दुरागमात्॥** (शाता.स्मृ.) इसलिए न्यायार्जित धन का ही दान करना चाहिए।

तप

शास्त्रीय रीति के अनुसार कृच्छ्र चान्द्रायणादि व्रतों से देह को सुखाना तप कहलाता है-**वेदोक्तेन प्रकारेण कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः। शरीरशोषणं यत्तत्तप इत्युच्यते बुधैः।**(जा.द.उ.2.3)। भोगों का त्याग किए बिना मुमुक्षा नहीं होती किन्तु मुमुक्षु भी जीवन धारण करने के लिए शास्त्रविधि से विहित अनिवार्य भोगों का सेवन करता है अन्यथा भोजन करना, देखना, चलना-फिरना भी संभव न होने से जीवन ही नहीं रहेगा। इसलिए कहा जाता है कि शास्त्रविहित जो अन्न-पानादि भोग पदार्थ हैं, उनका भी जीवन निर्वाह के लिए कम से कम उपयोग करना तप कहलाता है-**तपः शास्त्रीयो भोगसंकोचरूपः कायक्लेशः।**(गी.रा.भा.10.5)। मन सहित सभी इन्द्रियाँ विविध विषयों में व्यापृत रहने के कारण व्यग्र बनी रहती हैं, उन सभी को विषयों से निग्रहीत करके मन को एकाग्र करना तप कहलाता है-**चित्तैकाग्र्यलक्षणं तपः।**(श्वे.उ.रं.भा.6.21)।

तीर्थसेवन

तीर्थ का सामान्य अर्थ पवित्रस्थान है। शास्त्रों में कहा है कि भूमि, जल, तेज आदि के अद्भुत प्रभाव से तथा मुनियों के निवास से तीर्थों को पवित्र माना गया है-**प्रभावाददद्भुताद् भूमेः सलिलस्य च तेजसः। परिग्रहान्मुनीनां च तीर्थानां पुण्यता स्मृता॥**(स्क.पु.4.6.44, ना.पु.उ.ख.62.47) **परिग्रहाच्च साधूनां पृथिव्याश्चैव तेजसा। अतीव पुण्यभागास्ते सलिलस्य च तेजसा॥**(म.भा.अ.108.18)अतः उस स्थान का सेवन महान् फलदायी होता है। अयोध्या, मथुरा आदि पवित्रस्थान तीर्थ कहे जाते हैं तथा गंगा, यमुना, सरस्वती और सरयू आदि पवित्र नदियाँ भी तीर्थ कही जाती हैं।

भगवत्प्राप्ति के लिए तीर्थयात्रा की जाती है। तीर्थों में साधु-सन्तों व विद्वानों का दर्शन होता है। रागद्वेष और लोभादि विकारों से रहित महात्माओं के संग से परमात्मा के विषय में ज्ञान प्राप्त होता है। ऐसे महापुरुषों के

अनुसार आचरण करने से संसारबन्धन छूट जाता है, उनके दर्शन से पापराशि दग्ध हो जाती है। भगवत्कृपा से ही ऐसे सन्तों के दर्शन होते हैं- **संत विसुद्ध मिलहिं परि तेही। चितवहिं राम कृपा करि जेही।**(रा.च.मा. 7.68.7) अतः शास्त्रीय विधि-निषेध का पालन करते हुए तीर्थसेवन अवश्य करना चाहिए।

जप का वर्णन पूर्व में किया गया है।

अहिंसा

शास्त्रविहित कर्म शुभ(धर्म) होते हैं और निषिद्ध कर्म अशुभ(अधर्म)। पुण्य के जनक होने से विहित कर्म शुभ कहलाते हैं और पाप के जनक होने से निषिद्ध कर्म अशुभ। स्वामी श्रीरामानन्दाचार्य ने कहा है कि अहिंसा के समान कोई शुभ कर्म नहीं है-**न चास्त्यहिंसासदृशी शुभा कृतिः।** वह सर्वोत्तम कर्म है, इसीलिए महाभारत में कहा है कि अहिंसा परम धर्म है, अहिंसा परम तप है और अहिंसा परम सत्य है क्योंकि उसी से धर्म का आरम्भ होता है-**अहिंसा परमो धर्मस्तथाऽहिंसा परं तपः। अहिंसा परमं सत्यं यतो धर्मः प्रवर्तते॥**(म.भा.अ.115.23)। अहिंसा परम धर्म है, अहिंसा परम संयम है, अहिंसा परम दान है और अहिंसा परम तप है। अहिंसा परम यज्ञ है, अहिंसा परम फल है, अहिंसा परम मित्र है और अहिंसा परम सुख है-**अहिंसा परमो धर्मस्तथाहिंसा परो दमः। अहिंसा परमं दानमहिंसा परमं तपः॥ अहिंसा परमो यज्ञस्तथाहिंसा परं फलम्। अहिंसा परमं मित्रमहिंसा परमं सुखम्॥**(म.भा.अ.116.28-29), **परम धर्म श्रुति विदित अहिंसा।**(रा.च.मा.7.120.22) ऐसा रामचरितमानस में भी कहा है। अहिंसा सभी धर्मों का मूल है, इसके विना कोई लौकिक सुख प्राप्त नहीं कर सकता और परमात्मप्राप्ति के पथ का पथिक भी नहीं हो सकता। प्रस्तुत श्लोक में वर्णित दान, तपादि जिन धर्मों का आचरण किया जाता है, अहिंसा के पालन से ही उनकी दृढता होती है अतः मुमुक्षु का यह अनिवार्य कर्तव्य है कि वह मनसा, वाचा, कर्मणा किसी को पीड़ा न पहुँचाए। सर्वतोभावेन अहिंसा का पालन करने वाला मनुष्य ही परम शान्ति को प्राप्त कर सकता है। अहिंसा को विस्तार से जानने के लिए पातञ्जल योगदर्शन के अहिंसा प्रकरण को पढ़ना चाहिए।

श्रयन्ति धर्मास्तु तया पृथक् स्थितान् सुवक्रगाः सिन्धुमिवापि निम्नगाः।

काष्ठस्थवह्नेरिव घातको हरेश्चराचरस्थस्य च जन्तुहिंसकः॥115॥

अन्वय

सिन्धुं सुवक्रगाः निम्नगाः इव धर्माः अपि तया पृथक् स्थितान् श्रयन्ति च तु जन्तुहिंसकः काष्ठस्थवह्नेः इव चराचरस्थस्य हरेः घातकः।

अर्थ

सिन्धुम्-समुद्र का (ही आश्रय लेने वाली) **सुवक्रगाः**-टेढ़ी-मेढ़ी गति से बहने वाली **निम्नगाः**-नदियों **इव**-के समान **धर्माः**-धर्म **अपि**-भी **तया**-हिंसा से **पृथक्**-दूर **स्थितान्**-स्थित मनुष्यों का (ही) **श्रयन्ति**-आश्रय लेते हैं। **च**-और **तु**-तो **जन्तुहिंसकः**-जीवहिंसक **काष्ठस्थवह्नेः**-काष्ठ में स्थित अग्नि के **इव**-समान **चराचरस्थस्य**-चराचर में विद्यमान **हरेः**-हरि को **घातकः**-पीड़ा पहुँचाने वाला होता है।

भाष्य

जिस प्रकार वक्र गति से बहने वाली गंगादि नदियाँ समुद्र में जाकर स्थित हो जाती हैं, उसी प्रकार पूर्वोक्त श्लोक में वर्णित दान, तप आदि धर्म हिंसा से दूर रहने वाले मनुष्य में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। जैसे नदियाँ समुद्र को छोड़कर किसी का आश्रय नहीं लेतीं, वैसे ही धर्म अहिंसक को छोड़कर किसी का आश्रय नहीं लेते। कहने का अभिप्राय यह है कि हिंसक व्यक्ति प्रयास करने पर भी धर्म का सम्यक् पालन नहीं कर सकता और अहिंसक उनका सहज पालन कर सकता है, इसलिए सभी को बहुत सावधानी से अहिंसा व्रत का पालन करना चाहिए। जैसे काष्ठ में अग्नि विद्यमान रहती है, वैसे ही सम्पूर्ण चराचर जगत् में भगवान् विराजमान रहते हैं। किसी की भी हिंसा करने से उसमें विद्यमान भगवान् को भी दुःख होता है। जब हिंसक की हिंसा से कोई जीव दुःखी होता है, तब उसमें स्थित भगवान् भी दुःखी हो जाते हैं। सम्पूर्ण जगत् के माता-पिता भगवान् हैं। पुत्र को संतप्त करने पर उसके माता-पिता संतप्त हो जाते हैं, वैसे ही किसी भी जीव को संतप्त करने पर भगवान् संतप्त हो जाते हैं इसलिए साधक को चाहिए कि वह कभी भी किसी की हिंसा न करे।

अहिंसा का वर्णन करके अब मांसभक्षण का निषेध किया जाता है-

**जलस्थलोत्पन्नशरीरिहिंसया विवर्जयेन्मांसमुदारधीः सदा।
दयापरोऽधोगतिहेतुरूपयाऽचिराय लभ्यं भवभीनिवृत्तये॥116॥**

अन्वय

उदारधीः दयापरः भवभीनिवृत्तये अधोगतिहेतुरूपया जलस्थलोत्पन्नशरीरि-हिंसया लभ्यं मांसं अचिराय सदा विवर्जयेत्।

अर्थ

उदारधीः-उदारचेता **दयापरः**-दयालु मनुष्य **भवभीनिवृत्तये**-संसारबन्धन की निवृत्ति के लिए **अधोगतिहेतुरूपया**-अधोगति का हेतु **जलस्थलोत्पन्न-शरीरिहिंसया**-जल में और स्थल में उत्पन्न होने वाले प्राणियों की हिंसा से **लभ्यम्**-प्राप्त होने वाले **मांसम्**-मांस को **अचिराय**-शीघ्र ही **सदा**-हमेशा के लिए **विवर्जयेत्**-छोड़ दे।

भाष्य

मांसभक्षण का निषेध

वेद भगवान् का आदेश है कि मांस नहीं खाना चाहिए-**न मांसमश्नीयात्।** (तै.सं.2.5.5.6), प्रस्तुत श्लोक इसी श्रुति का उपबृंहण है।

मांस के लिए उपयोगी मछली आदि कुछ प्राणी जल में उत्पन्न होते हैं और अज(बकरा) आदि स्थल में। उन्हें मारने-काटने और पीड़ा पहुँचाने वालों को हिंसक कहा जाता है, जो उन्हें जीव-जन्तुओं को बेचते हैं, मांस खाते हैं, दूसरों को खिलाते हैं और किसी भी प्रकार उस व्यवसाय से जुड़े हैं, वे सभी हिंसक ही हैं, सभी पाप के भागीदार हैं। उन सभी जीवों की हिंसा हिंसक के अधोपतन का हेतु है। हिंसा से बढ़कर कोई पाप नहीं। हिंसक मनुष्य कभी सुख-शान्ति नहीं प्राप्त कर सकता, उसका उत्तरोत्तर अधोपतन होता रहता है। वह जीवनकाल में घोर शोक और चिन्ता से ग्रस्त रहकर मरणोपरान्त दीर्घ काल तब रौरवादि नरक को भोगकर कूकर-सूकर आदि निम्न योनियों में भटकता रहता है। हिंसा के विना मांस की उपलब्धि नहीं होती। मांस भक्षण करने वाले मनुष्य के तामसी विचार होते हैं, सात्त्विक विचार नहीं होते। मोक्ष के साधन भक्ति और प्रपत्ति में प्रवृत्त होने की बात तो दूर रही, उस अशान्तचित्त मनुष्य में कभी धर्म की भी प्रतिष्ठा नहीं हो सकती इसलिए उसका संसारबन्धन दृढ़ होता रहता है। जो

संसारबन्धन से मुक्ति चाहता है, उसे चाहिए कि वह अतिशीघ्र हमेशा के लिए मांस खाना छोड़ दे।

यज्ञ में हिंसा का निषेध

पशुना यजेत इस प्रकार श्रुति पशु से याग करने का विधान करती है। याज्ञिकों के अनुसार यागोपयोगी पशु अज होता है। अज का क्या अर्थ है? इस पर पूर्वमीमांसा के भाष्यकार श्रीशबर स्वामी **गुणवादस्तु**(जै.सू.1.2.10) सूत्र के भाष्य में लिखते हैं कि अज का अर्थ अन्न=बीज अथवा लता-**अज इति अन्नं बीजं विरुद् वा**।(शा.भा.1.2.10), इससे स्पष्ट है कि पूर्व मीमांसा के भाष्यकार को यज्ञीय हिंसा मान्य नहीं है। अज का बकरा अर्थ लोक में प्रसिद्ध है तो शबर स्वामी के उक्त अर्थ का क्या आधार है? इसका उत्तर महाभारत में इस प्रकार है कि यज्ञों में बीजों से यजन करना चाहिए, ऐसी वैदिकी श्रुति है। अज बीजों का नाम है अतः छाग(बकरा) का वध करना उचित नहीं। जहाँ पशुओं का वध होता है, वहाँ सत्पुरुषों का धर्म नहीं होता-**ऋषयः ऊचुः। बीजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वै वैदिकी श्रुतिः। अजसंज्ञानि बीजानिच्छागं नो हन्तुमर्हथ॥ नैष धर्मः सतां देवा यत्र वध्यते वै पशुः॥**(म.भा.शां.337.4-5), इससे स्पष्ट है कि आचार्य शबर ने परम आप्त महर्षि वेदव्यास का अनुसरण किया है। अज का अर्थ बीज कैसे होता है? इस पर कहते हैं कि हे सुरश्रेष्ठ! उन बीजों से यज्ञ करो, जिनसे यज्ञ करने में हिंसा नहीं है। जो तीन वर्ष से पुराने और अंकुरित होने में असमर्थ हों-**यज्ञबीजैः सुरश्रेष्ठ येषु हिंसा न विद्यते। त्रिवर्षपरमं कालमुषितैरप्ररोहिभिः॥**(वा.पु.पू.57.100-101), तीन वर्ष से पुराने बीजों से यज्ञ करना चाहिए-**यज्ञबीजैः सुरश्रेष्ठ त्रिवर्षपरिमोषितैः**।(म.पु.143.14), हे सहस्र नेत्र वाले इन्द्र! तुम तीन वर्ष से पुराने बीजों से यज्ञ करो। यह महान् धर्म है, यह महान् गुण वाले फल की प्राप्ति कराने वाला है-**यज्ञ बीजैः सहस्राक्ष त्रिवर्षपरमोषितैः॥ एष धर्मो महान् शक्र महागुणोफलोदयः**।(म.भा.आ.91.16-17)। इन वचनों से स्पष्ट है कि अंकुर को उत्पन्न करने में असमर्थ होने के कारण पुराने बीजों को अज कहा जाता है, इसीलिए शास्त्र पुराने बीजों से यज्ञ करने को कहते हैं।

हे राजन् रघुनन्दन! जिस प्रकार यज्ञ में लाए पशुओं का वध निन्दित है, उसी प्रकार राजा के लिए निष्चेष्ट प्राणियों का वध निन्दित है-**निश्चेष्टानां**

वधो राजन् कुत्सितो जगतीपतेः। क्रतुमध्योपनीतानां पशूनामिव राघव॥(वा. रा.3.70.6) इस प्रकार वाल्मीकीय रामायण में यज्ञ के अन्तर्गत पशुवध की निन्दा की गयी है। जो दम्भी मनुष्य दम्भ से किये जाने वाले यज्ञों में पशुओं का वध करते हैं, वैशस नामक नरक लोक में पड़े उन लोगों को वहाँ के अधिकारी बहुत यातना देकर काटते हैं-**ये त्विह वै दाम्भिका दम्भयज्ञेषु पशून् विशसन्ति, तानमुस्मिंल्लोके वैशसे नरके पतितान्निरयपतयो यातयित्वा विशसन्ति॥**(भा.5.26.25) इस प्रकार श्रीमद्भागवत में यज्ञीय हिंसा करने वालों को घोर नरकयातना कही है। इस विषय में श्रीमद्भागवत के (भा.4.25.7-9) श्लोकों को भी देखना चाहिए। महाभारत में कहा है कि सुरा, मछली, मधु, मांस, आसव और खिचड़ी इन सभी को धूर्तों ने यज्ञ में प्रचलित किया है, वेदों में इनका विधान नहीं है-**सुरा मत्स्या मधु मांसमासवं कृसरौदनम्। धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतन्नैतद् वेदेषु कल्पितम्॥**(म. भा.शा.265.9)। श्रीहनुमान् जी ने कहा है कि रघुकुल में उत्पन्न कोई भी व्यक्ति मांस नहीं खाता, न ही मधु का सेवन करता है-**न मांसं राघवो भुङ्क्ते न चैव मधु सेवते।**(वा.रा.5.36.41)। शास्त्रों में कहा है कि मनुष्य जो अन्न खाता है, उसके देवता वही खाते हैं, रघुवंशी मांस ही नहीं खाते, तो उनके द्वारा मांस से यजन करना संभव नहीं।

वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः।(तै.सं.2.1.1) और **अग्निषोमीयं पशुमालभेत।** इन स्थलों में कुछ विद्वान् आलभन का हिंसा अर्थ करते हैं, वह उचित नहीं क्योंकि आलभन शब्द का स्पर्श और प्राप्ति अर्थ होता है। यज्ञोपवीत और विवाहसंस्कार के समय **हृदयमालभते।** यह वाक्य प्रयुक्त होता है, उस समय गुरु शिष्य के और वर वधु के हृदय का स्पर्श ही करता है, छाती में चाकू नहीं मारता। वैदिक कर्म के प्रसंग में आलम्भन का अर्थ भी वध करना नहीं। आलम्भन का अर्थ स्पर्श है-**आलम्भः स्पर्शो भवति।**(सु.2.3.17)। यज्ञ में निर्दिष्ट पशु, पक्षियों को पर्यग्निकरण के पश्चात् छोड़ दिया जाता था क्योंकि उनके वध करने का विधान नहीं है। कात्यायन श्रौतसूत्र में कहा है कि यज्ञ में पर्यग्निकरण के पश्चात् कपिञ्जल(कबूतर) आदि को छोड़ देना चाहिए-**कपिञ्जलादीनुत्सृजन्ति पर्यग्निकृतान्।**(का.श्रौ.सू.20.6.9)। उव्वट और महीधर ने यजुर्वेदभाष्य(य. भा.24.40) में लिखा है कि सभी आरण्य पशु-पक्षियों को छोड़ देना

चाहिए, उनकी हिंसा नहीं करनी चाहिए-**तेष्वारण्याः सर्वे उत्स्रष्टव्याः, न तु हिंस्याः।**(उ.भा., मही.भा.24.40)। पर्यग्निकरण के परवर्ती कर्म पिष्ट(आटा से बने) पशु से सम्पन्न किये जाते हैं।

शतपथ ब्राह्मण और ऐतरेय ब्राह्मण में पिष्ट पशु का स्पष्ट वर्णन मिलता है। शतपथ में कहा है कि पिसा हुआ सूखा आटा लोम है, जल मिलाने पर उसे चर्म कहते हैं। गूँथने पर उसका मांस नाम होता है। तपाने पर उसे अस्थि कहते हैं और घृत मिलाने पर मज्जा-**यदा पिष्टान्यथ लोमानि भवन्ति। यदाप आनयत्यथ त्वग्भवति। यदा संयौत्यथ मांसं भवति। सन्तत इव हि स तर्हि भवति। संततमिव हि मांसम्। यदा शृतः, अथास्थि भवति। दारुण इव हि स तर्हि भवति। दारुणमिव ह्यस्थि। अथ यदुद् वासयिष्यन्नभिघारयति। तं मज्जानं दधाति।**(श.ब्रा.3.4.8)। ऐतरेय ब्राह्मण में कहा है कि पुरोडाश का आलभन पशु का ही आलभन है। पुरोडाश में जो अन्न के दाने हैं, वे रोम हैं। जो भूसी है, वह त्वचा है, जो अन्दर का भाग है, वह रक्त है और जो महीन आटा है, वह मांस है-**स वा एष पशुरेवालभ्यते, यत्पुरोडाशस्तस्य। यानि किंशारूपाणि तानि रोमाणि। ये तुषाः सा त्वक्। ये फलीकरणास्तद् असृग्। यत् पिष्टं किक्नसास्तन्मांसम्।**(ऐ.ब्रा.6.9)।

स्वामी रामानन्दाचार्य जी किसी भी प्रकार हिंसा का समर्थन नहीं करते। श्रीवेदान्तदेशिक स्वामी यज्ञीय हिंसा के भी समर्थक नहीं हैं, उन्होंने गीतातात्पर्यचन्द्रिका(9.31) में यज्ञ में पिष्ट पशु का समर्थन किया है। आचार्य आनन्दतीर्थ(मध्वाचार्य) ने स्वरचित ऋग्वेदभाष्य में और उसके व्याख्याकार श्रीजयतीर्थ ने यज्ञीय हिंसा का निराकरण किया है। स्वामी भगवदाचार्य ने भी सामवेद और यजुर्वेद का भाष्य लिखा है, वे भी यज्ञीय हिंसा का निराकरण करते हैं। गीता की ज्ञानेश्वरी व्याख्या(13.7 पंक्ति संख्या 222) और एकनाथी भागवत(11.5) में भी यज्ञीय हिंसा का निषेध किया है[1]।

शुभानि कर्माणि समर्पयेत्सदा[2] रामाय भक्ष्यं च निवेद्य भक्षयेत्।
अहर्दिवं वीतभयः समुत्तमं विमुक्तधीः स्वाघनिवृत्तिकामनः॥117॥

1.छात्रों के अनुरोध से बहुत वर्ष पूर्व ही इस विषय को विस्तार से लिखने की इच्छा

अन्वय

स्वाघनिवृत्तिकामनः विमुक्तधीः शुभानि कर्माणि अहर्दिवं रामाय समर्पयेत् च समुत्तमं भक्ष्यं निवेद्य भक्षयेत्, सदा वीतभयः।

अर्थ

स्वाघनिवृत्तिकामनः-अपने पापों के नाश की कामना करने वाला (और) **विमुक्तधीः**-संसारचक्र से मुक्त होने की मति वाला (हरिभक्त अपने) **शुभानि**-शुभ **कर्माणि**-कर्मों को **अहर्दिवम्**-प्रतिदिन **रामाय**-श्रीरामचन्द्र को **समर्पयेत्**-समर्पित करे **च**-और (श्रीरामचन्द्र को) **समुत्तमम्**-सात्त्विक **भक्ष्यम्**-भोजन **निवेद्य**-समर्पित करके **भक्षयेत्**-खाए, इस प्रकार **सदा**-सदा करने वाला वैष्णव **वीतभयः**-भयरहित हो जाता है।

भाष्य

कर्मसमर्पण

त्रितापरूप संसार से संतप्त मानव उससे मुक्त होना चाहता है, उस मुमुक्षु के पापों के रहते मोक्ष का साधन ब्रह्मोपासना नहीं हो सकती, इस कारण वह अपने पापों के नाश की कामना करता है। पापों के नाश की कामना करने वाला और मोक्ष को चाहने वाला वैष्णव प्रतिदिन अपने शास्त्रविहित शुभ कर्मों को प्रियतम प्रभु श्रीरामचन्द्र को समर्पित करे। हे प्रभो! मेरा कहा जाने वाला जो शुभ कर्म है-वह आपका ही है, मेरा नहीं। आपने ही उसे किया है, इसलिए उससे प्राप्त होने वाला फल भी आपका ही है अतः **त्वदीयं कर्म हे रघुनाथ! तुभ्यमेव समर्पये**, इस प्रकार भावपूर्वक भगवान् को प्रतिदिन आचरित शुभ कर्म समर्पित कर देना चाहिए।

भोजनार्पण

साधन-भजन करने के लिए शरीर में कुछ बल होना चाहिए, इसके लिए सभी को भोजन अपेक्षित होता है, इसके विना शरीर भी कार्य नहीं कर सकता। भोजन के विषय में ग्रन्थकार कहते हैं कि सात्त्विक भोजन

थी किन्तु रुग्णता बाधक रही। प्रस्तुत व्याख्यालेखन काल में व्यस्तता के कारण संक्षिप्त ही लिखा जा सका। **2.शुभानि कर्माणि समर्पयेत्सदा** इत्यस्यस्थाने **'समर्प्य कर्माणि शुभानि वैष्णवः'** इति पाठान्तरम्।

श्रीरामभद्र को निवेदित(समर्पित) करना चाहिए, उसे वे प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करते हैं, श्रीकिशोरी जी और अन्य परिकर भी स्वीकार करते हैं। इस प्रकार सात्त्विक भोजन उत्तम प्रसाद हो जाता है। उसका सेवन करने से शरीर-इन्द्रियाँ भजन के अनुकूल हो जाती हैं, मन की विषयप्रवणता शनैः शनैः समाप्त होने से वह शान्त होकर भगवान् में स्थिर होने लगता है। इसके पश्चात् अत्यन्त एकाग्रतापूर्वक भक्तियोग संभव होने पर साधक को परम प्रियतम प्रभु श्रीराम का साक्षात्कार हो जाता है और प्रारब्ध कर्म के अवसान काल में वह अर्चिरादि मार्ग से साकेत धाम जाकर मुक्त हो जाता है। श्रीरामानन्द स्वामी जी ने वीतभय पद से इसी मोक्ष को कहा है। वीतभय का अभय अर्थ होता है और अभय का अर्थ संसार के सम्बन्ध से होने वाले भय का आत्यन्तिक अभाव है, इसे ही मोक्ष कहते हैं। इसका साधन परमात्मा का तैलधारावदविच्छिन्न निरन्तर ध्यान है। जब मुमुक्षु अभय के साधन निरन्तर ध्यान(भगवत्स्मृति)रूप निष्ठा को स्वीकार करता है, तब वह अभय को प्राप्त करता है **अथ सोऽभयं गतो भवति**।(तै.उ.2.7.2), ब्रह्मानन्द की उपासना करने वाला किसी से भय नहीं करता-**आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चनेति**।(तै.उ.2.9.1) अर्थात् उसे सर्वदुःखों का आत्यन्तिक अभावरूप मोक्ष प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार यहाँ ब्रह्मविद्या(भक्ति) के फलरूप से अभय का कथन है। ब्रह्मविद्या का फल मोक्ष होता है अतः अभय पद का मोक्ष अर्थ होता है। संसारबन्धन से मुक्त होकर परब्रह्म श्रीसीतारामजी का सर्वदा दर्शन और कैंकर्य ही मोक्ष है।

निरन्तर भगवत्स्मृति ही मोक्ष का साधन है और इस स्मृति का मूल है-समर्पण। श्रीभगवान् ने स्वयं ही कहा है कि तुम जो कुछ करते हो, जो कुछ खाते हो, जो होम करते हो, जो दान देते हो और जो तप करते हो, हे अर्जुन वह सब मुझे समर्पित करो-**यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्**॥(गी.9.27) इस प्रकार शुभ कर्म और भोजन को समर्पित करना वर्णित है। गीता में साधना के लिए उपयोगी सात्त्विक भोजन सेवन करने के लिए कहा है।

भोजन का उद्देश्य

प्रत्येक वैदिक कर्म का मुख्य उद्देश्य मोक्ष की प्राप्ति है और गौण

उद्देश्य लौकिक उन्नति, अतः भोजन का मुख्य उद्देश्य भी मोक्ष के लिए उपयोगी मन की निर्मलता है और गौण उद्देश्य लौकिक उन्नति में उपयोगी शरीर का स्वास्थ्य। छान्दोग्य श्रुति कहती है कि आहार की शुद्धि से मन की शुद्धि होती है, मन की शुद्धि होने पर परमात्म तत्त्व की अविचल स्मृति होती है, अविचल स्मृति होने पर रागद्वेषादिरूप ग्रन्थियों का आत्यन्तिक नाश होता है-**आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः। स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः॥**(छां.उ.7.26.2)।

यद्यपि आहार-शुद्धि से सभी इन्द्रियों के आहारों(विषयों) की शुद्धि ही शास्त्रों को अभीष्ट है क्योंकि यदि कोई साधक शुद्ध भोजन तो करता है, किन्तु श्रोत्र, नेत्र आदि इन्द्रियों से कामवर्धक शब्द, रूप आदि विषयों का सेवन करता रहता है तो उसका मन शुद्ध नहीं हो सकता तथापि मन की शुद्धि में अन्न(भोजन) की शुद्धि सब से अधिक आवश्यक है क्योंकि अन्न के सूक्ष्म अंश से मन का निर्माण होता है। छान्दोग्य उपनिषद् में ही कहा है कि खाया हुआ अन्न तीन प्रकार का हो जाता है। अन्न का स्थूल अंश मल हो जाता है, मध्यम अंश मांस और सूक्ष्म अंश मन हो जाता है-**अन्नमशितं त्रेधा विधीयते, तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति, यो मध्यमस्तन्मांसं योऽणिष्ठस्तन्मनः॥**(छां. 6.5.1) इसलिए मन अन्नमय है, इसी आधार पर लोक में भी कहा जाता है कि जैसा अन्न वैसा मन।

उक्त श्रुति प्रमाण के अनुसार मन की शुद्धि में भोजन की शुद्धि का बहुत महत्त्व होने के कारण ऋषियों ने इस पर गम्भीरता से विचार कर अन्नशुद्धि के जिन-जिन नियमों का विधान किया है उनका विवेचन यहाँ प्रस्तुत है-

अर्थशुद्धि

आगे कही जाने वाली शुद्धियों से युक्त शुद्ध भोजन भी अशुद्ध होता है, यदि बेईमानी से दूसरों को धोखा देकर, हिंसा-पीड़ा पहुँचाकर, चोरी करके, मिलावट करके, घूस लेकर अन्यायपूर्वक पैदा किये धन से बनाया गया हो। यही कारण है कि मनु महाराज ने सभी शुद्धियों में अर्थ(धन) की शुद्धि को ही सर्वश्रेष्ठ कहा है-**सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्॥**(म.स्मृ.5.106)।

न्यायपूर्वक पैदा किया हुआ धन भी तभी पूर्ण शुद्ध होता है जब कि उसमें से दशम अंश भगवान् की प्रसन्नता के उद्देश्य से निष्काम भाव से कर्तव्य समझकर दान दिया जाये-**न्यायोपार्जितवित्तस्य दशमांशेन धीमतः। कर्तव्यो विनियोगश्च ईश्वरप्रीत्यर्थमेव च॥**(शि.पु.1.13.70, स्क.पु.1.1.12.32), इसके अतिरिक्त अर्थशुद्धि का एक अर्थ और है, उसे भी समझना आवश्यक है। जिस भोजन के बनाने में अर्थसंकट पैदा हो जाता हो वह चाहे अन्य सब प्रकार की शुद्धियों से युक्त हो तो भी उससे मन शुद्ध नहीं हो सकता क्योंकि आर्थिक चिन्ता के कारण मन सदा अशान्त रहेगा और उससे परम तत्त्व की अविचल स्मृति नहीं हो सकती, इतना ही नहीं किन्तु उस अर्थचिन्ता से ही प्रायः लोग चोरी, बेईमानी आदि अनुचित कार्य करते हैं। वर्तमान में यह स्थिति अधिक भयावह हो गई है इसलिए साधक को इस पर विशेष ध्यान देना चाहिए।

अभी भगवदर्पित भोजनसेवन का नियम कहा गया। भोजन सामान्यतः अर्चावतार को अर्पित किया जाता है अतः ग्रन्थकार भगवान् के अर्चावताररूप का आगे वर्णन करेंगे। यहाँ उनके अन्य रूपों की प्रसंगतः व्याख्या की जाती है-

भगवान् की पाँच रूपों में स्थिति

भगवान् श्रीरामचन्द्र ही पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चावतार इन पाँच रूपों में स्थित होते हैं। भगवान् ने कहा है कि पर, व्यूह, विभव, सभी प्राणियों का नियामक अन्तर्यामी और अर्चावतार ये मेरे पाँच प्रकार होते हैं-**मम प्रकाराः पञ्चेति प्राहुर्वेदान्तपारगाः। परो व्यूहश्च विभवो नियन्ता सर्वदेहिनाम्॥ अर्चावताराश्च तथा...**(वि.सं.)। भगवान् के पर आदि पाँच प्रकारों का पाञ्चरात्र आगम में विस्तार से प्रतिपादन किया गया है।

1.पर

कालकृत परिणाम से रहित, अविनाशी, आनन्दरूप त्रिपादविभूति में अप्राकृत दिव्यमंगलविग्रह वाले, दिव्य गुणों के सागर, दिव्य अस्त्र, वस्त्र और आभूषणों से समलंकृत जगज्जननी श्रीसीता जी के साथ महामणिमण्डप में दिव्य सिंहासन पर विराजमान श्रीभगवान् 'पर' कहलाते हैं। उनका श्रीविग्रह योगियों के द्वारा ध्येय, सभी को अपनी ओर आकर्षित करने

वाला, सम्पूर्ण भोगों से विरक्ति कराने वाला, नित्य तथा मुक्तों के द्वारा अनुभाव्य, खिले हुए कमल की सुगन्ध से परिपूर्ण महासरोवर के समान सम्पूर्ण तापों का हरण करने वाला तथा सभी अवतारों का मूलभूत और सभी का आश्रय है। दिव्य वस्त्र, आभूषण तथा आयुधों से सुशोभित है, वह हमेशा एकरूप रहता है। कुमारावस्था और यौवनावस्था की मध्यवर्ती अवस्था वाला है, यह अवस्था आगन्तुक नहीं है अपितु स्वाभाविक है। परब्रह्म के प्रस्तुत परस्वरूप में नित्योदित और शान्तोदित ऐसे दो भेद होते हैं। मुक्तों के अनुभाव्य भगवान् वासुदेव नित्योदित कहलाते हैं, इनसे तीनों व्यूहों के कारण शान्तोदित वासुदेव आविर्भूत होते हैं-**नित्योदितात्सम्बभूव तथा शान्तोदितो हरिः।**(वि.सं.)।

2.व्यूह

उपासकों पर अनुग्रह करने के लिए तथा जगत् की सृष्टि आदि कार्य सम्पन्न करने के लिए पर भगवान् स्वयं ही वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध इन रूपों में अवतरित होते हैं। ये चार रूप ही चतुर्व्यूह कहे जाते हैं। श्रीमद्भागवत में कहा है कि हे ब्रह्मन् शौनक! भगवान् स्वयं वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध इन चतुर्मूर्ति के रूप में स्थित हैं इसलिए उन्हीं को चतुर्व्यूह कहा जाता है। वे चतुर्व्यूह ही जीव की जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और मोक्ष अवस्थाओं के निर्वाहक होने से विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय कहे जाते हैं। उनमें जाग्रत अवस्था और इन्द्रियसापेक्ष ज्ञान वाले जीवात्मा के अन्तरात्मा भगवान् अनिरुद्ध विश्व कहे जाते हैं। स्वप्न अवस्था और मन के अधीन ज्ञान वाले जीवात्मा के अधिष्ठाता भगवान् प्रद्युम्न तैजसरूप से प्रकाशित होते हैं। जाग्रत और स्वप्न दोनों अवस्थाओं के संस्कार और अज्ञान से युक्त सुषुप्ति अवस्था वाले जीव के अन्तरात्मा भगवान् संकर्षण प्राज्ञरूप से जाने जाते हैं तथा सर्वविषयक ज्ञान और मुक्तावस्था वाली आत्मा के अन्तरात्मा भगवान् वासुदेव तुरीय कहे जाते हैं। अङ्ग, उपाङ्ग, विविध आयुधों एवं लोकोत्तर आभूषणों से युक्त सर्वेश्वर हरि ही जगत् की सृष्टि, स्थिति, संहार और ज्ञानी को अपने सर्वात्मस्वरूप का अनुभव कराना, इन चारों कार्यों को सम्पन्न करते हैं तथा इनके लिए वे स्वयं अनिरुद्धादि चार व्यूहरूपों को धारण करते हैं-**वासुदेवः संकर्षणः प्रद्युम्नः पुरुषः स्वयम्। अनिरुद्ध इति ब्रह्मन् मूर्तिव्यूहोऽभिधीयते॥ स**

विश्वस्तैजसः प्राज्ञस्तुरीय इति वृत्तिभिः। अर्थेन्द्रियाशयज्ञानैर्भगवान् परिभाव्यते॥ अङ्गोपाङ्गायुधाकल्पैर्भगवांस्तच्चतुष्टयम्। बिभर्ति स्म चतुर्मूर्तिर्भगवान् हरिरीश्वरः॥(भा.12.11.21-23)।

शास्त्रों में कहीं अनिरुद्ध, प्रद्युम्न, संकर्षण और वासुदेव ये चतुर्व्यूह वर्णित हैं और कहीं अनिरुद्ध, प्रद्युम्न और संकर्षण ये त्रिव्यूह वर्णित हैं। ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति और तेज इन षड्गुणों के परिपूर्ण आविर्भाव के कारण परवासुदेव (नित्योदित) और उनके अवतारभूत व्यूहवासुदेव (शान्तोदित) की अभेदविवक्षा से त्रिव्यूह वर्णित हैं और भेदविवक्षा से चतुर्व्यूह वर्णित हैं, इस प्रकार विरोध न होने से दोनों कथन युक्तिसंगत होते हैं। संकर्षण में ज्ञान और बल पूर्ण प्रकाशित रहते हैं। प्रद्युम्न में ऐश्वर्य और वीर्य का तथा अनिरुद्ध में शक्ति और तेज का पूर्ण प्रकाश रहता है। संकर्षणादि में भी ज्ञानादि सभी गुण परिपूर्ण ही होते हैं तथापि भगवान् की इच्छा से ही कार्यविशेष के लिए उनमें दो दो गुणों का अधिक प्रकाश और अन्य गुणों का न्यून प्रकाश होता है, उनमें गुणों का अभाव नहीं होता इसलिए भगवान् सभी देश और सभी कालों में परिपूर्ण ही रहते हैं। शास्त्रों में एक स्थान पर अनिरुद्ध, प्रद्युम्न और संकर्षण के जो कार्य सुने जाते हैं, दूसरे स्थान पर उनसे भिन्न कार्य सुने जाते हैं, ऐसी स्थिति में कल्पभेद से उनके कार्यों का भेद जानना चाहिए।

परवासुदेव से व्यूह वासुदेव का आविर्भाव होता है, व्यूह वासुदेव से संकर्षण का, संकर्षण से प्रद्युम्न का और प्रद्युम्न से अनिरुद्ध का आविर्भाव होता है। पाञ्चरात्र की पद्मसंहिता में कहा है कि परमकारण परब्रह्म वासुदेव से जीव के अधिष्ठाता भगवान् संकर्षण आविर्भूत होते हैं। संकर्षण से मन के अधिष्ठाता भगवान् प्रद्युम्न आविर्भूत होते हैं। प्रद्युम्न से अंहकार तत्त्व के अधिष्ठाता भगवान् अनिरुद्ध आविर्भूत होते हैं-**परमकारणात् परब्रह्मभूतात् वासुदेवात्संकर्षणो नाम जीवो जायते। संकर्षणात् प्रद्युम्नसंज्ञं मनो जायते। तस्मादनिरुद्धसंज्ञः अंहकारो जायते।**(पा.सं.)।

उक्त चार व्यूह से केशवादि द्वादश व्यूह आविर्भूत होते हैं। वासुदेव से केशव, नारायण और माधव का प्रादुर्भाव होता है। संकर्षण से गोविन्द, विष्णु और मधुसूदन का आविर्भाव होता है। प्रद्युम्न से त्रिविक्रम, वामन और श्रीधर का प्राकट्य होता है और अनिरुद्ध से हृषीकेश, पद्मनाभ और

दामोदर का आविर्भाव होता है। ये द्वादश मासों एवं द्वादश आदित्यों के अधिष्ठाता देवता होते हैं। द्वादश ऊर्ध्वपुण्ड्रों में इनका ही न्यास(स्थापन) किया जाता है। उपासकों के कष्ट की निवृत्ति के लिए केशवादि व्यूह उनके शरीर के रक्षक होते हैं-**शरीररक्षकाश्चैते ध्यायिनां खेद शान्तये।** (पा.सं.)।

3.विभव

भगवान् का देव, मनुष्यादि के शरीर के समान शरीर को स्वीकार करके प्रादुर्भाव(अवतार) विभव या विभवावतार कहलाता है-**विभवो नामेतरसजातीयत्वेनाविर्भावः।** भगवान् श्रीरामचन्द्र का देवता के सजातीय रूप से आविर्भाव वामनावतार है। मनुष्य के सजातीय रूप से आविर्भाव श्रीरामकृष्णादि अवतार हैं। तिर्यक् के सजातीयरूप से आविर्भाव मत्स्य, कूर्मादि अवतार हैं। भगवान् श्रीरामचन्द्र के विभवावतार अनन्त हैं, उनमें मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण, बलराम और कल्कि ये दश अवतार प्रधान हैं। वेदों का अपहरण करने वाले दैत्य का हनन करके ब्रह्मा को वेद प्रदान करने के लिए अवतीर्ण मत्स्यावतार है। देवताओं के अजर-अमर होने का कारण अमृत की उत्पत्ति के लिए मन्दराचल के आधाररूप से अवतरित कूर्मावतार है। पृथ्वी का उद्धार करने के लिए अवतीर्ण वराहावतार है। आश्रित भक्त की रक्षा करने के लिए असुर के घर में स्तम्भ से प्रकट श्रीनृसिंहावतार है। इन्द्र का सहयोग करने के बहाने त्रिविक्रम होकर अपने पादजल पापहारिणी, पतितपावनी गंगा से जगत् का पापहरण करने के लिए अवतीर्ण वामनावतार है। दुष्ट क्षत्रियों के विनाश के लिए अवतीर्ण परशुरामावतार है। शरणागत की रक्षा तथा धर्मसंस्थापन के लिए अवतीर्ण श्रीरामावतार है। दया के वशीभूत होकर मोक्ष के उपायचिन्तन के लिए उपयोगी विविध लीला करने के लिए और गीता का उपदेश प्रदान करने के लिए अवतीर्ण श्रीकृष्णावतार है। हिंसापरायण मनुष्यों को हिंसा से विमुख कराने के लिए अवतरित बुद्धावतार है। अधर्मियों का वध करके पूर्ण धर्म का प्रवर्तन करने के लिए अवतीर्ण कल्कि अवतार है।

पुराणसाहित्य में भगवान् के चौबीस अवतार निम्न प्रकार से कहे जाते हैं-1.नारायण(विराट-पुरुष) 2.ब्रह्मा, 3.सनक-सनन्दन-सनत्कुमार-सनातन

4.नर-नारायण 5.कपिल 6.दत्तात्रेय 7.सुयश_8.हयग्रीव 9.ऋषभ 10.पृथु, 11.मत्स्य 12.कूर्म 13.हंस 14.धन्वन्तरि 15.वामन 16.परशुराम 17.मोहिनी 18.नरसिंह 19.वेदव्यास 20.राम 21.बलराम, 22.कृष्ण 23.बुद्ध 24.कल्कि।

विभव के दो भेद होते हैं-1.गौण 2. मुख्य।

गौण विभव

भगवान् श्रीराम के आवेशावतारों को गौण विभव(गौणावतार) कहते हैं। ब्रह्मा, शिव, परशुराम, कपिल, दत्तात्रेय, वेदव्यास और बुद्धादि गौणावतार हैं। इन अवतारों को मुख्यावतार नहीं माना जा सकता, अन्यथा गीता के विभूति अध्याय में कपिलादि को विभूति कहना व्यर्थ होगा। गौण विभव भी दो प्रकार के होते हैं-स्वरूपावेश और शक्त्यावेश।

स्वरूपावेश

स्वरूप अर्थात् अपने दिव्यमङ्गल विग्रह और गुणों के सहित श्रीरामचन्द्र के आवेश(प्रवेश) को स्वरूपावेश विभव कहते हैं। उत्तम कर्म करने वाले जीवविशेष के शरीर में अप्राकृत विग्रह और दिव्य गुणों के सहित श्रीभगवान् का आवेश स्वरूपावेश विभवावतार कहलाता है।

शक्त्यावेश

विशिष्ट कार्य को सम्पन्न करने के लिए जीवविशेष के शरीर में सामर्थ्यमात्र से भगवान् के आवेश को शक्त्यावेश विभव कहते हैं। इस सामर्थ्य से ही शक्त्यानेश अवतार विशिष्ट कार्यो को सम्पन्न करते हैं। इसीलिए परशुराम का सामर्थ्य(तेज) सर्वावतारावतारी परब्रह्म श्रीरामचन्द्र में मिल जाने से वे सामर्थ्यरहित जीव परशुराम साधना करने के लिए महेन्द्राचल पर चले गये, ऐसा श्रीवाल्मीकीय रामायण में वर्णन है।

भगवान् के सभी अवतार सत्य ही होते हैं, जादूगर के वेश धारण करने के समान मिथ्या नहीं होते। जैसे भगवान् का मनुष्य, तिर्यक् और स्थावररूप धारण करना उनकी इच्छा से होता है, वैसे ही उनके अवतारों का गौणत्व भी उनकी इच्छा से होता है। सृष्टिकर्ता ब्रह्मा, संहारकर्ता शिव और अग्नि आदि, वेदों का विभाग करने वाले, पुराणों के रचयिता और ब्रह्मसूत्र के प्रणेता वेदव्यास, दुष्ट क्षत्रियों के संहारक परशुराम, पाण्डु के पुत्र अर्जुन इत्यादि गौण विभव हैं। महत्, अहंकार, एकादश इन्द्रियाँ, प्राण

और पञ्चभूतों से युक्त जीव होते हैं। ब्रह्मा, शिव आदि उच्चकोटि के देवता हैं, इनके सुकृत अधिक होने से भगवान् ने इन सबको आधिकारिक पदों पर नियुक्त किया है, इनके शरीर मानव शरीर की अपेक्षा विलक्षण होने पर भी प्राकृत ही हैं। स्वातन्त्र्यरूप अहंकार से युक्त जीवविशेष के अधिष्ठाता भगवान् भी ब्रह्मा आदि शब्दों से कहे जाते हैं। वे गौणावतार स्वातन्त्र्यरूप अहंकार से युक्त जीवविशेष के अधिष्ठाता होने से मुमुक्षुओं के उपास्य नहीं हैं, मुख्य(साक्षात्) अवतार ही उपास्य हैं।

मुख्य विभव

भगवान् राम का अप्राकृतविग्रहविशिष्ट और दिव्यगुणविशिष्ट रूप से साक्षात् आविर्भाव मुख्य विभव कहलाता है, यह विभव साक्षात् अवतार और पूर्णावतार भी कहा जाता है। श्रीराम, श्रीकृष्ण, नृसिंह, मत्स्य, कूर्म और वराहादि मुख्य विभव हैं।

कभी त्रिपादविभूति में विद्यमान भगवान् के शुद्धसत्त्वमय परविग्रह के अंश से अवतारविग्रह होते हैं। कभी व्यूह के विग्रह से अवतारविग्रह होते हैं, कभी क्षीरोदकशायी भगवान् के विग्रह से अवतारविग्रह होते हैं और कभी भगवान् के संकल्प से भक्तों की अविद्यानिवृत्ति होने पर यहीं नित्य विद्यमान विभव भगवान् का अप्राकृत विग्रह उनके नेत्रों का विषय हो जाता है, इस प्रकार भक्तों के नेत्रों का विषय होना भी अवतार होना कहा जाता है।

सभी मुख्यावतारों में ज्ञानशक्त्यादि कल्याण गुण परिपूर्ण रहते हैं और अप्राकृत शुद्धसत्त्वमय ही विग्रह होते हैं। भगवान् अपने अजत्व, अव्ययत्व और सर्वेश्वरत्वादि स्वभाव को न छोड़ते हुए ही अवतरित होते हैं। भगवान् ने कहा है कि मैं अजन्मा, अविनाशीरूप और सभी प्राणियों का ईश्वर रहते हुए भी अप्राकृत विग्रह को लेकर अपने संकल्प से अवतरित होता हूँ-**अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्। प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया॥**(गी.4.6)। जैसे एक दीप से दूसरे दीप प्रज्वलित होते हैं, प्रकाशकत्व उन सभी का स्वभाव होता है, वैसे ही भगवान् के एकरूप से दूसरे रूप अवतरित होते हैं। उन सभी के अप्राकृत विग्रह तथा अजत्वादि स्वभाव होते हैं। उक्त विशेषताओं से युक्त सभी मुख्य विभव

मुमुक्षुओं के उपास्य होते हैं।

शास्त्रों के अवतार प्रकरण में अंशावतार, अंशांशावतार, अंशवशावतार और कलावतार शब्द दृष्टिगोचर होते हैं। इनकी भी प्रसंगतः व्याख्या की जा रही है-

अंशावतार

विशिष्ट वस्तु के एक भाग को अंश कहा जाता है-**विशिष्टवस्तुनः एकदेशः अंशः।** गुण, श्रीविग्रह और विभूति से विशिष्ट भगवान् हैं। विशिष्ट भगवान् के अंश गुण आदि हैं। संकल्परूप ज्ञान से विशिष्ट भगवान् हैं। संकल्प उनका अंश है इसलिए संकल्प से होने वाले सभी अवतारों को अंशावतार कहा जाता है। जब त्रिपादविभूति में विद्यमान दिव्य मंगलविग्रह के अंश से भगवान् का अवतारकालिक श्रीविग्रह होता है, तब अवतार को अंशावतार कहा जाता है। जब यहीं विद्यमान विभव भगवान् का श्रीविग्रह चक्षु का विषय होता है, तब उस श्रीविग्रहरूप अंश को लेकर होने वाला अवतार अंशावतार कहा जाता है। अपने अंश नियाम्य विभूति(विशिष्ट जीवात्मा) के साथ भगवान् का जो अवतार होता है, उसे अंशावतार कहा जाता है, इसलिए पार्षदरूप अंश के साथ अवतीर्ण होने से पूर्णावतारों को क्वचिद् अंशावतार कहा जाता है। कुछ अंश(सामर्थ्य) को लेकर होने वाला अवतार भी अंशावतार कहा जाता है, भगवान् का अंश जीवात्मा का अवतार भी भगवान् का अंशावतार कहा जाता है।

यह पूर्व में कहा गया है कि सभी अवतारों को भगवान् का साक्षात् अवतार नहीं माना जा सकता है अन्यथा गीता के विभूति-अध्याय में कपिलादि को विभूति कहना व्यर्थ होगा। यहाँ भगवान् के साक्षाद्-अवतार, गौणावतार और जीवावतारों को विवक्षाभेद से अंशावतार कहा गया है। अवतार-प्रतिपादक जिस प्रकरण में जो अर्थ ग्राह्य हो, उसे वहाँ ग्रहण कर लेना चाहिए।

कलावतार

अंश को ही कला कहा जाता है, अतः कलावतार का अर्थ अंशावतार ही है। भगवान् ने कहा है कि जो जो विभूतिमान्, श्रीमान् अथवा कल्याण-कारक साधनों में लगा हुआ प्राणी है, उस उस को तुम मेरे ही तेज के अंश से उत्पन्न हुआ जानो-**यद् यद् विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।**

तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्॥(गी.10.41)। ऋषि, मनु, देवता, मनुपुत्र तथा प्रजापति के सहित जो भी महान् शक्तिशाली हैं, वे सब भगवान् के ही अंश हैं-**ऋषयो मनवो देवा मनुपुत्रा महौजसः। कलाः सर्वे हरेरेव सप्रजापतयस्तथा॥**(भा.1.3.27), **ऋष्यादयः एते सर्वे हरेरेव कलास्स्मृताः। भगवदंशेनैव सम्भूताः इत्यर्थः।**(वी.रा.)।

अंशांशावतार

कला शब्द का अर्थ अंश होने से अंशकला शब्द का अंशांश अर्थ होता है। ऋषि आदि सभी भगवान् राम के अंशांशावतार हैं किन्तु श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं-**एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।**(भा.1.3.28), **अंशकलाः अंशांशसम्भूताः।**(वी.रा.)।

भगवान् श्रीराम के अंश क्षीरसागरशायी विष्णु के अंशावतार को अंशांशावतार कहा जाता है। भगवान् सभी रूपों में परिपूर्ण हैं। त्रिपादविभूति में विराजमान भगवान् परिपूर्ण हैं, उन्हीं के स्वरूप क्षीरसागरशायी भी परिपूर्ण हैं, उनके अंश अर्थात् संकल्प से होने वाला अंशांशावतार भी परिपूर्ण है। यह अंशांशावतार मुख्यावतार ही है। भगवान् के अंश विभूतिरूप महापुरुष के अंश से होने वाले जीवावतार भी अंशांशावतार कहे जाते हैं। जीव के अवतार भगवान् के गौणावतार की श्रेणी में आते हैं।

अंशवशावतार

श्रीभगवान् के अंश अर्थात् विभूति के अधीन रहने वाला अवतार अंशवशावतार कहा जाता है। जैसे-देवताओं का वानर, भालूरूप में अवतार।

विभवावतार का प्रयोजन

भगवान् के अवतार का प्रयोजन साधुपरित्राण, दुष्टविनाश और धर्म-संस्थापन है। जो शीघ्र मेरे (भगवान् के) दर्शन की कामना करते हैं, सदा दर्शन के लिए व्याकुल रहते हैं, दर्शन के विना जिनके अंग शिथिल हो जाते हैं और दर्शन के विना एक क्षण भी जीवित रहने में समर्थ नहीं होते, ऐसे भक्तों को अपने लोकोत्तर सुन्दर, अप्राकृत, दिव्यमंगलविग्रह का दर्शन कराके, उनका स्पर्श और उनके साथ मधुर वार्तालाप करके रक्षा करने के लिए, उनके विरोधियों का नाश करने के लिए और क्षीण हुए आराधनारूप वैदिक धर्म की स्थापना करने के लिए मैं प्रत्येक युग में अवतार लेता हूँ-

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥(गी.4.8), श्रीभगवान् अपनी इच्छा से अवतारविग्रह को धारण करने वाले हैं-**इच्छागृहीताभिमतोरुदेहः।**(वि.पु.6.5.84)। **जब जब होई धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥**(रा.च.मा.1.120.6) **तब तब प्रभु धरि बिबिध शरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥**(रा.च.मा. 1.120.8)।

अवतार के विविध प्रयोजनों में भक्तपरित्राण ही मुख्य प्रयोजन है। दुष्टों का विनाश तो भगवान् के संकल्प से ही संभव है। धर्मोपदेश और उसके अनुष्ठान द्वारा धर्मसंस्थापन वेदव्यासादि से भी संभव है किन्तु अपने कमनीय आराध्य स्वरूप की अप्रतिम, दिव्य रूपमाधुरी का दर्शन कराके भक्तों के मन और नेत्रों का हरण करके उत्तरोत्तर भक्ति को उत्पन्न करना ही अवतार का असाधारण प्रयोजन है, वह पूर्णावतार से ही संभव है।

अवतार का हेतु

कर्माधीन जन्म न लेने वाले परमात्मा श्रीराम ही दशरथनन्दन और यदुनन्दनादि विविध रूपों में अवतार लेते हैं-**अजायमानो बहुधा विजायते।**(य.सं.31.19)। मेरे बहुत से अवतार हो चुके हैं-**बहूनि में व्यतीतानि जन्मानि।**(गी.4.5) इस प्रकार वर्णित भगवान् के अवतारों का हेतु उनकी इच्छा ही है। भगवान् ने स्वयं कहा है कि मैं अपनी इच्छा(संकल्प) से अवतार लेता हूँ-**संभवाम्यात्ममायया।**(गी.4.6)। **माया वयुनं ज्ञानम्।**(नि. ध.22) इस निघण्टु वचन के अनुसार माया शब्द ज्ञान का वाचक है। इच्छा भी संकल्पात्मक ज्ञानविशेष है। **विप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार। निज इच्छा निर्मित तनु माया गुन गो पार॥**(रा.च.मा.1.192) इस प्रकार श्रीरामचरितमानस में भी अवतार का हेतु भगवद्-इच्छा कही गयी है।

शंका-श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण(7.51) में उल्लिखित एक कथानक के अनुसार देवासुरसंग्राम में निर्दोष जनों का संहार करने वाले अधर्मी असुरों को आश्रय प्रदान करने के कारण भगवान् विष्णु ने भृगु ऋषि की पत्नी का वध कर दिया। भगवान् के इस कर्म से क्रुद्ध होकर भृगु ने उन्हें शाप दिया कि आपको मृत्युलोक में जन्म लेकर बहुत दिनों तक पत्नीविरह का

दुःख सहन करना पड़ेगा, इससे यह सिद्ध होता है कि भगवान् के जिस कर्म के कारण भृगु ने शाप दिया, वह कर्म और कर्म के कारण प्राप्त होने वाला शाप उनके अवतार का हेतु है।

समाधान-यह शंका उचित नहीं क्योंकि वहीं पर यह उल्लेख है कि शाप देने के उपरान्त भृगु के चित्त में बड़ी ग्लानि हुई और उन्होंने सर्वसमर्थ, अकर्मवश्य भगवान् को दिए शाप की विफलता के भय से पीड़ित होकर भगवान् से शाप को स्वीकार कराने के लिए उनकी आराधना की। उससे प्रसन्न होकर भक्तवत्सल भगवान् विष्णु ने कहा कि सम्पूर्ण संसार का हित करने के लिए मैं शाप को स्वीकार करुँगा। इस वृत्तान्त से सिद्ध होता है कि शाप या शाप का कारण कर्म उनके अवतार का हेतु नहीं है, अवतार का हेतु इच्छा ही है।

पुण्यपापात्मक कर्म संसारी जीवों के ही होते हैं, ईश्वर के नहीं। वे सद्धर्म का पालन करने वाले पर अनुग्रह करते हैं और निषिद्ध कर्म का आचरण करने वालों का निग्रह करते हैं किन्तु इनसे उन्हें न तो पुण्य होता है और न ही पाप। इस विषय में छान्दोग्यश्रुति कहती है कि परमात्मा पुण्य-पाप सभी के संसर्ग से रहित है-**स वै एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितः**।(छां.उ.1.6.7) इससे स्पष्ट है कि उनके अवतार का हेतु कर्म नहीं हो सकता, वे अपनी इच्छा से ही अवतरित होते हैं। उन्हें किसी का शाप भी नहीं लग सकता, वे अपनी इच्छा से ही जगत् के कल्याण के लिए शाप को स्वीकार करते हैं।

विभव का वर्णन करके अब अन्तर्यामी स्वरूप का वर्णन किया जाता है-

4.अन्तर्यामी-परमात्मा की अन्तर्यामीरूप से स्थिति का दो प्रकार से वर्णन मिलता है-

(क) सर्वात्मा परमेश्वर सभी के भीतर रहकर शासन करता है- **अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा**।(तै.आ.3.11.3)। सम्पूर्ण चेतनाचेतन वस्तुओं में प्रेरक(नियन्ता) रूप से सन्निहित भगवान् अन्तर्यामी कहे जाते हैं। जो पृथिवी में रहते हुए पृथिवी के अन्दर है, पृथिवी जिसे नहीं जानती, पृथिवी जिसका शरीर है, जो पृथिवी के अन्दर रहकर उसका नियमन

करता है, वह निरुपाधिक अमृतस्वरूप परमात्मा तुम्हारा अन्तर्यामी है-**यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद, यस्य पृथिवी शरीरम्, य पृथिवीमन्तरो यमयति। एष त आत्मा अन्तर्याम्यमृतः।**(बृ.उ. 3.7.7) इत्यादि श्रुतियाँ पृथिवी आदि अचेतन पदार्थों के अन्तर्यामी परमात्मा का वर्णन करती हैं। जो सभी प्राणियों में रहते हुए प्राणियों के अन्दर है, प्राणी जिसे नहीं जानते, प्राणी जिसके शरीर हैं, जो प्राणियों के अन्दर रहकर उनका नियमन करता है, वह निरुपाधिक अमृतस्वरूप परमात्मा तुम्हारा अन्तर्यामी है-**यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यं सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरम्, यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयति, एष त आत्मा अन्तर्याम्यमृतः।**(बृ.उ.3.7.19) यह श्रुति शरीरधारी संसारी जीवों के अन्तर्यामी परमात्मा का वर्णन करती है। जो आत्मा में रहते हुए आत्मा के अन्दर है, जिसे आत्मा नहीं जानती, आत्मा जिसका शरीर है, जो आत्मा के अन्दर रहकर उसका नियमन करता है, वह निरुपाधिक भोग्य परमात्मा तुम्हारा अन्तर्यामी है-**य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तारो यमात्मा न वेद यस्य आत्मा शरीरम्, य आत्मानमन्तरो यमयति, एष त आत्मा अन्तर्याम्यमृतः।**(बृ.उ.मा.पा.3.7.26) यह श्रुति शुद्ध(प्रकृति के संसर्ग से विनिर्मुक्त) आत्मा के अन्तर्यामी परमात्मा का वर्णन करती है। हे अर्जुन! ईश्वर सभी प्राणियों के हृदय स्थान में निवास करता है-**ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।**(गी.18.61) इत्यादि वचन सभी के अन्दर प्रवेश करके नियमन करने वाले अन्तर्यामी ईश्वर का प्रतिपादन करते हैं।

उक्त रीति से चेतनाचेतन पदार्थों में स्थित परमात्मा अन्तर्यामी हैं। पुण्य के कारण स्वर्ग तथा पाप के कारण नरक में प्रवेश करने और निकलने की अवस्था में, उभय के कारण गर्भवास आदि की अवस्था में और मुक्तावस्था में भी सभी आत्माओं के सहायक होकर और कभी भी परित्याग न करके उनमें (आत्माओं में) अन्तरात्मारूप से स्थित रहने वाले अन्तर्यामी हैं।

(ख) ध्यानकाल में चेतन आत्माओं के ध्येय बनने के लिए और ध्यान में रुचि उत्पन्न करके रक्षा करने के लिए सुहृद होकर हृदयकमल में विराजमान शुभाश्रयभूत, दिव्यमंगलविग्रह से विशिष्ट परमात्मा अन्तर्यामी कहे जाते हैं। **द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया।**(मु.उ.3.1.1., श्वे.उ.4.6) इस

प्रकार परमात्मा सखा अर्थात् सुहृद् कहे जाते हैं। अङ्गुष्ठमात्र परिमाण वाले तथा धूमरहित अग्नि के समान प्रकाशमान विग्रह से विशिष्ट अन्तर्यामी उपासक के हृदय कमल में रहता है-**अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः**।(क.उ.2.3.17, श्वे.उ.3.13)। **अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति**।(क.उ.2.1.12), **अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः**।(क.उ.2.1.13)।

सर्वात्मा सभी के अन्दर रहकर शासन करता है-**अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा**।(तै.आ.3.11.3) यह श्रुति तथा बृहदारण्यक के अन्तर्यामि-ब्राह्मण की उक्त श्रुतियाँ आत्मा में नियन्ता अन्तर्यामी की स्थिति का वर्णन करती हैं। ध्यानकाल में अंगुष्ठ परिमिति विग्रह वाले उसी परब्रह्म का हृदय स्थान में साक्षात्कार होता है। अणु जीवात्मा में परब्रह्म की स्थिति श्रुति से सिद्ध होने पर भी उनके श्रीविग्रह का हृदय में साक्षात्कार होता है इसलिए एक ही अन्तर्यामी की दो प्रकार से स्थिति का वर्णन किया जाता है। ब्रह्मसूत्र के **तदभावाधिकरण**(ब्र.सू.3.2.2) में निर्णय किया गया है कि जिस प्रकार कोई भवन में चारपाई पर विद्यमान बिस्तर में सोता है, उसी प्रकार जीवात्मा नाड़ियों में पुरीतत् में विद्यमान ब्रह्म में सोता है। सुषुप्ति में जीवात्मा का साक्षात् अधिकरण ब्रह्म कहा गया है। **अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः**।(तै.ना.उ.94) इस श्रुति में 'बहिश्च' अंश से परमात्मा की बहिर्व्याप्ति सुनी जाती है। इस प्रकार परमात्मा बाहर से भी व्याप्त करके आधार बनता है। जीवात्मा में ब्रह्म विद्यमान होने से अन्तर्यामीरूप से ब्रह्म की अन्तर्व्याप्ति भी सिद्ध है। इसी अन्तर्यामी ब्रह्म का विग्रहविशिष्टरूप से योगियों के द्वारा हृदय में साक्षात्कार किया जाता है।

उपासकों का उपास्य बनने के लिए हृदय कमल के मध्य में विराजमान भगवान् का अंगुष्ठ के समान परिमाण वाला सूक्ष्म विग्रह वेदों में इस प्रकार वर्णित है-हृदयकमल के मध्य में विद्यमान आकाश में एक भास्वर अग्निज्वाला है, जिसके मध्य में नीलमेघ की कान्ति के समान कान्तिमान् विग्रह से युक्त भगवान् विराजमान हैं, ऐसे परमात्मा को मध्य में धारण करने वाली वह अग्निज्वाला उस विद्युत् के समान चमकती है, जिसके अन्दर नील मेघ विराजमान हो-**नीलतोयदमध्यस्था विद्युल्लेखेव भास्वरा**'।(तै.ना.उ.100) यह अभूतोपमा है क्योंकि मेघ में विद्युत् का रहना प्रसिद्ध है

किन्तु विद्युत् में मेघ का रहना सम्भव नहीं। यदि मेघ को अपने अन्दर लिए हुए कोई विद्युत् हो तो वह इस वह्निशिखा(नील मेघ की कान्ति के समान विग्रह वाले परमात्मा को अन्दर धारण करने वाली अग्नि की ज्वाला)का उपमान हो सकती है। इस भावको लेकर यहाँ उपमान कहा गया है। इस वेदवाक्य में 'नीलतोयद' शब्द से नीलमेघश्याम भगवद्-विग्रह का वर्णन किया गया है।

श्रीविग्रह की शक्तियाँ

श्रीभगवान् के दिव्यमंगलविग्रह में व्यापक होकर रहने की अचिन्त्य, अपरिमेय शक्ति विद्यमान है, इसी से श्रीकृष्ण के द्वारा अर्जुन को अपने विराट शरीर का दर्शन कराना, उस शरीर के एक भाग में सम्पूर्ण जगत् को दिखाना तथा वामन भगवान् के द्वारा चरणों से त्रिलोकी को मापना आदि कार्य सम्भव होते हैं।

भगवद्विग्रह में व्यापकत्व शक्ति के समान संकोच और कारणत्व शक्तियाँ भी हैं। भगवान् संकोच शक्ति के कारण माता कौशल्या और देवकी को वात्सल्य सुख प्रदान करनेके लिए विशालरूप से बालरूप होकर उनकी अंक में आ जाते हैं और व्यापकत्व शक्ति के कारण सर्वव्यापक शरीर तथा अन्य बड़े शरीर धारण करते हैं। कारणत्व शक्ति के कारण त्रिपादविभूतिस्थ पर विग्रह से अवतारविग्रह होते हैं। मुक्तों के शरीर में भी संकोच, विकास और कारणत्व शक्तियाँ होती हैं।

शंका-भगवद्विग्रह में हस्तपाद आदि अवयव होते हैं। मस्तक और नासिका उभरे हुए होते हैं, चक्षु और कपोल वैसे नहीं होते तथा अंगुलियों के मध्य में अवकाश होता है अत: श्रीविग्रह की व्यापकता कैसे सम्भव है?

समाधान-शुद्धसत्त्व द्रव्य के स्थूल अंश से भगवद्विग्रह के अवयव होते हैं और जहाँ अवकाश दिखाई देता है, उन स्थानों पर भी श्रीविग्रह अपने सूक्ष्म अंश से रहता है, इस प्रकार भगवद्विग्रह की व्यापकता सम्भव होती है।

शंका-जगत् के अन्दर वटपत्रशायी बाल कृष्ण एवं बाल राम हैं तथा उनक

1.नीलतोयदमध्यस्था=स्वान्तर्निहितनीलतोयदाभपरमात्मविग्रहा, विद्युल्लेखेव=स्वान्तर्निहितनीलतोयदा विद्युद् इव, भास्वरा= दहरपुण्डरीकमध्यस्थाकाशवर्तिनी वह्निशिखा।

भीतर सम्पूर्ण जगत् है। जिसका दर्शन उन्होंने मार्कण्डेय एवं काकभुशुण्डी को कराया किन्तु यह सम्भव नहीं क्योंकि जो वस्तु जिससे बाहर होती है, वह उसके भीतर नहीं होती अतः यह मानना चाहिए कि अचिन्त्य शक्ति वाले मायापति भगवान् अपनी अनिर्वचनीय शक्ति से जो नहीं है, वैसा दृश्य दिखा देते हैं अतः शास्त्रों मे वर्णित उक्त विग्रहविषयक कथानकों की सत्यता नहीं है।

समाधान-भगवद्विग्रह जब अपनी संकोच शक्ति के कारण बालरूप हो जाता है, तब जगत् के अन्दर उसके दर्शन होते हैं और जब वही विग्रह विकास(व्यापकत्व) शक्ति के कारण विराट हो जाता है, तब उसके अन्दर ही समग्र जगत् के दर्शन होते हैं। दोनों विग्रह भिन्न होने पर भी शीघ्रता के कारण उनकी एकता की प्रतीति होती है। भगवान् के सत्यसंकल्प से जगत् के एक देश में भगवद्विग्रह का दर्शन एवं भगवद्विग्रह के अन्दर समग्र जगत् का दर्शन ये दोनों घटनायें सत्य ही हैं। इस प्रकार उक्त विग्रहविषयक कथानक सत्य ही सिद्ध होते हैं, वे कल्पित नहीं हैं। बाल राम ने माता कौशल्या को अपने मुख में ब्रह्माण्ड का दर्शन कराया। इसी प्रकार बाल कृष्ण ने भी माता यशोदा को अपने मुख में ब्रह्माण्डदर्शन कराया। ये घटनायें भी पूर्वोक्त प्रकार से सत्य ही हैं। यद्यपि इस संदर्भ में पूर्वोक्त समाधान पर्याप्त है तथापि अन्य समाधान भी प्रस्तुत किये जाते हैं-

1.भगवान् के संकल्प से जगत् संकुचित होकर उनके मुख में स्थित हो गया, उनकी इच्छा से कौसल्या आदि ने विशाल रूप में ही देखा।

2.भगवान् ने अपने संकल्प से बाह्य जगत् के कारण सूक्ष्म जगत को अपने अन्दर बाह्य जगत् के समान दिखाया।

3.भगवान् ने अपने संकल्प से बाह्य जगत्के सदृश सूक्ष्म जगत् की अपने अन्दर रचना करके उसे बाह्य जगत् के समान दिखाया।

4.लोकोत्तर विलक्षण भगवद्विग्रह दर्पण के समान निर्मल है। दर्पण जैसे पदार्थों का अभिव्यञ्जक होता है, वैसे ही अत्यन्त निर्मल तथा प्रकाशमान् भगवद्विग्रह भी जगत् का अभिव्यञ्जक है। जैसे दूरस्थ वस्तुएँ भी अपनी प्रतीति के समय दर्पण में स्थित हुई प्रतीत होती हैं, वैसे ही सम्पूर्ण जगत् भगवद्विग्रहमें स्थित हुआ प्रतीत होता है। यद्यपि दर्पण बिम्ब पदार्थ का

आधार नहीं हो सकता तथापि भगवद्विग्रह सबका आधार हो सकता है। भगवान् का विग्रह दिव्य होने के कारण उसमें किसी भी पदार्थ के रहने में अवरोध न होने से सम्पूर्ण जगत् उसमें विद्यमान हो सकता है।

अर्चावतारोऽपि च देशकालप्रकर्षहीनः श्रितसम्मतश्च।
सहिष्णुरप्राकृतदेहयुक्तः पूर्णोऽर्चकाधीनसमात्मकृत्यः॥118॥

अन्वय

देशकालप्रकर्षहीनः श्रितसम्मतः पूर्णः अपि सहिष्णुः च अर्चकाधीन-समात्मकृत्यः च अप्राकृतदेहयुक्तः अर्चावतारः।

अर्थ

देशकालप्रकर्षहीनः-देश और काल की दूरी से रहित **श्रितसम्मतः**-आश्रितभक्त का अभिमत सुवर्ण, रजत और शिला आदि की मूर्तियों को अपने शरीररूप से स्वीकार करके **पूर्णः**-परिपूर्ण होने पर **अपि**-भी **सहिष्णुः**-सर्वसहिष्णु होकर **च**-और **अर्चकाधीनसमात्मकृत्यः**-अर्चक के अधीन स्नान, भोजन, जागरण और शयन आदि क्रियाओं वाले **च**-तथा (घर और मन्दिर आदि में विराजमान) **अप्राकृतदेहयुक्तः**-अप्राकृत मूर्तिरूप देहधारी भगवान् **अर्चावतारः**-अर्चावतार कहे जाते हैं।

भाष्य

अर्चावतार-प्रतिमा को अर्चा कहा जाता है और प्रतिमावतार को अर्चावतार। अयोध्या में श्रीरामलला, श्रीकनकभवनबिहारी, श्रीधनुर्धारी, श्रीजानकीरमण और श्रीसनातन भगवान् आदि, ओरछा में श्रीरामराजा, वृन्दावन में श्रीराधा वल्लभ, श्रीराधारमण, श्रीबिहारीजी आदि, यादवाद्रि में श्रीसम्पतकुमार भगवान्, बदरीवन में श्रीबदरीनारायण, मुक्तिक्षेत्र में श्रीमुक्तिनारायण और श्रीशालग्राम, पुरी में भगवान् जगन्नाथ, द्वारका में श्रीद्वारकाधीश, पण्ढरपुर में श्रीविठ्ठल आदि अर्चावतार हैं। तिरुपति में श्रीवेंकटेश भगवान्, काञ्ची में श्रीवरदराज भगवान्, श्रीरंगम् में श्रीरंगनाथ आदि अर्चावतार हैं।

सर्वसुलभ

अखिलब्रह्माण्डनायक परब्रह्म श्रीरामचन्द्र के श्रीदशरथनन्दनरूप से अवतार के लिए अयोध्या देश, त्रेतायुग और दशरथ-कौशल्या आदि अधिकारी व्यक्ति अपेक्षित होते हैं, वे ग्यारह हजार वर्ष तक प्रकट होकर विद्यमान

रहते हैं। श्रीकृष्णावतार के लिए मथुरादेश, द्वापर युग और वसुदेव-देवकी आदि अधिकारी व्यक्ति अपेक्षित रहते हैं। वे 125 वर्ष तक प्रकट होकर विद्यमान रहते हैं। सभी साधकों के लिए अयोध्या और मथुरा निकट नहीं हैं, किसी किसी से तो बहुत दूर हैं। इसी प्रकार त्रेता और द्वापर भी निकट आने वाले नहीं हैं, वे अभी बहुत दूर हैं किन्तु भगवान् के अर्चावतार में देश, काल और अधिकारी विशेष का नियम नहीं होता क्योंकि वे सर्वसुलभ होने के लिए अत्यन्त दया के वशीभूत होकर आश्रित भक्त की रुचि के अनुसार सर्व देश और सर्व काल में विद्यमान होकर उनकी आराधना को स्वीकार कर अभीष्टफल देते हैं। वे देवालय और घर में भक्त का अभिमत सुवर्ण, रजत, पाषाण और काष्ठ आदि की प्रतिमाओं को अपने शरीररूप से स्वीकार करके उसमें रहते हैं। उनके जागरण, स्नान, भोजन और शयनादि सभी कार्य अर्चक के अधीन रहते हैं, वे सर्वसामर्थ्य से पूर्ण होने पर भी अत्यन्त सहिष्णु हैं इसलिए किसी के भी द्वारा किए गए अपराधों को नहीं देखते।

प्रतिमा की श्रद्धा-भक्तिपूर्वक प्रतिष्ठा के समय वैदिक विधि से आवाहन करने पर दिव्यमंगलविग्रहधारी भगवान् अप्राकृत लोक से आकर उसमें विराजमान हो जाते हैं इसलिए प्रतिमा भी उनका दिव्य शरीर हो जाती है। प्राकृत प्रतिमा और अप्राकृत पदार्थ(दिव्य मंगलविग्रह) का संसर्ग होने में कोई बाधा नहीं है क्योंकि अवतारों के अप्राकृत शरीर प्राकृतलोक में आते हैं और भगवद्धाम जाने वाले मुक्तों के प्राकृत सूक्ष्मशरीर अप्राकृत लोक की शुद्धसत्त्वमयी विरजा के तीर तक जाते हैं। प्रकृतिमण्डल में भी दिव्यमंगलविग्रहधारी भगवान् के धाम हैं। सनकादिकों का जय-विजय को शाप तथा श्रीकृष्ण के द्वारा वैदिकपुत्र को लाना यहीं से हआ।

रुचिजनक

जो सांसारिक विषयों में आसक्त होने के कारण भगवद्विमुख हो गये हैं इसलिए जिन्हें शास्त्र के नियम भी विषय से विमुख नहीं कर पाते, अर्चावतार उन्हें अपनी सुन्दरता और उदारता आदि गुणों से विषयविमुख कराके आत्मसात् करने के लिए अपने प्रति रुचि(प्रीति) को उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार रुचि को उत्पन्न करने वाले अर्चावतार भगवान् रुचिजनक कहलाते हैं।

शुभाश्रय

रुचि उत्पन्न करने के पश्चात् अर्चावतार भक्त के भोग्य(अनुभाव्य) होने के अनुकूल शुभाश्रय होते हैं। शुभाश्रय वस्तु ही निरतिशय भोग्य होती है। निरतिशय भोग्य होने के लिए चित्त का आलम्बन बनने वाले अर्चावतार शुभाश्रय कहलाते हैं।

सर्वलोकरक्षक

अर्चावतार सम्पूर्ण लोकों के रक्षक हैं, वे किसी भी प्रकार के दोषों का विचार न करके कष्टों से सबकी रक्षा करते हैं।

पराधीन और फलप्रद

परमात्मा सभी प्राणियों के सभी प्रकार के ज्ञान का कारण है तथा इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव का स्वामी है-**स कारणं करणाधिपाधिपः।** (श्वे.उ.6.9)। परमात्मा प्रकृति और पुरुष का स्वामी है-**प्रधानक्षेत्रज्ञपतिः।** (श्वे.उ.6.16) इत्यादि वचनों से भगवान् स्वामी और अर्चक स्व(भगवान् के अधीन) सिद्ध होते हैं किन्तु अर्चावतार में स्वस्वामिभाव की विपरीतता के कारण अर्थात् भगवान् स्व और अर्चक स्वामी हो जाते हैं। जो सबको स्वरूपतः जानता है और प्रकारतः जानता है-**यः सर्वज्ञः सर्ववित्**।(मु.उ.1. 1.10)। ईश्वर की स्वाभाविक पराशक्ति, सर्वविषयक ज्ञान, सभी को धारण करने का सामर्थ्य और नियमन करने का सामर्थ्य विविध प्रकार का सुना जाता है-**परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च**।(श्वे.उ.6.8)। ईश्वर का कोई जनक नहीं और कोई स्वामी भी नहीं-**न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः**।(श्वे.उ.6.9) इत्यादि श्रुतियाँ भगवान् को सर्वज्ञ, सर्वसमर्थ और स्वतन्त्र बताती हैं किन्तु स्वस्वामिभाव की विपरीतता के कारण वे सब कुछ जानते हुए भी न जानने वाले के समान, सर्वसमर्थ होने पर भी असमर्थ के समान, अवाप्तसमस्तकाम होते हुए भी अपेक्षा करने वाले के समान, रक्षक होते हुए भी रक्ष्य के समान, परिपूर्ण होने पर भी सहिष्णु के समान और सभी के स्वतन्त्र स्वामी होते हुए भी परतन्त्र के समान अपने को प्रदर्शित करते हैं। अर्चक जब जिस परिस्थिति में भगवान् को रखना चाहता है, तब वे उसी परिस्थिति में रहने को तैयार हो जाते हैं। अर्चक जब स्नान कराता है तब वे स्नान करते हैं, जब जल पिलाता है, तब जल पीते हैं, जब भोजन देता है, तब भोजन करते हैं, जब

शयन कराता है तब शयन करते हैं और जब जगाता है, तब जग जाते हैं। इतनी पराधीनता होने पर भी अर्चावतार भगवान् करुणारहित नहीं होते, वे अपार करुणा के वशीभूत होकर अपने आश्रित भक्तों की आराधना को स्वीकार कर सभी मनोवाञ्छित फल प्रदान करते रहते हैं।

स्वयंव्यक्तश्च दैवश्च सैद्धो मानुष एव च।
देशादौ हि[1] प्रशस्ते स वर्तमानश्चतुर्विधः॥119॥

अन्वय

सः देशादौ प्रशस्ते हि वर्तमानः। स्वयंव्यक्तः च दैवः च सैद्धः च मानुषः चतुर्विधः एव।

अर्थ

सः-अर्चावतार **देशादौ**-पर्णकुटी, घर तथा देवालय आदि **प्रशस्ते**-पवित्र स्थान में **वर्तमानः**-विद्यमान होता है। वह **स्वयंव्यक्तः**-स्वयंव्यक्त **दैवः**-दैव **च**-और **सैद्धः**-सैद्ध **च**-तथा **मानुषः**-मानुष (इन) **चतुर्विधः**-चार भेदों वाला **एव**-ही होता है

भाष्य

अपार करुणासागर अर्चावतार भगवान् भक्त के अभीष्ट स्थानों में ही रहना चाहते हैं, उसकी रुचि को छोड़कर उन्हें साकेत भी अच्छा नहीं लगता। वे अर्चक के अभीष्ट पर्णकुटी, भवन और मन्दिरादि स्थानों में रहते हैं, उनके रहने से सभी स्थान पावन हो जाते हैं। चतुर्विध अर्चावतार निम्न हैं-

1.स्वयंव्यक्त

स्वयं प्रकट हुए अर्चावतार स्वयंव्यक्त कहलाते हैं।

2.दैव

देवताओं के द्वारा प्रतिष्ठापित अर्चावतार को दैव कहते हैं।

3.सैद्ध

सिद्धों के द्वारा प्रतिष्ठापित अर्चावतार को सैद्ध कहा जाता है, इसी को आर्ष(ऋषियों के द्वारा प्रतिष्ठापित) भी कहते हैं क्योंकि ऋषि भी सिद्धकोटि

1.अत्र हिशब्दः पादपूर्तये।

के अन्तर्गत आते हैं।

4.मानुष

मनुष्यों के द्वारा प्रतिष्ठापित अर्चावतार को मानुष कहते हैं।

अर्चावतार का प्रतिपादन करके अब उसकी पूजापद्धति का प्रतिपादन किया जाता है-

आवाहनासनाभ्यां च पादार्घ्याचमनैस्तथा।
स्नानवस्त्रोपवीतैश्च गन्धपुष्पसुधूपकैः॥120॥

दीपनैवेद्यताम्बूलप्रदक्षिणविसर्जनैः।
षोडशाऽर्चाप्रकारैस्तमेतैरर्चेत्सदा सुधीः॥121॥

अन्वय

आवाहनासनाभ्यां पादार्घ्याचमनैः स्नानवस्त्रोपवीतैः च गन्धपुष्पसुधूपकैः च तथा दीपनैवेद्यताम्बूलप्रदक्षिणविसर्जनैः एतैः षोडशाऽर्चाप्रकारैः सुधीः तं सदा अर्चेत्।

अर्थ

आवाहनासनाभ्याम्-आवाहन और आसन से **पादार्घ्याचमनैः**-पाद्य, अर्घ्य और आचमन से **स्नानवस्त्रोपवीतैः**-स्नान, वस्त्र और यज्ञोपवीत से **च**-तथा **गन्धपुष्पसुधूपकैः**-गन्ध, पुष्प और उत्तम धूप से **च**-और **तथा**-उसी प्रकार **दीपनैवेद्यताम्बूलप्रदक्षिणविसर्जनैः**-दीप, नैवेद्य, ताम्बूल, प्रदक्षिणा और विसर्जन **एतैः**-इन **षोडशाऽर्चाप्रकारैः**-षोडश पूजा के प्रकारों से **सुधीः**-बुद्धिमान वैष्णव **तम्**-अर्चावतार भगवान् की **सदा**-सदा **अर्चेत्**-अर्चना करे।

भाष्य

प्रस्तुत श्लोक में अर्चना के आवाहन आदि सोलह प्रकार कहे गये हैं। अर्चक अपने अधिकार, योग्यता और रुचि के अनुसार वैदिक या पौराणिक मन्त्रों से भावपूर्वक अर्चावतार आराध्य प्रभु की अर्चना को सम्पन्न करे।

पूजा के उपरान्त अब दो श्लोकों से भक्ति की प्राप्ति के लिए प्रार्थना की जाती है-

जगत्पते श्रीश जगन्निवास[1] प्रभो जगत्कारण रामचन्द्र।
नमो नमः कारुणिकाय तुभ्यं पादाब्जयुग्मे तव भक्तिरस्तु॥122॥

अन्वय

जगत्पते! श्रीश! जगन्निवास! प्रभो! जगत्कारण! रामचन्द्र! तुभ्यं कारुणिकाय नमः नमः। तव पादाब्जयुग्मे भक्तिः अस्तु।

अर्थ

जगत्पते-हे जगत्पति! **श्रीश**-हे सीतापति! **जगन्निवास**-हे जगत् के आश्रय! **प्रभो**-हे प्रभो! **जगत्कारण**-हे जगत्कारण! **रामचन्द्र**-हे रामचन्द्र! **तुभ्यम्**-आप **कारुणिकाय**-परम कृपालु को (मेरा) **नमः**-नमस्कार है, **नमः**-नमस्कार है, **तव**-आपके **पादाब्जयुग्मे**-युगल चरण कमलों में (मेरी) **भक्तिः**-भक्ति **अस्तु**-हो।

भाष्य

भक्ति की प्रार्थना-भगवान् श्रीरामचन्द्र जगत् के पति अर्थात् शेषी हैं। चेतनाचेतनात्मक जगत् उनका शेष है। श्रीरामचन्द्र अपने असाधारण सौन्दर्य से सभी के हृदय(मन) का हरण करने में समर्थ हैं, इसलिए प्रभु कहलाते हैं-**नितान्तकान्ततया सर्वहृदयहरणे प्रभवतीति प्रभुः श्रीरामचन्द्रः**। वे फल देने में समर्थ होने से भी प्रभु कहलाते हैं-**फलप्रदाने प्रभवतीति प्रभुः**। निवास का आश्रय अर्थ होता है, वे जगत् के आश्रय हैं अतः जगन्निवास कहलाते हैं-**जगतां निवासः आश्रयः जगन्निवासः**। हे जगत्पति! हे सीतापति! हे जगन्निवास! हे प्रभो! हे जगत्कारण! हे श्रीरामचन्द्र! परम करुणाकर आपको पुनः पुनः नमस्कार है, आपके युगल चरणारविन्दों में मेरा प्रेम हो।

मनोमिलिन्दस्तव पादपङ्कजे रमार्चिते संरमतां भवे भवे।
यशः श्रुतौ ते मम कर्णयुग्मकं त्वद्भक्तसङ्गोऽस्तु सदा मम प्रभो॥123॥

अन्वय

प्रभो! मम मनोमिलिन्दः भवे भवे रमार्चिते तव पादपङ्कजे संरमताम्। मम कर्णयुग्मकं ते यशः श्रुतौ। त्वद्भक्तसङ्गः सदा अस्तु।

1.जगतां निवासः आश्रयः इति जगन्निवासः।

अर्थ

प्रभो-हे प्रभो! **मम**-मेरा **मनोमिलिन्दः**-मनरूपी भ्रमर **भवे भवे**-प्रत्येक जन्म में (सदा) **रमार्चिते**-श्रीसीता जी के द्वारा पूजित **तव**-आपके **पादपङ्कजे**-पादपद्मों पर **संरमताम्**-मंड़राता रहे। **मम**-मेरे **कर्णयुग्मकम्**-दोनों कान **ते**-आपका **यशः**-यश **श्रुतौ**-सुनने में लगे रहें (और) **त्वद्भक्तसङ्गः**-आपके भक्तों का संग (मुझे) **सदा**-सदा **अस्तु**-प्राप्त हो।

भाष्य

हे चित्तचोर रघुनन्दन! मेरा मनरूप भौंरा भगवती सीता के द्वारा सेवित आपके भवभयनाशक परम पावन पादारविन्दों पर सदा मंड़राता रहे। भ्रमर को कमल की सुवास बहुत प्रिय लगती है इसलिए वह बारम्बार उसी पर आता है। प्रभु के निखिललोकतारक पावन पादपद्म कमल के समान लाल, सुकोमल और स्निग्ध हैं। मेरा मनरूप भ्रमर अन्य आश्रयों को छोड़कर उनका निरन्तर चिन्तन करता रहे। मेरे युगल कर्ण सदा आपका पावन यशोगान सुनने में लगे रहें और आपके प्रिय भक्तों का संग भी मुझे सदा प्राप्त हो।

भक्त भक्ति ही चाहता है, वह न तो जन्म चाहता है और न ही मृत्यु, तो प्रस्तुत श्लोक में भवे भवे अर्थात् प्रत्येक जन्म में ऐसा क्यों कहा गया है? यहाँ 'भवे भवे' का अर्थ निरन्तर है अतः मेरा मनरूप भ्रमर सीताम्बा के द्वारा सुसेवित भगवान् के पावन पाद्पद्मों में निरन्तर मंड़राता रहे, यह श्लोक के पूर्वार्ध का अर्थ है। इसी प्रकार **अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहहुँ निरबान। जनम जनम रति राम पद यह बरदान न आन॥**(रा.च.मा.2.204) यहाँ भी 'जनम जनम' का निरन्तर अर्थ है। जन्म के विना भक्ति नहीं हो सकती अतः वह भक्ति के लिए जन्म चाहता है, ऐसा कहना व्यर्थ है क्योंकि जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधि से युक्त संसार तो भक्ति में व्यवधान ही उपस्थित करता है अतः बन्धन की आत्यन्तिक निवृत्ति के पश्चात् निरन्तर होने वाली जो निरतिशय प्रेमरूपा भक्ति है, वही मुक्ति है और उसी की प्राप्ति के लिए सभी जीवनकाल में भक्ति करते हैं। प्रकृतिमण्डल का ऐसा प्रभाव है कि एक बार महाभक्त प्रह्लाद भी भगवान् से युद्ध करने के लिए तैयार हो गये थे, यह वामनपुराण के 7 वें और 8 वें अध्याय में वर्णित है। मुक्तावस्था तो विशुद्ध भक्ति की ही अवस्था है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के उपक्रम में श्रीसुरसुरानन्द ने मुमुक्षु को ही लक्ष्य करके प्रश्न पूछे थे और उस मोक्षकामी को ही लक्ष्य करके उत्तर प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

प्रियतम प्रभु की प्रार्थना के पश्चात् अब उन्हें प्रणाम करने की प्रक्रिया प्रस्तुत की जाती है–

[1]उरःशिरोदृष्टिमनोवचःपदद्वयप्राजत्करयुग्मजानुना।
श्रद्धायुतस्तं प्रणमेन्महीतले दीर्घं कृती सत्कृतधीश्च दण्डवत्॥124॥

अन्वय

सत्कृतधीः च कृती श्रद्धायुतः उरःशिरोदृष्टिमनोवचःपदद्वयप्राजत्करयुग्मजानुना दण्डवत् महीतले तं दीर्घं प्रणमेत्।

अर्थ

सत्कृतधीः-उत्तम बुद्धि वाला **च**-और **कृती**-तृप्त भक्त **श्रद्धायुतः**-श्रद्धालु होकर **उरःशिरोदृष्टिमनोवचःपदद्वयप्राजत्करयुग्मजानुना**-वक्षस्थल, शिर, दृष्टि, मन, वाणी, दोनों पैर, आगे की ओर पड़े हुए दोनों हाथ और दोनों घुटनों से **दण्डवत्**-दण्ड के समान **महीतले**-पृथ्वी पर (लेटकर) **तम्**-श्रीरामचन्द्र को **दीर्घम्**-लम्बा **प्रणमेत्**-प्रणाम करे।

भाष्य

साष्टांग प्रणाम-उत्तम बुद्धि वाला भक्त तृप्त होता है। किससे? पूर्वप्रतिपादित पूजा और प्रार्थना से, उनके द्वारा उत्तरोत्तर तृप्ति को प्राप्त होने वाला मुमुक्षु श्रद्धा से अवनत होकर दण्ड के समान पृथ्वी पर लेटकर प्रियतम प्रभु श्रीराम को साष्टांग प्रणाम करे। 1.मन को भगवान् में लगाकर 2.दृष्टि(नेत्रों) को भगवान् में लगाकर 3.वाणी से स्तुति करते हुए अथवा प्रणामसूचक शब्द का उच्चारण करते हुए 4.वक्षस्थल 5.शिर 6.दोनों पैर 7.दोनों हाथ 8. दोनों घुटनें इन अंगों से दण्ड के समान पृथ्वी पर लेटकर प्रणाम करना साष्टांग प्रणाम कहलाता है।

प्रसार्य बाहू चरणौ च[1] साञ्जलिः स्तवैः स्तुवन्यश्च नमेद् रघूत्तमम्।

1.अस्य श्लोकस्य स्थाने उरःशिरोदृष्टिमनोवचःपदद्वयप्राजत्करयुग्मजानुभिः। अङ्गैः क्षितौ तं प्रणमेदथाष्टभिर्दीर्घं तथैतैः कृतधीश्च दण्डवत्॥ इति पाठान्तरम्।

शतैः क्रतूनां तु सुदुर्लभां गतिं स चाप्नुयाद् विष्णुपरायणो [2] जनः॥125।

अन्वय

यः विष्णुपरायणः जनः बाहू च चरणौ च प्रसार्य च साञ्जलिः स्तवैः रघूत्तमं स्तुवन् नमेत्, तु सः क्रतूनां शतैः सुदुर्लभां गतिम् आप्नुयात्।

अर्थ

यः-जो **विष्णुपरायणः**-वैष्णव **जनः**-भक्त **बाहू**-दोनों भुजाओं **च**-और **चरणौ**-दोनों पैरों को **प्रसार्य**-फैलाकर **च**-तथा **साञ्जलिः**-अञ्जलिबद्ध होकर **स्तवैः**-स्तोत्रों से **रघूत्तमम्**-श्रीरघुनाथ जी की **स्तुवन्**-स्तुति करता हुआ (उन्हें) **नमेत्**-प्रणाम करे, **तु**-तो **सः**-वह **क्रतूनाम्**-यज्ञों के **शतैः**-सौ समूहों से (भी प्राप्त न होने वाली) **सुदुर्लभाम्**-अति दुर्लभ **गतिम्**-गति को **आप्नुयात्**-प्राप्त करे।

भाष्य

प्रणाम की महिमा-प्रणाम करने के लिए हाथ जोड़ते समय उसके तल भाग संयुक्त हो जाते हैं किन्तु भुजाएं संयुक्त नहीं होतीं, वे फैली रहती हैं, उस समय पैरों को भी जोड़कर नहीं रखना चाहिए। यदि कोई श्रद्धालु बद्धाञ्जलि होकर स्तुति करता हुआ भगवान् श्रीरामचन्द्र को प्रणाम करता है तो वह सैकड़ों यज्ञों से भी प्राप्त न होने वाली दुर्लभ गति को प्राप्त करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि सैकड़ों यज्ञों के करने पर भी जो फल प्राप्त नहीं होता, वह फल श्रद्धापूर्वक स्तुति करते हुए प्रणाम करने से प्राप्त हो जाता है, यह उनके प्रणाम की महिमा है।

पूजा के अंग प्रणाम के निरूपण के अनन्तर अब वैष्णव के प्रकार का निरूपण किया जाता है-

अथोच्यते वैष्णवभेद ईप्सितो ज्ञातुं च ते विष्णुपरायणैर्जनैः।
सुवेदनीयो बहुधा प्रियोत्तम[1] सुनिश्चितो विज्ञवरैर्महर्षिभिः॥126॥

अन्वय

प्रियोत्तम! अथ विज्ञवरैः महर्षिभिः सुनिश्चितः च विष्णुपरायणैः जनैः

1.**प्रसार्य बाहू चरणौ च** इत्यस्य स्थाने **बाहू च पादौ च प्रसार्य** इति पाठान्तरम्। 2. **'विष्णुपरायणो'** इत्यस्य स्थाने **'रामपरायणो'** इति पाठान्तरम्।

ज्ञातुम् ईप्सितः ते सुवेदनीयः बहुधा वैष्णवभेदः उच्यते।

अर्थ

प्रियोत्तम-हे प्रियोत्तम सुरसुरानन्द! **अथ**-पूजा के वर्णन के पश्चात् **विज्ञवरैः**-श्रेष्ठ विद्वान् **महर्षिभिः**-महर्षियों के द्वारा **सुनिश्चितः**-सुनिश्चित **च**-और **विष्णुपरायणैः**-वैष्णव **जनैः**-जनों के द्वारा **ज्ञातुम्**-जानने के लिए **ईप्सितः**-इष्ट (तथा) **ते**-तुम्हारे लिए **सुवेदनीयः**-सरलता से जानने योग्य **बहुधा**-बहुत प्रकार वाला (जो) **वैष्णवभेदः**-जीवात्माओं का भेद (है, उसे) **उच्यते**-कहा जाता है।

भाष्य

ग्रन्थकार ने प्रस्तुत श्लोक में वैष्णवभेद वर्णन की प्रतिज्ञा कर आगे 128 वें श्लोक में जीवात्माओं का भेद कहा है, इससे स्पष्ट है कि यहाँ वैष्णव शब्द जीवात्मा का वाचक है, कैसे? 'विष्णोः अयम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार समस्त जीवात्माओं का सम्बन्ध भगवान् विष्णु से होने के कारण वे वैष्णव कहलाती हैं।

स्वामी रामानन्दाचार्य जी आत्मभेद का उपक्रम कर उसके लिए जो रहस्य परम कृपालु समदर्शी परमात्मा की शरणागति है, मानवमात्र को उसे ग्रहण करने का उपदेश देते हैं-

प्राप्तुं परां सिद्धिमकिञ्चनो जनो द्विजादिरिच्छञ्छरणं हरिं व्रजेत।
परं दयालुं स्वगुणानपेक्षितक्रियाकलापादिकजातिबन्धनम्॥127॥

अन्वय

अकिञ्चनः द्विजादिः जनः परां सिद्धिं प्राप्तुम् इच्छन् स्वगुणानपेक्षितक्रिया-कलापादिकजातिबन्धनं परं दयालुं हरिं शरणं व्रजेत।

अर्थ

अकिञ्चनः-कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग को करने में असमर्थ **द्विजादिः**-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी **जनः**-लोग (भगवत्प्राप्तिरूप) **पराम्**-परा **सिद्धिम्**-सिद्धि को **प्राप्तुम्**-प्राप्त करने की **इच्छन्**-इच्छा से **स्वगुणानपेक्षितक्रियाकलापादिकजातिबन्धनम्**-अपने दया, वात्सल्य और

1.अत्र 'महामते' इति पाठान्तरम्।

उदारता आदि गुणों के कारण शरणागत के क्रिया कलापादि तथा जाति-बन्धन की अपेक्षा न करने वाले **परम्**-परम **दयालुम्**-दयालु **हरिम्**-श्रीहरि की **शरणम्**-शरण में **व्रजेत**-जाए।

भाष्य

पूर्व में शरणागति के प्रसंग में इस विषय का विस्तृत विवेचन किया जा चुका है, जिज्ञासु पाठकों को वहीं देखना चाहिए।

[1]जीवो द्विधाऽमन्यत बद्धमुक्तभेदेन पूर्वैस्तु महर्षिवर्यैः।
बद्धोऽपि तत्र द्विविधो मुमुक्षुबुभुक्षुभेदाद् गदितो मतज्ञैः॥128।

अन्वय

तु[2] पूर्वैः महर्षिवर्यैः बद्धमुक्तभेदेन जीवः द्विधा अमन्यत। तत्र बद्धः अपि मतज्ञैः मुमुक्षुबुभुक्षुभेदाद् द्विविधः गदितः।

अर्थ

तु-किन्तु **पूर्वैः**-प्राचीन **महर्षिवर्यैः**-श्रेष्ठ महर्षियों ने **बद्धमुक्तभेदेन**-बद्ध और मुक्त भेद से **जीवः**-जीवात्म तत्त्व **द्विधा**-दो प्रकार का **अमन्यत**-माना। **तत्र**-उन दो के अन्तर्गत **बद्धः**-बद्ध को **अपि**-भी **मतज्ञैः**-सिद्धान्तवेत्ताओं ने **मुमुक्षुबुभुक्षुभेदाद्**-बुभुक्षु और मुमुक्षु भेद से **द्विविधः**-दो प्रकार का **गदितः**-कहा।

भाष्य

जीवविभाग

प्राचीन महर्षिवर्य बोधायन आदि के अनुसार जीव के दो भेद होते हैं-बद्ध और मुक्त।

बद्ध जीव भी दो प्रकार के होते हैं-शास्त्र के अवश्य और शास्त्र के वश्य।

शास्त्र के अवश्य

जो प्राणी शास्त्र की आज्ञा में रहने योग्य नहीं होते, वे शास्त्र के अवश्य

1.अस्य श्लोकस्य स्थाने **बद्धमुक्तप्रभेदेन चेतनोऽमन्यत द्विधा। बद्धो मुमुक्षुरित्येवं बुभुक्षुरिति च द्विधा॥** इति पाठान्तरम्। 2. अत्र तु शब्दः पूर्वापेक्षया वैलक्षण्यद्योतनाय।

कहे जाते हैं। तिर्यक्, स्थावर आदि प्राणी शास्त्र के अवश्य हैं। जो प्राणी शास्त्र की आज्ञा में रहने योग्य होते हैं, वे शास्त्र के वश्य कहे जाते हैं।

शास्त्र के वश्य

मनुष्य शास्त्र के द्वारा प्रतिपादित विधि-निषेध के वश में रह सकता है इसीलिए मनुष्य शास्त्र के वश्य कहे जाते हैं। शास्त्र के अनुसार आचरण करने के लिए ही मनुष्यशरीर प्राप्त होता है। ग्रन्थकार ने शास्त्रवश्य बद्ध जीव के दो भेद कहे हैं-बुभुक्षु और मुमुक्षु।

अब बद्धादि के लक्षण कहे जाते हैं-

अनादिकर्मोत्करजातनानादेहाभिमानी सुमतोऽथ बद्धः।
[1]स चाऽच्युताऽहेतुकृपाबलेनाविद्याक्रियावासरुचिप्रवृत्तेः॥129॥
विमोक्तुमिच्छुस्तु मुमुक्षुरुक्तः सम्बन्धतः प्राज्ञसुसंमतोऽयम्।
तथैव सांसारिकभोगमिच्छुर्बुभुक्षुरन्यः खलु कथ्यते ज्ञैः[2]॥130॥

अन्वय

अनादिकर्मोत्करजातनानादेहाभिमानी बद्धः सुमतः च सः अच्युताऽहेतुकृपा-बलेन अविद्याक्रियावासरुचिप्रवृत्तेः सम्बन्धतः विमोक्तुम् इच्छुः अयं प्राज्ञसुसंमतः ज्ञैः मुमुक्षुः उक्तः। अथ तु तथा एव सांसारिकभोगम् इच्छुः अन्यः बुभुक्षुः खलु कथ्यते।

अर्थ

अनादिकर्मोत्करजातनानादेहाभिमानी-अनादि कर्मों(कर्मसमूहों) के कारण प्राप्त विभिन्न शरीरों में अभिमान करने वाला जीव **बद्धः**-बद्ध **सुमतः**-कहा जाता है **च**-और **सः**-वह **अच्युताऽहेतुकृपाबलेन**-भगवान् की अहेतुकी कृपा के बल से **अविद्याक्रियावासरुचिप्रवृत्तेः**अविद्या, कर्मवासना(कर्म-संस्कार), रुचि और प्रवृत्ति के **सम्बन्धतः**-सम्बन्ध से **विमोक्तुम्**-मुक्त होने का **इच्छुः**-इच्छुक होने पर **अयम्**-यह **प्राज्ञसुसंमतः**[1]-उत्तम जीव **ज्ञैः**-विद्वानों के द्वारा **मुमुक्षुः**-मुमुक्षु **उक्तः**-कहा जाता है **अथ**-और **तु**-तो **तथा**-वैसे **एव**-ही **सांसारिकभोगम्**-सांसारिक भोगों को **इच्छुः**-चाहने

1.अत्र उत्तरार्धस्थाने **स चाच्युताहेतुकृपाकटाक्षादविद्याक्रियावासरुचिप्रवृत्तेः** इति पाठान्तरम्। **2.**खलु कथ्यते ज्ञैः इत्यस्य स्थाने कथितो बुधेन्द्रैः इति पाठान्तरम्।

वाला (मुमुक्षु से) **अन्यः**-भिन्न जीव **बुभुक्षुः**-बुभुक्षु **खलु**-ही **कथ्यते**-कहा जाता है।

भाष्य

बद्ध जीव-अनादि कर्मप्रवाह के कारण प्राप्त होने वाले विभिन्न शरीरों में अभिमान करने वाला जीवात्मा बद्ध कहलाता है-**अनादिकर्मोत्करजात-नानादेहाभिमानी सुमतोऽथ बद्धः।**

अनादि कर्म

कर्म उत्पादविनाशशाली है, स्वरूपतः अनादि नहीं तथापि उसका प्रवाह अनादि है। कर्म के कारण देह से सम्बन्ध और देह से सम्बन्ध के कारण पुनः कर्म। इस प्रकार कर्म का प्रवाह अनादिकाल से चला आ रहा है अतः जीवात्मा देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, लता और वृक्षादि विभिन्न योनियों में जाकर नाना प्रकार के शरीरों को प्राप्त करता है तथा उन देवमनुष्यादि शरीरों को ही आत्मा समझने लगता है। शरीर को आत्मा समझना ही अभिमान कहलाता है, इसका निरूपण आगे किया जायेगा। अभिमान के कारण ही आत्मा की मोक्षसाधन में प्रवृत्ति नहीं होती बल्कि सांसारिक कर्मों में प्रव्रृत्ति होती है। पुण्यपाप के जनक उन कर्मों से पुनः देह के साथ सम्बन्ध होता है। इस प्रकार कर्मों के अनुसार बद्ध जीवात्माओं को विविध योनियाँ प्राप्त होती रहती हैं।

कर्मानुसार शरीर की प्राप्ति

बृहदारण्यकोपनिषत् में कहा है कि सत्कर्म करने वाला अगले जन्म में सत्कर्म के साधन उत्तम शरीर से युक्त होता है और पाप कर्म करने वाला अगले जन्म में पाप के साधन निम्न शरीर से युक्त होता है-**साधुकारी साधुर्भवति, पापकारी पापो भवति।**(बृ.उ.4.4.5)। इस प्रकार कर्मानुसार बद्ध आत्माओं के विविध योनियों में जन्म की शृंखला चलती रहती है। मोक्षपर्यन्त कर्मजन्य सुखदुःख अवर्जनीय होते हैं। समानगुण वाले, साथ

1.प्राज्ञश्चासौ सुसंमतश्चेति प्राज्ञसुसंमतः, प्राज्ञः जीवः, सुसंमतः मान्य उत्तमः इत्यर्थः। यद् वा प्राज्ञः भगवान्, **प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तः न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्।**(बृ.उ.) इत्यत्र भगवति प्राज्ञशब्दप्रयोगात्, तेन प्राज्ञेन सुसंमतः मान्यः प्रियः भगवत्प्रिय इति निष्पन्नोऽर्थः।

रहने वाले पक्षी के समान आत्मा और परमात्मा वृक्ष के समान छेदन के योग्य एक शरीर में रहते हैं, उनमें आत्मा परिपक्व कर्मफल को भोगती है-**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति।**(ऋ.सं.2.3.17, मु.उ.3.1.1) इत्यादि वचनों से आत्मा की बद्धावस्था का वर्णन होता है। अनादि कर्मरूप अज्ञान के कारण बद्ध जीव का ज्ञान गुण संकोच-विकास वाला होता है। मुक्त जीव अज्ञान से रहित होता है इसलिए उसका ज्ञानगुण संकोच-विकासवाला नहीं होता, वह सदा व्यापक ही रहता है।

बन्धन का कारण

जीव के बन्धन का कारण अनादि पुण्यपापरूप कर्म हैं। ''विष्णुरूप शक्ति 'पर' कही जाती है, जीवात्मा नाम वाली शक्ति दूसरी कही जाती है तथा कर्म नामवाली अविद्या तीसरी शक्ति कही जाती है''-**विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथाऽपरा। अविद्या कर्मसंज्ञाऽन्या तृतीयाशक्ति-रिष्यते।**(वि.पु.6.7.61) इस प्रकार विष्णुपुराण में कर्म को ही अविद्या कहा है और ईशावास्योपनिषत् के **अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा**(ई.उ.11) इस मन्त्र में भी कर्म के लिए अविद्या शब्द प्रयुक्त है।

जगत्-वैचित्र्य का कारण

'किसी जीवात्मा का मनुष्यशरीर से सम्बन्ध होता है, किसी का पशु शरीर से। कोई जन्म से सुखी है, कोई जन्म से दुःखी' इत्यादि विचित्रता का कारण उनके कर्म ही हैं। निर्विशेषाद्वैतवादी विद्वानों के द्वारा स्वीकृत कर्म से भिन्न अविद्या और सांख्यवादियों के द्वारा स्वीकृत अविवेक बन्धन के कारण नहीं हो सकते क्योंकि ये सबके प्रति समान होने से जगत्-वैचित्र्य की संगति नहीं लगती। जगत्-वैचित्र्य का हेतु कर्म ही सभी के मत में मान्य है। शास्त्रों में बन्धन के कारण के प्रसंग में इसे ही अविद्या कहा जाता है।

ज्ञान से बन्धन के कारण का नाश

शास्त्रों में ज्ञान से बन्धन के हेतु अविद्या की निवृत्ति कही गयी है। कर्म को बन्धन का हेतु मानने पर ज्ञान से उसकी निवृत्ति ही नहीं होगी, ऐसी शंका करना उचित नहीं क्योंकि मोक्ष का हेतु ज्ञान भी मानस कर्म है।

स्मृतिसंतानरूप उपासनात्मक ज्ञान पुरुष के प्रयत्नद्वारा साध्य होने से कर्म है-**उपासनस्य कर्मत्वं स्मृतिसंततिरूपतया तस्य प्रयत्नसाध्यत्वात्।**(श्रु.प्र. 1.1.1) अतः ज्ञान से कर्मनामक अविद्या की निवृत्ति होती है। यह अविद्या अनादिकाल से संचित अनन्त पुण्यपापात्मक कर्मराशिरूप है। निर्विशेषाद्वैतमत के अनुसार मुक्त के जीवनकाल में अविद्या न रहने पर भी प्रारब्ध कर्म से शरीर रहता है क्योंकि ज्ञान अज्ञान का ही निवर्तक है, कर्म का निवर्तक नहीं तथा अविद्या रहने पर भी प्रारब्ध कर्म के न रहने से शरीर नहीं रहता। यदि बन्धन का कारण अज्ञान माना जाए तो ज्ञान होते ही देहपात होना चाहिए किन्तु ऐसा नहीं होता, इससे सिद्ध होता है कि बन्धन का कारण अज्ञान नहीं है। यदि निर्विशेषाद्वैतवादी कहें कि ज्ञान से अज्ञान निवृत्त होने पर भी प्रारब्ध कर्म के शेष रहने से ज्ञान होते ही देहपात नहीं होता तो यह कथन उचित नहीं क्योंकि वह देह का उपादान अविद्या को मानता है और उपादान का नाश होने पर कार्य रहता ही नहीं, तथापि वैसा मानने पर भी बन्धन का कारण कर्म ही सिद्ध होता है। उनके मत में ज्ञान से कार्यसहित अज्ञान का नाश होता है। देह भी अज्ञान का कार्य है। ज्ञान से बन्धन के कारण अज्ञान का नाश होने पर भी देह का नाश नहीं होता। निर्विशेषाद्वैतवादी भी देह की स्थिति प्रारब्ध कर्म के अधीन मानते हैं। इस प्रकार बन्धन का कारण कर्म सिद्ध होने से निर्विशेषाद्वैती की मान्यता के अनुसार वह ज्ञान से निवृत्त भी नहीं होगा क्योंकि ज्ञान अज्ञान का ही निवर्तक है, कर्म का निवर्तक नहीं अतः वादी के मत में ज्ञानप्राप्ति के लिए किया गया वेदान्तश्रवणादि सभी व्यर्थ होगा। जब सबसे बड़े ब्रह्मास्त्र ज्ञान से ही प्रारब्ध कर्म की निवृत्ति नहीं हुई, तो उसका निवर्तक कोई भी नहीं हो सकता। सम्पूर्ण कर्म की निवृत्ति न होने से देहपात के पश्चात् नूतन देह भी प्राप्त होगा। इस प्रकार कर्म से अतिरिक्त अज्ञान को बन्धन का कारण मानने पर अनेक दोष प्राप्त होते हैं।

सृष्टिचक्र

परमात्मा के नाभिकमल से ब्रह्मा उत्पन्न हुए। ब्रह्मा से महादेव तथा सनकादि योगी, नारदादि देवर्षि, वसिष्ठादि ब्रह्मर्षि, पुलस्त्य, मरीचि, दक्ष और कश्यपादि नौ प्रजापति उत्पन्न हुए। इनसे दश दिक्पाल, चतुर्दश इन्द्र,

चतुर्दश मनु, असुर, पितर, सिद्ध गन्धर्व, किन्नर, किम्पुरुष, विद्याधर, वसु, रुद्र, आदित्य, अश्विनीकुमार, दानव, यक्ष, राक्षस, पिशाच, गुह्यकादि विविध प्रकार के देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, सरीसृप, पतंग तथा कीटादि भेद वाले तिर्यक् उत्पन्न हुए। वृक्ष, लता तथा तृणादि भेद वाले स्थावर पैदा हुए। इस प्रकार चतुर्दशभुवनात्मक ब्रह्माण्ड में रहने वाले ब्रह्मादि से लेकर तृणपर्यन्त जीव बद्ध कहे जाते हैं। इनमें से ब्रह्मा, इन्द्र आदि कुछ परमात्मा के द्वारा कार्यविशेष में नियुक्त आधिकारिक पुरुष होते हैं। वे ब्रह्मसाक्षात्कार से सम्पन्न होने पर भी प्रारब्ध के अनुसार अपने पदों पर रहते हुए भोग से प्रारब्ध का नाश करके मोक्ष को प्राप्त करते हैं। जो मुमुक्षु उपासक किसी कारणवशात् उपासना पूर्ण किये विना! ही इस लोक से चले जाते हैं, वे पुण्यकर्मवशात् चतुर्मुख के लोक को प्राप्त करते हैं और परमात्मसाक्षात्कार करके प्राकृत प्रलय में ब्रह्मा के साथ मुक्ति को प्राप्त करते हैं-**ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे, परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्।**(कू. पु.पू.12.273)।

मरणकाल

जीवात्मा अविनाशी है, उसकी मृत्यु का अर्थ है-पूर्व शरीर का त्याग। जब जीव का अन्तिम समय आता है, तब सबसे प्रथम आघात वाग् इन्द्रिय पर पड़ता है और वह बोलने में असमर्थ हो जाता है क्योंकि वाणी मन में स्थित हो जाती है। उस समय वह थोड़ा देख सकता है, सुन सकता है, फिर चक्षु आदि सभी इन्द्रियाँ भी मन में स्थित हो जाती हैं और अब देखना-सुनना सब बन्द हो जाता है। मन प्राण में स्थित हो जाता है और प्राण जीव में। पृथिवी आदि पञ्चभूतों के सूक्ष्म सारभाग ही पञ्च भूतसूक्ष्म कहे जाते हैं। जीव को प्राप्त होने वाले नूतन स्थूलशरीर के आरम्भक ये भूतसूक्ष्म ही होते हैं। मृत्युकाल में शरीर से इनका कर्षण होता है इसलिए उस समय बहुत पीड़ा होती है। ये पञ्च भूतसूक्ष्म जीव में स्थित हो जाते हैं। जीव परब्रह्म में स्थित हो जाता है। शरीर से उत्क्रमण करने वाला जीव मन के प्राण में मिलने से पूर्व आगे प्राप्त होने वाले शरीर का स्मरण करता है-**सविज्ञानो भवति।**(बृ.उ.4.4.2), वह स्मरण पूर्व कर्म के अधीन होता है, पुरुष के प्रयत्न से साध्य नहीं होता।

नूतन शरीर की प्राप्ति

अन्तिम स्मरण के अनुसार ही जीव अगला जन्म प्राप्त करता है। विद्या, कर्म और पूर्वसंस्कार उत्क्रमण करने वाले पुरुष का अनुसरण करते हैं-**तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्व प्रज्ञा च।**(बृ.उ.4.4.2)। विद्या(काम्य उपासना) और कर्म के अनुसार शरीर, इन्द्रिय और भोग्य विषय प्राप्त होते हैं। पूर्व वासना(विषयानुभवजन्य संस्कार) नूतन कर्म करने और फल भोगने में उपयोगी होती है। इसके विना जीव न तो कोई कर्म कर सकता है और न ही फल भोग सकता है।

मरणकाल में जीव वायु के वेग से बाहर फेंके जाने पर कर्मानुसार भिन्न-भिन्न नाड़ियों से बाहर निकलते हैं। इनमें जो पुण्यजनक याग, होम आदि सत्कर्मों के द्वारा देवाराधन में तत्पर रहते हैं, वे जीव धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष, दक्षिणायन, पितृलोक, आकाश और चन्द्रलोक इस क्रम से दक्षिणायन(पितृयान) मार्गद्वारा स्वर्गलोक पहुँचकर देवता बन जाते हैं। स्वर्गलोक में भोग के द्वारा पुण्य क्षीण होने पर जीवात्मा स्वर्ग से आकाश में आता है और आकाश से वायु में। वायु से मिलकर धूम में आता है और उससे मिलकर सजल मेघ में। सजल मेघ से मिलकर बरसने वाले मेघ में आ जाता है और उससे मिलकर वर्षा से पृथ्वी में आकर धान, जौ, गेहूँ आदि अन्न से मिल जाता है-**आकाशाद् वायुम्। वायुर्भूत्वा धूमो भवति। धूमो भूत्वाऽभ्रं भवति। अभ्रं भूत्वा मेघो भवति। मेघो भूत्वा प्रवर्षति। त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्ते।**(छां.उ.5.10.5-6)। स्वर्ग से आने वाली जीवात्माओं का ही यह क्रम है। इस विषय को छान्दोग्य(5.4.1-5.8.2)में प्रकारान्तर से भी कहा है। इसके अनुसार पुण्य कर्म करने वाला मनुष्य इस शरीर को त्यागकर श्रद्धा(जल) अर्थात् भूतसूक्ष्म के साथ जाता है। यहाँ भूतसूक्ष्म शब्द से सूक्ष्मशरीर को ग्रहण करना चाहिए। वह स्वर्गलोक में जाकर दिव्य देवदेह को प्राप्त करता है। पुण्य क्षीण होने पर मेघ में जाकर वर्षा में मिल जाता है, वहाँ से पृथ्वी पर आकर अन्न में मिल जाता है, पुरुष के द्वारा खाये जाने पर वीर्य में स्थित हो जाता है, उसका स्त्री के साथ संयोग होने पर गर्भ में जाकर नूतन शरीर प्राप्त करता है। पापकर्म से शरीर की प्राप्ति में यह क्रम नहीं रहता। जो जीव परलोक में कर्मफल को भोग कर इस लोक में आने वाले होते हैं,

जब वे भोग से शेष बचे परिपक्व पुण्य वाले होते हैं, तब वे पुण्य कर्म करने योग्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य देह को प्राप्त करते हैं और जो भोग से शेष बचे निकृष्ट कर्म वाले होते हैं, वे निकृष्ट कर्म करने योग्य कुत्ता, सूकर, और चण्डाल शरीर को प्राप्त करते हैं-**तद् य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्, ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा। अथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकर योनिं वा चण्डालयोनिं वा।।**(छां.उ.5.10.7)।

ब्रह्मवेत्ता उत्तरायण मार्ग से जाते हैं और पुण्य कर्म करने वाले दक्षिणायन से जाते हैं। दोनों मार्गों की प्राप्ति के लिए अपेक्षित ब्रह्मविद्या और कर्म से रहित मनुष्य दोनों में से किसी भी मार्ग से नहीं जाते, वे बार-बार संसार में चक्कर लगाने वाले होते हैं अर्थात् पुनः पुनः जन्म लेते हैं और मर जाते हैं-**अथैतयोः पथोर्न कतरेणचन, तानीमानि क्षुद्राण्यसकृद् आवर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्वेति।**(छां.उ.5.10.8), जैसे बैल शकट(गाड़ी) में रज्जुबन्धन से युक्त होता है, वैसे ही प्राण के साथ रहने वाली आत्मा शरीर में कर्मबन्धन से युक्त होती है-**यथा प्रयोग्य आचरणे युक्तः, एवमेवायमस्मिन् शरीरे प्राणो युक्तः।**(छां.उ.8.12.3)। प्रकृति के साथ अनादिकर्ममूलक सम्बन्ध होने से बद्धावस्था होती है। वृक्ष की तरह छेदन के योग्य एक शरीर में विद्यमान बद्ध जीव भोग्यभूता प्रकृति से मोहित होकर आध्यात्मिकादि त्रिविध दुःखों को भोगता रहता है-**समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।**(मु.उ.3.1.2)। ये त्रिविध दुःख देहात्मबुद्धि वाले प्राणियों को व्यथित करते रहते हैं। देह को आत्मा समझना ही देहात्मबुद्धि है।

अभिमान

देहात्मबुद्धि को ही अभिमान कहा जाता है। यहाँ देह शब्द इन्द्रियादि का उपलक्षण है अर्थात् देह, इन्द्रिय, मन, प्राण और बुद्धि(धर्मभूत ज्ञान) को आत्मा समझना अभिमान कहलाता है। देह के स्थूल और कृश होने से आत्मा को स्थूल और कृश समझना तथा उसकी उत्पत्ति और नाश से आत्मा की उत्पत्ति और नाश समझना अभिमान है, इसी प्रकार इन्द्रिय का काणत्व(कानापन) और बधिरत्व(बहरापन) होने से आत्मा को काण और

बधिर समझना अभिमान है, ऐसा ही आगे भी जानना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि जो आत्मा नहीं हैं, ऐसे देहादि को आत्मा समझना ही अभिमान है। आत्मा न स्त्री है, न पुरुष है और न ही नपुंसक। यह कर्मवशात् जिस-जिस शरीर को प्राप्त करती है, उस-उस शरीर से युक्त होकर रहती है-**नैव स्त्री, न पुमानेष, न चैवायं नपुंसकः। यत् यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते॥**(श्वे.उ.5.10)। स्त्रीत्व, पुंस्त्व और नपुंसकत्व शरीर में ही विद्यमान होते हैं, इसलिए शरीर ही स्त्री, पुरुष और नपुंसक होता है, आत्मा नहीं होती, फिर भी जीवात्मा 'मैं स्त्री हूँ, मैं पुरुष हूँ' इस प्रकार अपने को ही स्त्री और पुरुषादि मानने लगता है, यह भी उसका अभिमान है।

जाग्रत और स्वप्नावस्था में संसारी जीव का अभिमान बना रहता है, सुषुप्ति में नहीं रहता तथापि उसके संस्कार रहते ही हैं, वही जाग्रत आदि अवस्थाओं में अभिमान के जनक होते हैं। इस विषय को छान्दोग्य श्रुति इस प्रकार प्रस्तुत करती है कि जीव सुषुप्ति से पूर्व जाग्रत अवस्था में बाघ, शेर, भेड़िया, सुअर, कीट, पतंग, दंश अथवा मच्छर आदि जिस जिस शरीर में अभिमान करके स्थित होते हैं, वे सुषुप्ति के पश्चात् मैं बाघ हूँ इत्यादि रीति से उस उस शरीर में अभिमान(देहात्मबुद्धि) करके स्थित हो जाते हैं-**त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतंगो वा दंशो वा मशको वा यद् यद् भवन्ति तदाभवन्ति।**(छां.उ.6.10.2) इस प्रकार जीव पुनः अभिमान करने लगता है। बालक हो या वृद्ध, राजा हो या भिक्षुक, विद्वान हो या मूर्ख, इन सबकी सुषुप्ति अवस्था एक समान होती है। सुषुप्ति में जिसने महाराजत्व को छोड़ा था, वह जागने पर फिर अपने को महाराज मानने लगता है। जिसने दरिद्रता को छोड़ा था, वह पुनः दरिद्र मानने जगता है। ग्रन्थारम्भ में सप्तम श्लोक की व्याख्या में अभिमान का विस्तार से प्रतिपादन किया गया है।

बुभुक्षु

स्वामी श्रीरामानन्दाचार्य ने कहा है कि सांसारिक भोग का इच्छुक जीव बुभुक्षु कहलाता है-**सांसारिकभोगमिच्छुर्बुभुक्षुः।** धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ होते हैं। धर्म का निष्कामभाव से अनुष्ठान करने पर ही वह मोक्ष का साधन बनता है अन्यथा भोग का साधन होने से भोग ही

माना जाता है। अर्थ भी भोग का साधन होने से भोग कहा जाता है। काम पुरुषार्थ तो भोग ही है, इस प्रकार धर्मादि तीनों पुरुषार्थ भोग कहे जाते हैं और उन्हें चाहने वाला बुभुक्षु।

शास्त्रों को प्रमाण मानकर तदनुसार आचरण करने वाले बुभुक्षु के दो भेद होते हैं-**1.**अर्थकामपर **2.**धर्मपर।

अर्थकामपर

जो धन और भोग्य पदार्थों की ही अभिलाषा करते हैं, वे बुभुक्षु अर्थकामपर कहे जाते हैं। वे देह से भिन्न आत्मा को नहीं समझते।

धर्मपर

शास्त्र से प्रतिपादित कल्याण के साधन को धर्म कहते हैं-**चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः**।(मी.सू.1.1.2), जिस साधन से त्रिवर्ग और मोक्ष की प्राप्ति होती है, उसे धर्म कहते हैं-**यतो अभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः सः धर्मः**।(वै.सू.1.1.2), इस प्रकार यज्ञ, दान, तप तथा तीर्थयात्रादि कर्मों को धर्म कहा जाता है। इन्हें करने वाले बुभुक्षु मनुष्य धर्मपर कहे जाते हैं। ये देह से अतिरिक्त आत्मा तथा परलोक को जानने वाले होते हैं। इनके भी दो भेद होते हैं-1. देवतान्तरपर 2.भगवत्पर।

देवतान्तरपर

जो भगवान् की आराधना न करके केवल अग्नि, इन्द्र आदि देवताओं की ही आराधना में तत्पर रहते हैं, वे देवतान्तरपर कहे जाते हैं।

भगवत्पर

जो भगवान् की आराधना करने वाले होते हैं, वे भगवत्पर कहे जाते हैं। इनके दो भेद होते हैं-1.आर्त 2.अर्थार्थी।

आर्त

नष्ट हुए ऐश्वर्य की कामना करने वाले भगवत्पर जीव आर्त कहे जाते हैं।

अर्थार्थी

पूर्व से अप्राप्त ऐश्वर्य की भगवान् से ही कामना करने वाले भगवत्पर

जीव अर्थार्थी कहे जाते हैं।

जो बुभुक्षु शास्त्रीय विधि से जीवननिर्वाह करके सांसारिक भोग को चाहता है, मुमुक्षा होने पर उसका कल्याण हो सकता है किन्तु जो शास्त्रीय विधि का अतिक्रमण करके अन्याय से जीवननिर्वाह करते हुए उसे चाहता है, उस बुभुक्षु का कल्याण कभी नहीं होता।

अविद्यादि दोष

आत्मा में स्वरूपतः कोई भी दोष नहीं है किन्तु प्रकृति के संसर्ग से उसमें अविद्या और कर्मसंस्कार आदि दोषों का संसर्ग हो जाता है। अब इस विषय को एक दृष्टान्त से समझाया जाता है-जल स्वभाव से शीतल है, उसमें उष्णता नहीं है, दाहकत्व भी नहीं किन्तु जब अग्नि से संयुक्त पात्र में जल भरा होता है, तब जल उष्ण हो जाता है और दाहक हो जाता है। यहाँ अग्नि से संयुक्त पात्र निमित्त(उपाधि) है, उसके संसर्ग से जल में उष्णता और दाहकत्व का सम्बन्ध हो जाता है। जल की उष्णता आदि धर्म नैमित्तिक(औपाधिक) हैं, स्वाभाविक नहीं। वैसे ही स्वभाव से आत्मा में अविद्या, कर्मवासना और रुचि दोष नहीं हैं किन्तु अचित् देह निमित्त के होने पर आत्मा में अविद्या, कर्मवासना और रुचि हो जाती हैं तथा रुचि के अनुसार ही उसकी कर्म करने में प्रवृत्ति हो जाती है। आत्मा अनादिकाल से संसार में आध्यात्मिक आदि तापत्रय को भोगती आयी है। आत्मा का यह संसार अनादि है क्योंकि आत्मा अनादि काल से परमात्मा की सर्वतोभावेन आराधना न करके विविध प्रकार के शुभ-अशुभ कर्म करती रही है, उनके फल का भोग कराने के लिए भगवान् ने अचेतन प्रकृति के साथ संबन्ध कराया। देह, इन्द्रिय, मन और प्राण के रूप में परिणत अचेतन प्रकृतिरूप निमित्त के साथ आत्मा का सम्बन्ध होने से आत्मा में अविद्या आदि दोष हो गये। अज्ञान, विपरीत ज्ञान और अन्यथा ज्ञान इन तीनों को अविद्या कहा जाता है। अज्ञान का अर्थ है-ज्ञानाभाव अर्थात् अचेतन देह के साथ सम्बन्ध होने से आत्मज्ञान और परमात्मज्ञान नहीं होते अपितु विपरीत ज्ञान और अन्यथा ज्ञान होते हैं। देहात्मबुद्धि विपरीत ज्ञान है, ब्रह्मात्मक(ब्रह्म का शरीरभूत) अपने आत्मस्वरूप को स्वतन्त्र समझना अन्यथा ज्ञान है और जो वस्तु अपनी नहीं है, उसे अपना समझना भी

अन्यथा ज्ञान है। अविद्या के कारण ही जीवात्मा मोक्षसाधन का अनुष्ठान न करके भोग पदार्थों की प्राप्ति के लिए विविध कर्मों को करता रहता है। उन कर्मों से वासना(संस्कार) उत्पन्न होती है और कर्मवासना[1](कर्मसंस्कार) से विषयों में रुचि तथा पूर्व कर्म के सजातीय कर्म को करने में रुचि होती है और उससे कर्मों में प्रवृत्ति होने के कारण उनके फलभोग के लिए आगामी जन्म अर्थात् अचेतन देह के साथ सम्बन्ध हो जाता है, उससे पुनः अविद्या, कर्मवासना, रुचि और प्रवृत्ति होती हैं, फिर अचेतन के साथ सम्बन्ध होकर पुनः पुनः अविद्या आदि दोष होते रहते हैं। इस प्रकार अचित् प्रकृति के साथ सम्बन्ध, अविद्या, कर्मवासना, रुचि और प्रवृत्ति इनका प्रवाह चलता रहता है। यह अनादि है। जिस प्रकार गङ्गा आदि नदियों में एक प्रवाह के बाद दूसरा प्रवाह चलता रहता है, प्रवाह का विच्छेद नहीं होता, उसी प्रकार यहाँ भी अचित् के साथ सम्बन्ध, अविद्या, कर्मवासना, रुचि और प्रवृत्तियों का प्रवाह अविच्छिन्न रूप से अनादि काल से चला आ रहा है। यही जीवात्मा का बन्धन है और यह अनादिकाल से निरन्तर प्रवर्तमान है, इसमें निमग्न होकर सदा संतप्त रहने वाला जीव क्या अविद्यादि दोषरूप बन्धन को कभी अपने बल से छोड़ना चाहेगा? नहीं, तो कैसे छोड़ना चाहेगा? ऐसी जिज्ञासा होने पर ग्रन्थकार कहते हैं-**स चाऽच्युताऽहेतुकृपाबलेन।** अच्युत[2] की निर्हेतुक कृपाबल से ही अविद्यादि रूप बन्धन को छोड़ने की इच्छा होती है।

1.संस्कार दो प्रकार के होते हैं-ज्ञानसंस्कार और कर्मसंस्कार। ज्ञानसंस्कार विषय के अनुभव से जन्य होते हैं, ये विषय और विषयभोग की स्मृति के जनक होते हैं। कर्मसंस्कार कर्म करने से उत्पन्न होते हैं, ये कर्म में रुचि को उत्पन्न करते हैं। 2. परमात्मा का एक नाम अच्युत भी है। परमात्मा आश्रित जनों को संरक्षण देने के व्रत से च्युत नहीं होता इसलिए अच्युत कहलाता है-**आश्रितसंरक्षणव्रतान्न च्युत इत्यच्युतः।** परमात्मा आश्रित जनों से दूर नहीं होता इसलिए अच्युत कहलाता है-**आश्रितेभ्यः च्युतः अपगतः नेति अच्युतः।** आश्रित जनों का जिससे वियोग नहीं होता, वह परमात्मा अच्युत कहलाता है-**आश्रितानां च्युतिर्यस्मात् नास्ति सोऽच्युत ईरितः।।**(वि. स.नि.)। स्वरूपतः और धर्मतः विकार से च्युत न होने के कारण परमात्मा को अच्युत कहा जाता है-**स्वरूपस्वभावच्युतिशून्यत्वात् परमात्मा अच्युतः।** परमात्मा का अच्युत नाम होने से उनके उपासक वैष्णव अच्युत गोत्र के माने जाते हैं।

मुमुक्षु

कृपा के अथाह सागर भगवान् की अहेतुकी कृपा के बल से अविद्या, कर्मसंस्कार, रुचि और प्रवृत्ति के सम्बन्ध को छोड़ने की इच्छा करने वाला जीव मुमुक्षु कहलाता है-**स चाऽच्युताऽहेतुकृपाबलेनाविद्या क्रियावासरुचि-प्रवृत्तेः। विमोक्तुमिच्छुस्तु मुगुक्षुरुक्तः सम्बन्धतः प्राज्ञसुसंमतोऽयम्॥** अविद्यादि के सम्बन्ध को छोड़ने की इच्छा का अर्थ है-अविद्यादि को छोड़ने की इच्छा। यह पूर्व में कहा ही गया है कि अविद्यादि ही बन्धन हैं अतः बन्धन को छोड़ने की इच्छा करने वाला जीव मुमुक्षु कहलाता है, यह अर्थ निष्पन्न होता है।

बद्ध जीव अविद्या आदि दोषों के कारण शोक और मोह के मूल भोगों को ही बारम्बार भोगना चाहता है। कदाचित् करुणावरुणालय भगवान् के अहेतुक अनुग्रह से उक्त दोषात्मक बन्धन को छोड़ने की इच्छा होती है।

त्रिभुवनमोहिनी, अनादि माया से मोहित होने के कारण जीवात्मा ईश्वर-विमुख होकर कर्मानुसार कीटपतङ्गादि नाना योनियों में भटकते हुए गर्भ, जन्म, जरामरणादि अनेक दुःखों को भोगता रहता है, इसके ऊपर कदाचित् अकारण करुणा करने वाले प्रभु की कृपादृष्टि पड़ने पर देवदुर्लभ मनुष्य शरीर मिलता है और मुमुक्षा भी मिलती है अतः ऐसा दुर्लभ मानव जन्म

अच्युत गोत्र

अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम्(अ.सू.4.1.162) इस पाणिनीय सूत्र के अनुसार मूल पुरुष की तृतीय पीढ़ी से लेकर आगे के सभी अपत्य(सन्तानें) उसके (मूल पुरुष के) गोत्रापत्य होते हैं। भगवान् ही जगत् की सृष्टि करने वाले हैं, उनके साक्षात् पुत्र ब्रह्मा जी हैं और ब्रह्मा से सृष्टि का विस्तार हुआ। इस प्रकार ब्रह्मा के पुत्र परमात्मा की तृतीय पीढ़ी में होने से उन(परमात्मा) के गोत्रापत्य हैं और उनसे परवर्ती हम लोग भी गोत्रापत्य हैं। परमात्मा का नाम अच्युत है अतः सभी का अच्युत गोत्र स्वाभाविक है। **सर्वत्रास्खलितादेशः सप्तद्वीपैकदण्डधृक्। अन्यत्र ब्राह्मणकुलादन्यत्राच्युतगोत्रतः॥** (भाग.4.21.12) इस प्रकार श्रीमद्भागवत में भी सभी हरिभक्तों का अच्युत गोत्र कहा गया है। प्रजा भगवान् के द्वारा ही विभिन्न ऋषियों से उत्पन्न हुई है अतः ऋषियों के नाम पर भी गोत्र का प्रचलन हुआ। प्रजा के अन्य गोत्र होने पर भी उसके अच्युत गोत्रत्व की निवृत्ति नहीं होती। संन्यासाश्रम में दीक्षित होने पर पूर्व के कुलगोत्र से सम्बन्ध समाप्त हो जाता है, किन्तु उनका अच्युत भगवान् से सम्बन्ध समाप्त न होने से अच्युत गोत्र बना ही रहता है इसलिए चतुर्थ आश्रमी श्रीवैष्णवों का अच्युत गोत्र ही माना जाता है।

प्राप्त करके भी आहार, निद्रा, भय और मैथुन में ही अपनी सारी आयु बिताना अच्छा नहीं, इसलिए मोक्ष की इच्छा होने पर उसके साधन को जानने के लिए सद्गुरु की शरण में जाना चाहिए-**तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभि गच्छेत्**।(मु.उ.1.2.12)। वेदवेदान्त शास्त्र के पारंगत विद्वान्, ब्रह्मनिष्ठ (ब्रह्मदर्शी) गुरु का ही आश्रय लेना चाहिए। अपनी ख्याति, लाभ और सम्मानादि की अपेक्षा विना ज्ञान तथा तदनुरूप आचरण से सम्पन्न, मानवमात्र का कल्याण चाहने वाले, दयालु सदगुरु का उपदेश मुमुक्षु को तत्त्व का यथार्थ बोध सुगमता से करा सकता है।

मोक्ष

सभी बन्धनों से विनिर्मुक्त होकर सतत परमानन्दरूप परब्रह्म का अनुभव करना ही मोक्ष है। सर्वबन्धन से विनिर्मुक्त प्रत्यगात्मा आविर्भूत हुए अपहतपाप्मत्वादि गुणाष्टक से युक्त होकर सतत परिपूर्ण परमात्मा का अनुभव करती रहती है।

मुमुक्षु का लक्षण कहकर अब उसके भेद कहे जाते है-

मुमुक्षवोऽपि द्विविधा महर्षिभिः प्रोक्ता अकामाः स्मृतिभक्तिशालिनः[1]।
वेदोक्तवर्णाश्रमकर्मकारिणस्तूपासकादिप्रतिभेदभेदिताः[2]॥131॥

अन्वय

महर्षिभिः अकामाः स्मृतिभक्तिशालिनः मुमुक्षवः अपि द्विविधा प्रोक्ताः। वेदोक्तवर्णाश्रमकर्मकारिणः तु उपासकादिप्रतिभेदभेदिताः।

अर्थ

महर्षिभिः-महर्षियों के द्वारा **अकामाः**-प्रपन्न(और) **स्मृतिभक्तिशालिनः**-(ध्रुवास्मृतिरूपभक्तिनिष्ठ) भक्त (इस प्रकार) **मुमुक्षवः**-मुमुक्षु **अपि**-भी **द्विविधा**-दो प्रकार के **प्रोक्ताः**-कहे गये हैं। (भक्ति के अंगरूप से) **वेदोक्तवर्णाश्रमकर्मकारिणः**-वेदविहित वर्णाश्रम के कर्म को करने वाले

1.**स्मृतिभक्तिशालिनः** इत्यस्य स्थाने **स्मृतिभक्तिनिष्ठिताः** इति पाठान्तरः **स्मृतिभक्तिनिष्ठाः** इत्यपि पाठान्तरम्। स्मृतिभक्तौ निष्ठाः स्थितिः संजाताः येषां ते स्मृतिभक्तिनिष्ठिताः, तथैव भेदाः संजाताः येषां ते भेदिताः इति अग्रे ज्ञेयम्। 2.अत्र **वेदोक्तवर्णाश्रमकर्मकारिणस्तू-पासकादिप्रतिभेदभिन्नाः॥** इति पाठान्तरम्।

ध्रुवास्मृतिरूप भक्तिनिष्ठ **तु**-तो **उपासकादिप्रतिभेदभेदिताः**-उपासक आदि भेद से भिन्न(दो) प्रकार के होते हैं।

भाष्य

मुमुक्षु के भेद-महर्षि बोधायनादि पूर्वाचार्यों ने मुमुक्षुओं के दो भेद कहे हैं-1.अकाम अर्थात् प्रपन्न 2.स्मृतिभक्तिशाली अर्थात् ध्रुवास्मृतिरूप भक्ति को करने वाले भक्त।

अकाम(प्रपन्न)

जो मोक्षप्राप्ति के लिए कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग इन उपायों की कामना नहीं करता, वह अकाम अर्थात् प्रपन्न कहलाता है। 133 वें श्लोक में आचार्यचरण ने स्वयं अकाम के लिए प्रपन्न शब्द का प्रयोग किया है। पूर्व में 101 से 108 श्लोक में प्रपत्ति का प्रतिपादन किया गया, उसे स्वीकार करने वाला प्रपन्न कर्मयोगादि तीनों उपायों को करने में अपने को असमर्थ मानकर प्रपत्ति का अनुष्ठान करता है किन्तु वह अपने द्वारा की गयी प्रपत्ति को भी मोक्ष का उपाय नहीं मानता अपितु श्रीभगवान् को ही मोक्ष का उपाय मानता है। ध्रुवास्मृतिरूपभक्तिनिष्ठ तो भगवत्प्राप्ति में भक्ति को उपाय मानता है तथा कर्मयोग और ज्ञानयोग को भक्ति का उपाय मानता है।

स्मृतिभक्तिशाली(भक्त)

ग्रन्थकार ने **तैलधारासमसंस्मृतिप्रसंतानरूपेशि परानुरक्तिः**।(श्रीवै.भा. 66) इस प्रकार तेल की धारा के समान बीच में न टूटने वाली निरन्तर परमात्मविषयक प्रीतिरूप स्मृतियों के प्रवाह को भक्ति कहा था, उस ध्रुवास्मृतिरूप भक्ति को करने वाला स्मृतिरूपभक्तिनिष्ठ अर्थात् भक्त कहलाता है, वह उपनिषत् भागसहित वेद का अध्ययन करके पूर्वोत्तर मीमांसाओं के विचार से सम्पूर्ण चेतनाचेतनविलक्षण, अनवधिकातिशय-आनन्दरूप, निखिलहेयप्रत्यनीक, समस्त कल्याणगुणों का आश्रय ब्रह्म का निश्चय करता है और उसकी प्राप्तिरूप मोक्ष के साधनरूप से ईश्वरार्पणबुद्धि से किये जाने वाले वर्णाश्रमविहित, नित्यनैमित्तिकादि कर्मरूप अंग के सहित भक्तियोग का आचरण करता है। वेदों के ही उपबृंहणरूप इतिहास और पुराण हैं अतः इनके भी अध्ययन से ब्रह्म का निश्चय कर ध्रुवा

स्मृतिरूप भक्तियोग का अनुष्ठान संभव है, इस प्रकार भक्तियोग में भी मुमुक्षुमात्र का अधिकार है।

यह प्रपत्ति के निरूपण में कहा गया था कि प्रपत्ति मोक्ष का निरपेक्ष साधन है, वह कर्मयोगादिरूप किसी भी साधन की अपेक्षा नहीं करती अतः प्रपन्न साधनरूप से किसी का भी अनुष्ठान नहीं करता किन्तु भक्ति वर्णाश्रमविहित नित्यनैमित्तिक कर्मों से साध्य है अतः भक्त इनका अनुष्ठान करता है। वेदादिशास्त्रविहित नित्यनैमित्तिक कर्मों का भक्ति के अंगरूप से अनुष्ठान करने वाला तथा अंगी भक्ति का भी अनुष्ठान करने वाला भक्त उपासक आदि भेद से दो प्रकार का होता है। भक्ति और उपासना पर्याय हैं। भक्त और उपासक भी पर्याय हैं। स्मृतिभक्तिशाली भक्त के प्रथम भेद 'उपासक' का प्रस्तुत श्लोक में निर्देश करके अगले श्लोक में वर्णन किया जायेगा दूसरे 'शुद्ध भक्त' का 139 वें श्लोक में निरूपण किया जायेगा।

अब वेदादि शास्त्रों के द्वारा विहित वर्णाश्रम के अनुरूप कर्म करने वाले भक्त के प्रथम भेद उपासक का वर्णन किया जाता है-

स्वकर्मविज्ञानचयाधिसाधनं[1] तथोररीकृत्य हि वत्स[2] कञ्चन।
सम्प्राप्य सम्बन्धविशेषमुत्तमं सदा भवन्त्येव च मोक्षनिश्चयाः॥132॥

अन्वय

वत्स! स्वकर्मविज्ञानचयाधिसाधनं उररीकृत्य हि[3] च तथा कञ्चन उत्तमं सम्बन्धविशेषं सम्प्राप्य सदा मोक्षनिश्चयाः एव[4] भवन्ति।

अर्थ

वत्स-हे वत्स सुरसुरानन्द! वे उपासक(ध्रुवास्मृतिरूप भक्ति को करने वाले) **स्वकर्मविज्ञानचयाधिसाधनम्**-अपने कर्मयोग और ज्ञानयोग दोनों को (भक्ति का) साधन **उररीकृत्य**-स्वीकार कर **च**-और **तथा**-उसी प्रकार (आचार्य से) **कञ्चन**-किसी **उत्तमम्**-उत्तम **सम्बन्धविशेषम्**-सम्बन्ध विशेष को **सम्प्राप्य**-प्राप्त कर **सदा**-सदा **मोक्षनिश्चयाः**-मोक्षप्राप्तिविषयक निश्चय वाले **भवन्ति**-होते हैं।

1.अत्र **स्वकर्मविज्ञानसभक्तिसाधनम्** इति पाठान्तरम्। 2.अत्र **सुविज्ञ** इति पाठान्तरम्। 3.अस्मिन् श्लोके हिशब्दः पादपूर्तये। 4.एवशब्दोऽपि पादपूर्तये।

भाष्य

उपासक-ध्रुवास्मृतिरूप भक्ति को करने वाला उपासक श्रुतिस्मृति के द्वारा विहित वर्णाश्रम के अनुरूप नित्य-नैमित्तिक कर्मों को करने वाला होता है। वस्तुतः कर्मयोगी, ज्ञानयोगी और भक्तियोगी सभी के लिए इन कर्मों की अनिवार्यता है, किसी भी स्थिति में इनका त्याग करना संभव नहीं। वर्णाश्रमविहित कर्म को करने वाला उपासक भक्ति के साधनरूप से कर्मयोग और ज्ञानयोग को भी स्वीकार करता है। कर्मयोगादि को पूर्व में परिभाषित किया गया है। अनादिकाल से अनन्त पापराशि संचित होने के कारण विषयप्रावण्य मन होने से उसे सहज ही भक्ति में लगाना कठिन है। जब मुमुक्षु शास्त्रविहित निष्काम कर्मयोग का आचरण करता है, तब पापराशि क्षीण होकर अन्तःकरण की निर्मलता होती है, इस स्थिति में वह ज्ञानयोग के अनुष्ठान में प्रवृत्त होता है। जैसे वस्त्र में तिरोहित मणि को जानने के लिए प्रथम वस्त्र का ज्ञान अपेक्षित होता है, वस्त्र के ज्ञान के पश्चात् उसमें तिरोहित मणि का ज्ञान होता है, वैसे ही अपनी आत्मा में अन्तरात्मारूप से स्थित परमात्मा को जानने के लिए प्रथम आत्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान अपेक्षित होता है। ज्ञानयोग से अपनी आत्मा का प्रत्यक्ष होने के पश्चात् भक्तियोग से आत्मा में स्थित भगवान् का प्रत्यक्ष होता है। कर्मयोग और ज्ञानयोग दोनों से साध्य भक्तियोग है, यह दोनों का फल भी है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि ज्ञानयोग के अभ्यास में तत्परता से प्रवृत्त होने पर कर्मयोग का त्याग होता है और भक्तियोग के अभ्यास में तत्परता से प्रवृत्त होने पर ज्ञानयोग का भी त्याग होता है किन्तु नित्य-नैमित्तिक कर्म सभी योगों के अंग हैं इसलिए इनका त्याग कभी भी संभव नहीं। नित्य--नैमित्तिक कर्मों के आचरण से जैसे जैसे अन्तःकरण की शुद्धि होती है, वैसे वैसे भक्तियोग उत्कर्षता को प्राप्त होता है। इन कर्मों के आचरण से भक्तियोग के प्रतिबन्धक दूर होते हैं और भक्तियोग से भगवत्प्राप्ति के प्रतिबन्धक दूर होते हैं इसीलिए ईशावास्य श्रुति कहती है कि जो मुमुक्षु भक्ति और कर्म दोनों को अङ्गाङ्गिभाव से अनुष्ठेय जानता है, वह कर्म से प्रतिबन्धक प्राचीन कर्मों का अतिक्रमण कर भक्ति से मोक्ष को प्राप्त करता है-**विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥**(ई.उ.11)। ईशावास्योपनिषत् के नवम और दशम

मन्त्रों के समान इस एकादश मन्त्र में आया विद्या शब्द मोक्ष का साधन ब्रह्मविद्या अर्थात् भक्तियोग को कहता है और अविद्या शब्द विद्या से भिन्न नित्य-नैमित्तिक कर्म को कहता है। यह कर्म विद्या का अङ्ग होता है और विद्या अङ्गी होती है। ये दोनों परस्पर में विरोध के प्रसङ्ग से रहित हैं। अङ्गी ब्रह्मविद्या और उसका अङ्ग कर्म दोनों ही अनुष्ठेय हैं। इनमें अनुष्ठेयत्व की समानता है, इसलिए श्रुति **वेदोभयं सह** इस प्रकार सामान्यरूप से दोनों को वेदनीय(ज्ञेय) कहती है। त्याग करने के लिए कर्म वेदनीय है और ग्रहण करने के लिए विद्या वेदनीय है, ऐसा नहीं किन्तु अङ्ग-अङ्गिभाव से दोनों का अनुष्ठान करने के लिए दोनों ग्राह्य हैं, इसलिए सामान्यतः दोनों वेदनीय कहे गये हैं। भक्तियोगात्मिका ब्रह्मविद्या की उत्पत्ति के प्रतिबन्धक पुण्यपापरूप कर्म अनादि काल से सञ्चित हो रहे हैं, इस कारण ब्रह्मविद्या का आरम्भ ही नहीं होता। विद्या के अङ्गभूत वर्णाश्रमविहित नित्य नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान से प्रतिबन्धक कर्मों के क्षीण होने पर ब्रह्मविद्या का उदय होता है और जैसे-जैसे कर्मानुष्ठान से प्रतिबन्धक पुण्यपाप का क्षयरूप अन्तःकरण की निर्मलता होती है, वैसे-वैसे उत्तरोत्तर ब्रह्मविद्या प्रकर्षता को प्राप्त होते हुए अपरोक्षात्मिका हो जाती है।

कुछ कर्म भक्ति की उत्पत्ति के प्रतिबन्धक होते हैं और कुछ भगवत्प्राप्तिरूप मोक्ष के प्रतिबन्धक होते हैं। प्रतिबन्धक कर्म की निवृत्ति होने पर निदिध्यासनरूप भक्ति का आरम्भ होता है और इसके आरम्भ होते ही मोक्ष प्राप्त नहीं होता, क्योंकि इस समय भी मोक्षप्राप्ति के प्रतिबन्धक कर्म विद्यमान होते हैं। इनकी निवृत्ति ध्रुवास्मृति अर्थात् प्रीतिरूपापन्न दर्शनसमानाकार भक्ति से ही होती है। ध्रुवास्मृति होनेपर अविद्या तथा रागादि ग्रन्थियों का आत्यन्तिक नाश होता है-**स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः**(छां.उ.7.26.2)। परावर परमात्मा का दर्शन होने पर रागादि ग्रन्थियाँ नष्ट हो जाती हैं, संशय-विपर्यय नष्ट हो जाते हैं और सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं-**भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥**(मु.उ. 2.2.9)।

विद्या का अङ्ग कर्म

शास्त्रश्रवणजन्य ज्ञान वाले राजा केशिध्वज ने भी ब्रह्मविद्या की उत्पत्ति

को लक्ष्य कर कर्मों से विद्या की उत्पत्ति के विरोधी प्राचीन पुण्यपापरूप कर्मों का अतिक्रमण करने के लिए बहुत से यज्ञों का अनुष्ठान किया- **इयाज सोऽपि सुबहून्यज्ञान् ज्ञानव्यपाश्रयः। ब्रह्मविद्यामधिष्ठाय तर्तुं मृत्युमविद्यया॥**(वि.पु. 6.6.12), इस विष्णुपुराण के वाक्य में भी अविद्या शब्द विद्या(भक्ति) के अङ्ग कर्म का वाचक है। विद्या और कर्म में अङ्गाङ्गिभाव प्रतिपादित है। मृत्युशब्द विद्योत्पत्ति के प्रतिबन्धक पाप कर्म का वाचक है। शास्त्रविहित कर्म से पाप का नाश होता है-**धर्मेण पापमपनुदति।**(तै.ना.उ.144), यह तैत्तिरीय श्रुति कर्म से विद्योत्पत्ति के विरोधी पुण्यपाप की निवृत्ति को कहती है। कर्म प्रतिबन्धक पुण्यपाप की निवृत्ति के द्वारा विद्योत्पत्ति में हेतु होते हैं इसलिए कर्म को परम्परया अर्थात् विद्या के द्वारा मोक्ष का साधन कहा जाता है, इसी प्रकार ज्ञानयोग भी भक्ति की निष्पत्ति के द्वारा मोक्ष का साधन होता है।

शंका-ब्राह्मण वेदाध्ययन, यज्ञ, दान और अनाशक तप(उपवासरूप तप) से ब्रह्म को जानने की इच्छा करते हैं-**तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणाः विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन।**(बृ.उ. 4.4.22)। यह श्रुति कर्मों का विविदिषा(मुमुक्षा) में उपयोग कहती है, अतः ब्रह्मजिज्ञासा न होने तक कर्म करना चाहिए और जिज्ञासा होने पर कर्म को छोड़ देना चहिए।

समाधान-ऐसा कहना उचित नहीं क्योंकि जैसे अश्व से जाने की इच्छा करता है-अश्वेन जिगमिषति, तलवार से मारने की इच्छा करता है- असिना हन्तुमिच्छति। यहाँ पर अश्व का गमन की इच्छा में उपयोग नही होता, गमन में उपयोग होता है और तलवार का हनन की इच्छा में उपयोग नहीं होता है, हनन में उपयोग होता है, वैसे ही कर्म विविदिषा के साधन सिद्ध नहीं होते, ज्ञान(विद्या)के ही साधन सिद्ध होते हैं। कर्म अन्तःकरण की शुद्धि के द्वारा विद्या के साधन होते हैं अतः विविदिषा उत्पन्न होते ही कर्मों का त्याग नहीं करना चाहिए क्योंकि ऐसा करने पर ब्रह्मविद्या की निष्पत्ति ही नहीं हो सकती और ब्रह्मविद्या की निष्पत्ति न होने पर अविद्या की निवृत्ति भी नहीं हो सकती। छान्दोग्योपनिषत् में ब्रह्मविद्यानिष्ठ अश्वपति कैकय ने कहा है कि हे भगवन्! मैं शीघ्र ही यज्ञ करने वाला हूँ-**यक्ष्यमाणो वै भगवन्तोऽहमस्मि।**(छां.उ. 5.11.5), इस

श्रुति से ब्रह्मविद्यानिष्ठ के द्वारा भी विद्या के अङ्गरूप से कर्तव्य कर्मों को करना सिद्ध है। कर्मों को करने वाला मनुष्य ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ होता है-**क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः**।(मु.उ. 3.1.4)। यहाँ कर्मानुष्ठान करने वाले को जिज्ञासुओं में श्रेष्ठ नहीं कहा अपितु ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ कहा है क्योंकि शास्त्रज्ञान वाले ब्रह्मविद्यानिष्ठ मुमुक्षु का कर्मानुष्ठान से अन्तःकरण निर्मल होने पर ब्रह्मविद्या की निष्पत्ति होती है। कर्म न करने वाले ब्रह्मविद्यानिष्ठ का अन्तःकरण निर्मल न होने से ब्रह्मविद्या की निष्पत्ति नहीं होती।

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि भक्ति की निष्पत्ति के लिए वर्णाश्रमविहित नित्य-नैमित्तिक कर्म सदा अपेक्षित हैं, इसी विषय को ग्रन्थकार ने 131 वें श्लोक में 'वेदोक्तवर्णाश्रमकर्मकारिणः' इस प्रकार कहा था तथा योग्य काल में कर्मयोग और ज्ञानयोग भी आचरणीय होते हैं, इस विषय को प्रस्तुत श्लोक में 'स्वकर्मविज्ञानचयाधिसाधनम्' इस प्रकार कहा जाता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में आत्मा और परमात्मा के नव प्रकार के सम्बन्धों का प्रतिपादन हुआ हैं, वे सभी उत्तम हैं। परमात्मा के साथ अपने किसी सम्बन्ध को सेवा के द्वारा प्रसन्न हुए आचार्य से प्राप्त कर लेना चाहिए। इसकी बहुत महिमा है, इससे साधक को प्रपञ्च की विस्मृतिपूर्वक परमात्मा का अनुसंधान करने में बल मिलता है। जो आचार्य से परमात्मा के साथ अपने सम्बन्धविशेष को प्राप्त(जान) कर अंगसहित भक्तियोग के अनुष्ठान में प्रवृत्त होते हैं, उन्हें भगवदनुग्रह से मोक्ष अवश्य प्राप्त होता है।

पूर्व श्लोकों में प्रतिपादित उपासक से विलक्षण अकाम शब्द से अभिहित प्रपन्न का अब प्रसंगतः प्रतिपादन किया जाता है।

विहाय चान्यत्परमं कृपानिधिं[1] प्राप्य समर्थं निरपायमीश्वरम्।
उपायमेतेऽध्यवसीय सुस्थिता ज्ञेयाः प्रपन्नाः सततं हरिप्रियाः॥133॥

अन्वय

अन्यत् विहाय च प्राप्य कृपानिधिं समर्थं परमम् ईश्वरं निरपायम् उपायम् अध्यवसीय सुस्थिताः, एते सततं हरिप्रियाः प्रपन्नाः ज्ञेयाः।

1.अत्र '**दयानिधिम्**' इति '**दयालुम्**' इति च पाठान्तरम्।

अर्थ

अन्यत्-जो मुमुक्षु भक्तियोग को **विहाय**-छोड़कर **च**-और **प्राप्यम्**-प्राप्य **कृपानिधिम्**-कृपा के सागर **समर्थम्**-समर्थ **परमम्**-परम **ईश्वरम्**-ईश्वर को **निरपायम्**-अमोघ **उपायम्**-उपाय **अध्यवसीय**-निश्चित कर **सुस्थिताः**-निश्चिन्त रहते हैं, **एते**-इन्हें **सततम्**-सदा **हरिप्रियाः**-हरि के प्रिय **प्रपन्नाः**-प्रपन्न **ज्ञेयाः**-समझना चाहिए।

भाष्य

प्रपन्न-भक्ति और प्रपत्ति दोनों ही मोक्ष के साधन हैं, उनमें कर्म और ज्ञान से साध्य ध्रुवास्मृतिरूप भक्ति को करने वाले उपासक का पूर्व में निरूपण किया गया। उस भक्ति को करने में अपने को असमर्थ मानकर जो उसका अनुष्ठान नहीं करता अपितु अपने उपेय(प्राप्य) कृपालु, सर्वसमर्थ परमात्मा को ही मोक्ष का अमोघ उपाय(प्रापक) मानकर उनकी शरणागति करता है और उन पर महाविश्वास के कारण मोक्षप्राप्ति के विषय में निश्चिन्त बना रहता है, भगवान् को ही प्राप्य और प्रापक अपना सर्वस्व मानने वाला वह प्रपन्न उनका अत्यन्त प्रिय होता है।

मोक्ष के साधन भक्तियोग को करने में जो असमर्थ हैं, उन्हें प्रपत्तियोग शीघ्र फलप्रद होता है। अन्य योगों को आरम्भ कर उनका निरन्तर आचरण करना पड़ता है किन्तु प्रपत्ति में ऐसा कुछ भी नहीं है, उसे एक बार ही करना पड़ता है। 'हे भगवन्! मैं अत्यन्त दीन-हीन हूँ, अत्यन्त दुर्बल हूँ, मुझमें कोई सामर्थ्य नहीं है। मैं आपके पावन चरणों में आत्मसमर्पण करता हूँ। आप मेरा भार ग्रहण कीजिए।' इस प्रकार जीव जब सरल हृदय से व्याकुल होकर श्रीभगवान् के शरणापन्न होता है, तब भगवान् उसे अपना लेते हैं और उसका सारा भार अपने ऊपर ले लेते हैं। वे आश्रितवत्सल हैं, शरणागतरक्षक हैं एवं शरणागत का उद्धार करना ही उनका व्रत है। यह शरणागति स्वतन्त्ररूप से मोक्ष का साधन है, इसका विशद विवेचन पूर्व में किया गया है।

पुरुषकारैकनिष्ठास्तु हरिस्वातन्त्र्यमैक्ष्य च।
कृपाप्रचुरमाचार्यं मत्वोपायमवस्थिताः॥134॥

अन्वय

तु[1] पुरुषकारैकनिष्ठाः हरिस्वातन्त्र्यम् ऐक्ष्य च कृपाप्रचुरम् आचार्यं मत्त्वा उपायम् अवस्थिताः।

अर्थ

तु-किन्तु **पुरुषकारैकनिष्ठाः**-आचार्य में अनन्य निष्ठा रखने वाले **हरिस्वातन्त्र्यम्**-भगवान् की स्वतन्त्रता का **ऐक्ष्य**-विचार कर **च**-और **कृपाप्रचुरम्**-करुणा की प्रचुरता वाले **आचार्यम्**-आचार्य को **मत्वा**-**समझकर** (उनके द्वारा भगवत्-शरणागति को ग्रहण कर) **उपायम्**-उपाय परमात्मा को **अवस्थिताः**-आश्रय मानकर रहते हैं।

भाष्य

जीव के उद्धार के लिए आचार्य भगवान् से प्रार्थना(सिफारिश) करते हैं, इस प्रार्थना के लिए सम्प्रदाय में पुरुषकार शब्द प्रसिद्ध है और इसे करने वाले आचार्य को भी पुरुषकार कहा जाता है। गुरुदेव समर्थ हैं और उनके अनुग्रह से भगवत्प्राप्ति संभव है, ऐसा समझकर उनमें गहन निष्ठा रखने वाले जब यह विचार करते हैं कि भगवान् जगत्कारण, सर्वज्ञ और सर्वसमर्थ होने पर भी सर्वतन्त्रस्वतन्त्र हैं, वे किसी के अधीन नहीं, उन पर किसी का वश नहीं चलता अतः वे हमारे द्वारा की गयी शरणागति को कैसे स्वीकार करेंगे? किन्तु हमारे महान् गुरुदेव करुणा के सागर हैं, उनकी करुणा का कहीं अन्त नहीं। वे भगवत्प्राप्त हैं अतः यदि वे मेरे लिए श्रीभगवान् से शरणागति करें तो भगवान् अवश्य द्रवित हो जायेंगे, ऐसा समझकर उसकी प्रार्थना के अनुसार जब आचार्य उसके लिए भगवान् से शरणागति करते हैं, तब वह प्रपन्न भगवान् की प्राप्ति में भगवान् को ही उपाय मानकर निश्चिन्त हो जाता है। श्लोक संख्या 108 के व्याख्यान में शरणागति का विस्तृत प्रतिपादन किया गया है। वहाँ स्वनिष्ठा, उक्तिनिष्ठा और आचार्यनिष्ठा इस प्रकार शरणागति त्रिविध कही गयी थी, उनमें पूर्व की दो शरणागति में किसी एक को अपनी रुचि के अनुसार शिष्य स्वयं श्रीभगवान् की सन्निधि में जाकर करता है, इस शरणागति का निरूपण

1.अत्र तु शब्दः पूर्वापेक्षया वैलक्षण्यद्योतनाय।

पूर्व के 133 वें श्लोक में किया गया और आचार्यनिष्ठा शरणागति को शिष्य के कल्याण के लिए आचार्य स्वयं करते हैं, इसका निरूपण प्रस्तुत श्लोक में किया गया[1]।

पुरुषकारैकनिष्ठ प्रपन्नों का वर्णन कर अब उनके भेद कहे जाते हैं-

---

1.श्रीलोकाचार्य स्वामी के मत में भक्ति और प्रपत्ति से अतिरिक्त **आचार्याभिमान** भी मोक्ष का उपाय है, यह प्रपत्ति से भी सुगम है। प्रपत्ति भी सभी के द्वारा संभव नहीं क्योंकि ईश्वर पर महाविश्वास के विना उसे नहीं किया जा सकता। आचार्य शिष्य के उद्धार के लिए भगवान् से प्रेरित प्रतिनिधि हैं। जैसे माता दुग्ध पीने वाले रोगी शिशु का रोग निवृत्त करने के लिए स्वयं रोगनाशक औषध का सेवन कर उसका रोग निवृत्त करती है, वैसे ही भगवान् भी असहाय और अपने सामर्थ्य से ऊपर उठने में असमर्थ जीव का उद्धार करने के लिए किसी सेवक को गुरु के रूप में प्रेरित करते हैं। गुरु शिष्य का उद्धार करने के लिए उसके दायित्व का स्वयं निर्वहण कर उसे भगवान् की दृष्टि के समक्ष उपस्थित करते हैं। शिष्य का उद्धार करना गुरु का लक्ष्य होता है और इसके लिए उन्हें बहुत क्लेश सहन करने पड़ते हैं। यह मेरा है, इस प्रकार आचार्य का शिष्य पर अनुग्रहविशेष ही आचार्याभिमान कहलाता है-**मदीयोऽयमिति आचार्यानुग्रहविशेषः आचार्याभिमानः**, इससे युक्त शिष्य को गुरु के आदेश का पालनमात्र करना पड़ता है। यह स्वतन्त्ररूप से मोक्ष का साधन है और मोक्ष के दूसरे साधनों का सहकारी भी। श्रीलोकाचार्य का यह भी कहना है कि ज्ञान, वैराग्य और भक्ति से संपन्न आचार्य जिस जीव पर यह अभिमान करें कि यह मेरा है, वह आचार्य के अभिमान का पात्र भी शीघ्र ही ज्ञान, वैराग्य और भक्ति से सम्पन्न हो जाता है। इस प्रकार आचार्य क्रम से शिष्य के अज्ञान को नष्ट कर उसमें ज्ञान, वैराग्य और भक्ति का सम्पादन करते हैं और इस प्रकार जीव भगवान् की सेवा के योग्य बनता है।

आचार्याभिमान स्वतन्त्ररूप से मोक्ष का साधन है, लोकाचार्य स्वामी जी का यह कहना उचित नहीं क्योंकि आचार्याभिमान करने वाले के हृदय में भक्ति या प्रपत्ति का अंकुर निकलेगा ही, ये दोनों मोक्ष के साधन माने ही जाते हैं अतः आचार्याभिमान को स्वतन्त्ररूप से मोक्ष का साधन मानना उचित नहीं। भगवान् अत्यन्त पतित जीव का उद्धार नहीं करते अतः आचार्याभिमान को स्वतन्त्ररूप से मोक्ष का साधन मानना चाहिए, यह कहना भी उचित नहीं क्योंकि उन्होंने स्वयं कहा है कि **अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवस्थितो हि सः॥ क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति। कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥**(गी.9.30-31)। **कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आएँ शरन तजहुँ नहिं ताहू॥ सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥**(रा.च.मा.5.43.1-2) इससे स्पष्ट है कि भगवान् अत्यन्त पतित का भी भक्ति

[1]ते चाचार्यकृपामात्रप्रपन्ना द्विविधा मताः।
तथा सेवातिरेकप्रपन्नाश्चेति सदा सताम्॥135॥

अन्वय

आचार्यकृपामात्रप्रपन्नाः च तथा सदा सतां सेवातिरेकप्रपन्नाः च इति ते द्विविधा मताः।

अर्थ

आचार्यकृपामात्रप्रपन्नाः-केवल आचार्य की कृपा से प्रपन्न **च**-और **तथा**-उसी प्रकार **सदा**-सदा **सताम्**-महापुरुषों की **सेवातिरेकप्रपन्नाः**-अत्यन्त सेवा से प्रपन्न **इति**-इस प्रकार **ते**-पुरुषकारैकनिष्ठ प्रपन्न **द्विविधा**-दो प्रकार के **मताः**-माने जाते हैं।

भाष्य

संसारसागर में निमग्न, त्रिताप से व्यथित होकर जो उसकी निवृत्ति के लिए शीघ्र भगवान् को प्राप्त करना चाहते हैं और उनकी प्राप्ति के लिए जल से बाहर की गयी मीन के समान व्याकुल होकर छटपटाते हुए जीवन धारण करने में असमर्थ होते हैं तथा भगवत्प्राप्ति की लालसा से गुरुदेव की सन्निधि में जाते हैं, ऐसे मुमुक्षु को देखकर द्रवित चित्त वाले आचार्य कृपा करके उसे भगवान् की प्रपत्ति करा देते हैं। इस प्रकार आचार्य की कृपामात्र से प्रपत्ति को स्वीकार करने वाला पुरुषकारैकनिष्ठ प्रपन्न आचार्यकृपामात्रप्रपन्न कहलाता है और जो त्रिताप की निवृत्ति के लिए महात्माओं की सन्निधि में जाकर उनकी समर्पित भाव से निरन्तर, प्रचुर सेवा करते हैं, उसके प्रभाव

और प्रपत्ति से उद्धार कर देते हैं अतः आचार्याभिमान को स्वतन्त्ररूप से मोक्ष का साधन मानने वाला पक्ष उचित नहीं, इसी कारण स्वामी रामानन्दाचार्य जी ने इसका निरूपण नहीं किया और श्रीवेदान्त देशिक स्वामी जी भी इसे मोक्ष का साधन नहीं मानते। मनुष्यों का ही क्या कहना, जो पशु, पक्षी भी हरिभक्तों का समाश्रय लेते हैं, वे भी उनके अनुग्रह से भक्ति और प्रपत्ति के अधिकारी बन जाते हैं इसीलिए कहा जाता है कि **पशुर्मनुष्यः पक्षी वा ये च वैष्णवसंश्रयाः। तेनैव ते प्रयास्यन्ति तद्विष्णोः परमं पदम्॥** 1.अस्य श्लोकस्य पूर्वार्धस्य स्थाने **द्विविधास्ते निजाचार्यकृपामात्रप्रपन्नकाः** इति पाठान्तरम्।

से उन श्रद्धालुओं में प्रपत्ति का भाव जाग्रत हो जाता है और वे प्रपत्ति ग्रहण कर लेते हैं, वे निरन्तर महापुरुषों की सेवा से प्रपत्ति को करने वाले पुरुषकारैकनिष्ठ प्रपन्न 'सतां सेवातिरेकप्रपन्न' कहे जाते हैं।

133 वें श्लोक में स्वयं प्रपत्ति करने वालों का वर्णन किया गया तथा 134 और 135 वें श्लोक में आचार्य के द्वारा प्रपत्ति करने वालों का वर्णन किया गया, अब सामान्यत: सभी प्रकार के प्रपन्नों के विभाग कहे जाते हैं-

प्रपन्नश्चापि दृप्तः स तथा चार्त इति द्विधा।
शरीरस्थितिपर्य्यन्तमाद्योऽत्रैव यथोचितम्॥136॥
प्राप्तदु:खादिभुञ्जानः शरीरान्तेऽवसीय च।
महाबोधोऽतिविश्वासो मोक्षसिद्धिमवस्थितः॥137॥

अन्वय

दृप्तः च तथा आर्तः च इति सः प्रपन्नः अपि द्विधा। आद्यः शरीरान्ते मोक्षसिद्धिम् अवसीय महाबोधः च अतिविश्वासः शरीरस्थितिपर्य्यन्तम् अत्र एव यथोचितं प्राप्तदु:खादिभुञ्जानः अवस्थितः।

अर्थ

दृप्तः-दृप्त **च तथा**-और **आर्तः**-आर्त **इति**-इस प्रकार **सः**-वह **प्रपन्नः**-प्रपन्न **अपि**-भी **द्विधा**-दो प्रकार का होता है, उनमें **आद्यः**-प्रथम **शरीरान्ते**-शरीर के विनाशकाल में **मोक्षसिद्धिम्**-मोक्षप्राप्ति का **अवसीय**-निश्चय कर (भगवान् के विषय में अत्यन्त) **महाबोधः**-अत्यन्त ज्ञानवान होकर **च**-और **अतिविश्वासः**-दृढ विश्वास से युक्त होकर **शरीरस्थितिपर्य्यन्तम्**-शरीर के विद्यमान रहने तक **अत्र**-इस लोक में **एव**-ही **यथोचितम्**-प्रारब्ध के अनुसार **प्राप्तदु:खादिभुञ्जानः**-प्राप्त होने वाले सुख-दु:ख को भोगते हुए **अवस्थितः**-रहता है।

भाष्य

प्रपन्न के भेद-पूर्व श्लोकों में वर्णित प्रपन्न के दो भेद हैं-दृप्त और आर्त।

दृप्त

जो अतिविश्वास से युक्त, ज्ञानवान् प्रपन्न इस शरीर के विद्यमान रहते

ही प्रारब्ध कर्म के अनुसार मिलने वाले सुख-दुःख को भोगते हैं और उसी शरीर के अवसानकाल में ही अनवधिकातिशय भगवत्प्रीतिरूप मोक्षप्राप्ति का निश्चय रखते हैं, वे दृप्त प्रपन्न कहे जाते हैं।

अथाऽन्त्योऽसहमानस्तत्क्षणमेव तु संसृतिम्।
तथैव भगवत्प्राप्तौ सत्वरस्वान्त उच्यते॥138॥

अन्वय

अथ तु तथा एव संसृतिम् असहमानः तत् क्षणम् एव भगवत्प्राप्तौ सत्वरस्वान्तः[1] अन्त्यः उच्यते।

अर्थ

अथ-और **तु**-तो **तथा**-वैसे **एव**-ही **संसृतिम्**-जीवन को **असहमानः**-सहन न करता हुआ **तत्**-उस **क्षणम्**-क्षण में **एव**-ही **भगवत्प्राप्तौ**-भगवत्प्राप्ति के लिए **सत्वरस्वान्तः**-शीघ्रता करने वाला प्रपन्न **अन्त्यः**-आर्त **उच्यते**-कहा जाता है।

भाष्य

आर्त-संसाररूप दावानल से अत्यन्त सन्तप्त जो प्रपन्न प्रपत्तिकाल में ही प्रारब्ध कर्मों के भी विनाशपूर्वक शीघ्र निरतिशय भगवत्प्रीतिरूप मोक्ष की कामना करते हैं, वे आर्त कहे जाते हैं। शरीर के रहते इस लोक में होने वाला भगवत्साक्षात्कार प्रातःकालिक सूर्य के समान है और मुक्तावस्था में त्रिपादविभूति में जाकर होने वाला साक्षात्कार मध्याह्नकालिक सूर्य के समान है। प्रारब्धानुसार त्रिगुणात्मिका प्रकृति से निर्मित कफपित्तवातमय, जरा और व्याधि से ग्रस्त यह शरीर भगवदनुभव में पुनः पुनः बाधा बन जाता है। दृप्त प्रपन्न अगला शरीर नहीं चाहता, वर्तमान शरीर से प्रारब्ध को भोगकर मोक्ष चाहता है किन्तु आर्त भगवद्विरह से अत्यन्त आतुर होने के कारण विरह को एक क्षण भी सहन नहीं कर सकता अतः अत्यन्त शीघ्र प्रपत्ति के क्षण में ही प्रारब्धसहित देह की निवृत्तिपूर्वक भगवदनुभवरूप मोक्ष की कामना करता है।

1.त्वरया सहितं सत्वरम्। सत्वरं स्वान्तं मनः यस्य सः सत्वरस्वान्तः। चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः।(अ.को.1.5.31)

प्रपत्ति को साध्यभक्ति कहा जाता है, इसलिए उभय प्रकार के प्रपन्न भी भक्तविशेष हैं।

131 वें श्लोक में अकाम और स्मृतिभक्तिशाली इस प्रकार मुमुक्षु के दो भेद कहे थे, उनमें स्मृतिभक्तिशाली के प्रथम भेद उपासक का वर्णन कर, प्रसंगतः अकाम शब्द से कहे प्रपन्न का प्रतिपादन कर, अब स्मृति भक्तिशाली के द्वितीय भेद शुद्ध भक्त का निरूपण आरम्भ किया जाता है–

श्रवणादिमात्रनिष्ठाः शुद्धभक्ताः प्रकीर्तिताः।
अन्तर्भाव्यास्तत्र तत्र तथानुक्ता मुमुक्षवः॥139॥

अन्वय

श्रवणादिमात्रनिष्ठाः शुद्धभक्ताः प्रकीर्तिताः तथा अनुक्ताः मुमुक्षवः तत्र तत्र अन्तर्भाव्याः।

अर्थ

श्रवणादिमात्रनिष्ठाः–केवल श्रवणादि में निष्ठा रखने वाले **शुद्धभक्ताः**–शुद्ध भक्त **प्रकीर्तिताः**–कहे जाते हैं **तथा**–और यहाँ **अनुक्ताः**–न कहे **मुमुक्षवः**–मुमुक्षुओं का **तत्र तत्र**–उन उन स्थानों में **अन्तर्भाव्याः**–अन्तर्भाव कर लेना चाहिए।

भाष्य

शुद्ध भक्त–शास्त्रविहित नित्य-नैमित्तिक कर्मों के सहित ध्रुवास्मृतिरूप भक्ति को करने वाला जो मुमुक्षु, उसके साधनरूप से श्रवणादि को ही करता है, वह शुद्ध भक्त कहलाता है। जैसे 131 वें श्लोक में वर्णित ध्रुवा स्मृतिरूप भक्ति को करने वाला उपासक उसके साधनरूप से कर्मयोग और ज्ञानयोग का अनुष्ठान करता है, वैसे ही शुद्ध भक्त ध्रुवा स्मृति के साधनरूप से श्रवणादिमात्र को करता है। यहाँ मात्र पद से भक्तियोग के साधन कर्मयोग और ज्ञानयोग की व्यावृत्ति हो जाती है। शुद्ध भक्त कर्मयोग और ज्ञानयोग का अनुष्ठान न करके भक्ति के साधनरूप से उदारकीर्तेः **श्रवणं च कीर्तनं हरेर्मुदा संस्मरणं पदश्रितिः। समर्चनं वन्दनदास्यसख्या-न्यात्मार्पणं सा नवधेति गीयते॥**(श्रीवै.म.भा.67) इस प्रकार कहे श्रवणादि का

अनुष्ठान करता है। यह पूर्व में कहा ही गया है कि भक्ति के साधन होने से श्रवणादि को उपचार से भक्ति कहा जाता है। भक्तियोग के श्रवणादि अन्तरंग उपाय हैं, इसलिए वह इन्हीं का अनुष्ठान करता है। शुद्ध भक्त पूर्वजन्म के सुसंस्कारवशात् अन्य साधनों मे प्रवृत्त न होकर इनमें प्रवृत्त होता है, इनके आचरण से ध्रुवास्मृतिरूप प्रीत्यात्मक भक्तियोग वृद्धि को प्राप्त होकर शीघ्र दर्शनसमानाकार हो जाता है।

जिन मुमुक्षुओं का यहाँ कथन नहीं किया गया है, उनका यथायोग्य विभागों में अन्तर्भाव कर लेना चाहिए। जैसे शास्त्रविहित नित्य-नैमित्तिक कर्मों के सहित ध्रुवास्मृतिरूप भक्ति को करने वाला जो मुमुक्षु उसके साधनरूप से प्रीतिपूर्वक नामजप को ही करता है, वह शुद्ध भक्त कहलाता है तथा यदि वही भक्ति के साधनरूप से नामजप के साथ ही अन्य कर्म और ज्ञान योग का आचरण करता है, तो उपासक कहलाता है। इसी प्रकार ध्रुवास्मृतिरूप भक्ति को करने वाला जो मुमुक्षु उसके साधनरूप से भगवान् के लिए नैवेद्य तैयार करना, स्थान का संमार्जन करना और तुलसी-पुष्प आदि का चयन करता है, तो वह शुद्ध भक्त कहलाता है तथा यदि वही भक्ति के साधनरूप से उस कैंकर्य के साथ ही कर्म और ज्ञान योग का आचरण करता है, तो उपासक कहलाता है, इसी प्रकार अन्यत्र भी समझ लेना चाहिए।

बद्ध जीव का विभागसहित वर्णन करके अब 128 वें श्लोक में कहे मुक्त का भी वर्णन किया जाता है-

नित्यकादाचित्कभेदान्मुक्तद्वैविध्यमुच्यते।
नित्याः कदाचित्तत्रापि सिद्धाः सुपुरुषा वराः॥140॥

गर्भजन्मादिदुःखं येऽननुभूय स्थिताः सदा।
सीतारामप्रियाः शश्वत्ते हनुमन्मुखा मताः[1]॥141॥

अन्वय

नित्यकादाचित्कभेदात् मुक्तद्वैविध्यम् उच्यते, तत्र ये कदाचित् अपि गर्भजन्मादिदुःखं अननुभूय सदा स्थिताः, ते शश्वत् सीतारामप्रियाः सिद्धाः

1. हनुमन्मुखा मताः इत्यस्य स्थाने शश्वदाञ्जनेयादयः इति पाठान्तरम्, अनन्तगरुडादयः इत्यपि पाठान्तरम् दृश्यते।

वराः सुपुरुषाः हनुमन्मुखाः नित्याः मताः।

अर्थ

नित्यकादाचित्कभेदात्-नित्य और कादाचित्क भेद से **मुक्तद्वैविध्यम्**-मुक्तात्मा दो प्रकार की **उच्यते**-कही जाती है, **तत्र**-उन दोनों में **ये**-जो **कदाचित्**-कभी **अपि**-भी **गर्भजन्मादिदुःखम्**-गर्भवास और जन्मादि से होने वाले दुःखों का **अननुभूय**-अनुभव न करके (भगवद्धाम में) **सदा**-निरन्तर (श्रीसीताराम जी की सेवा में) **स्थिताः**-उपस्थित रहते हैं, **ते**-वे **शश्वत्**-सदा **सीतारामप्रियाः**-श्रीसीताराम जी के प्रिय (और सदा उनका) **सिद्धाः**-दर्शन करने वाले **वराः**-श्रेष्ठ **सुपुरुषाः**-पार्षद **हनुमन्मुखाः**[1]-श्रीहनुमान् आदि **नित्याः**-नित्य मुक्त **मताः**-माने जाते हैं।

भाष्य

मुक्त के भेद-1.नित्य मुक्त 2. कादाचित्क मुक्त।

नित्य मुक्त

गर्भवास, जन्म, मृत्यु, भय, शोक, मोह, जरा और व्याधि ये सभी दुःखों के हेतु हैं। संसार में बन्धन होने पर ये सभी प्राप्त होते हैं और इनकी प्राप्ति से संसारी जीव दुःखी होता रहता है किन्तु जो इनसे सदा असम्बद्ध होने के कारण सर्वथा दुःख के अनुभव से रहित हैं, वे साकेत धाम में कन्दर्पकोटिलावण्यसौन्दर्यमय भगवान् श्रीसीताराम जी के दर्शन और सेवा में सदा संलग्न श्रीहनुमान् आदि नित्य मुक्त कहे जाते हैं। विशिष्टाद्वैत वेदान्त के अन्य ग्रन्थों में इन्हें नित्य और नित्य सूरि भी कहा जाता है।

कादाचित्क मुक्तात्मा मुक्तावस्था से पूर्व बद्ध रहता है, उत्तरकाल में नहीं किन्तु ये कभी भी बन्धन में नहीं रहते, हमेशा मुक्त ही रहते हैं। श्रीभगवान् का अभिमत जो आचरण है, उससे विरुद्ध आचरण कभी भी न करने से इनके ज्ञान का संकोच नहीं होता, ज्ञान का संकोच होना ही तो बन्धन है। श्रीभगवान् की इच्छा से लोककल्याणार्थ इनके भी अवतार होते हैं। जहाँ साध्य नामक नित्य मुक्त सदा रहते हैं-**यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः**।(ऋ. सं.8.4.19)। विष्णु का वह परमस्थान है, सूरिगण(नित्य मुक्त) उसका

1.हनुमान् मुखः प्रमुखः प्रधानं येषां ते हनुमन्मुखाः हनुमद्भरतादय इत्यर्थः।

सदा दर्शन करते रहते हैं-**तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः**।(तै. सं.1.3.6.2) इत्यादि श्रुतियाँ नित्य मुक्तों के सद्भाव में प्रमाण हैं। कादाचित्क मुक्तात्माएँ मुक्त होने के बाद ही त्रिपादविभूति का दर्शन करती हैं, पहले नहीं करतीं किन्तु नित्य मुक्त सदा परम पद का दर्शन करते रहते हैं। श्रीहनुमान्, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न इत्यादि नित्य मुक्त हैं।

[1]परिजनाः परिच्छदाः नित्यमुक्ता अपि द्विधा।
मारुत्याद्याः[2] किरीटाद्याः क्रमात्ते च प्रकीर्तिताः॥142॥

अन्वय

परिजनाः च परिच्छदाः नित्यमुक्ताः अपि द्विधा। मारुत्याद्याः किरीटाद्याः क्रमात् ते प्रकीर्तिताः।

अर्थ

परिजनाः-परिजन **च**-और **परिच्छदाः**-परिच्छद (के भेद से) **नित्यमुक्ताः**-नित्य मुक्त **अपि**-भी **द्विधा**-दो प्रकार के माने जाते हैं, (उनमें) **मारुत्याद्याः**-श्रीहनुमान् आदि (और) **किरीटाद्याः**-किरीट आदि **क्रमात्**-क्रम से ते-परिजन और परिच्छद **प्रकीर्तिताः**-कहे जाते हैं।

भाष्य

नित्य मुक्त के भेद-1.परिजन 2.परिच्छद।

परिजन

सभी काल में सभी प्रकार से भगवान् की सेवा में तत्पर रहने वाले नित्य मुक्त परिजन कहे जाते हैं, जैसे श्रीहनुमान् आदि। भगवान् के अनन्त परिजन हैं, वे सभी उनकी सेवा के अनुरूप हैं।

परिच्छद

भगवान् की सेवा के उपकरण परिच्छद कहलाते हैं। जैसे किरीट, मुकुट, कुण्डल, हार, केयूर, कटक, करधनी और नूपुर। नित्य मुक्त आत्माएँ ही किरीटादि अलंकाररूपों को धारण कर भगवान् को अलंकृत करती हैं।

1.अत्र पूर्वार्धस्य स्थाने **नित्यमुक्ता अपि द्वेधा परिजनाः परिच्छदाः**। इति पाठान्तरः।2. अत्र **अनन्तादयः** इति पाठान्तरम्।

किरीट आदि आभूषणों के समान वस्त्र और आयुध रूपों को भी धारण कर नित्य मुक्त भगवान् को अलंकृत करते हैं। इन आभूषणादि से भगवान् की शोभा होती है और भगवान् से इनकी शोभा।

नित्य मुक्त के वर्णन के पश्चात् अब कादाचित्क मुक्त का वर्णन किया जाता है-

भागवताः केवलाश्च कादाचित्का अपि द्विधा।
तत्र भागवता बोध्या ये तु ते भगवत्पराः॥143॥

अन्वय

भागवताः च केवलाः कादाचित्काः अपि द्विधा, तत्र ये भगवत्पराः ते तु भागवताः बोध्याः।

अर्थ

भागवताः-भागवत **च**-और **केवलाः**-केवल (इस प्रकार) **कादाचित्काः**-कादाचित्क मुक्त **अपि**-भी **द्विधा**-दो प्रकार के होते हैं, **तत्र**-उनमें **ये**-जो **भगवत्पराः**-भगवत्परायण होते हैं, **ते**-उन्हें **तु**-तो **भागवताः**-भागवत **बोध्याः**-समझना चाहिए।

भाष्य

कादाचित्क मुक्त-किसी कालविशेष में मुक्त होने वाली आत्माएँ कादाचित्क मुक्त कहलाती हैं। नित्य मुक्त कभी बन्धन में नहीं होते किन्तु ये पहले बन्धन में होते हैं और बाद में मुक्त अर्थात् जो निर्मल अन्तःकरण वाली मुमुक्षु आत्माएँ सदगुरु का समाश्रय प्राप्त कर उनके उपदेश से वेदान्तवेद्य परब्रह्म को जानकर उनकी प्राप्तिरूप मोक्ष की सिद्धि के लिए साङ्ग ब्रह्मविद्या के अनुष्ठान से संसार के सम्बन्ध का विनाश कर अर्चिरादि मार्ग के द्वारा प्रकृतिमण्डल से पर त्रिपादविभूति में जाती हैं, वे कादाचित्क मुक्त कहलाती हैं, इनका पुनः संसार में बन्धन नहीं होता। यह आत्मा कर्मकृत शरीर से निकलकर अर्चिरादि से जाकर परब्रह्म को प्राप्त कर अपने रूप से आविर्भूत होती है-**एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते।**(छां.उ.8.12.2) मुक्त सभी विशेषणों वाले परब्रह्म का अनुभव करता है-**सर्वं ह पश्यः पश्यति।**(छां.उ.7.26.2) इत्यादि

श्रुतियाँ कादाचित्क मुक्तों का वर्णन करती हैं, इन्हें ही मुक्त कहा जाता है।

कादाचित्क मुक्त के भेद

कादाचित्क मुक्त आत्माएँ भी दो प्रकार की होती हैं-1.भागवत 2. केवल।

भागवत

भगवान् श्रीसीताराम में परम निष्ठा वाले कादाचित्क मुक्तों को भागवत कहा जाता है।

अब भागवत के भेदों का निरूपण किया जाता है-

भगवद्भोग्यभूत्यादिसाक्षात्कारसुखाश्रयाः।
श्रीराममानसा नित्यं तदनुध्यानतत्पराः॥144॥

केचिद् गुणानुसन्धानपराः कैङ्कर्यतत्पराः।
इत्थं महर्षिभिः प्रोक्ता द्विविधा भगवत्पराः॥145॥

अन्वय

श्रीराममानसाः नित्यं तदनुध्यानतत्पराः भगवद्भोग्यभूत्यादिसाक्षात्कारसुखाश्रयाः। केचिद् गुणानुसन्धानपराः कैङ्कर्यतत्पराः। इत्थं महर्षिभिः भगवत्पराः द्विविधा प्रोक्ताः।

अर्थ

श्रीराममानसाः-श्रीरामचन्द्र में स्थित वृत्ति वाले कुछ कादाचित्क मुक्त **नित्यम्**-सदा **तदनुध्यानतत्पराः**-भगवान् श्रीरामचन्द्र के साक्षात्कार में तत्पर होकर **भगवद्भोग्यभूत्यादिसाक्षात्कारसुखाश्रयाः**-भगवान् के अनुभाव्य विभूति आदि के साक्षात्कार से आनन्दित होते हैं (और श्रीरामचन्द्र में स्थित वृत्ति वाले) **केचिद्**-कुछ कादाचित्क मुक्त **गुणानुसन्धानपराः**-गुणों का साक्षात्कार करते हुए (उनके) **कैङ्कर्यतत्पराः**-कैंकर्य में तत्पर रहते हैं, **इत्थम्**-इस प्रकार **महर्षिभिः**-महर्षियों ने **भगवत्पराः**-कादाचित्क मुक्त भागवत **द्विविधा**-दो प्रकार के **प्रोक्ताः**-कहे हैं।

भाष्य

भागवत के भेद-कादाचित्क मुक्त भागवत भी दो प्रकार के होते हैं-1. साक्षात्कार से आनन्दित। 2. कैंकर्यनिष्ठ।

साक्षात्कार से आनन्दित

कदाचित्क मुक्त आनन्दरूप सविशेष परब्रह्म भगवान् श्रीसीताराम के निरन्तर साक्षात्कार से आनन्दित रहते हैं। बद्ध जीव किसी विषय को जानने के लिए इन्द्रियों की अपेक्षा करते हैं क्योंकि अनादि कर्मरूप अविद्या के कारण उनका धर्मभूतज्ञान संकुचित रहता है, वह इन्द्रियों के द्वारा ही विषय देश में जाकर विषय को प्रकाशित करता है किन्तु मुक्तों की अविद्या न होने से उनका धर्मभूतज्ञान सदा विभु ही रहता है। उस ज्ञान का सभी के साथ सम्बन्ध होने से मुक्त सदा सभी का साक्षात्कार करता रहता है अतः प्रस्तुत श्लोक में मन के वाचक मानस शब्द का अर्थ धर्मभूतज्ञान की वृत्ति है। मुक्त की वृत्ति सदा रामाकार होती है, इस प्रकार वे सतत भगवान् श्रीरामचन्द्र के साक्षात्कार में तत्पर रहते हैं। वे सर्वज्ञ होते हैं, ब्रह्म राम का साक्षात्कार करते हैं और ब्रह्मात्मक चतनाचेतन सभी का साक्षात्कार। अज्ञानी जीव के ज्ञान के विषयों के विविध विशेष्य होते हैं किन्तु मुक्त के ज्ञान का मुख्य विषय भगवान् श्रीराम ही होते हैं। वह विभूति, श्रीविग्रह, और गुणों से विशिष्ट परमात्मा श्रीराम का साक्षात्कार करता रहता है। विभूति से उभयविभूति अर्थात् एकपादविभूति(प्रकृतिमण्डल) और त्रिपादविभूति (दिव्य धाम) दोनों का ग्रहण होता है। भगवान् का श्रीविग्रह अप्राकृत है। जैसे भगवान् सर्वज्ञ हैं, वैसे ही मुक्तात्मा। तैत्तिरीयश्रुति मुक्त के अनुभव के विषय में कहती है कि मुक्तात्मा सभी कल्याण गुणों के सहित ब्रह्म का अनुभव करता है-**सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति।**(तै. 2.1.1)। ऐश्वर्यादि तथा दया, वात्सल्यादि अनन्त कल्याण गुण भगवान् में विद्यमान हैं। ऐश्वर्य का अर्थ नियमनसामर्थ्य है और बल का अर्थ धारणसामर्थ्य। दया, वात्सल्यादि प्रसिद्ध हैं, वे सभी मुक्तात्मा के द्वारा अनुभाव्य हैं। परमात्मा आनन्द ही है, आनन्दरूप परमात्मा को पाकर मुक्त आनन्दित होता है-**रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति।**(तै.उ. 2.7.1)। जैसे भगवान् आनन्दरूप हैं, वैसे उनके गुण भी आनन्दरूप हैं, उनके अनुभव से मुक्तात्मा सदा आनन्दित रहता है।

कैंकर्यनिष्ठ

कैंकर्यनिष्ठ कादाचित्क मुक्त विभूति, श्रीविग्रह और गुण से विशिष्ट आनन्दरूप परब्रह्म भगवान् श्रीसीताराम के निरन्तर साक्षात्कार से आनन्दित

रहते हैं और आनन्दपूर्वक अपने प्राणप्रियतम का कैंकर्य भी करते हैं। गुणों के अनुसन्धान से कैंकर्य में प्रीति बढ़ती रहती है, इस प्रकार किये जाने वाले कैंकर्य का लक्ष्य प्राणनाथ का मुखोल्लास ही होता है।

कादाचित्क मुक्त भागवत का वर्णन करने के पश्चात् अब कादाचित्क मुक्त केवल का वर्णन किया जाता है-

द्विविधा केवला बोध्या दुःखाभावैकतत्पराः।
आत्मानुभूतिपरमा इति चोक्ता महर्षिभिः॥146॥

अन्वय

केवलाः द्विविधा बोध्याः। दुःखाभावैकतत्पराः च आत्मानुभूतिपरमाः इति महर्षिभिः उक्ताः।

अर्थ

केवलाः-केवल **द्विविधा**-दो प्रकार के **बोध्याः**-जानने चाहिए। **दुःखाभावैकतत्पराः**-दुःखाभावैकतत्पर **च**-और **आत्मानुभूतिपरमाः**-आत्मानुभूतिपरायण **इति**-इस प्रकार **महर्षिभिः**-महर्षियों ने (केवल को) **उक्ताः**-कहा है।

भाष्य

केवल के भेद-कादाचित्क मुक्त केवल भी दो प्रकार के होते हैं-1. दुःखाभावैकतत्पर 2.आत्मानुभूतिपरम।

दुःखाभावैकतत्पर

जो केवल नाम वाले कादाचित्क मुक्त एकमात्र दुःखाभाव के अनुभव में तत्पर रहते हैं, वे दुःखाभावैकपरायण केवल दुःखाभावैकतत्पर कहलाते हैं। आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है, ब्रह्मात्मक है किन्तु उन्हें साधनकाल में आत्मा के यथार्थ(ब्रह्मात्मक) स्वरूप का शास्त्र से परोक्ष ज्ञान नहीं हुआ अतः इन्हें आत्मा के यथार्थ स्वरूप का साक्षात्कार भी नहीं हो पाया, इसलिए इन्हें अर्चिरादि मार्ग प्राप्त नहीं होता। इस कारण ये दुःखाभावैकतत्पर प्राकृत लोक में ही रहते हैं, इन्हें आत्मा के यथार्थ स्वरूप का अनुभव नहीं होता। कर्मजन्य शरीर का सम्बन्ध होने से दुःख अपरिहार्य होते हैं। इनकी शरीररहित अवस्था होने से दुःख नहीं होता, दुःखाभाव होता है। ये ब्रह्मात्मक-आत्मानुभव और ब्रह्मानुभव दोनों ही प्राप्त नहीं करते। सांसारिक

जीवों की अपेक्षा दुःखों से मुक्त होने के कारण प्रस्तुत ग्रन्थ में ये मुक्त की कोटि में परिगणित हैं, इन्हें प्राप्त होने वाला कैवल्य विनाशी है। श्रीयामुनाचार्य ने भी इसे विनाशी कहा है। ब्रह्मसाक्षात्कार और ब्रह्मात्मक-आत्मसाक्षात्कार से ही बन्धन के हेतु कर्मरूप अविद्या का विनाश होता है। स्वतन्त्र आत्मा के साक्षात्कार से नहीं होता। कर्म का विनाश न होने से दुःखाभाव की स्थिति के पश्चात् पुनः देह के साथ सम्बन्ध होकर कर्म के विनाश न होने तक जन्म-मृत्यु की शृंखला का आरम्भ हो जाता है।

आत्मानुभूतिपरम

जो केवल नाम वाले कादाचित्क मुक्त अपने ब्रह्मात्मक-आत्मस्वरूप की अनुभूति (अनुभव) में तत्पर रहते हैं, वे आत्मानुभूतिपरायण केवल आत्मानुभूतिपरम कहलाते हैं।

ग्रन्थकार स्वामी जी ने भागवत और केवल इस प्रकार कादाचित्क मुक्त के दो विभाग कहे थे। प्रकृति के बन्धन से विनिर्मुक्त होकर भागवतों को जो ब्रह्मानुभव प्राप्त होता है, उसे मोक्ष कहते हैं। आत्मानुभूतिपरम केवल को ब्रह्मानुभव प्राप्त नहीं होता, उसे ब्रह्मात्मक-आत्मानुभव प्राप्त होता है, वह कैवल्य कहलाता है, वह विरजा के पार प्राप्त होता है-**विरजापारं कैवल्यमिति।**(श्रीवै.भा.111) ऐसा पूर्व में प्रस्तुत ग्रन्थ में ही कहा था।

कैवल्य

प्रकृति के सम्बन्ध से विनिर्मुक्त होकर अपनी ब्रह्मात्मक आत्मा का अनुभव करना कैवल्य कहलाता है-**ब्रह्मात्मकस्वस्वरूपमात्रानुभवः कैवल्यम्।** तापत्रय से संतप्त मनुष्य 'अपनी आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है, ब्रह्मात्मक है' इस प्रकार शास्त्र से जानकर ज्ञानयोग के अभ्यास से ब्रह्मात्मकत्वेन ज्ञानानन्दस्वरूप अपनी आत्मा का अनुसंधान करते हैं किन्तु 'मैं ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ, ब्रह्मात्मक हूँ' इस प्रकार वे अपनी आत्मा का ही प्रधानरूप से अनुसं धान करते हैं, उसके विशेषणरूप से ब्रह्म का अनुसन्धान करते हैं। उपनिषदों में इस लोक से अर्चिरादिमार्गद्वारा जाने वालों की ही मुक्ति कही गयी है। ब्रह्मसूत्र के **कार्याधिकरण**(ब्र.सू.4.3.5) के भाष्य में कहा गया है कि परब्रह्म की उपासना करने वाले तथा प्रकृति के सम्बन्ध से रहित ब्रह्मात्मक अपनी आत्मा की उपासना करने वाले जीव अर्चिरादि को प्राप्त होते हैं-**तद् य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते, तेऽर्चिषमभि**

संभवन्ति।(छां.उ.5.10.1), यहाँ तथा बृहदारण्यक(6.2.13)में पठित पञ्चाग्निविद्या ब्रह्मात्मक-आत्मविद्या है। ब्रह्मात्मक-आत्मवेत्ता अर्चिरादि से जाकर विरजा के पार ब्रह्म को प्राप्त कर इस संसार में नहीं आते। इस प्रकार परिशुद्ध आत्मस्वरूप की प्राप्ति भी ब्रह्मप्राप्ति के अन्तर्गत है। जिस प्रकार मधुविद्यानिष्ठ साधक प्रारम्भ में फलरूप से वसु देवता पद को प्राप्त कर उत्तरकाल में उससे विरक्त होकर पर ब्रह्म को प्राप्त करता है, उसी प्रकार पञ्चाग्निविद्यानिष्ठ ब्रह्मात्मक-आत्मा की उपासना करने वाला भी आरम्भ में फलरूप से ब्रह्मात्मक-आत्मानुभवरूप कैवल्य को प्राप्त कर उत्तर काल में उससे विरक्त होकर परब्रह्मानुभवरूप मोक्ष को प्राप्त करता है, ऐसा श्रीवेदान्तदेशिक स्वामी ने गीताभाष्य की तात्पर्यचन्द्रिका व्याख्या में कहा है। प्राणविद्यानिष्ठ[1] साधक आत्मा का अनुसन्धान करने वाला है किन्तु ब्रह्मात्मक-आत्मा का अनुसन्धान करने वाला नहीं है अतः इसे अर्चिरादि मार्ग प्राप्त नहीं होता, इसे प्रकृतिमण्डल के ही उच्चलोक प्राप्त होते हैं। कल्पान्त में सत्यलोक में हिरण्यगर्भ के उपदेश के अनन्तर उपासना से जिन्हें ब्रह्म का या ब्रह्मात्मक आत्मा का साक्षात्कार हो जाता है, वे मुक्त होकर अप्राकृत लोक जाते हैं और जिन्हें साक्षात्कार नहीं होता, वे पुनः शरीर धारण करते हैं।

पर ब्रह्म का अनुभव ही मोक्ष है। कैवल्य सुख विषयसुख से उत्कृष्ट है किन्तु ब्रह्मानन्दरूप मोक्षसुख से अत्यन्त निकृष्ट है। कैवल्य में विषयसुख और ब्रह्मानन्दरूप सुख ये दोनों ही नहीं मिलते। वास्तव में कैवल्य मुख्य मोक्ष नहीं है, इसे गौणरूप से मोक्ष कहा जाता है। इस कैवल्य में मनुष्य सभी कर्मों से छुटकारा नहीं पाता, इसमें कम से कम ब्रह्मानुभव के प्रतिबन्धक कर्म रहते ही हैं। जो कैवल्य पद में पहुँचकर अपने आत्मस्वरूप का अनुभव करते हैं, उनका धर्मभूतज्ञान संकुचित होकर आत्माकार रहता है। ब्रह्मानुभव करने वालों का ही ज्ञान विभु रहता है। इस प्रकार कैवल्य ज्ञान का संकोचरूप सिद्ध होता है। आत्मानुभव में सन्तोष करने वाले अर्थात् कैवल्यार्थी योगियों का अमृत स्थान है। अनन्य होकर ब्रह्म का ध्यान करने वाले योगियों का वह परम स्थान है, सूरिगण जिसका सदा दर्शन करते रहते हैं-**योगिनाममृतं स्थानं स्वात्मसन्तोषकारिणाम्। एकान्तिनः**

1.यहाँ भूमाविद्या के अन्तर्गत पढ़ी गयी प्राणविद्या को लेना चाहिए।

सदा ब्रह्मध्यायिनो योगिनश्च ये। तेषां तु परमं स्थानं यत् तत् पश्यन्ति सूरयः॥(वि.पु.1.6.38-39) यहाँ जो द्वितीय स्थान परमपद वर्णित है, वह ब्रह्म का ध्यान करने वाले योगियों को प्राप्त होता है, इसका **सदा पश्यन्ति सूरयः।**(सु.उ.6) इस प्रकार श्रुति वर्णन करती है, इससे सिद्ध होता है कि स्वतन्त्र आत्मानुभव करने वालों का प्राप्य अमृतस्थान परम पद नहीं है। यह ब्रह्माण्ड के अन्तर्गत ही है। विष्णुपुराण में कहा है कि भूतों के प्रलयपर्यन्त रहने वाला स्थान अमृत कहा जाता है-**आभूतसंप्लवं स्थानममृतत्वं विभाव्यते।**(वि.पु.2.8.95)। भगवान् ने कहा है कि आर्त, अर्थाथी, जिज्ञासु और ज्ञानी इस प्रकार मेरे भक्तजन चार प्रकार के सुने जाते हैं, उनमें एकमात्र मुझ भगवान् में निष्ठा रखने वाले ज्ञानी भक्त श्रेष्ठ हैं। फलेच्छारहित होकर कर्म करने वाले ज्ञानी भक्तों की मैं ही गति हूँ। जो अन्य तीन प्रकार के भक्त हैं, वे फल चाहने वाले माने जाते हैं, वे तीनों ही अपने-अपने फल से च्युत होते हैं और ब्रह्मोपासक ज्ञानी भक्त ही मोक्षप्राप्त करता है-**चतुर्विधा मम जना भक्ता एव हि ते श्रुताः। तेषामेकान्तिनः श्रेष्ठास्ते चैवानन्यदेवताः। अहमेव गतिस्तेषां निराशीः कर्मकारिणाम्। ये तु शिष्टास्त्रयो भक्ताः फलकामा हि ते मताः। सर्वे च्यवनधर्माणः प्रतिबुद्धस्तु मोक्षभाक्।**(म.भा.शां.341.33.35)। वैष्णववेदान्त सिद्धान्त में ही ब्रह्मात्मक आत्मा का अनुसन्धान विहित है किन्तु न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग और निर्विशेषाद्वैत सिद्धान्त में विहित नहीं है। श्रुतियों में ब्रह्मात्मक आत्मानुसंधान करने वालों को अर्चिरादि से ब्रह्मलोक की प्राप्ति कही है। अब्रह्मात्मक(स्वतन्त्र) आत्मानुसंधान करने वालों को नहीं। इस प्रकार स्वतन्त्र आत्मा का अनुसन्धान करने वालों को यहीं पर प्राप्त होने वाला कैवल्य विनाशी सिद्ध होता है किन्तु ब्रह्मात्मक आत्मा का अनुसन्धान करने वालों को अप्राकृत धाम में प्राप्त होने वाला कैवल्य अविनाशी है।

अब ग्रन्थकार श्रीसुरसुरानन्द के सप्तम प्रश्न का उत्तर देना आरम्भ करते हैं-

समुच्यते सम्प्रति लक्षणं सन्महात्मनां सद्गुणवैष्णवानाम्।
विरिञ्चिशम्भुश्रितरामचन्द्रपदारविन्दस्थितचेतसां तु[1]॥147॥

1.अत्र हि इति पाठान्तरम्।

अन्वय

तु सम्प्रति विरिञ्चिशम्भुश्रितरामचन्द्रपदारविन्दस्थितचेतसां सद्गुणवैष्णवानां महात्मनां सत् लक्षणं समुच्यते।

अर्थ

तु-किन्तु **सम्प्रति**-अब **विरिञ्चिशम्भुश्रितरामचन्द्रपदारविन्दस्थित-चेतसाम्**-ब्रह्मा और शिव के द्वारा सेवित श्रीरामचन्द्र के पादारविन्दों में लीन मन वाले **सद्गुणवैष्णवानाम्**-सद्गुणसम्पन्न वैष्णव **महात्मनाम्**- महापुरुषों का **सत्**-निर्दुष्ट **लक्षणम्**-लक्षण **समुच्यते**-कहा जाता है।

प्रभु श्रीरामचन्द्र के पावन पादपद्म चतुर्मुख ब्रह्मा और भगवान् शंकर के द्वारा भी आराधित हैं, उनका ध्यान करने वाले दैवीसम्पदासम्पन्न वैष्णव महापुरुषों का लक्षण अब कहा जाता है-

धृतोर्ध्वपुण्ड्रस्तुलसीसमुद्भवां दधच्च मालाममलो हि कण्ठतः[1]।
तज्जन्मकर्माणि हरेरुदाहरेद् गुणांश्च[2] नामानि शुभप्रदानि सः॥148॥

अन्वय

कण्ठतः[3] तुलसीसमुद्भवां मालां दधत् धृतोर्ध्वपुण्ड्रः हरेः शुभप्रदानि नामानि उदाहरेत् च तज्जन्मकर्माणि च गुणान्, सः अमलः हि।

अर्थ

कण्ठतः-कण्ठ में **तुलसीसमुद्भवाम्**-तुलसी से निर्मित **मालाम्**-माला को **दधत्**-धारण करते हुए (जो) **धृतोर्ध्वपुण्ड्रः**-ऊर्ध्वपुण्ड्रधारी व्यक्ति **हरेः**-श्रीहरि के **शुभप्रदानि**-कल्याणकारक **नामानि**-नामों का **उदाहरेत्**-उच्चारण करे **च**-और **तज्जन्मकर्माणि**-उनके अवतार व लीलाओं का वर्णन करे **च**-तथा **गुणान्**-गुणों का बखान करे, **सः**-उस **अमलः**-महापुरुष को **हि**-निस्सन्देह वैष्णव जानना चाहिए।

भाष्य

वैष्णव के लक्षण-तुलसीमालाधारण और ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण वैष्णवों के

1.अत्र **मालाममलो हि कण्ठतः** इत्यस्य स्थाने **कण्ठे शुभमालिकां जनः** इति पाठान्तरम्। 2.अत्र **गुणांश्च** इत्यस्य स्थाने **गृह्णंश्च** इति पाठान्तरम्। 3.अत्र सप्तम्यर्थे तसिप्रत्ययः।

लक्षण हैं। भगवान् के सभी नाम मंगलकारक हैं, उनके मंगलकारक नामों का प्रीतिपूर्वक उच्चारण करना तथा गुण, अवतार, लीला और नाममहिमा का प्रतिपादन करना भी वैष्णवों के लक्षण हैं।

धनुर्धरस्याशृणुयान्निरन्तरं[1] कथां च गायेत्सुयशोऽङ्कितां मुहुः।
रूपं तदीयं च[2] चराचरात्मकं पश्यन् सतां सङ्गमुदारधीश्चरेत्॥149॥

अन्वय

उदारधीः धनुर्धरस्य सुयशोऽङ्कितां कथां निरन्तरं आशृणुयात् च मुहुः गायेत् च चराचरात्मकं तदीयं रूपं पश्यन् सतां सङ्गं चरेत्।

अर्थ

उदारधीः-निर्मल अन्तःकरण वाला साधक **धनुर्धरस्य**-धनुर्धारी श्रीराम की **सुयशोऽङ्किताम्**-निर्मल यश से युक्त **कथाम्**-कथा को **निरन्तरम्**-प्रतिदिन **आशृणुयात्**-एकाग्र होकर सुने **च**-और (उस कथा का) **मुहुः**-बारम्बार **गायेत्**-गान करे **च**-तथा **चराचरात्मकम्**[3]-चराचर जगत् को **तदीयम्**-भगवान् राम का (ही) **रूपम्**-रूप **पश्यन्**-समझते हुए **सताम्**-सत्पुरुषों का **सङ्गम्**-संग **चरेत्**-करे।

भाष्य

उदात्त नायक, धनुर्धारी, सीतापति, परब्रह्म श्रीराम की कथा का श्रवण और गान वैष्णवों का लक्षण है, इसी प्रकार चेतनाचेतनात्मक जगत् को श्रीराम का ही रूप समझना और महापुरुषों की संगति करना भी वैष्णवों के लक्षण हैं।

धीर-गम्भीर, आदर्श, परम पुरुष, प्रभु श्रीराम की कलिकल्मषहारिणी कथा उनके पावन कीर्तिपुञ्ज का परिचायक है। वैष्णव को अपने प्रियतम प्रभु के प्रेम की पराकाष्ठा को प्राप्त के लिए प्रतिदिन एकाग्रचित्त होकर उस पुनीत कथा का श्रवण करना चाहिए, उसका पुनः पुनः चिन्तन और गान भी करना चाहिए।

1.अत्र **धनुर्धरस्याशृणुयान्निरन्तरम्** इत्यस्य स्थाने **सीतापतेः संशृणुयान्निरन्तरम्** इति पाठान्तरम्। 2.अत्र 'तु' इति पाठान्तरम्। 3.चराचरात्मकम्। चराचरम् आत्मा स्वरूपं यस्य तत्, समासान्तः कप्प्रत्ययः।

रामरूप जगत्

हे सोम्य! यह जगत् सृष्टि के पूर्व एक सद् ब्रह्म ही था–**सदेव सोम्येदमग्र आसीत्**।(छां.उ.6.2.1) इत्यादि श्रुतियाँ सृष्टि के पूर्वकाल में एक ब्रह्म की ही विद्यमानता को कहती हैं और ब्रह्म ने स्वयं को जगद्रूप में अभिव्यक्त किया–**तदात्मानं स्वयमकुरुत**।(तै.उ.2.7.1) यह श्रुति तथा **आत्मकृतेः**(ब्र.सू.1.4.26) और **परिणामात्**(ब्र.सू.1.4.27) इन सूत्रों से ब्रह्म राम का जगत्रूप होना कहा जाता है। वह अपने संकल्प से जगत्रूप होता है। सृष्टि के पूर्व में ब्रह्म नामरूपविभाग के अभाव वाले सूक्ष्म चेतनाचेतन से विशिष्ट होकर रहता है और सृष्टिकाल में नामरूपविभाग वाले स्थूल चेतनाचेतन से विशिष्ट होकर रहता है, इससे स्पष्ट होता है कि सूक्ष्म चेतनाचेतनविशिष्ट ब्रह्म ही स्थूल चेतनाचेतनविशिष्टरूप से अभिव्यक्त होता है। सूक्ष्म चेतनाचेतनविशिष्ट ब्रह्म कारण है और स्थूल चेतनाचेतनविशिष्ट ब्रह्म कार्य(जगत्) है। इस प्रकार कार्य–कारण का अभेद अर्थात् जगत् ब्रह्म ही सिद्ध होता है। जैसे मिट्टी के कार्य घटादि मिट्टी ही होते हैं, वैसे ब्रह्म का कार्य जगत् ब्रह्म ही है। इस प्रकार कार्य–कारण का अभेद होने से यह जडचेतनात्मक सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म श्रीराम का ही रूप है अर्थात् जगत् ब्रह्म ही है, ऐसा जानना चाहिए। **सर्वं खल्विदं ब्रह्म**।(छां.उ.3.14.1), **वासुदेवः सर्वम्**।(गी.7.19), **सीयराममय सब जग जानी**।(रा.च.मा.1.7.2) इत्यादि शास्त्रवचन इसी अर्थ का निरूपण करते हैं। इस विषय का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत ग्रन्थ के 12 वें श्लोक में सकलप्रपञ्चरूप के व्याख्यान में किया गया है।

जगत् को भगवान् का रूप समझते हुए भगवत्प्राप्त महापुरुषों का संग करना चाहिए और कुसंग से सदा बचना चाहिए क्योंकि साधक के लिए सत्संग से अधिक कल्याणकारक कुछ नहीं तथा कुसंग से अधिक हानिकारक कुछ नहीं।

चापादिपञ्चायुधचिह्निताङ्कान्[1] समीक्ष्य हृष्टश्च हरिप्रियानसौ[2]।
तथाविधान् भक्तिपरः समर्चयेत्[3] सुवैष्णवाञ्जन्मफलादि संस्तुवन्॥150॥

1.अत्र **चापादिपञ्चायुधचिह्निताङ्कः** इति तथा **चक्रादिपञ्चायुधचिह्निताङ्कः** इत्यपि पाठान्तरम्। 2.अत्र **हरिप्रियानथ** इति पाठान्तरम्। 3.अत्र **प्रपूजयेत्** इति पाठान्तरम्।

अन्वय

असौ भक्तिपरः चापादिपञ्चायुधचिह्निताङ्गकान् तथाविधान् हरिप्रियान् सुवैष्णवान् समीक्ष्य च हृष्टः जन्मफलादि संस्तुवन् समर्चयेत्।

अर्थ

असौ-वह **भक्तिपरः**-भक्तिपरायण मुमुक्षु **चापादिपञ्चायुधचिह्निताङ्गकान्**-धनुष आदि पञ्च आयुधों से चिह्नित अंग वाले **तथाविधान्**-सद्गुणसम्पन्न **हरिप्रियान्**[1]-भगवान् से प्रेम करने वाले **सुवैष्णवान्**-उत्तम वैष्णवों का **समीक्ष्य**-दर्शन कर **च**-और (उससे) **हृष्टः**-हर्षित होकर **जन्मफलादि**-जन्मफलादि की **संस्तुवन्**-सम्यक् स्तुति करते हुए (उन वैष्णवों की) **समर्चयेत्**-सम्यक् अर्चना करे।

भाष्य

वैष्णव का लक्षण-प्रस्तुत श्लोक से हरिभक्तों के दर्शन से हर्षित होना और उनकी सेवा करना वैष्णव का लक्षण कहा जाता है। वैष्णव का लक्षण कहने के उपरान्त अब प्रसंगतः उनकी सेवा कही जाती है-

वैष्णवाराधन

धनुष, बाण, चक्र, गदा और खड्ग ये पाँच भगवान् के आयुध हैं। कुछ विद्वान् चक्र, शंख, गदा, खड्ग और धनुष इन्हें पञ्चायुध कहते हैं। पञ्च आयुधों से शरीर को अंकित करने का विधान आगम शास्त्रों में मिलता है। प्रस्तुत श्लोक में 'चापादिपञ्चायुधचिह्निताङ्गकान्' पद पञ्चसंस्कारसम्पन्नान् का भी उपलक्षण है। पञ्च आयुधों से चिह्नित और पञ्च संस्कार से सम्पन्न, सद्गुणशाली श्रेष्ठ वैष्णव भगवान् से प्रेम करने के कारण भगवान् के प्रिय होते हैं। ऐसे वैष्णवों का दर्शन करने से सात्त्विक भक्तिनिष्ठ मुमुक्षु के हृदय में परमानन्द का पारावार उमड़ता है, तब 'इन वैष्णवों को ही जन्म लेने का फल प्राप्त होता है, इनका जीवन धन्य है' इस प्रकार दर्शनीय वैष्णवों की स्तुति करता हुआ अथवा इनके दर्शन से मुझे जन्म का फल प्राप्त हो गया, मेरा जीवन धन्य हो गया, इस प्रकार अपने भाग्य की स्तुति करते हुए उन्हें यथोचित भोजन, वस्त्र और औषध आदि देकर

1.हरिः प्रियः येषां ते अथवा हरेः प्रियाः हरिप्रियाः तान्।

सम्मानित करना चाहिए।

पूर्व श्लोक में वैष्णव सम्मान के योग्य कहे गये, ऐसा क्यों? इस जिज्ञासा का उत्तर कहा जाता है-

[1]पञ्चायुधाङ्का भुवि वैष्णवा ये मुखाग्रजक्षत्रियवैश्यशूद्राः।
स्त्रियस्तथाऽन्येऽपि च विष्णुरूपा जगत्पवित्रप्रपवित्रिणस्ते॥151॥

अन्वय

भुवि मुखाग्रजक्षत्रियवैश्यशूद्राः स्त्रियः तथा अन्ये ये अपि पञ्चायुधाङ्काः वैष्णवाः, ते विष्णुरूपाः च जगत्पवित्रप्रपवित्रिणः।

अर्थ

इस **भुवि**-पृथ्वी पर **मुखाग्रजक्षत्रियवैश्यशूद्राः**-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र (और) **स्त्रियः**-स्त्री **तथा**-तथा **अन्ये**-अन्य **ये**-जो **अपि**-भी **पञ्चायुधाङ्काः**-पञ्च आयुध से अंकित **वैष्णवाः**-वैष्णव हैं, **ते**-वे **विष्णुरूपाः**-विष्णुरूप हैं **च**-और **जगत्पवित्रप्रपवित्रिणः**-जगत् को पवित्र करने वालों को भी पवित्र करने वाले हैं।

भाष्य

वैष्णव की महिमा-इस पृथ्वी पर चतुर्वर्ण के अन्तर्गत ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और स्त्रियाँ तथा चतुर्वर्ण से बहिष्कृत जो चण्डाल हैं, पञ्च आयुध और पञ्च संस्कारों से सम्पन्न होने पर उन्हें भगवान् विष्णु का ही रूप समझना चाहिए। जगत् को पवित्र करने वाले अग्नि, सूर्य और तीर्थ होते हैं तथा उनको भी पवित्र करने वाले वे भगवत्साक्षात्कारी महापुरुष होते हैं। अग्नि आदि देवता भी उनका सम्मान करते हैं तथा तीर्थ भी उनके आगमन की प्रतीक्षा करते रहते हैं। कल्याणकामी पुरुषों के कलुष(पाप) को तीर्थ ले लेते हैं और भगवत्साक्षात्कारी वैष्णव तीर्थ के इस कलुष को दूर करने में समर्थ होते हैं अतः वे हरिभक्तों के दर्शन की आशा करते रहते हैं इसीलिए श्रीमद्भागवत में कहा है कि हे विदुर जी! आपके समान भगवान् के प्रिय भक्त स्वयं ही तीर्थस्वरूप होते हैं। आप सभी अपने हृदय

1.अत्र पूर्वार्धस्य स्थाने **पञ्चायुधाङ्काङ्कितवैष्णवा ये विप्रा अथ क्षत्रियवैश्यशूद्राः** इति पाठान्तरम्।

में स्थित भगवान् के द्वारा तीर्थों को भी तीर्थ बनाते हुए विचरण करते हैं-**भवद्विधा भागवतास्तीर्थभूताः स्वयं विभो। तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता।**(भा.1.13.10)।

ते सर्वतीर्थाश्रयभूतदेहा देशे महाभागवता वसन्ति।
[1]यत्रैव तद्दर्शनतत्स्थितिभ्यां जातं सुपुण्यं निखिलाघनाशनम्॥152॥

अन्वय

ते सर्वतीर्थाश्रयभूतदेहाः महाभागवताः यत्र देशे वसन्ति, तद्दर्शनतत्स्थितिभ्याम् निखिलाघनाशनं सुपुण्यम् एव जातम्।

अर्थ

ते-पञ्च आयुधों से अंकित और पञ्च संस्कारों से सम्पन्न **सर्वतीर्थाश्रयभूतदेहाः**-सभी तीर्थों के आश्रयरूप देह वाले **महाभागवताः**-महान् भगवद्भक्त **यत्र**-जिस **देशे**-स्थान में **वसन्ति**-निवास करते हैं, **तद्दर्शनतत्स्थितिभ्याम्**-उस स्थान के दर्शन से और वहाँ निवास करने से **निखिलाघनाशनम्**-सम्पूर्ण पापों का नाशक **सुपुण्यम्**-प्रचुर पुण्य **एव**-अवश्य **जातम्**-होता है।

भाष्य

महाभागवत की भक्ति के प्रभाव से उसके सात्त्विक देह में सभी तीर्थ निवास करते हैं और उसके सात्त्विक निवासस्थान की ऐसी विलक्षण महिमा है कि जब मुमुक्षु श्रद्धापूर्वक उसके दर्शन करता है और वहाँ निवास करता है, तब उसका विषयप्रवण चित्त समाहित होकर हरिभक्ति में लीन हो जाता है, इससे जो पुण्य होता है, वह भक्ति के विरोधी सम्पूर्ण पापों का नाश करने में समर्थ होता है।

तदर्चनात् तत्पदनीरपानात् तत्सङ्गतेस्तत्प्रणतेर्विधानात्।
नृणां तदुच्छिष्टसुभोजनाच्च[1] स्यात्कोटिजन्मार्जितपापनाशः॥153॥

अन्वय

विधानात् तदर्चनात् तत्प्रणतेः तत्सङ्गतेः तत्पदनीरपानात् च तदुच्छिष्ट-

---

1.अत्र उत्तरार्धस्य स्थाने यस्मिन् स तद्दर्शनसंस्थितिभ्यां सूते सुपुण्यं निखिलाघशून्यम् इति पाठान्तरम्।

सुभोजनात् नृणां कोटिजन्मार्जितपापनाशः स्यात्।

अर्थ

विधानात्-विधिपूर्वक **तदर्चनात्**-महाभागवतों की सेवा करने से **तत्प्रणतेः**-उन्हें प्रणाम करने से **तत्सङ्गतेः**-उनका संग करने से **तत्पदनीरपानात्**-उनके पादोदक को पीने से **च**-और **तदुच्छिष्टसुभोजनात्**-उनका उच्छिष्ट भोजन करने से **नृणाम्**-मनुष्यों के **कोटिजन्मार्जितपापनाशः**-करोड़ों जन्म में अर्जित पापों का नाश **स्यात्**-होता है।

भाष्य

शास्त्रों में ब्रह्मवेत्ता हरिभक्तों की सेवा करने का विधान किया गया है। मुण्डकश्रुति कहती है कि ऐश्वर्य की कामना करने वाला मनुष्य परमात्मतत्त्ववेत्ता महाभागवत की अर्चना करे-**आत्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः।**(मु. उ.3.1.10), ऐश्वर्यकामी पुरुष को भगवत्साक्षात्कारी महापुरुष की सेवा से ऐश्वर्य के प्रतिबन्धक पापों का नाश होने से ऐश्वर्य प्राप्त होता है, इसी प्रकार अन्य फलों की कामना करने वालों को उनकी सेवा से प्रतिबन्धक पापों की निवृत्तिपूर्वक अभीष्ट फल की प्राप्ति होती है। मुमुक्षु पुरुष तो भगवान् को छोड़ कर कुछ चाहता ही नहीं, इसलिए हरिभक्तों की सेवा से भगवत्प्राप्ति के प्रतिबन्धक पापों का नाश होता है। जैसे हरिभक्तों की सेवा से पापों का विनाश होता है, वैसे ही उन्हें प्रणाम करने से, उनके चरणामृत का पान करने से और उनका भुक्तशिष्ट भोजन करने से मनुष्यों के अनेक जन्मों में अर्जित पापों का नाश हो जाता है।

उच्छिष्ट भोजन करने से संक्रामक रोग और अन्य दोषों की संभावना रहती है, इसलिए शास्त्र उच्छिष्ट भोजन का निषेध करते हैं किन्तु शास्त्र भगवद्भक्तों के उच्छिष्ट खाने का विधान भी करते हैं, अतः सामान्यतः सभी का उच्छिष्ट भोजन नहीं करना चाहिए तथापि अनन्य हरिभक्त का उच्छिष्ट भोजन लिया जा सकता है। श्रीमद्भागवतमहापुराण(1.5.25) में महापुरुषों के उच्छिष्टसेवन की महिमा वर्णित है।

कार्पासकैः सप्तभिरद्भुतैर्गुणैः सुनिर्मितं तत्कटिसूत्रमुत्तमम्।
कौपीनकं वस्त्रयुगं च धारयेत्तथोर्ध्वपुण्ड्रादिकमेव वैष्णवः॥154॥

अन्वय

वैष्णवः कार्पासकैः अद्भुतैः सप्तभिः गुणैः सुनिर्मितं तत् उत्तमं कटिसूत्रं कौपीनकं च वस्त्रयुगं धारयेत् तथा उर्ध्वपुण्ड्रादिकम् एव।

अर्थ

वैष्णवः-वैष्णव **कार्पासकैः**-कपास से बने **अद्भुतैः**-विलक्षण (एकाकार) **सप्तभिः**-सात **गुणैः**-धागों से **सुनिर्मितम्**-निर्मित **तत्**-उस **उत्तमम्**-उत्तम **कटिसूत्रम्**-कटिसूत्र को **कौपीनकम्**-कौपीन को **च**-और **वस्त्रयुगम्**-दो वस्त्रों को **धारयेत्**-धारण करे **तथा**-तथा **उर्ध्वपुण्ड्रादिकम्**-ऊर्ध्वपुण्ड्रादि को (भी) **एव**-अवश्य धारण करे।

भाष्य

वेष-शान्ति की कामना करने वाले मुमुक्षु को सदा शास्त्र की मर्यादा का पालन करना चाहिए। सामान्य परिवेष में रहना चाहिए। भड़कीले व पाश्चात्य सभ्यता के वस्त्रों को कभी भी धारण नहीं करना चाहिए। इन्हें पहनने से मन की सात्त्विकता नष्ट होकर बहिर्मुखता आती है। आराधन काल में दो वस्त्र धारण करना उत्तम माना जाता है। ब्रह्मचारी और संन्यासियों के लिए कौपीनधारण करने का विधान है, इसके लिए सात धागों वाला सूती आड़बन्ध को कमर में बाँधना प्रशस्त है। कुछ संस्कारवान् गृहस्थ भी पूजा तथा भोजनकाल में कौपीन अवश्य धारण करते हैं। वर्णाश्रमव्यवस्था सभी वैदिक सम्प्रदायों पर लागू होती है। संन्यासी के लिए शास्त्रों में कषाय वस्त्र विहित है। इन विषयों के परिज्ञान के लिए धर्मशास्त्र का अध्ययन करना चाहिए।

वैष्णवों के लक्षण कहने के उपरान्त अब उनके निवास स्थान का वर्णन आरम्भ किया जाता है।

[1]तेषां निवासोऽथ निरूप्यतेऽधुना मोक्षप्रदः शास्त्रसुसम्मतोऽयम्।।
महामते वैष्णवभेदमुक्त्वा जिज्ञासुबोध्यं बहुधा विबुध्यताम्।।155।।

1.अस्य श्लोकस्य स्थाने **अथ मोक्षप्रदं शास्त्रसम्मतं वत्स तेऽधुना। वैष्णवानां च सर्वेषां वासस्थानं निरूप्यते** इति पाठान्तरः च **प्रोच्य तदीयमाप्यं तेषां निवासस्तु निरूप्यतेऽथ। मोक्षप्रदः शास्त्रसुसम्मतश्च जिज्ञासुबोध्यो भव सावधानः** इत्यपि पाठान्तरः।

अन्वय

महामते! बहुधा जिज्ञासुबोध्यं वैष्णवभेदम् उक्त्वा अधुना तेषां शास्त्रसुसम्मतः मोक्षप्रदः निवासः निरूप्यते, अथ अयं विबुध्यताम्।

अर्थ

महामते-हे निर्मल मति वाले शिष्य सुरसुरानन्द! **बहुधा**-अनेक प्रकार से **जिज्ञासुबोध्यम्**-जिज्ञासुओं के द्वारा ज्ञेय **वैष्णवभेदम्**-वैष्णवों के लक्षण को **उक्त्वा**-कहकर **अधुना**-अब **तेषाम्**-वैष्णवों के **शास्त्रसुसम्मतः**-शास्त्रों से सम्यक् अनुमोदित (और) **मोक्षप्रदः**-मोक्षप्रदान करने वाले **निवासः**-निवासस्थान का **निरूप्यते**-निरूपण किया जाता है, **अथ**-अब **अयम्**-इसे (एकाग्रचित्त से) **विबुध्यताम्**-समझो।

भाष्य

वेदान्तसिद्धान्त में अभाव को अतिरिक्त पदार्थ नहीं माना जाता अपितु भावरूप ही माना जाता है। चार प्रकार के अभावों में एक अन्योन्याभाव है, इसे ही भेद कहते हैं। यह अधिकरण में विद्यमान उसका असाधारण धर्म होता है और असाधारण धर्म को ही लक्षण कहा जाता है, इस प्रकार श्लोक में आये वैष्णवभेद का अर्थ वैष्णव का लक्षण होता है।

निवासस्थान

शास्त्रों के द्वारा विहित साधकों के निवासस्थान मोक्षसाधन भक्तियोग के सहायक होते हैं। कैसे? उन स्थानों में भक्तियोग का आचरण करने पर स्थान के प्रभाव से साधक का चित्त सात्त्विक होकर समाहित हो जाता है, तब साधन तीव्रगति से अग्रसरित होकर मोक्ष प्रदान करने में समर्थ होता है, इसलिए प्रस्तुत श्लोक में निवासस्थान को मोक्षप्रदाता कहकर उसका वर्णन आरम्भ किया जाता है।

अशेषतीर्थेषु वसेत् समर्चयन्[1] स तत्र तत्राविरभूदनुत्तमम्[2]।
तथा तथा तं जगतामनन्यधीः पतिं चतुर्वर्गफलप्रदं हरिम्[3]॥156॥

1.अत्र **प्रपूजयन्** इति पाठान्तरः। 2.अत्र द्वितीयपादस्य स्थाने **स यत्र यत्राविरभूद् यथा यथा** इति पाठान्तरः। 3.अस्य श्लोकस्य उत्तरार्धस्य स्थाने **तथा तथा तत्र रघूत्तमं जगत्पतिं चतुर्वर्गफलप्रदं हरिम्** इति पाठान्तरः।

अन्वय

आविः अभूत्, तत्र तत्र अशेषतीर्थेषु चतुर्वर्गफलप्रदं जगतां तं पतिम् अनुत्तमं हरिं तथा तथा समर्चयन् सः अनन्यधीः वसेत्।

अर्थ

भगवान् (जिन जिन स्थानों में, जिन जिन रूपों में) **आविः**-प्रकट **अभूत्**-हुए, **तत्र तत्र**-उन उन **अशेषतीर्थेषु**-सभी तीर्थ स्थानों में **चतुर्वर्गफलप्रदम्**-धर्मादि चारों प्रकार के फल प्रदान करने वाले **जगताम्**-जगत् के **तम्**-उस **पतिम्**-स्वामी **अनुत्तमम्**[1]-सर्वोत्तम **हरिम्**-भगवान् की **तथा तथा**-उन उन रूपों में **समर्चयन्**-सम्यक् आराधना करते हुए **सः**-मुमुक्षु वैष्णव **अनन्यधीः**-एक मात्र भगवान् में लीन चित्त वाला होकर **वसेत्**-निवास करे।

भाष्य

वेदवेद्य, सर्वावतारावतारी, पूर्ण ब्रह्म, पुरुषोत्तम भगवान् अयोध्या में दशरथनन्दनरूप में अवतरित होते हैं और गोकुल में नन्दनन्दन के रूप में। वे कहीं वामनरूप में अवतरित होते हैं तथा कहीं नरसिंह, मत्स्य, कूर्म और वराहरूप में। भगवान् जिन जिन स्थानों में जिन जिन रूपों में अवतरित होते हैं, उन समस्त तीर्थस्थलों में उन उन रूपों में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों प्रकार के फल प्रदान करने वाले, जगत् के स्वामी परात्पर भगवान् की आराधना करते हुए निवास करना चाहिए अर्थात् अयोध्या में दशरथनन्दन भगवान् की बालरूप से, राजकुमाररूप से और राजाधिराजरूप से आराधना करते हुए, जनकपुर में दूल्हारूप से चित्रकूटादि में वनवासीरूप से, नासिकादि में शत्रुसंहारकरूप से तथा उत्तराखण्ड में तपस्वीरूप से आराधना करते हुए तल्लीन होकर निवास करना चाहिए। इसी प्रकार गोकुल में नन्दनन्दन भगवान् की बालरूप से, गोवर्धन तथा वृन्दावन में गोपालरूप से और किशोररूप से आराधना करते हुए, उज्जयिनी में ब्रह्मचारीरूप से और द्वारका में द्वारकाधीशरूप से आराधना करते हुए तल्लीन होकर निवास करना चाहिए, इसी प्रकार अन्य तीर्थों के विषय में भी जानना चाहिए।

1.न विद्यते उत्तमः यस्मात् स अनुत्तमः, तं सर्वोत्तममित्यर्थः।

अब ग्रन्थकार उक्त विषय का विस्तार करते हैं-

[1]**वैकुण्ठदेशे खलु वासुदेवमामोदसंज्ञे त्वथ कर्षणाह्वम्।**
प्रद्युम्नमब्जाक्षमपि प्रमोदे सम्मोद ईशन्तु तथाऽनिरुद्धम्॥157॥

अन्वय

वैकुण्ठदेशे खलु[2] वासुदेवम्, आमोदसंज्ञे तु कर्षणाह्वम् अथ प्रमोदे तु अब्जाक्षम् प्रद्युम्नम् अपि[3] तथा सम्मोदे ईशं अनिरुद्धम्।

अर्थ

मोक्षार्थी को **वैकुण्ठदेशे**[4]-वैकुण्ठ तीर्थ में (सर्वफलप्रदाता) **वासुदेवम्**-भगवान् वासुदेव की **आमोदसंज्ञे**-आमोद नाम वाले तीर्थ में **तु**-तो **कर्षणाह्वम्**-संकर्षण नामक भगवान् की **अथ**-और **प्रमोदे**-प्रमोद[5] तीर्थ में **तु**-तो **अब्जाक्षम्**-कमल के समान नेत्रों वाले **प्रद्युम्नम्**-भगवान् प्रद्युम्न की **तथा**-उसी प्रकार **सम्मोदे**-सम्मोद तीर्थ में **ईशम्**-भगवान् **अनिरुद्धम्**-अनिरुद्ध की निरन्तर आराधना करते हुए निवास करना चाहिए।

भाष्य

आगे 169 श्लोक में विद्यमान् **कार्यो निवासो नितरां शुभार्थिभिरारा-धयद्भिः सकलार्थदायिनम्** इस वाक्य का प्रस्तुत श्लोक में अन्वय होता है, इसी प्रकार आगे भी जानना चाहिए। इस श्लोक में पठित वैकुण्ठ देश शब्द से तमिलनाडु राज्य में विद्यमान तीर्थविशेष को लिया जाता है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि 'मुमुक्षु वैष्णवों को कहाँ निवास करना चाहिए'-**कुत्र कार्यो निवासः?** इस प्रकार जिज्ञासु शिष्य का प्रश्न है और उसका उत्तर देते समय आचार्य **तेषां निवासोऽथ निरूप्यतेऽधुना मोक्षप्रदः शास्त्रसुसम्मतोऽयम्।** इस प्रकार शास्त्रविहित वासस्थान कहने की प्रतिज्ञा कर रहे हैं। संसार में रहने वाले मुमुक्षु जीव को मोक्ष के लिए साधना करने

1.अस्य श्लोकस्य स्थाने **वासुदेवं हि वैकुण्ठे तथा मोदे सुकर्षणम्। प्रद्युम्नं च प्रमोदे संमोदेऽर्चेदनिरुद्धकम्** इति पाठान्तरः। 2.अस्मिन् श्लोके खलुशब्दः वाक्यालंकारे। 3.अत्र अपि शब्दः पादपूर्तये। 4.द्राविडदेशस्थमेकं दिव्यक्षेत्रम्।(दि.सू.च.। विशिष्टाद्वैतकोशस्याष्टमसम्पुटात् उद्धृतेदं वाक्यम्। कल्याण पत्रिका के तीर्थांक विशेषांक 389 पृष्ठ पर उल्लिखित श्रीवैकुण्ठम्।) यह स्थान तिरुनेलवेली से निकट है।) 5.प्रमोद से यहाँ चित्रकूट को लिया जा सकता है।

के लिए त्रिपादविभूतिस्थ वैकुण्ठादि स्थानों में रहने का विधान करना संभव नहीं अतः यहाँ वर्णित वैकुण्ठ और आमोदादि भूलोक में विद्यमान तीर्थविशेष हैं, ऐसा जानना चाहिए। मोक्षाभिलाषी को वैकुण्ठ तीर्थ में सभी अभीष्ट फल प्रदान करने वाले भगवान् वासुदेव की आराधना करते हुए सर्वदा निवास करना चाहिए, इसी प्रकार आमोद तीर्थ में भगवान् संकर्षण की, प्रमोद तीर्थ में कमलनयन भगवान् प्रद्युम्न की और सम्मोद[1] तीर्थ में भगवान् अनिरूद्ध की आराधना करते हुए सदा निवास करना चाहिए। पूर्व में भगवान् के व्यूहरूपों के निरूपण में वासुदेवादि चारों का निरूपण किया गया है।

[2]विष्णुं वरेण्यं शुभसत्यलोके[3] पद्माक्षमित्थं त्वथ सूर्यमण्डले।
क्षीराब्धिमध्ये शुभशेषशायिनं श्वेते तथा द्वीपवरे च तारकम्॥158॥

अन्वय

शुभसत्यलोके वरेण्यं विष्णुम्। इत्थं तु सूर्यमण्डले पद्माक्षम् अथ क्षीराब्धिमध्ये शुभशेषशायिनं च तथा श्वेते द्वीपवरे तारकम्।

अर्थ

मोक्षाभिलाषी को **शुभसत्यलोके**-मंगलकारक सत्यलोक नामक तीर्थ में **वरेण्यम्**-वरण करने योग्य (सर्वफलप्रदाता) **विष्णुम्**-भगवान् विष्णु की आराधना करते हुए निवास करना चाहिए, **इत्थम्**-इसी प्रकार **तु**-तो **सूर्यमण्डले**-सूर्यमण्डल नामक तीर्थ में **पद्माक्षम्**[4]-भगवान् पद्माक्ष की **अथ**-और **क्षीराब्धिमध्ये**-क्षीरसागर नामक तीर्थ के मध्य में **शुभशेषशायिनम्**[5]-

---

1.सनातन धर्म की शास्त्रों पर आधारित प्राचीन मान्यता के अनुसार पृथ्वी पर विद्यमान तीर्थ दिव्य भगवद्धाम हैं किन्तु वर्तमान में कुछ तीर्थों के धामपरक नाम प्राप्त होते हैं, कुछ के नहीं। यह अन्वेषण का विषय है। अन्वेषण करने पर वे नाम भी ज्ञात हो सकते हैं। 2.अस्य श्लोकस्य स्थाने **विष्णुः सत्यलोके च पद्माक्षः सूर्यमण्डले। क्षीराब्धौ शेषशायी च श्वेते पूज्यश्च तारकः॥** इति पाठान्तरम्। **3.वरेण्यं शुभसत्यलोके** इत्यस्य स्थाने **तु लोके वरसत्यसंज्ञके** इति पाठान्तरम्। **4.**कुम्भकोणम् में विद्यमान कमल के समान नेत्रों वाले भगवान् शार्ङ्गपाणि यहाँ पद्माक्ष कहे गये हैं। **5.** कुम्भकोणम् के निकट तिरुवेलीयन कुडी में विराजमान भगवान् क्षीराब्धिनाथ ही यहाँ शुभशेषशायी कहे गये हैं।

मंगलमय शेषशायी की **च**-और **तथा**-उसी प्रकार **श्वेते**-श्वेत **द्वीपवरे**-द्वीप नामक श्रेष्ठ तीर्थ में **तारकम्**-तारक की उपासना करते हुए निवास करना चाहिए।

भाष्य

सत्यलोक तीर्थ में भक्तों के द्वारा वरणीय भगवान् विष्णु की आराधना करते हुए निवास करना चाहिए, इसी प्रकार सूर्यमण्डल तीर्थ में भगवान् पद्माक्ष की, क्षीरसागर नामक तीर्थ में भगवान् शेषशायी की और श्वेत द्वीप तीर्थ में तारक भगवान् श्रीराम की आराधना करते हुए निवास करना चाहिए।

[1]तथा बदर्याभिध आश्रमे वरे सुरर्षिराजर्षिमहर्षिसेविते।
नारायणं तं निखिलाभिवन्द्यं[2] मुनीशसेव्ये त्वथ नैमिषे हरिम्॥159॥

अन्वय

सुरर्षिराजर्षिमहर्षिसेविते वरे बदर्याभिधे आश्रमे निखिलाभिवन्द्यं तं नारायणं अथ तु तथा मुनीशसेव्ये नैमिषे हरिम्।

अर्थ

मुमुक्षु को **सुरर्षिराजर्षिमहर्षिसेविते**-देवर्षि, राजर्षि और महर्षियों के द्वारा सेवित **वरे**-श्रेष्ठ **बदर्याभिधे**-बदरी नामक **आश्रमे**-आश्रम में **निखिलाभिवन्द्यम्**-सभी लोकों के द्वारा वन्दनीय (और सर्वफलप्रदायक) **तम्**-भगवान् **नारायणम्**-नारायण की आराधना करते हुए निवास करना चाहिए **अथ**-और **तु**-तो **तथा**-उसी प्रकार **मुनीशसेव्ये**-मुनीश्वरों के द्वारा सेवित **नैमिषे**-नैमिषारण्य तीर्थ में **हरिम्**-हरि की निरन्तर आराधना करते हुए निवास करना चाहिए।

भाष्य

मुमुक्षु को अपने उद्धार के लिए देवर्षि, राजर्षि और महर्षियों के द्वारा सेवित श्रेष्ठ बदरिकाश्रम तीर्थ में सभी लोकों के द्वारा वन्दनीय भगवान्

1.अस्य श्लोकस्य स्थाने **नारायणं बदर्या च नैमिषे श्रीहरिं तथा। शान्तो दान्तो निरीहः सन्वैष्णवं पूजयेत्सदा॥** इति पाठान्तरम्। **2.**अत्र **तं निखिलाभिवन्द्यम्** इत्यस्य स्थाने **लोकनमस्कृतांघ्रिकम्** इति पाठान्तरम्।

नारायण की आराधना करते हुए निवास करना चाहिए और श्रेष्ठ मुनियों के द्वारा सेवित नैमिषारण्य में भगवान् हरि की आराधना करते हुए निवास करना चाहिए।

शालग्राममलोघदिव्यफलदं देवं हरिक्षेत्रतो-
ऽयोध्यायां रघुपुङ्गवं गुणनिधिं श्रीरामचन्द्रं प्रभुम्।
सत्स्थाने मथुराभिधाश्रमवरे श्रीबालकृष्णं परं
मायायां मधुसूदनं सुरनरध्येयांघ्रिपद्मं सदा[1] ॥160॥

अन्वय

हरिक्षेत्रतः[2] अमोघदिव्यफलदं शालग्रामं देवम्। सत्स्थाने अयोध्यायां गुणनिधि रघुपुङ्गवं श्रीरामचन्द्रं प्रभुम्। मथुराभिधाश्रमवरे परं श्रीबालकृष्णम्। मायायां सदा सुरनरध्येयांघ्रिपद्मं मधुसूदनम्।

अर्थ

हरिक्षेत्रतः-हरिक्षेत्र में **अमोघदिव्यफलदम्**-मोक्ष फल को देने वाले **शालग्रामम्**-शालग्राम **देवम्**-देव की आराधना करते हुए निवास करना चाहिए। **सत्स्थाने**-उत्तम स्थान **अयोध्यायाम्**-अयोध्या में **गुणनिधिम्**-निखिल कल्याण गुणों के आलय **रघुपुङ्गवम्**-रघकुलश्रेष्ठ **श्रीरामचन्द्रम्**-श्रीरामचन्द्र **प्रभुम्**-प्रभु की, **मथुराभिधाश्रमवरे**-मथुरा नामक श्रेष्ठ तीर्थ में **परम्**-परमात्मा **श्रीबालकृष्णम्**-श्रीबालकृष्ण की, **मायायाम्**-मायापुरी में **सदा**-निरन्तर **सुरनरध्येयांघ्रिपद्मम्**-सुर और नर के द्वारा ध्येय चरणकमलों वाले **मधुसूदनम्**-मधुसूदन की आराधना करते हुए निवास करना चाहिए।

भाष्य

हरिक्षेत्र में मोक्ष के प्रदाता भगवान् शालग्राम की, सभी तीर्थों में शीर्षस्थानीय अयोध्या में रघुकुलभूषण परब्रह्म श्रीरामचन्द्र की, मथुरा में बालकृष्ण प्रभु की और माया में भगवान् मधुसूदन की आराधना करते हुए निवास करना चाहिए।

काश्यां भोगिशयं सनातनमथावन्त्यामवन्तीपतिं

---

1. सुरनरध्येयांघ्रिपद्मं सदा इत्यस्य स्थाने हरिजनो नित्यं मुदा पूजयेत् इति पाठान्तरम्।
2. अत्र सार्वविभक्तिकतसिः इत्यनेन सप्तम्यर्थे तसिप्रत्ययः।

श्रीमदद्वारवतीति नाम्नि शुभदे श्रीयादवेन्द्रं मुदा।
रम्ये श्रीव्रजनामके सुरनुतं गोपीजनानां प्रियं
ब्रह्मेशादिकिरीटसेवितपदाम्भोजं भुजङ्गाश्रयम्॥161॥

अन्वय

काश्यां सनातनं भोगिशयम्, अवन्त्याम् अवन्तीपतिं श्रीमदद्वारवती इति नाम्नि शुभदे श्रीयादवेन्द्रम्। अथ रम्ये श्रीव्रजनामके सुरनुतं ब्रह्मेशादिकिरीट-सेवितपदाम्भोजं भुजङ्गाश्रयं गोपीजनानां प्रियं मुदा।

अर्थ

मुमुक्षु को **काश्याम्**-काशी में **सनातनम्**-सनातन **भोगिशयम्**[1]-भोगिशय (शेषशायी) बिन्दु माधव की **अवन्त्याम्**-अवन्तिका पुरी में **अवन्तीपतिम्**-अवन्तीपति की **श्रीमदद्वारवती**-द्वारका **इति**-इस **नाम्नि**-नाम वाले **शुभदे**-मंगलमय तीर्थ में **श्रीयादवेन्द्रम्**-श्रीद्वारकाधीश की **अथ**-और **रम्ये**-रमणीक **श्रीव्रजनामके**-व्रज नामक स्थान में **सुरनुतम्**-देवताओं के द्वारा वन्दित **ब्रह्मेशादिकिरीटसेवितपदाम्भोजम्**-ब्रह्मा तथा शिवादि देवताओं के मुकुट से सेवित पादपद्म वाले (और) **भुजङ्गाश्रयम्**-शेषावतार बलराम जी के आश्रय **गोपीजनानाम्**-गोपियों के **प्रियम्**-प्रिय श्रीकृष्ण की **मुदा**-प्रसन्नतापूर्वक आराधना करते हुए निवास करना चाहिए।

भाष्य

काशी में सनातन भगवान् बिन्दुमाधव की, अवन्तिकापुरी में भगवान् अवन्तीपति की, द्वारका तीर्थ में द्वारकाधीश की और सुरम्य व्रज तीर्थ में देवताओं के द्वारा वन्दित, ब्रह्मा तथा शिवादि देवताओं के मुकुट से सेवित चरणकमलों वाले, बलराम जी के आश्रय, गोपीजनवल्लभ श्रीकृष्ण की प्रीतिपूर्वक आराधना करते हुए निवास करना चाहिए।

[2]वृन्दावने सुन्दरनन्दसूनुं गोविन्दमेवं त्वथ कालियह्रदे।

1.शेष जी भगवान् के आसन, उपधान(तकिया) और छत्र रूप होकर रहते हैं। जैसे शरीर में निवास करने वाली आत्मा को पुरुष कहा जाता है, वैसे ही भोगी अर्थात् शेष पर विराजमान भगवान् बिन्दुमाधव को भोगिशय कहा जाता है। 2.अस्य श्लोकस्य स्थाने **वृन्दावने नन्दसुतं गोविन्दं कालियह्रदे। गोवर्धने गोपवेषं भवघ्ने पद्मलोचनम्॥** इति पाठान्तरम्।

गोवर्धने गोपसुवेषधारिणं तथा भवघ्नेऽपि च पद्मलोचनम्॥162॥

अन्वय

वृन्दावने सुन्दरनन्दसूनुम् एवं कालियह्रदे गोविन्दम् अथ तु गोवर्धने गोपसुवेषधारिणं च तथा भवघ्ने अपि पद्मलोचनम्।

अर्थ

वृन्दावने-वृन्दावन में **सुन्दरनन्दसूनुम्**-मनोभिराम नन्दनन्दन की **एवम्**-इसी प्रकार **कालियह्रदे**-कालियदह तीर्थ में **गोविन्दम्**-गोविन्द की **अथ**-और **तु**-तो **गोवर्धने**-गोवर्धन में **गोपसुवेषधारिणम्**-सुन्दर गोपवेष को धारण करने वाले की **च**-और **तथा**-उसी प्रकार **भवघ्ने**-भवघ्न तीर्थ में **अपि**-भी **पद्मलोचनम्**-पद्मलोचन की उपासना करते हुए निवास करना चाहिए।

भाष्य

वृन्दावन में चित्तचोर श्रीकृष्ण की, कालियदह तीर्थ में कालियनाग पर स्थित होकर नृत्य करने वाले नटवर गोविन्द की, गोवर्धन में नयनाभिराम, आकर्षक गोपवेषधारी की और भवघ्न तीर्थ में भगवान् पद्मलोचन की उपासना करते हुए निवास करना चाहिए।

[1]शौरिं तथा गोमत एव पर्वते तथा हरिद्वार ऋजुं जगत्पतिम्।
तीर्थे प्रयागे बत माधवाभिधं तथा गयायां तु गदाधरं परम्॥163॥

अन्वय

गोमते पर्वते एव शौरिम् तथा हरिद्वारे ऋजुं जगत्पतिं तथा प्रयागे तीर्थे माधवाभिधं तथा तु गयायां परं गदाधरं बत[2]।

अर्थ

गोमते-गोमत नामक **पर्वते**-पर्वत पर **एव**-निश्चितरूप से **शौरिम्**[3]-भगवान् शौरि की **तथा**-उसी प्रकार **हरिद्वारे**-हरिद्वार में **ऋजुम्**-कोमल

1.अस्य श्लोकस्य स्थाने **गोमते पर्वते शारिं हरिद्वारे जगत्पतिम्। प्रयागे माधवं चार्चेद् गयायां तु गदाधरम्॥** इति पाठान्तरः, 'शौरिम्' इत्यस्य स्थाने 'शारिम्' इत्यपि पाठान्तरः। **2.**प्रसन्नतासूचकमिदमव्ययम्। **3.**कुम्भकोणम् से करीब 15 किमी. दूर तिरुकन्नपुरम् में भगवान् शौरि विराजमान हैं।

स्वभाव वाले **जगत्पतिम्**-जगत्पति की **तथा**-उसी प्रकार **प्रयागे**-प्रयाग **तीर्थे**-तीर्थ में **माधवाभिधम्**-माधव नामक भगवान् की **तथा**-उसी प्रकार **तु**-तो **गयायाम्**-गया में **परम्**-परमात्मा **गदाधरम्**-गदाधर की **बत**-प्रसन्नता से निरन्तर आराधना करते हुए निवास करना चाहिए।

भाष्य

गोमत पर्वत पर शौरि नाम वाले भगवान् श्रीकृष्ण की, हरिद्वार में मृदुचित्त जगत् के स्वामी की, तीर्थराज प्रयाग में भगवान् माधव की और गया में भगवान् गदाधर की प्रसन्नता से सतत आराधना करते हुए निवास करना चाहिए।

गङ्गासागरसङ्गमेऽतिशुभदे विष्णुं तथा राघवं
शश्वद् भूरिगुणालयं[1] मुनिवृते श्रीचित्रकूटे विभुम्।
नन्दिग्राम उदारकीर्तिनिकरं[2] श्रीराक्षसघ्नं प्रभुं
रम्ये श्रीमति[3] विश्वरूपिणमथो क्षेत्रे प्रभासेऽमले॥164॥

अन्वय

अतिशुभदे गङ्गासागरसङ्गमे विष्णुं तथा मुनिवृते श्रीचित्रकूटे शश्वद् भूरिगुणालयं विभुं राघवम्, नन्दिग्रामे उदारकीर्तिनिकरं श्रीराक्षसघ्नं प्रभुं अथो श्रीमति रम्ये अमले प्रभासे क्षेत्रे विश्वरूपिणम्।

अर्थ

अतिशुभदे-अत्यन्त मंगलकारक **गङ्गासागरसङ्गमे**-गंगासागर संगम में **विष्णुम्**-कपिल की **तथा**-उसी प्रकार **मुनिवृते**-मुनियों के द्वारा सेवित **श्रीचित्रकूटे**-चित्रकूट धाम में **शश्वद्**-नित्य **भूरिगुणालयम्**-अनेक गुणों के आश्रय **विभुम्**-व्यापक **राघवम्**-राघव की, **नन्दिग्रामे**-नन्दिग्राम में **उदारकीर्तिनिकरम्**-विपुल यश के आश्रय **श्रीराक्षसघ्नम्**-राक्षसकुलहन्ता **प्रभुम्**-प्रभु की **अथो**-और **श्रीमति**-शोभासम्पन्न **रम्ये**-रमणीय **अमले**-निर्मल **प्रभासे**-प्रभास **क्षेत्रे**-क्षेत्र में **विश्वरूपिणम्**-विश्वरूपधारी की सतत प्रीतिपूर्वक आराधना करते हुए निवास करना चाहिए।

1.अत्र **शश्वद्भूरिगुणालये** इति पाठान्तरम्। 2.अत्र **उदारकीर्तिनिकरे** इति पाठान्तरम्।
3.अत्र **रम्ये श्रीमति इति स्थाने प्राचेंच्छ्रीम्** इति पाठान्तरम्।

भाष्य

पुण्य सलिला भगवती भागीरथी और तीर्थाधिपति सागर के संगम में भगवान् कपिल की, मुनियों के द्वारा सेवित चित्रकूट धाम में भगवान् राघव की, नन्दिग्राम में विपुल कीर्ति के आश्रय एवं कुलसहित रावण का संहार करने वाले श्रीराम की और प्रभास क्षेत्र में विश्वरूप भगवान् की आराधना करते हुए वास करना चाहिए।

श्रीकूर्मेऽचल[1] उत्तमे च सदयं कूर्मं सुरेशेडितं
नीलाद्रौ पुरुषोत्तमं त्वथ[2] महासिंहं च सिंहाचले।
श्रीमन्तं तुलसीवने तु गदिनं सर्वार्थदं तत्प्रिये
क्षेत्रे श्रीकृतशौचके तु सततं पापापहं चेश्वरम्[3] ॥165॥

अन्वय

उत्तमे श्रीकूर्मे अचले सुरेशेडितं सदयं कूर्मम् च नीलाद्रौ पुरुषोत्तमम् अथ तु सिंहाचले महासिंहं च तत्प्रिये तुलसीवने तु सर्वार्थदं श्रीमन्तं गदिनं च तु श्रीकृतशौचके क्षेत्रे पापापहं ईश्वरम् सततम्।

अर्थ

उत्तमे-उत्तम **श्रीकूर्मे**-श्रीकूर्म **अचले**-पर्वत पर **सुरेशेडितम्**-देवेन्द्र के द्वारा वन्दित, **सदयम्**-दया से युक्त **कूर्मम्**-कूर्म की **च**-और **नीलाद्रौ**-नीलाचल क्षेत्र में **पुरुषोत्तमम्**-जगन्नाथ की **अथ**-और **तु**-तो **सिंहाचले**-सिंहाचल में **महासिंहम्**-महान् नृसिंह की **च**-तथा **तत्प्रिये**-भगवान् के प्रिय **तुलसीवने**-तुलसीवन क्षेत्र में **तु**-तो **सर्वार्थदम्**-सभी अभीष्ट पदार्थों को देने वाले **श्रीमन्तम्**-श्रीमान् **गदिनम्**-गदाधारी की **च**-और **तु**-तो **श्रीकृतशौचके**-श्रीकृतशौचक **क्षेत्रे**-क्षेत्र में **पापापहम्**-पापों का नाश करने वाले **ईश्वरम्**-ईश्वर की **सततम्**-सतत आराधना करते हुए निवास करना चाहिए।

भाष्य

श्रीकाकुलम्(आन्ध्र प्रदेश) के निकट श्रीकूर्माचल(श्रीकूर्म तीर्थ) में इन्द्र

1.अत्र **कूर्माऽचल** इति पाठान्तरम्। 2.अत्र **किल** इति पाठान्तरम्। 3.अत्र **पूजयेत** इति पाठान्तरम्।

के द्वारा वन्दित, दयानिधान भगवान् कूर्मनाथ स्वामी की, नीलाचल क्षेत्र में भगवान् जगन्नाथ की, आन्ध्र प्रदेश के अन्तर्गत सिंहाचल में नृसिंह भगवान् की, भगवान् के प्रिय तुलसीवन क्षेत्र में सभी अभीष्ट पदार्थों को देने वाले श्रीमान् गदाधारी भगवान् की और श्रीकृतशौचक क्षेत्र में पापों का नाश करने वाले ईश्वर की आराधना करते हुए निवास करना चाहिए।

श्वेताद्रौ त्वथ सिंहरूपिणमथो श्रीधर्मपुर्यान्तथा
योगानन्दमशेषदेवसुनुतं[1] श्रीकाकुले तु प्रभुम्।
देवैर्वन्द्यमथान्ध्रनायकमिह श्रीदं तथाऽहोबिले
तस्मिन् श्रीगरुडाद्रिसंज्ञ उचिते देवं हिरण्यार्दनम्॥166॥

अन्वय

श्वेताद्रौ सिंहरूपिणम् अथ तु श्रीधर्मपुर्याम् अशेषदेवसुनुतं योगानन्दम् अथो तु तथा श्रीकाकुले देवैः वन्द्यं श्रीदं आन्ध्रनायकं प्रभुम्। अथ तथा इह अहोबिले तस्मिन् श्रीगरुडाद्रिसंज्ञे उचिते हिरण्यार्दनं देवम्।

अर्थ

श्वेताद्रौ[2]–श्वेताद्रि पर **सिंहरूपिणम्**–नृसिंह भगवान् की **अथ**–और **तु**–तो **श्रीधर्मपुर्याम्**–श्रीधर्मपुरी में **अशेषदेवसुनुतम्**–सम्पूर्ण देवताओं के द्वारा स्तुत **योगानन्दम्**–योगानन्द की **अथो**–और **तु**–तो **तथा**–उसी प्रकार **श्रीकाकुले**–श्रीकाकुल में **देवैः**–देवताओं के द्वारा **वन्द्यम्**–वन्दित **श्रीदम्**–ऐश्वर्यप्रदायक **आन्ध्रनायकम्**–आन्ध्रनायक **प्रभुम्**–प्रभु की **अथ**–और **तथा**–उसी प्रकार **इह**–इस **अहोबिले**–अहोबिल क्षेत्र में **तस्मिन्**–उस **श्रीगरुडाद्रिसंज्ञे**–श्रीगरुडाद्रि नामक **उचिते**–योग्य स्थान में **हिरण्यार्दनम्**–हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु के संहारक **देवम्**–नृसिंह देव की आराधना करते हुए निवास करना चाहिए।

भाष्य

श्वेत पर्वत पर भगवान् नृसिंह की, श्रीधर्मपुरी में भगवान् योगानन्द की, श्रीकाकुल(श्रीकाकुलम्) में ऐश्वर्यप्रदायक आन्ध्रनायक प्रभु की और

1.अत्र **योगानन्दमशेषदेवसुनतं** इति पाठान्तरम्। 2.त्रिचिरापल्ली से करीब 30 किमी. दूर स्थित श्वेतगिरि को अब तिरुवेलरै कहा जाता है।

अहोबिल क्षेत्र में गरुडाद्रि नामक स्थान में हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु के संहारक भगवान् नृसिंह देव की आराधना करते हुए निवास करना चाहिए।

[1]श्रीविट्ठलं तं किल पाण्डुरङ्गे श्रीवेङ्कटाद्रौ तु रमासखञ्च।
नारायणं श्रीमति यादवाद्रौ नृसिंहमित्थं घटिकाचलेऽपि॥167॥

अन्वय

पाण्डुरङ्गे तं श्रीविट्ठलम्, श्रीवेङ्कटाद्रौ तु रमासखं[2] श्रीमति यादवाद्रौ नारायणम् च इत्थं घटिकाचले अपि नृसिंहं किल।

अर्थ

पाण्डुरङ्गे-पण्ढरपुर में **तम्**-भगवान् **श्रीविट्ठलम्**-श्रीविट्ठल की, **श्रीवेङ्कटाद्रौ**-श्रीवेंकटाचल में **तु**-तो **रमासखम्**-श्रीनिवास की **श्रीमति**-शोभायुक्त **यादवाद्रौ**-यादवाद्रि में **नारायणम्**-नारायण की **च**-और **इत्थम्**-इसी प्रकार **घटिकाचले**-घटिकाचल में **अपि**-भी **नृसिंहम्**-नृसिंह की **किल**-निश्चितरूप से आराधना करते हुए निवास करना चाहिए।

भाष्य

पण्ढरपुर में भगवान् पण्ढरीनाथ की, वेंकटाचल में भगवान् श्रीनिवास की, यादवाद्रि(मेलुकोटे) में नारायण की और घटिकाचल में भगवान् नृसिंह की आराधना करते हुए निवास करना चाहिए।

[3]सुरेन्द्रवन्द्यं वरदं त्वहर्दिवं सुनिर्मले श्रीशुभवारणाचले।
काञ्च्यां तथा श्रीकमलायताक्षं समर्चनीयं बुधवैष्णवोत्तमैः॥168॥

अन्वय

तथा तु बुधवैष्णवोत्तमैः काञ्च्यां सुनिर्मले श्रीशुभवारणाचले सुरेन्द्रवन्द्यं श्रीकमलायताक्षं वरदम् अहर्दिवं समर्चनीयम्।

अर्थ

तथा-उसी प्रकार **तु**-तो **बुधवैष्णवोत्तमैः**-स्वधर्मनिष्ठ वैष्णव उपासक

1.अस्य श्लोकस्य स्थाने **श्रीविट्ठलं तं किल पाण्डुरङ्गेऽर्चेद् वेङ्कटाद्रौ कमलासहायम्। नारायणं श्रीमति यादवाद्रौ नृकेसरीशं घटिकाचले तु॥** इति पाठान्तरम्। 2.**रमा लक्ष्मी सखा यस्य तम्।** 3.अस्य श्लोकस्य स्थाने **वरदं वारणाद्रौ च काञ्च्यामम्बुजलोचनम्। पूजयेत्सततं श्रद्धायुक्तः श्रीवैष्णवो जनः॥** इति पाठान्तरम्।

काञ्च्याम्-काञ्ची पुरी में **सुनिर्मले**-अत्यन्त निर्मल(व) **श्रीशुभवारणाचले**-पवित्र हस्तिगिरि[1] पर स्थित **सुरेन्द्रवन्द्यम्**-देवराज इन्द्र के द्वारा वन्दनीय **श्रीकमलायताक्षम्**-कमल के समान विशाल नेत्रों वाले **वरदम्**-वरदराज की **अहर्दिवम्**-प्रतिदिन **समर्चनीयम्**-अर्चना करें।

भाष्य

उपासकों को काञ्चीपुरी में श्रीहस्तिगिरि में स्थित, कमल के समान विशाल नेत्रों वाले भगवान् वरदराज की आराधना करते हुए निवास करना चाहिए।

> [2]**तोताद्रिसंज्ञादिषु वैष्णवोत्तमैरेवं तथा तुङ्गशयादिकं प्रभुम्।**
> **कार्यो निवासो नितरां शुभार्थिभिराराधयद्भिः सकलार्थदायिनम्॥169॥**

अन्वय

तथा एव[3] तोताद्रिसंज्ञादिषु सकलार्थदायिनं तुङ्गशयादिकं प्रभुं नितराम् आराधयद्भिः शुभार्थिभिः वैष्णवोत्तमैः निवासः कार्यः।

अर्थ

तथा-उसी प्रकार **तोताद्रिसंज्ञादिषु**-तोताद्रिसंज्ञक तीर्थों में **सकलार्थदायिनम्**-सकल अभीष्टों के दाता **तुङ्गशयादिकम्**-तुंगशयादि **प्रभुम्**-प्रभु की **नितराम्**-निरन्तर **आराधयद्भिः**-आराधना करते हुए **शुभार्थिभिः**-मोक्ष की आकाँक्षा रखने वाले **वैष्णवोत्तमैः**-स्वधर्मनिष्ठ वैष्णवों को **निवासः**-निवास **कार्यः**-करना चाहिए।

भाष्य

तोदाद्रि, बलीपुर और श्रीरंगम् आदि स्थानों में क्रमशः भगवान् तुंगशय, महाबल और श्रीरंगनाथ आदि की आराधना करते हुए स्वधर्मनिष्ठ वैष्णव को निवास करना चाहिए।

ग्रन्थकार अब नवम प्रश्न का उत्तर कालक्षेप की रीति को कहना

1.कल्याण पत्रिका के तीर्थांक विशेषाँक के अनुसार मन्दिर में स्थित चबूतरा का नाम हस्तिगिरि है। 2.अस्य श्लोकस्य स्थाने **तोताद्रौ तुङ्गशयनं पूजयेद् वैष्णवोत्तमः। अन्येष्वपि च तीर्थेषु निवसेत्पूजयन्हरिम्॥** इति पाठान्तरम्। 3.अत्र एवंशब्दः पादपूर्तये।

आरम्भ करते हैं-

कार्यो महात्मभिर्नित्यं[1] कालक्षेपो मुमुक्षुभिः।
परमात्मपरैरित्थं वैष्णवैरथ[2] कथ्यते[3]॥170॥

अन्वय

अथ परमात्मपरैः मुमुक्षुभिः वैष्णवैः महात्मभिः इत्थं नित्यं कार्यः कालक्षेपः कथ्यते।

अर्थ

अथ-वैष्णव का लक्षण कहने के पश्चात् **परमात्मपरैः**-परमात्मचिन्तन-परायण **मुमुक्षुभिः**-मुमुक्षु **वैष्णवैः**-वैष्णव **महात्मभिः**-महात्माओं के द्वारा **इत्थम्**-इस प्रकार(वक्ष्यमाण रीति से) **नित्यम्**-सदा **कार्यः**-करने योग्य **कालक्षेपः**-कालक्षेप **कथ्यते**-कहा जाता है।

[4]त्रिकालसन्ध्यादि विधाय शक्तैः श्रीरामचन्द्रं च समर्च्य नित्यम्।
भाष्येण रामायणतो हि कालक्षेपो विधेयोऽपि च भारतेन॥171॥

अन्वय

शक्तैः त्रिकालसन्ध्यादि विधाय च श्रीरामचन्द्रं समर्च्य नित्यम् रामायणतः भाष्येण च भारतेन अपि कालक्षेपः हि विधेयः।

अर्थ

शक्तैः-समर्थ वैष्णव **त्रिकालसन्ध्यादि**-त्रिकाल सन्ध्यादि **विधाय**-करके **च**-और **श्रीरामचन्द्रम्**-श्रीरामचन्द्र की **समर्च्य**-सम्यक् अर्चना करके

1.**कार्यो महात्मभिर्नित्यम्** इत्यस्य स्थाने **अथ** कार्यः सदा सद्भिः इति पाठान्तरम्। 2.**वैष्णवैरथ** इत्यस्य स्थाने **वैष्णवैरिति** इति पाठान्तरम्। 3.**वर्ण्यते** इति पाठान्तरम्। 4.अस्य श्लोकस्य स्थाने **प्रातर्मध्याह्नसायं कृतशुचिकृतिभिः श्रीशमभ्यर्च्य रामं, श्रीमद्रामायणेन प्रतिदिनमखिलैर्भारतेन प्रपन्नैः। शक्तैः श्रीभाष्यतश्च द्रविडमुनिकृतोत्कृष्ठदिव्यप्रबन्धैः, कालक्षेपो विधेयः सुविजितकरणैः स्वाकृतेर्यावदन्तम्॥** इति पाठान्तरम् तथा **प्रातर्मध्याह्नसायं कृतशुचिकृतिभिः राममभ्यर्च्य सम्यक्। श्रीमद्रामायणेन प्रतिदिनमखिलैर्भारतेन प्रपन्नैः। शक्तैरानन्दभाष्यैरथ च शुभतमाचार्यदिव्यप्रबन्धैः कालक्षेपो विधेयः सुविजितकरणैः स्वाकृतेर्यावन्दतम्॥** इत्यपि पाठान्तरम्।

त्यम्-प्रतिदिन **रामायणतः**-रामायण **भाष्येण**-भाष्य **च**-और **भारतेन**-हाभारत से **अपि**-भी **कालक्षेपः**-कालक्षेप **हि**-अवश्य **विधेयः**-करे।

ाष्य

कालक्षेप-प्रातः, मध्याह्न और सायं इन तीन कालों में सन्ध्या की जाती है। प्रातः सन्ध्या आकाश में तारों के रहते और सायं सन्ध्या तारों के उदय से पूर्व सम्पन्न होनी चाहिए और मध्याह्न सन्ध्या ठीक मध्याह्न काल में। समर्थ साधक को त्रिकाल में सन्ध्योपासन, तारक मन्त्र का जप और श्रीरामस्तवराजादि का पाठ करना चाहिए, इसके पश्चात् भगवान् श्रीसीताराम की अर्चना करनी चाहिए।

कुछ साधकों का जप, ध्यान और पूजा से ही कालक्षेप हो जाता है। समय अमूल्य है, वह किसी की प्रतीक्षा नहीं करता अतः यदि कोई अहर्निश ध्यानात्मक भक्तियोग को करने में असमर्थ है तो समय को आलस्य-प्रमाद में अथवा निषिद्ध कर्मों में व्यतीत करना अच्छा नहीं, इसलिए श्रीमद्रामायण, प्रस्थानत्रय के भाष्य, महाभारत और श्रीमद्भागवत आदि सत्शास्त्रों के अध्ययन से कालक्षेप करना चाहिए। प्रीतिपूर्वक इनके अध्ययन-अध्यापन से उत्तरोत्तर संसार से उपरति और भगवद्भक्ति की अभिवृद्धि होती है, इसीलिए तैत्तिरीय श्रुति का आदेश है कि स्वाध्याय और प्रवचन में प्रमाद नहीं करना चाहिए-**स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्।** (तै.उ.1.11.1)। वेद और उनके उपबृंहणभूत शास्त्रों के अध्ययन को स्वाध्याय कहा जाता है और उनके अध्यापन को प्रवचन।

[1]स्याच्चेदशक्तः शृणुयात्कुतश्चिद् ग्रन्थानमूञ्छुद्धतमाद् विशुद्धः।
श्रीरामसन्नामसुकीर्तनं च द्वयानुसन्धानमथो विदध्यात्॥172॥

अन्वय

चेत् अशक्तः स्यात्, विशुद्धः कुतश्चित् शुद्धतमात् अमून् ग्रन्थान् शृणुयात् च द्वयानुसन्धानं विदध्यात् अथो श्रीरामसन्नामसुकीर्तनम्।

1.अस्य श्लोकस्य स्थाने **स्नानादिकर्माणि विधाय तत्र श्रीभाष्यमेवं शृणुयादशक्तः। चेदादरान्नामसुकीर्तनं च द्वयानुसन्धानमथो विदध्यात्॥** पाठान्तरम्। पूर्वार्धस्य स्थाने च **स्नानादिकर्माणि विधाय नित्यं ग्रन्थानमून् संशृणुयादशक्तः** इति पाठान्तरम्।

अर्थ

चेत्-यदि (कोई वैष्णव उक्त ग्रन्थों का अध्ययन-अध्यापन करने में) **अशक्तः**-असमर्थ **स्यात्**-होवे, तो **विशुद्धः**-एकाग्रचित्त होकर **कुतश्चित्**-किसी **शुद्धतमात्**-समाहित आचार्य से **अमून्**-उन **ग्रन्थान्**-ग्रन्थों को **शृणुयात्**-सुने **च**-और **द्वयानुसन्धानम्**-द्वयमन्त्र का अनुसन्धान **विदध्यात्**-करे **अथो**-तथा **श्रीरामसन्नामसुकीर्तनम्**-उत्तम श्रीरामनाम का संकीर्तन करे।

भाष्य

स्वामी रामानन्दाचार्य जी ने पूर्व श्लोक में उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र के भाष्य से तथा रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थों के अध्ययन-अध्यापन से कालक्षेप करने का निर्देश किया था। यदि कोई साधक उसे करने में समर्थ न हो तो स्वयं विशुद्ध होकर विशुद्धतम आचार्य से उक्त ग्रन्थों का श्रवण करे। शुद्धि दो प्रकार से होती है। मिट्टी और जल से बाह्य शुद्धि तथा राग, द्वेषादि की निवृत्ति से आन्तरिक शुद्धि होती है। यहाँ दोनों प्रकार की शुद्धि अपेक्षित है। आन्तरिक शुद्धि से मन समाहित होता है। जिज्ञासु शिष्य आचार्य से उक्त ग्रन्थों को सुने। अध्ययनकर्ता छात्र आचार्य से अध्ययन और मनन-चिन्तन करके शास्त्रों का पारंगत विद्वान् बन सकता है किन्तु उसे करने में असमर्थ मुमुक्षु श्रवणकर्ता आचार्य से मोक्षोपयोगी ज्ञान प्राप्त कर अपना जीवन कृतार्थ कर सकता है। श्लोक संख्या 34 में वर्णित **श्रीमद्रामचन्द्रचरणौ शरणं प्रपद्ये। श्रीमते रामचन्द्राय नमः** ये दोनों वाक्य द्वयमन्त्र कहलाते हैं, इनके अर्थ के अनुसंधान से भी कालक्षेप करना चाहिए। भगवान् श्रीराम के सभी नाम उत्तम हैं, उनके संकीर्तन से भी कालक्षेप करना चाहिए।

दिव्येषु देशेषु सतां प्रसङ्गं तदीयकैङ्कर्यपरायणो वै[1]।
यावच्छरीरान्तमहर्दिवं तत्कथामुदारां शृणुयाद् भवघ्नीम्॥173॥

अन्वय

तदीयकैङ्कर्यपरायणः वै दिव्येषु देशेषु सतां प्रसङ्गं भवघ्नीम् उदारां तत्कथाम् शरीरान्तं यावत् अहर्दिवं शृणुयात्।

1.**तदीयकैङ्कर्यपरायणो वै** इत्यस्य स्थाने **तदीयकैङ्कर्यपरायणः सन्** इति पाठान्तरम्।

अर्थ

जिज्ञासु वैष्णव **तदीयकैङ्कर्यपरायणः**-भगवत्कैंकर्यपरायण होकर **वै**-ही अयोध्या आदि **दिव्येषु**-दिव्य **देशेषु**-स्थानों में **सताम्**-महापुरुषों के **प्रसङ्गम्**-संग को करते हुए **भवघ्नीम्**-संसारबन्धन का विनाश करने वाली **उदाराम्**-विख्यात **तत्कथाम्**-रामायणादि ग्रन्थों की कथा का **शरीरान्तम्**-शरीर के नाश **यावत्**-पर्यन्त **अहर्दिवम्**-प्रतिदिन **शृणुयात्**-श्रवण करे।

भाष्य

पूर्वश्लोक में प्रस्थानत्रयभाष्य और रामायणादि को गुरुमुख से सुनने को कहा था, उसमें भी असमर्थ होने पर भगवत्भागवत्कैंकर्यपरायण होकर अयोध्या, वृन्दावन, जनकपुर और चित्रकूटादि तीर्थस्थानों में भगवत्प्राप्त महापुरुषों का संग करते हुए भवबन्धन का हरण करने वाली भगवान् की सुप्रसिद्ध, पावन कथा का मृत्युपर्यन्त प्रतिदिन श्रवण करना चाहिए। कथाश्रवण भी कालक्षेप का उत्तम साधन है। भगवान् की लीला से सम्बद्ध एवं साधना के लिए उपयोगी अयोध्या आदि तीर्थ स्थलों को दिव्य देश कहा जाता है। आलवार भक्तों के द्वारा संस्तुत पावन स्थानों को भी दिव्य देश कहा जाता है।

पूर्व श्लोक में भगवत्कैंकर्यपरायण होकर कथाश्रवण करने को कहा था। यदि कोई उसे करने में असमर्थ हो तो क्या करे? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं-

तत्राप्यशक्तास्तु कुटीरमात्रं विधाय कुर्युस्त्वथ राघवाद्रौ[1]।
अन्यत्र वासं च गुरूपदिष्टान्मन्त्राञ्जपन्तोऽहंकारशून्याः[2] ॥174॥

अन्वय

च अथ तत्र अपि अशक्ताः तु राघवाद्रौ अन्यत्र कुटीरमात्रं विधाय गुरूपदिष्टान् मन्त्रान् जपन्तः अहंकारशून्याः वासं कुर्युः।

अर्थ

च-और **अथ**-यदि **तत्र**-उसमें **अपि**-भी **अशक्ताः**-अशक्त हों, **तु**-तो

1.यादवाद्रौ इति पाठान्तरम्। 2. **अहंकारशून्याः** इति स्थाने **ह्यभिमानशून्याः** इति **ममकारशून्याः** इति च पाठान्तरम्।

(साधक) **राघवाद्रौ**-चित्रकूट में (अथवा) **अन्यत्र**-अन्य स्थानों में **कुटीरमात्रम्**-केवल लघु कुटी को **विधाय**-लेकर **गुरूपदिष्टान्**-गुरुप्रदत्त **मन्त्रान्**-मन्त्रों को **जपन्तः**-जपते हुए **अहंकारशून्याः**-अभिमान से रहित होकर **वासम्**-निवास **कुर्युः**-करें।

भाष्य

साधना के लिए कोलाहल से रहित पावन नदीतट, गिरिगुहा, वृक्ष और वनक्षेत्र प्रशस्त स्थान हैं। गुरु से परमात्मा का ज्ञान प्राप्त कर उसके साक्षात्कार के लिए वृक्ष के मूल में निवास करे-**महत्पदं ज्ञात्वा वृक्षमूले वसेत।**(सु.उ.13.2) इस प्रकार श्रुति साधना के लिए वृक्ष के मूल में वास करने को कहती है। जनसमूह में साधना संभव न होने से भगवद्गीता **विविक्तदेशसेवित्वम्।**(गी.13.10) इस प्रकार एकान्त स्थान में रहने को कहती है। संसारी जनों का संसर्ग ही साधना का बाधक है। उच्च कोटि के साधकों का संसर्ग तो साधना का उपकारक ही होता है। परिपक्व साधक के लिए एकान्त स्थान कल्याणकारक होता है और वही अपरिपक्व के लिए हानिकर भी हो सकता है। शीत और आतप से बचने के लिए चित्रकूट, सरयूतट, गंगातट, किष्किन्धा और यादवाद्रि आदि तीर्थ स्थानों में लघु पर्णकुटी बनायी जा सकती है। छोटी कुटी को कुटीर कहते हैं-**ह्रस्वः कुटी कुटीरः**[1]**।** कुटीरमात्रम् इस प्रकार मात्र शब्द के प्रयोग से स्वामी रामानन्दाचार्य जी ने लघु कुटी से अधिक निवासस्थान का निषेध किया है। गुरुदेव से प्राप्त तारक मन्त्र, द्वयमन्त्र और शरणागति मन्त्रों का कुटीर में जप करे। नित्य कर्म के रूप में इनका प्रतिदिन जप सभी दीक्षित रामभक्तों का कर्तव्य है। प्रस्तुत श्लोक में तो कालक्षेप के लिए सर्वदा जप करने का विधान किया जाता है। द्वार में अवरोध होने पर व्यक्ति अन्दर प्रवेश नहीं कर सकता। अहंकार और ममकार(ममता) दोनों प्रभुप्राप्ति के द्वार के अवरोधक हैं, उनके रहते हम कभी भी अन्दर प्रवेश करके अपने प्रियतम प्रभु से मिल नहीं सकते इसलिए जापक को अहंता और ममता से निवृत्त होकर रहना चाहिए।

श्लोक संख्या 156 से आरम्भ कर अभी तक कालक्षेप के विविध उपाय

1.**कुटीशमीशुण्डाभ्यो रः**(अ.सू.5.3.88) इति सूत्रेण ह्रस्वार्थे रप्रत्ययः।2.**उपायमेनम्** इति पाठान्तरम्। 3.**विदधात्वहर्निशम्** इति पाठान्तरम्।

कहे गये, उनमें किस उपाय का आश्रय लेना चाहिए? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं-

भक्त्यादियुक्तस्य तथाऽनहङ्कृतेर्महात्मनस्तस्य निदेशपालनम्।
उपायमेतं[2] चरमं निरन्तरं सुवैष्णवोऽयं विदधात्वतन्द्रितः[3]॥175॥

अन्वय

अनहङ्कृतेः भक्त्यादियुक्तस्य तस्य महात्मनः तथा निदेशपालनम् एतं चरमम् उपायम् अयं सुवैष्णवः अतन्द्रितः विदधातु।

अर्थ

अनहङ्कृतेः-अहंकार से रहित (और भगवान् में) **भक्त्यादियुक्तस्य**-श्रद्धा आदि से युक्त **तस्य**-गुरुदेव **महात्मनः**-महापुरुष का (जिस शिष्य के लिए जैसा आदेश हो, उस शिष्य के द्वारा) **तथा**-वैसा **निदेशपालनम्**-आदेश का पालनरूप **एतम्**-इस **चरमम्**-चरम **उपायम्**-उपाय को **अयम्**-यह **सुवैष्णवः**-उत्तम वैष्णव **अतन्द्रितः**-आलस्यरहित होकर **विदधातु**-करे।

भाष्य

निवृत्त अहंकार वाले गुरुदेव की भगवान् में अत्यन्त श्रद्धा-भक्ति होती है, उस महात्मा का जिस शिष्य के लिए जैसा निर्देश हो, वह शिष्य उसे कालक्षेप करने का चरम साधन समझे और सावधान होकर उसका विधिवत् पालन करे।

अब सामान्यतः सभी के लिए उपयोगी कालक्षेप के उपाय कहे जाते हैं-

तदर्थपुष्पप्रचयेन सन्ततं तथैव तन्मन्दिरमार्जनादिना।
तदीयनामाभ्यसनेन तन्मनाः क्षिपेत् स कालं नितरां निरालसः[1]॥176॥

अन्वय

सः नितरां निरालसः सन्ततं तन्मनाः तदर्थपुष्पप्रचयेन, तन्मन्दिरमार्जनादिना तथैव तदीयनाम अभ्यसनेन कालं क्षिपेत्।

अर्थ

सः-वैष्णव **नितराम्**-सर्वथा **निरालसः**-आलस्यरहित होकर (और)

1.**गतालसः** इति पाठान्तरम्।

सन्ततम्-निरन्तर **तन्मनाः**-भगवान् में मन को लगाकर **तदर्थपुष्पप्रचयेन**-भगवान् के लिए पुष्पचयन से **तन्मन्दिरमार्जनादिना**-उनके मन्दिर की स्वच्छता आदि से (और) **तथैव**-वैसे ही **तदीयनाम**-उनके नामजप के **अभ्यसनेन**-अभ्यास से **कालम्**-समय को **क्षिपेत्**-व्यतीत करे।

भाष्य

मुमुक्षु के लिए आलस्य मृत्यु के तुल्य है, यह तमोगुण का कार्य है, अतः जागरण से लेकर सुषुप्तिपर्यन्त आलस्य को कोई स्थान नहीं देना चाहिए। साधक भगवान् श्रीरामचन्द्र में चित्त को लगाकर उनके मन्दिर की धुलाई और सफाई करते हुए कालयापन करे, इसी प्रकार पूजा के लिए तुलसी और पुष्पचयन करते हुए कालयापन करे तथा नामजप करते हुए कालयापन करे। गीता में भगवान् ने कहा है कि सर्वदा मेरा चिन्तन करते हुए युद्ध करो-**सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च**।(गी.8.7)। यहाँ युद्ध का बोधक युध्य पद सभी प्रकार के भगवत्कैंकर्य का उपलक्षण है।

तीर्थेषु वासेन सतां महात्मनां समागमेनाथ तदर्चनेन।
जिज्ञासया तद्यशसः श्रवेण तच्छ्रावणेन स्मरणेन तस्य॥177॥

अन्वय

तीर्थेषु वासेन, तस्य स्मरणेन, तदर्चनेन, तद्यशसः श्रवेण, जिज्ञासया तच्छ्रावणेन अथ सतां महात्मनां समागमेन।

अर्थ

तीर्थेषु-तीर्थों में **वासेन**-निवास से **तस्य**-भगवान् के **स्मरणेन**-स्मरण से, **तदर्चनेन**-उनकी अर्चना से, **तद्यशसः**-उनके यश के **श्रवेण**-श्रवण से (जिज्ञासु की) **जिज्ञासया**-जिज्ञासा से **तच्छ्रावणेन**-उसे सुनाने से **अथ**-और **सताम्**-उच्चकोटि के **महात्मनाम्**-महापुरुषों के **समागमेन**-संग से कालक्षेप करना चाहिए।

[1]रामाय साङ्गाय सपार्षदाय सीतासमेताय सहानुजाय।
आम्नायवेद्याय विधाय शश्वत् कैङ्कर्यमीर्ष्यारहितः सुचित्तः॥178॥

1.अस्य श्लोकस्य स्थाने रामस्य साङ्गस्य सपार्षदस्य सीतासमेतस्य सहानुजस्य। कैङ्कर्यमीर्ष्यारहितः प्रकुर्वन् क्षिपेत् स्वकालं सततं सुभक्तः॥ इति पाठान्तरम्।

अन्वय

ईर्ष्यारहितः सुचित्तः साङ्गाय सपार्षदाय सहानुजाय आम्नायवेद्याय सीतासमेताय रामाय शश्वत् कैङ्कर्यं विधाय।

अर्थ

ईर्ष्यारहितः-ईर्ष्या से रहित (और) **सुचित्तः**-निर्मल मन वाला होकर **साङ्गाय**-अंगों के सहित, **सपार्षदाय**-पार्षदों के सहित (और) **सहानुजाय**-श्रीलक्ष्मण के सहित **आम्नायवेद्याय**-वेदवेद्य **सीतासमेताय**-श्रीसीता के सहित **रामाय**-भगवान् श्रीराम के लिए **शश्वत्**-सदा **कैङ्कर्यम्**-कैंकर्य को **विधाय**[1]-करते हुए कालक्षेप करना चाहिए।

भाष्य

ईर्ष्या आदि विकारों के न होने पर ही अन्तःकरण निर्मल होता है। भगवद्कैंकर्य करने के लिए अन्तःकरण का निर्मल होना अति आवश्यक है। श्रीरामरहस्योपनिषत् में कहा है कि वायुपुत्र, गणेश, सरस्वती, दुर्गा, क्षेत्रपालक, सूर्य, चन्द्र, नारायण, नरसिंह, वायुदेवता और वाराह अपनी शक्तियों के सहित ये सभी तथा सीता, लक्ष्मण, शत्रुघ्न, भरत, विभीषण, सुग्रीव, अंगद, जाम्बवान् और प्रणव इन सभी को श्रीराम का अंग जानो- **वायुपुत्रं विघ्नेशं वाणीं दुर्गां क्षेत्रपालकं सूर्यं चन्द्रं नारायणं नारसिंहं वायुदेवं वाराहं तान्सर्वान्समात्रान् सीतां लक्ष्मणं शत्रुघ्नं भरतं विभीषणं सुग्रीवमङ्गदं जाम्बवन्तं प्रणवमेतानि रामस्याङ्गानि जानीथाः।**(रा.र.उ.1)। अंगों के अन्तर्गत पार्षदादि हैं। श्रीहनुमान्, श्रीभरत और श्रीशत्रुघ्न पार्षद हैं। अनुज लक्ष्मण जी अनन्य सेवक हैं। वेदवेद्य सीता के सहित श्रीरामचन्द्र हैं, वे अंगों, पार्षदों और लक्ष्मण जी से सुशोभित हैं। वैष्णव ऐसे परात्पर प्रभु का कैंकर्य करते हुए कालक्षेप करे। भगवत्कैंकर्य का उद्देश्य भी भगवान् की प्रसन्नता ही है, दूसरा नहीं। यह पूर्व में कहा गया है कि भगवान् की प्रसन्नता के जनक कार्य को कैंकर्य कहते हैं। प्रस्तुत प्रसंग में प्रतिपादित कालक्षेप के सभी उपाय प्रभु की प्रसन्नता के जनक होने से कैंकर्य हैं।

1.मुख को बन्द करके सोता है-मुखं पिधाय स्वपिति। जैसे मुख को बन्द करना और सोना एक साथ होता है, वैसे ही कैंकर्य और कालक्षेप एक साथ होता है, ऐसा जानना चाहिए।

अब ग्रन्थकार प्राप्यविषयक दशम प्रश्न का उत्तर देते हैं-

तथाविधैस्तैः परमार्थभूतं सुवैष्णवैः प्राप्यमथोच्यते यत्।
जितेन्द्रियैरात्मरतैर्बुधाग्र्यैर्महत्तमैः स्वाभिमतार्थदोहम्॥179॥

अन्वय

अथ तैः तथाविधैः बुधाग्र्यैः जितेन्द्रियैः आत्मरतैः महत्तमैः सुवैष्णवैः यत् स्वाभिमतार्थदोहं परमार्थभूतं प्राप्यम् उच्यते।

अर्थ

अथ-कालक्षेप के प्रकार के प्रतिपादन के पश्चात् **तैः**-पूर्वोक्त **तथाविधैः**-विहित रीति से कालक्षेप करने वाले **बुधाग्र्यैः**-प्रबुद्ध **जितेन्द्रियैः**-जितेन्द्रिय **आत्मरतैः**-परमात्मा की प्रीतिरूप उपासना करने वाले **महत्तमैः**-अत्यन्त महान् **सुवैष्णवैः**-श्रीवैष्णवों के द्वारा **यत्**-जो **स्वाभिमतार्थदोहम्**-अपने अभीष्ट अर्थ को प्रदान करने वाला **परमार्थभूतम्**-सर्वोत्कृष्ट **प्राप्यम्**-प्राप्य है, उसे **उच्यते**-कहा जाता है।

भाष्य

संसारबन्धन की आत्यन्तिक निवृत्तिपूर्वक साकेत धाम में प्रियतम प्रभु श्रीसीताराम जी का सतत सान्निध्य और कैंकर्य ही श्रीवैष्णव का अभीष्ट विषय है और उसकी प्राप्ति कराने वाले सर्वोत्कृष्ट भगवान् श्रीसीताराम ही प्राप्य हैं।

अब ग्रन्थकार प्राप्य का वर्णन करते हैं-

श्रीमान् दिव्यगुणाब्धिरौपनिषदो हेतुः शरण्यः प्रभुः
देवेशो जगतामनादिनिधनो ब्रह्मादिदेवार्चितः।
तारार्कानलचन्द्रमोबहुमहः - सौदामिनीभासकोऽ-
जय्योवीरसपत्नशस्त्रनिचयैर्जेता च तेषां मुहुः॥180॥

नित्यो ब्रह्मविधायकश्च पुरुषस्तद्वेदबोधो बुधो[1]
नित्यानां शरणं तपःप्रभृतिभिः सद्योगिनां दुर्लभः।
एकश्चेतनचेतनो भृतजगद् ध्येयः स्वतन्त्रो वशी स

1.पुरुषस्तद्वेदबोधो बुधो' इत्यस्य स्थाने पुरुषो वेदप्रदो ब्रह्मणे इति पाठान्तरम्।

प्राप्योऽस्ति मुमुक्षुभिः सुगुरुभिः सत्सङ्गिभिस्तत्परैः॥181॥

अन्वय

औपनिषदः अनादिनिधनः बुधः जगताम् हेतुः ब्रह्मविधायकः तद्वेदबोधः देवेशः ब्रह्मादिदेवार्चितः तारार्कानलचन्द्रमोबहुमहःसौदामिनीभासकः वीरसपत्नशस्त्रनिचयैः अजय्यः च तेषां मुहुः जेता नित्यानां नित्यः चेतनचेतनः एकः भृतजगत् शरणं स्वतन्त्रः वशी तपःप्रभृतिभिः दुर्लभः प्रभुः शरण्यः सद्योगिनां ध्येयः च दिव्यगुणाब्धिः श्रीमान् पुरुषः सः सुगुरुभिः सत्सङ्गिभिः तत्परैः मुमुक्षुभिः प्राप्यः अस्ति।

अर्थ

औपनिषदः-उपनिषद्वेद्य **अनादिनिधनः**-उत्पत्ति और विनाश से रहित **बुधः**-सर्वज्ञ **जगताम्**-जगत् का **हेतुः**-कारण **ब्रह्मविधायकः**-ब्रह्मा को उत्पन्न करने वाला (और) **तद्वेदबोधः**-उन्हें वेदों का ज्ञान प्रदान करने वाला **देवेशः**-देवताओं का स्वामी **ब्रह्मादिदेवार्चितः**-ब्रह्मादि देवताओं से पूजित **तारार्कानलचन्द्रमोबहुमहःसौदामिनीभासकः**-तारे, सूर्य, अग्नि, चन्द्रमा और अत्यन्त प्रकाशक विद्युत् को भी प्रकाशित करने वाला **वीरसपत्नशस्त्रनिचयैः**-वीर शत्रुओं के शस्त्रसमूहों के द्वारा **अजय्यः**-अपराजेय **च**-और **तेषाम्**-उन शत्रुओं का **मुहुः**-वारम्वार **जेता**-विजेता **नित्यानाम्**-नित्यों में **नित्यः**-नित्य **चेतनचेतनः**-चेतनों में चेतन **एकः**-एक होने पर भी **भृतजगत्**-सम्पूर्ण जगत् का पोषण करने वाला (जगत् का) **शरणम्**-रक्षक **स्वतन्त्रः**-स्वतन्त्र **वशी**-सम्पूर्ण जगत् को वश में करने वाला **तपःप्रभृतिभिः**-तप आदि साधनों के द्वारा **दुर्लभः**-दुर्लभ **प्रभुः**-फलप्रदान करने में समर्थ **शरण्यः**-आश्रय लेने योग्य **सद्योगिनाम्**-भक्तियोगियों का **ध्येयः**-ध्येय **च**-और **दिव्यगुणाब्धिः**-अप्राकृत गुणों का सागर **श्रीमान्**-सीता जी के सहित **पुरुषः**-परब्रह्म **सः**-श्रीरामचन्द्र **सुगुरुभिः**-महान् गुरुओं से **सत्सङ्गिभिः**-सत्संगप्राप्त **तत्परैः**-श्रीरामपरायण **मुमुक्षुभिः**-मुमुक्षुओं के द्वारा **प्राप्यः**-प्राप्य **अस्ति**-है।

भाष्य

प्राप्य-उपनिषदों के द्वारा जानने योग्य, मुमुक्षुओं के प्राप्य परमात्मा श्रीरामचन्द्र औपनिषद कहे जाते हैं-**उपनिषदा गृह्यते ज्ञायत इति औपनिषदः परमात्मा।**

चेतनाचेतनसकलेतर विलक्षण परब्रह्म एकमात्र उपनिषत् प्रमाण से ज्ञेय है, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ज्ञेय नहीं है। **तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि।**(बृ.उ.3.9.26) ऐसा बृहदारण्यक श्रुति कहती है, इस विषय को महर्षि वेदव्यास ने **शास्त्रयोनित्वात्**(ब्र.सू.1.1.3) इस सूत्र से व्यक्त किया है। औपनिषत् परमात्मा सविशेष ही है, निर्विशेष नहीं। उपनिषत् से परमात्मा का परोक्ष ज्ञान होता है और तदनन्तर की जाने वाली उपासना से अपरोक्ष।

आदि का अर्थ होता है-उत्पत्ति और निधन का अर्थ विनाश। मुमुक्षुओं के प्राप्य परमात्मा का आदि और निधन नहीं होता, इसलिए वे अनादिनिधन कहलाते हैं।

प्राप्य श्रीरामचन्द्र सर्वज्ञ होने से बुध कहे जाते हैं-**बोधति जानाति सर्वमिति बुधः।**

समस्त जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय के कारण परमात्मा श्रीरामचन्द्र ही मुमुक्षुओं के प्राप्य हैं।

भगवान् श्रीराम जगत् की उत्पत्ति करके प्राणियों में सर्वप्रथम ब्रह्मा को उत्पन्न करते हैं और उन्हें वेदों का ज्ञान प्रदान करते हैं-**यो ब्रह्माणं विद-धाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।**(श्वे.उ.6.18)

भगवान् श्रीरामचन्द्र मनुष्य ही नहीं अपितु ब्रह्मादि देवताओं के द्वारा भी अर्चित हैं।

लोक में तारा, सूर्य, अग्नि और चन्द्रमा ये प्रकाशक वस्तुएँ प्रसिद्ध हैं तथा घने अन्धकार से व्याप्त मेघाच्छन्न अमावस्या की रात्रि में भी प्रचण्ड प्रकाश करने वाली विद्युत् भी प्रसिद्ध है। जैसे कोई याचना के द्वारा दूसरे से प्राप्त धन से धनी बनता है, वैसे ही तारा आदि देवता भगवान् की आराधना करके उनसे प्राप्त प्रकाश से जगत् के प्रकाशक बने हैं, इस प्रकार लोक में प्रकाशकरूप से प्रसिद्ध तारा आदि को भी प्रकाश प्रदान करने से भगवान् प्रकाशक तारा आदि के भी प्रकाशक कहे जाते हैं।

हिरण्यकशिपु, हिरण्याक्ष, रावण और कुम्भकर्णादि राक्षसों के शस्त्रों के द्वारा जगत् के स्वामी परमात्मा कभी भी जीते नहीं जा सकते और वे उन राक्षसों को पुनः पुनः जीतने में समर्थ हैं।

परमात्मा नित्यों में नित्य है, चेतनों में चेतन है, वह एक होने पर भी

असंख्य आत्माओं को अभीष्ट पदार्थ देकर उनका पोषण करता है-**नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।**(क.उ.2.2.13) ऐसा कठश्रुति कहती है।

भगवान् श्रीराम सम्पूर्ण जगत् के रक्षक हैं। एकमात्र वे स्वतन्त्र हैं और सभी उनके अधीन। वे वशी हैं अर्थात् चेतनाऽचेतनात्मक समग्र जगत् को अपने वश में करने वाले हैं। सभी प्राणियों का अन्तरात्मा ब्रह्म जगत् को वश में करने वाला अथवा भक्तों के वश में रहने वाला है-**वशी सर्वभूतान्तरात्मा।**(क.उ.2.2.12) ऐसा कठश्रुति कहती है। **जगद्वशे वर्ततेदं कृष्णस्य सचराचरम्।**(वि.स.ना.135) ऐसा महाभारत में कहा है। वश में रहने वाला भी वशी का अर्थ होता है। भगवान् सदा भक्तों के वश में रहते हैं। श्रीरामचन्द्रजी ने विश्वामित्र से कहा कि हे मुनिश्रेष्ठ! हम दोनों (राम और लक्ष्मण) सेवक आपकी सेवा में उपस्थित हैं। मुनिश्रेष्ठ! आज्ञा दीजिए, हम क्या सेवा करें-**इमौ स्म मुनिशार्दूल किंकरौ समुपागतौ। आज्ञापय मुनिश्रेष्ठ शासनं करवाव किम्॥**(वा.रा.1.31.4)। वश का अर्थ इच्छा भी होता है, इच्छा वाले को वशी कहते हैं-**वशः इच्छा सोऽस्यास्तीति वशी।**(रं.भा.) भगवान् भक्तों को दर्शन देकर विविध मनोरथों को पूर्ण करने की इच्छा रखते हैं, इसलिए भी वशी कहलाते हैं।

वे तपस्या आदि के द्वारा प्राप्य नहीं हैं। श्रीभगवान् ने स्वयं कहा है कि हे अर्जुन! तुमने जिस प्रकार मेरा साक्षात्कार किया है, इस प्रकार मेरा साक्षात्कार वेद के अध्ययन-अध्यापन से, तप से, दान से और यज्ञ से नहीं किया जा सकता-**नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया। शक्य एवं विधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा॥**(गी.11.53), जब भगवान् तप आदि साधनों के द्वारा प्राप्त नहीं होते तो वे किस साधन के द्वारा प्राप्य हैं, ऐसी शंका होने पर वे स्वयं कहते हैं कि हे परन्तप! अनन्य भक्ति के द्वारा इस प्रकार तत्त्वतः मुझे शास्त्र से जाना जा सकता है, अनन्य भक्ति के द्वारा तत्त्वतः मेरा साक्षात्कार किया जा सकता है और अनन्य भक्ति के द्वारा तत्त्वतः मुझे प्राप्त किया जा सकता है-**भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवं विधोऽर्जुन। ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥**(गी.11.54), हे पार्थ! वह परम पुरुष निरन्तर भक्ति से प्राप्य है-**पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।**(गी.8.22), मैं स्वरूपतः जो हूँ तथा गुणतः और विभूतितः जितना हूँ, इस प्रकार पराभक्ति से मेरा तत्त्वतः साक्षात्कार कर

लेता है और तत्त्वतः साक्षात्कार करके भक्ति के द्वारा ही मुझे प्राप्त करता है-**भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः। ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥**(गी.18.55)। यहाँ अनन्य भक्ति के द्वारा शास्त्र से परमात्मा का तत्त्वतः ज्ञान, अनन्य भक्ति के द्वारा उनका तत्त्वतः साक्षात्कार तथा अनन्य भक्ति के द्वारा तत्त्वतः उनकी प्राप्ति कही गयी है। भिन्न-भिन्न अवस्थाओं वाली भक्ति ज्ञान, दर्शन और प्राप्ति का हेतु है। परमात्मा की उपासना करने वाला इस जन्म में ही उसका अनुभव करता है, परमात्मानुभव के लिए उपासना से अतिरिक्त उपाय नहीं है-**तमेवं विद्वानमृत इह भवति। नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥**(तै.आ.3.1.3)। भगवान् केवल अनुरागात्मिका भक्ति के द्वारा प्राप्त होते हैं, अन्य साधनों के द्वारा नहीं-**मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा। किएँ जोग तप ग्यान विरागा॥**(रा. च.मा.7.61.1)।

महान् परमात्मा ही फल प्रदान करने में समर्थ है-**महान् प्रभुर्वै पुरुषः**।(श्वे. उ.3.12)। भगवान् कहते हैं कि मैं ही सभी यज्ञों का भोक्ता हूँ और यज्ञादि कर्मों का फलप्रदाता हूँ-**अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च**।(गी.9. 24)। प्रस्तुत भास्कर ग्रन्थ में मुमुक्षुओं के प्राप्य परमात्मा का प्रकरण चल रहा है अतः मोक्षफलप्रदाता अर्थ विवक्षित है। भगवान् श्रीराम दुःखमय असार संसार से उद्धार कर मुमुक्षुओं को मोक्षरूप फल देते हैं अतः त्रिविध तापदग्ध मुमुक्षुओं के शरण्य अर्थात् आश्रय लेने योग्य वही हैं और तापत्रयशमनार्थ मुमुक्षुओं के द्वारा ध्येय भी वही हैं।

दिव्यगुणाब्धि

प्रकृति में विद्यमान सत्त्व, रज और तम गुण प्राकृत गुण कहे जाते हैं तथा प्रकृति के संसर्ग से होने वाले गुण भी प्राकृत कहे जाते हैं। संसारी जीवों के गुण प्राकृत हैं। श्रीभगवान् के गुण प्राकृत नहीं हैं, दिव्य हैं। दिव्य शब्द का अर्थ है-अप्राकृत। भगवान् दिव्य गुणों के सागर हैं। जिस प्रकार सागर में असंख्य रत्न विद्यमान रहते हैं, उसी प्रकार भगवान् में अनन्त, अप्राकृत गुण विद्यमान रहते हैं, इसीलिए श्रीमद्भागवत में कहा है कि ब्रह्मा, शंकर आदि महान् योगेश्वर भी भगवान् श्रीहरि के गुणों का अन्त नहीं पा सके-**नान्तं गुणानामगुणस्य जग्मुर्योगेश्वरा ये भवपाद्ममुख्याः**।(भा. 1.18.14) इनकी गणना संभव न होने से ये अनन्त कहे जाते हैं और सागर

की तरह अगाध होने से इनकी थाह न मिलने के कारण भी अनन्त कहे जाते हैं। ये दिव्य गुण कल्याणकारक हैं। इनके अनुसन्धान से भगवत्प्रीति की अभिवृद्धि होती है। जो तत्त्ववेत्ता गुरुजनों की शुश्रूषा और सत्संग से ज्ञान प्राप्त कर उपासना में प्रवृत्त हुए हैं, ऐसे मुमुक्षुओं के द्वारा भगवान् प्राप्य हैं।

भगवान् श्रीरामचन्द्र में विद्यमान अनन्त कल्याण गुण दो प्रकार के हैं। कुछ गुण उनके परत्व को सिद्ध करते हैं, वे परत्वोपयोगी कल्याणगुण कहलाते हैं और कुछ उनके सौलभ्य को सिद्ध करते हैं, वे सौलभ्योपथोगी कल्याण गुण कहलाते हैं। भगवान् में दो प्रकार की विशेषताएँ विद्यमान हैं-1.वे सबसे श्रेष्ठ हैं, इस श्रेष्ठता को ही परत्व कहते हैं। 2. वे अत्यन्त सुलभ हैं, इसी सुलभता को ही सौलभ्य कहते हैं। भगवान् परम स्वतन्त्र हैं और अन्य सभी उनके अधीन हैं। परम स्वतन्त्र होने से ही वे परात्पर कहलाते हैं। वे परात्पर होते हुए भी अत्यन्त सुलभ है। परत्व और सौलभ्य का एकत्र समावेश जिसमें होता है, उसे प्राप्त करने के लिए लोक में प्रवृत्ति देखी जाती है, अन्यथा नहीं। जैसे सुमेरु पर्वत सुवर्णमय होने से अवश्य श्रेष्ठ है किन्तु उसे प्राप्त करने के लिए मनुष्य प्रयत्न नहीं करते क्योंकि वह दुर्लभ है, वैसे ही मिट्टी और पत्थर इत्यादि पदार्थ अत्यन्त सुलभ हैं तो भी उन्हें प्राप्त करने के लिए मनुष्य प्रयत्न नहीं करते क्योंकि उनमें परत्व नहीं है। श्रीभगवान् में परत्व और सौलभ्य दोनों ही हैं, अतएव मनुष्यों की उन्हें प्राप्त कर अपने अभिमत को सिद्ध करने के लिए प्रवृत्ति होती है। यदि श्रीभगवान् केवल स्वतन्त्र ही बने रहते, सुलभ न होते, तो साधकों के लिए उनका आश्रय लेना असंभव होता। परत्व को ऐश्वर्य नाम से तथा सौलभ्य को माधुर्य नाम से कहा जाता है। जिन गुणों को समझने के कारण भगवान् के विषय में गौरवबुद्धि, संकोच, मर्यादा पालन में तत्परता तथा भय उत्पन्न होते हों, उन्हें ऐश्वर्य कोटि में गिनना चाहिए और जिन गुणों को जानने से भगवान् के विषयमें चित्ताकर्षण, स्नेह, दर्शनोत्कण्ठा तथा सम्मिलन की प्रबल इच्छा उत्पन्न हो उन गुणों को माधुर्य कोटि में गिनना चाहिए। उनके कल्याण गुण नित्यसिद्ध हैं। वे दूसरे किसी के अधीन नहीं हैं। इन गुणों की चरम सीमा भगवान् में ही पायी जाती है, अन्यत्र नहीं। उनमें ज्ञान बल, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति और तेज ये छः गुण परत्व के साधक हैं तथा सौशील्य, वात्सल्य, मार्दव, आर्जव, सौहार्द, साम्य,

कारुण्य, माधुर्य, गाम्भीर्य, औदार्य, चातुर्य, स्थैर्य, धैर्य, शौर्य, पराक्रम, सत्यकामत्व, सत्यसंकल्पत्व, कृतित्व और कृतज्ञता इत्यादि गुण सौलभ्य के साधक हैं। इनके स्वरूप और स्वभाव इस प्रकार हैं-

ज्ञान

भगवान् अतीत, वर्तमान और अनागत सभी पदार्थों को युगपद् जो हैं, यही उनका ज्ञान गुण है। वे सर्वज्ञ हैं। जगत् में कोई भी वस्तु उनके द्वारा अज्ञात नहीं है।

बल

भगवान् विना किसी श्रम के सभी पदार्थों को धारण करते हैं। किसी श्रम के विना सभी पदार्थों को धारण करने का सामर्थ्य ही उनका बल है। भगवान् ने कृष्णावतार में गोवर्धन को धारण करके, वराहावतार में भूमि का उद्धार करके और कच्छपावतारमें मन्दराचल को धारण करके इस गुण को व्यक्त किया है।

ऐश्वर्य

भगवान् चेतनाचेतनात्मक सम्पूर्ण जगत का नियमन करते हैं, इस कारण वे अन्तर्यामी कहे जाते हैं। उनका नियमन करने का सामर्थ्य ही ऐश्वर्य गुण है।

वीर्य

भगवान् सम्पूर्ण जगत् को धारण और नियन्त्रण करते हुए भी निर्विकार बने रहते हैं। निर्विकार बने रहने का उनका सामर्थ्य ही वीर्य गुण कहलाता है।

शक्ति

भगवान् में अघटितघटनासामर्थ्य है। दूसरे लोग जिस कार्य को किसी भी प्रकार नहीं कर सकते, भगवान् उस कार्य को अनायास कर देते हैं। यह अघटितघटनासामर्थ्य ही उनका शक्ति नामक गुण है। इस गुण के होने से भगवान् जगत् के सभी प्रकार से कारण हैं।

तेज

भगवान् किसी सहकारी कारण की अपेक्षा न करके बड़े-बड़े बलवानों

को भी पराभूत कर देते हैं। दूसरों को पराभूत करने(दबाकर रखने) का सामर्थ्य ही उनका तेज गुण हैं।

सौशील्य

भगवान् सभी लोगों से सभी प्रकार से बड़े होते हुए भी अत्यन्त छोटे लोगों के साथ भी मिलकर रहते हैं, वह भी अपने परत्व(बड़प्पन) को छिपाकर। वे इस अभिप्राय से ही परत्व को छिपाये रहते हैं कि कदाचित् उसे दिखाने पर ये भयभीत होकर भाग न जाएँ। इस प्रकार भगवान् इन मन्द जीवों के साथ निश्छलभाव से मिलकर रहते हैं। इस गुण (मन्द जीवों के साथ मिलकर रहने) को ही सौशील्य कहते हैं। भगवान् श्रीराम ने निषादराज, शबरी, वानर और विभीषण इत्यादि से मिलकर तथा श्रीकृष्ण ने मालाकार, कुब्जा, व्रजयुवती, गोपबालक और सुदामा आदि से मिलकर इस दिव्य गुण को व्यक्त किया है।

वात्सल्य

भगवान् का अपने आश्रित जनों पर इतना प्रेम होता है कि वे उनके दोषों पर ध्यान ही नहीं देते। दोषों के भण्डार बने हुए भी जीव यदि उनका आश्रय लेना चाहें तो भगवान् उनके दोषों पर ध्यान न देकर उन्हें अपनाने के लिए लालायित हो जाते हैं। जिस प्रकार गौ अपने नूतन उत्पन्न हुए वत्स के शरीर में लगे मलिन पदार्थ को देखकर घृणा न करती हुई प्रेम से चाटते हुए उसे नष्ट कर बछड़े को शुद्ध बना देती है, उसी प्रकार भगवान् भी आश्रित जीवों के पाप इत्यादि दोषों को देखकर घृणा न करते हुए अपने क्षमा इत्यादि गुणों के द्वारा उन दोषों को नष्ट कर जीवों को शुद्ध बनाकर अपनाने के लिए लालायित रहते हैं। भगवान् के इस दिव्यगुण को ही वात्सल्य कहते हैं। भगवान् श्रीरामचन्द्र ने विभीषणशरणागति के प्रसंग में 'यदि विभीषण का दोष हो तो भी, सन्तों के लिये यह निन्दित नहीं है'-**दोषो यद्यपि तस्य स्यात्सतामेतदगर्हितम्।**(वा.रा.6.18.3) ऐसा कह कर तथा माता श्रीसीताजी ने हनुमान्जी से राक्षसियों को बचाते हुए 'जगत् में कोई भी जीव निरपराध नहीं, अपराधी जीवों को भी अपनाना ही होगा'-**न कश्चिन्नापराध्यति।**(वा.रा.6.113.45) इस प्रकार कहकर इस महागुण को व्यक्त किया है। कठश्रुति कहती है कि वात्सल्य होने से

परमात्मा किसी से घृणा नहीं करता-**न ततो विजुगुप्सते**।(क.उ.2.1.12)। वात्सल्य गुण होने से भगवान् में क्षमा गुण भी सिद्ध होता है।

मार्दव

भगवान् अपने आश्रित भक्तों के विरह को नहीं सहन कर सकते, अत एव उनके साथ भगवान् का रहना अनायास सिद्ध हो जाता है। भगवान् के इस गुण को ही मार्दव कहते हैं। अत एव भगवान् श्रीरामचन्द्र ने रावणसंहार के बाद विभीषण जी के द्वारा स्नान इत्यादि के लिए प्रार्थना किये जाने पर कहा कि **तं विना कैकयीपुत्रं भरतं धर्मचारिणम्। न मे स्नानं बहुमतं वस्त्राण्याभरणानि च**॥(वा.रा.6.121.6)।

आर्जव

भगवान् जैसा सोचते हैं, वैसा बोलते हैं तथा वैसा ही करते भी हैं। इस प्रकार मन, वाणी और शरीर से एक रूप होने को ही आर्जव कहते हैं। भगवान् में यह महागुण विद्यमान रहता है अत एव उनके वचन को सुनकर किसी के भी मन में यह शंका नहीं होती कि भगवान् प्रतारण करने के लिए ऐसा कहते हैं। दुष्टा शूर्पणखा के द्वारा परिचय पूछे जाने पर श्रीरामचन्द्र जी के द्वारा दिये जाने वाले उत्तर के विषय में महर्षि वाल्मीकि लिखते हैं कि सरल चित्त होने के कारण श्रीरामचन्द्र जी अपना सभी वृतान्त यथार्थरूप से कहने लगे-**ऋजुबुद्धितया सर्वं व्याख्यातुमुपचक्रमे**।(वा.रा. 3.17.14) इस प्रकार कहकर महर्षि वाल्मीकि ने भगवान् के आर्जव गुण को व्यक्त किया है।

सौहार्द

भगवान् हृदय से सभी का भला चाहते हैं, इस महागुण को ही सौहार्द कहते हैं। भगवान् ने गीता में **सुहृदं सर्वभूतानाम्**।(गी.5.29) इस प्रकार अपने को सर्वप्राणियों का परमहितैषी कहा है। इस सौहार्द गुण के कारण ही भगवान् जीवों के द्वारा अज्ञात[1] सुकृत को कराकर उसे निमित्त मानकर विशेष कृपाकटाक्ष करते हैं।

1.अज्ञात सुकृत उन्हें कहते हैं, जो विना अभिप्राय के स्वतः हो जाते हैं। जैसे किसी पशुपालक की गाय मन्दिर की परिक्रमा करते हुए भागी, उसे पकड़ने के लिए पीछे भागने से पशुपालक की भी परिक्रमा लग जाती है।

साम्य

भगवान् आश्रय लेने के लिए उत्सुक सभी को समान रूप से आश्रय देते हैं तथा सब आश्रितों के साथ समान रूप से प्रेममय व्यवहार करते हैं। आश्रय लेने वाले चाहे जाति-गुण और आचरण की दृष्टि से श्रेष्ठ हों अथवा निकृष्ट, भगवान् इन पर ध्यान न देकर उन्हें समानरूप से आश्रय देते हैं। भगवान् ने गीता में **समोऽहं सर्वभूतेषु**।(गी.9.29)कहकर अपने इस साम्य गुण को व्यक्त किया है। श्रीरामचन्द्रजी ने महर्षि भरद्वाज तथा शबरी के यहाँ भी समानरूप से भोजन स्वीकार किया। वानरराज सुग्रीव और राक्षसराज रावण के भाई विभीषण दोनों का समान रूप से आदर किया।

कारुण्य

भगवान् निःस्वार्थ होकर दूसरे के दुःख को हटाना चाहते हैं। इसी महागुण को ही कारुण्य(करुणा या दया) कहते हैं। वे परम दयालु हैं। अत एव प्रलय काल में पंखहीन पक्षी के समान देहेन्द्रियादि से रहित जड़भावापन्न जीवों को देखकर दया से ही सृष्टि करके उन्हें देह, इन्द्रिय आदि प्रदान करते हैं और अज्ञान को दूर करने के लिए तथा हित और अहित को समझाने के लिए उन्हें वेदादिशास्त्रों को भी प्रदान करते हैं। अपार करुणा के सागर होने के कारण ही उनके रक्षाभार को स्वयं वहन करते हैं, शास्त्राज्ञा के अनुसार कार्य करने वाले याज्ञिक, उपासक और शरणागतों को अभिमत फल प्रदान करते हैं। बारम्बार जन्म लेकर जीवों ने कुसंस्कारों को बढ़ा लिया है। उन्हें दबाने के लिए ही भगवान् संहार करते हैं, जिससे प्रलय काल में चुपचाप पड़े रहने के कारण जीवों के कुसंस्कार बहुत दब जाते हैं। इस प्रकार भगवान् करुणा के अधीन होकर सृष्टि, स्थिति और प्रलय करते हैं। करुणा ही भगवान् को जीवों पर अनुग्रह करने के लिए प्रेरित करती है, इस प्रकार इस महागुण के कारण ही भगवान् जीवों के लिए सर्वाधिक लाभदायक सिद्ध होते हैं।

माधुर्य

भगवान् उपाय बनते समय तथा प्राप्य बनते समय भी जीवों को परम भोग्य प्रतीत होते हैं। यही(परम भोग्य प्रतीत होना ही) उनका माधुर्य गुण

है। दुग्ध पित्तरोग निवृत्ति का साधन है, उसे पीने से पित्त रोग शान्त होता है, इस प्रकार पित्त रोग वालों के लिए दुग्ध उपाय बनता है और पित्त रोग की निवृत्ति होने पर दुग्धपान स्वयं फल हो जाता है। जिस प्रकार उपाय बनते समय तथा स्वयं फल होते समय भी दुग्ध मधुर ही रहता है, उसी प्रकार भगवान् को उपाय मानने वाले तथा प्राप्य मानने वाले सभी को भगवान् मधुर ही लगते हैं। वे अत्यन्त मधुर हैं इसलिए भगवदनुभव में डूबे हुए साधकों को विषयानुभव से होने वाला सुख अत्यन्त तुच्छ प्रतीत होता है। जो भगवान् से द्वेष करते हैं, उन्हें मारने के लिए जब भगवान् उनके समक्ष उपस्थित होते हैं, तब उनके मन और नेत्र का आकर्षण करते हुए भगवान् उन्हें भी मधुर ही लगते हैं फिर दूसरों के लिए क्या कहना? **जद्यपि भगिनी कीन्ह कुरुपा। बध लायक नहिं पुरुष अनूपा॥**(रा.च.मा. 3.18.4)। भगवान् सौन्दर्यनिधि तथा आनन्दमय होने से परम मधुर हैं।

गाम्भीर्य

भगवान् गम्भीर हैं इसलिए कोई भी इन बातों को नहीं समझ सकता कि वे किस प्रकार भक्तों पर अनुग्रह करते हैं? उनके मनोरथों को कैसे पूर्ण करते हैं? किस समय में क्या करने वाले हैं? ये सब भगवान् की रहस्यमय बातें हैं, इन्हें बड़े-बड़े योगी भी नहीं समझ सकते। वे भक्तों के अपराध को जानते हुए भी न जानते जैसे रहते हैं तथा कर्मों का फल भुगाते हुए अत्यन्त हित में ही पर्यवसान कराते हैं, इस मर्म को समझना कठिन है। इन सभी कारणों से भगवान् गम्भीर कहे जाते हैं और उनके उक्त स्वभाव को गाम्भीर्य कहते हैं।

चातुर्य

भगवान् परम चतुर हैं। वे आश्रित के दोषों को छिपाते हुए उनकी शंकाओं को दूर करते हुए बड़ी चतुरता से उन्हें अपनाते हैं। यह चतुरता ही चातुर्य गुण है। भगवान् की चतुराई को कोई समझ नहीं सकता।

स्थैर्य

भगवान् स्थिर हैं। शरणागतों को अपनाने के विषय में अपने अन्तरंग लोगों से दोष दिखाये जाने पर भी विचलित नहीं होते हैं और अनेक प्रकार से उन्हें(अन्तरंग जनों को) समझाकर तथा राजी करके अन्त में शरणागतों

को अपनाते ही हैं। यही उनकी स्थिरता या स्थैर्य गुण है। भगवान् ने विभीषण-शरणागति के प्रसंग में इस दिव्य गुण को व्यक्त किया है।

धैर्य

भगवान् इष्टजनों के वियोग का प्रसंग उपस्थित होने पर भी अपनी प्रतिज्ञा को कभी नहीं छोड़ते अपितु प्रतिज्ञा को पूर्ण करने के लिए तत्पर रहते हैं इसलिए धीर कहलाते हैं और उनका यह(प्रतिज्ञा को पूर्ण करने के लिए तत्पर रहना) गुण तत्परता कहलाता है। भगवान् श्रीरामचन्द्र ने श्रीजानकी जी से यह कहते हुए इस गुण को व्यक्त किया है कि हे श्रीजनकनन्दिनि! चाहे मैं अपने प्राणों को छोड़ दूँ, लक्ष्मण जी को तथा आपको भी छोड़ दूँ, यह सब सम्भव है परन्तु प्रतिज्ञा को नहीं छोड़ सकता, विशेष कर ब्राह्मणों के लिए प्रतिज्ञा कर उसे कभी नहीं छोड़ सकता-**अप्यहं जीवितं जह्यां त्वां वा सीते सलक्ष्मणाम्। न तु प्रतिज्ञां संश्रुत्य ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः॥**(वा.रा.3.10.18)। अपनी प्रतिज्ञा में दृढ़ रहना ही भगवान् का धैर्य गुण है। भगवान् इसलिए भी धीर कहे जाते हैं क्योंकि बलवान् शत्रु को भी तुच्छ समझकर अपने कार्य को सम्पन्न करते रहते हैं। भगवान् ने बलवान् शत्रु रावण के जीवित रहते और समुद्र का लंघन न करने पर भी विभीषण का राजतिलक करके इस गुण को व्यक्त किया है।

शौर्य

भगवान् शूर हैं। सहायहीन होते हुए भी भगवान् भयंकर शत्रु की सेना में भी उसी प्रकार निर्भय होकर प्रवेश करते हैं, जिस प्रकार कोई अपनी सेना में निर्भय होकर प्रवेश करता है, उनका यह सामर्थ्य ही शौर्य कहलाता है। भगवान् श्रीरामचन्द्र जी ने जनस्थानयुद्ध आदि प्रसंगों में इस गुण को व्यक्त किया है।

पराक्रम

शत्रुओं की सेना में घुसकर नाना प्रकार से शत्रुओं के संहार करने का सामर्थ्य ही पराक्रम है। श्रीरामचन्द्र ने रावण की सेना का वध करते समय इस गुण को व्यक्त किया है। उस प्रसंग में भगवान् के पराक्रम का वर्णन करते हुए महर्षि वाल्मीकि ने कहा है कि राक्षसों ने श्रीरामचन्द्रजी के द्वारा बाणों से छिन्न-भिन्न, दग्ध-भग्न तथा पीड़ित अपनी सेना को देखा किन्तु

अतिशीघ्र इस कार्य को सम्पन्न करने वाले श्रीरामचन्द्र जी को नहीं देखा- **छिन्नं भिन्नं शरैर्दग्धं प्रभग्नं शस्त्रपीडितम्। बलं रामेण ददृशुर्न रामं शीघ्रकारिणम्॥**(वा.रा.6.93.22)। भगवान् के शौर्य और पराक्रम गुण आश्रित जनों के शत्रुओं के विनाश में उपयोगी हैं।

सत्यकामत्व

भगवान् अपने तथा आश्रितों के लिए अनन्त, नित्य भोग्य पदार्थों को रखते हैं इसलिए सत्यकाम कहलाते हैं और उनका यह गुण सत्यकामत्व कहलाता है।

सत्यसंकल्पत्व

भगवान् सत्यसंकल्प हैं, उनका संकल्प कभी व्यर्थ नहीं होता और दूसरे किसी से प्रतिबद्ध भी नहीं होता। भगवान् संकल्पमात्र से ही अपने अवतार इत्यादि अपूर्व रूपों की सृष्टि करते हैं तथा जगत् की सृष्टि, स्थिति, प्रलय और मोक्षप्रदान आदि कार्य करते हैं अत एव वे सत्यसंकल्प कहलाते हैं और उनका यह गुण सत्यसंकल्पत्व कहलाता है।

कृतित्व

भगवान् सदा दूसरों का उपकार करने में ही रत रहते हैं इसलिए कृति कहलाते हैं और उनका उपकार करनारूप गुण कृतित्व कहलाता है। भगवान् 'सृष्टि करने पर एकाध मुमुक्षु निकल आयेगा'-**अपि कश्चिन्मुमुक्षुः स्यात्** ऐसा सोचकर ही जीवों के कल्याणार्थ जगत् की सृष्टि, स्थिति, प्रलय आदि कार्य करते हैं तथा श्रीराम, श्रीकृष्ण इत्यादि अवतारों में अपने लिए कुछ कर्तव्य न होने पर भी जीवों के कल्याणार्थ ही वर्णाश्रम धर्मों को उसी प्रकार करते रहते हैं, जिस प्रकार बच्चे के स्वास्थ्य के लिए स्वस्थ माता भी औषध का सेवन करती है। भगवान् दूसरों का उपकार करके ही अपने को कृतकृत्य मानते हैं। महर्षि वाल्मीकि ने इस गुण को व्यक्त करते हुए कहा कि लंका में विभीषणजी को राक्षसराज के रूपमें अभिषिक्त कर श्रीरामचन्द्र जी कृतकृत्य होते हुए निश्चिन्त होकर हर्षित हुए-**अभिषिच्य च लंकायां राक्षसेन्द्रं विभीषणम्। कृतकृत्यस्तदा रामो विज्वरः प्रमुमोद ह॥**(वा.रा.1.1.85)।

कृतज्ञता

भगवान् कृतज्ञ हैं। यदि दूसरों के द्वारा कोई अनुकूल कार्य सम्पन्न हो जाय तो भगवान् उसे कभी नहीं भूलते, भले ही उत्तर काल में उन जीवों के द्वारा अत्यन्त अपकार क्यों न बन जायें। स्वयं भी अनन्त प्रत्युपकार क्यों न कर दिये हों तो भी भगवान् उस क्षुद्र उपकार का स्मरण करते ही रहते हैं। उस क्षुद्र उपकार के निमित्त उनके सम्बन्धियों की भी रक्षा करने के लिए सदा उद्यत रहते हैं, इतना सब कुछ करके भी वे यही समझते हैं कि मैंने कुछ भी नहीं किया, मैं अभी तक उऋण नहीं हुआ। रामायण में महाराज दशरथ के दरबार में भगवान् श्रीरामचन्द्र के कल्याणगुणों का वर्णन करती हुई प्रजा ने कहा कि श्रीरामचन्द्र जी ज्ञानवान् होने के कारण दूसरों के द्वारा किये गये सौ अपकारों का भी स्मरण नहीं करते। किसी के किसी तरह सम्पन्न हुए एक उपकार से भी अत्यन्त सन्तुष्ट होते हैं-**कथंचिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति। न स्मरत्यपकाराणां शतम् अप्यात्मवतया।।**(वा.रा.2.1.11)।

भगवान् में इतने ही गुण नहीं हैं बल्कि इसी प्रकार अनन्त महागुण हैं। इन गुणों का अनुसन्धान करनेसे जीवों को यह विश्वास होता है कि हम भगवान् का आश्रय ले सकते हैं, वे हमें अवश्य अपनायेंगे, अवश्य हमारी रक्षा करेंगे। उन अनन्त कल्याणगुणों में कुछ गुण ज्ञान के विस्ताररूप हैं और कुछ शक्ति के विस्ताररूप। उन गुणों मे ज्ञानादि षड्गुण प्रधान हैं। ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, वीर्य, शक्ति, तेज, सौशील्य, वात्सल्य, मार्दव, आर्जव, सौहार्द, साम्य, करुणा, माधुर्य, गाम्भीर्य, औदार्य, चातुर्य, स्थैर्य, धैर्य, शौर्य और पराक्रम आदि भगवान् के अनन्त कल्याणगुण हैं।

भगवान् के उक्त गुण तीन श्रेणियों में आते हैं-1.सौशील्य अदि गुण 2. शौर्य आदि गुण 3. ज्ञानशक्ति आदि गुण।

सौशील्यादि गुणों के विषय

यहाँ पर आदि पद से वात्सल्य, सौलभ्य, मार्दव, आर्जव आदि गुणों का ग्रहण होता है। अपने आराध्य भगवान् को ही सर्वस्व मानकर उनकी आराधना करने वाले, उनके आश्रित भक्तजन सदा उनके अनुकूल ही रहते हैं। वे भक्त वात्सल्यादि गुणों के विषय हैं अर्थात् भक्तों के लिए भगवान्

के वात्सल्य आदि गुण हैं। भगवान् के इन गुणों से भक्तों का अत्यन्त उपकार होता है। वे अनुकूल भक्त की सब प्रकार से रक्षा करते हैं, इस कार्य में उपयोगी उनके वात्सल्यादि गुण हैं।

शौर्यादि गुणों के विषय

शौर्यादि में आदि पद से पराक्रम आदि ग्रहण किये जाते हैं। भक्त के विरोधी को भगवान् अपना प्रतिकूल अर्थात् शत्रु मानते हैं। शौर्यादि के विषय भक्तविरोधी हैं अर्थात् भक्तविरोधियों के लिए उनके शौर्यादि गुण हैं। भगवान् भक्त के प्रतिकूल का संहार करते हैं, इसमें उपयोगी उनके शौर्यादि गुण हैं।

ज्ञानशक्ति आदि गुणों के विषय

ज्ञान, शक्ति आदि छः गुणों के कार्य सौशील्यादि तथा शौर्यादि हैं। इन ज्ञान, शक्ति आदि के विषय सभी हैं। भगवान् ज्ञान, शक्ति आदि गुणों से युक्त होने के कारण ही भक्तारक्षण और शत्रुसंहार करते हैं। इस प्रकार ज्ञानादि छः गुणों के विषय भक्त, अभक्त सभी होते हैं।

अब प्रसंगानुसार गुणों के अनुसंधान का वर्णन किया जाता है–

ज्ञान गुण का अनुसंधान

अज्ञानी जीव यह नहीं समझता है कि भगवान् से मिलने का साधन क्या है? उनसे मिलने में प्रतिबन्धक क्या है? उस प्रतिबन्धक की निवृत्ति कैसे होती है? ऐसे अज्ञानी के अनुसन्धान के लिए भगवान् का ज्ञान गुण उपयोगी है। ज्ञान गुण का अनुसन्धान करने वाला साधक समझता है कि भगवान् अपने से मिलने के साधन को जानते हैं, अपनी प्राप्ति के प्रति बन्धकों को जानते हैं, प्रतिबन्धक के निवर्तक को भी जानते हैं, अतः हमें चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं है। वे ज्ञान गुण का अनुसंधान करने वाले साभक के प्रतिबन्धक को दूर कर अपनी प्राप्ति के उपाय स्वयं बन जाते हैं।

शक्ति गुण का अनुसंधान

जो साधक परमात्मा को परम प्राप्य समझता है किन्तु प्राप्ति के साधन भक्ति का अनुष्ठान करने में अपने को असमर्थ समझता है, ऐसे साधक के

अनुसंधान के लिए भगवान् का शक्ति गुण उपयोगी है। शक्ति गुण का अनुसंधान करने वाला साधक समझता है कि भगवान् सर्वशक्तिसम्पन्न हैं, वे अघटित घटना को भी घटित कर सकते हैं, संकल्प करके शीघ्र ही मुझे स्वप्राप्ति रूप मोक्ष को प्रदान कर सकते हैं। वे ऐसे अनुसंधाता साधक को शीघ्र ही मोक्ष के साधन भक्तियोग को प्रदान करते हैं।

क्षमा गुण का अनुसंधान

अपराध करने वाले का निग्रह(दण्ड) किया जाता है। भगवान् का क्षमा गुण निग्रह की निवृत्तिरूप है। निग्रह की निवृत्ति करना ही भगवान् का क्षमा गुण है। भगवान् श्रीरामचन्द्र क्षमा गुण के कारण कहते हैं कि- **कोटि बिप्र बध लागहिं जाहू। आएँ सरन तजऊँ नहिं ताहू॥ सनमुख होई जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥**(रा.च.मा.5.43.1-2) अपराधी व्यक्ति के अनुसन्धान के लिए भगवान् का क्षमा गुण उपयोगी है। अनुसन्धाता व्यक्ति समझता है कि मैं घोर अपराधी हूँ, मेरे अपराधों का कोई अन्त नहीं किन्तु मेरे स्वामी अत्यन्त क्षमाशील हैं, वे मेरे अपराधों को क्षमा करके शीघ्र ही मुझे अपनालेंगे इसलिए भयभीत होकर दूर रहने की आवश्यकता नहीं है।

करुणा गुण का अनुसंधान

भगवान् का करुणा गुण दुःखी प्राणी के अनुसंधान के लिए उपयोगी है। करुणा गुण का अनुसंधान करने वाला साधक समझता है कि भगवान् विना किसी स्वार्थ के दूसरों का दुःख दूर करने के लिए उत्सुक रहते हैं। इस कारण यदि हम उनके शरणापन्न हो जाएँ तो वे अवश्य ही हमारे दुःखों को दूर करके अभीष्ट फल की प्राप्ति करा देंगे।

वात्सल्य गुण का अनुसंधान

दोषी प्राणी के अनुसन्धान के लिए भगवान् का वात्सल्य गुण उपयोगी है। वात्सल्य गुण का अनुसन्धाता साधक समझता है कि भगवान् भक्तवत्सलता के कारण मेरे दोषों पर ध्यान न देकर मुझे अवश्य अपनायेंगे अतः मुझे उनसे दूर रहने की आवश्यकता नहीं है। मुझे उनके सम्मुख होना चाहिए।

सौशील्य गुण का अनुसंधान

मन्द व्यक्ति के अनुसंधान के लिए उपयोगी भगवान् का सौशील्य गुण

है। इस गुण का अनुसंधान करने वाला साधक समझता है कि भगवान् महान् से महान् होते हुए भी अत्यन्त मन्द(छोटे) जीवों के साथ प्रेम से मिल-जुल कर रहने में और उनकी इच्छा के अनुसार छोटे से छोटा कार्य करने में संकोच नहीं करते इसलिए पाण्डवों ने उन्हें अपना सारथी और दूत बनाया, अतः वे हमसे भी मिलकर हमारे मनोरथ को अवश्य पूर्ण करेंगे।

आर्जव गुण का अनुसन्धान

कुटिल जीव के अनुसंधान के लिए भगवान् का आर्जव गुण उपयोगी है। इस गुण का अनुसन्धान करने वाला साधक समझता है कि मैं मनसा, वाचा, कर्मणा कुटिल हूँ, मन से कुछ सोचता हूँ, उससे विपरीत वचन बोलता हूँ और उससे विपरीत आचरण करता हूँ किन्तु मेरे स्वामी मनसा, वाचा, कर्मणा ऋजु(सरल) हैं। वे जैसा सोचते हैं, वैसा बोलते हैं और तदनुसार आचरण करते हैं। इस कारण मेरे हितैषी वहीं हैं, वे मेरी कुटिलता को दूर कर मुझे निर्मल बना देंगे।

सौहार्द गुण का अनुसन्धान

भगवान् का सौहार्द गुण दुष्ट हृदय वालों के अनुसन्धान के लिए उपयोगी है। इस गुण का अनुसन्धान करने वाला साधक समझता है कि मैं दुर्हृद हूँ, किसी का मङ्गल नहीं चाहता किन्तु भगवान् सुहृद हैं, वे हृदय से सभी का मङ्गल चाहते हैं, मेरा भी मङ्गल चाहते हैं इसलिए हमें उनसे विमुख नहीं रहना चाहिए अपितु दुर्भाव छोड़कर उनकी और उन्मुख हो जाना चाहिए। वे अपने इस दिव्य गुण से मेरा सर्वविध मङ्गल ही करेंगे।

मार्दव गुण का अनुसन्धान

जो भगवान् से वियोग नहीं चाहते और इसकी शंका से ही भयभीत हो जाते हैं, विश्लेष से भय करने वाले ऐसे साधकों के अनुसन्धान के लिए मार्दव गुण उपयुक्त है। वह समझता है कि श्रीभगवान् मृदु हैं, वे अपने आश्रित जनों के विरह को नहीं सहन कर सकते इसलिए वे सदा आश्रित भक्तों से मिलने के लिए आतुर रहते हैं और मिलकर कभी भी परित्याग नहीं करते।

सौलभ्य गुण का अनुसन्धान

भगवद्दर्शन करने के लिए उत्सुक साधक के अनुसन्धानार्थ सौलभ्य

गुण उपयोगी है, वह समझता है कि बड़े बड़े योगीश्वरों को भी दुर्लभ श्रीभगवान् कभी कभी सामान्य जन को भी इतने सुलभ हो जाते हैं कि दर्शन दे देते हैं इसलिए भगवत्प्राप्ति दुर्लभ है, ऐसा समझकर निराश नहीं होना चाहिए। इसी रीति से भगवान् के अन्य गुणों के उचित अधिकारी का विचार कर लेना चाहिए।

विविध गुणों के कार्य

ऊपर जिन गुणों का वर्णन किया गया था, उन सभी से युक्त श्रीभगवान् हैं, इसलिए भक्तों के सर्वविध कार्यों को स्वयं सम्पन्न करते हैं। हा! बड़ा कष्ट है, यह विचार कृपा गुण का कार्य है। परदु:खासहिष्णु होने से भगवान् 'हा!' इस प्रकार दु:ख को व्यक्त करते हैं और उसकी निवृत्ति के लिए प्रयासरत रहते हैं। सभी देश और सभी काल में समान रूप से आश्रित जनों के शुभ का चिन्तन करना सौहार्द गुण का कार्य है। 'भगवान् मेरा शुभ चिन्तन कर रहे हैं,' इस प्रकार आश्रित जनों के ज्ञान काल में और उससे भिन्न काल में भी श्रीभगवान् सौहार्द के कारण मङ्गल ही करते रहते हैं। कुछ व्यक्ति केवल अपने प्रयोजन के लिए दूसरें का कार्य करते हैं और कुछ अपने प्रयोजन के साथ दूसरे के प्रयोजन को ध्यान में रखकर कार्य करते हैं किन्तु इन दोनों से भिन्न चाँदनी, वायु, चन्दन और जल हैं। ये केवल पर के ही प्रयोजन को सिद्ध करने वाले हैं, दूसरे के प्रयोजन को सिद्ध करना ही इनका स्वभाव है। इनके समान ही भगवान् हैं। आश्रित जनों के अधीन रहना उनका गुण है, इस कारण ही वे चन्द्रिका आदि के समान सदा परार्थ होकर रहते हैं।

सामान्यजन जन्म, ज्ञान और आचरण को लेकर श्रेष्ठता और हीनता का निर्णय करते हैं किन्तु श्रीभगवान् इन कारणों से किसी को निम्न नहीं मानते। चाहे किसी का उच्च कुल में जन्म हुआ हो या निम्न कुल में, आचरणवान् हो या आचरणरहित हो। भगवान् किसी को भी निम्न नहीं मानते, इसका कारण साम्य गुण है इसलिए वे सभी को आश्रय देते हैं। संसार में कभी स्वकीय बन्धु सहायता करते हैं, कभी पराये लोग सहायता करते हैं किन्तु जब कोई भी सहयोग नहीं करता, तब भगवान् स्वयं सहायक हो जाते हैं। वे सहायता किये विना रह ही नहीं सकते, इसका कारण उनका अशरण्यशरण गुण है। इस जगत् में कभी विविध प्रकार की

सहायता करने वाले बहुत व्यक्ति मिल जाते हैं और वे यथासंभव उपकार करते हैं किन्तु मरे हुए सम्बन्धियों को वापस लाकर कोई नहीं देता किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण ने आचार्य सान्दीपनि के मृत पुत्र और द्वारकावासी वैदिक ब्राह्मण के मृत पुत्रों को परलोक से लाकर वापस कर दिया। ये कथाएँ क्रमशः श्रीमद्भागवत स्कन्ध 10 पूर्वार्ध के अध्याय 45 में और उत्तरार्ध अध्याय 89 में वर्णित हैं, उसका कारण परमात्मा का सत्यकामत्व गुण है। उन्होंने उत्तानपाद के पुत्र भक्त ध्रुव के लिए पूर्व में अविद्यमान एक अपूर्व स्थान ध्रुव लोक की रचना की इस कार्य का हेतु उनका सत्यसंकल्पत्व गुण है। भगवदाश्रित जन 'हम अपनी ही भोग्य वस्तुओं का उपयोग कर रहे हैं।' ऐसा जिस प्रकार समझ सकें, उस प्रकार श्रीभगवान् अपनी वस्तुओं और अपने स्वरूप को भी सहज में दे देते हैं। इस कार्य में भगवान् का औदार्य गुण हेतु है।

भगवान् आश्रितजनों का कार्य करके स्वयं को कृतकृत्य मानते हैं। यह कृतित्व गुण का कार्य है। भगवान् अपने द्वारा किये गये दूसरे के अनन्त उपकारों का कभी स्मरण नहीं करते और दूसरे के द्वारा किए गए किंचित् अनुकूल कार्य को कभी विस्मृत नहीं करते अपितु उसका स्मरण करते ही रहते हैं। यह उनके कृतज्ञता गुण का कार्य है। अनादिकाल से भोग्य विषयों को भोगने के कारण जिन विषयों के भोग के संस्कार पड़ गये हैं, उन विषयों को वे जैसे पूर्णतः भूल जाएँ, वैसे वे निरतिशय आनन्दरूप से उनके भोग्य बन जाते हैं। यह उनके माधुर्य गुण का कार्य है। पत्नीपुत्रादि के दोषों को देखकर भी जैसे कोई न देखने वाले के समान रहता है, वैसे ही भगवान् भक्त के अपराधों को जानते हुए भी न जानने वाले के समान होकर रहते हैं। यह उनके चातुर्य गुण का कार्य है। किसी के द्वारा आश्रितजन के दोष प्रदर्शित किये जाने पर भी भगवान् पक्षपाती बनकर आश्रित की रक्षा करते हैं। यह उनके स्थैर्य गुण का कार्य है। जैसे स्त्रीलम्पट व्यक्ति उसके शरीर की मलिनता से भी प्रेम करता है वैसे ही श्रीभगवान् भक्त के दोषों को भोग्यरूप से स्वीकार करते हैं। यह परम प्रणयित्व(अनुराग) गुण का कार्य है। भगवान् भक्त के लिए मनसा, वाचा, कर्मणा अनुकूल होकर रहते हैं। यह उनके आर्जव गुण का कार्य है।

भक्त के वियोग की अवस्था में उसका दुःख जैसे अल्प हो जाय, वैसे

स्वयं दुःखी हो जाते हैं। यह मार्दव गुण का कार्य है। श्रीहनुमान् जी ने माता सीता का अन्वेषण करके श्रीरामचन्द्र से उनका संदेश इस प्रकार कहा कि हे दशरथनन्दन! मैं एक मास जीवित रहूँगी, उसके बाद राक्षसों के वश में पढ़कर जीवित नहीं रह सकूँगी-**जीवितं धारयिष्यामि मासं दशरथात्मज। ऊर्ध्वं मासान्न जीवेयं रक्षसां वशमागता॥**(वा.रा.5.65.25), यह सुनकर उन्होंने कहा कि हे वीर हनुमान्! यदि जानकी जी एक मास तक जीवन धारण कर लेंगी तो वह चिरकाल तक जी रही हैं, मैं तो सीता का संदेश पाने के बाद उनके विना एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकता-**चिरं जीवति वैदेही यदि मासं धरिष्यति। क्षणं वीर न जीवेयं विना तामसितेक्षणाम्॥**(वा.रा.5.66.10), इस प्रकार महर्षि वाल्मीकि ने श्रीरामभद्र के मार्दव गुण को व्यक्त किया है। भक्त की रुचि के अनुसार सर्वतन्त्र स्वतन्त्र भगवान् उसके अधीन अपने स्वरूप को कर देते हैं, यह उनके सौशील्य गुण का कार्य है। भक्त के द्वारा बाँधने तथा ताड़ना आदि के योग्य होकर भगवान् सुलभ हो जाते हैं, इसीलिए माता यशोदा ने नवनीत की चोरी करने पर श्रीकृष्ण को रस्सी से बाँधा और मिट्टी खाने पर ताड़ना दी। यह लीला भगवान् के सौलभ्य गुण का कार्य है। जैसे गाय बड़े बछड़े और चारा देने के लिए आए व्यक्ति की उपेक्षा करके नवजात बछड़े से स्नेह करती है, वैसे ही श्रीभगवान् सभी की उपेक्षा करके नूतन आश्रित भक्त से स्नेह करते हैं। यह वात्सल्य गुण का कार्य है।

गुणों का नित्यत्व

उत्पत्ति और विनाश से रहित वस्तु को नित्य कहा जाता है। परमात्मा के गुणों की उत्पत्ति और विनाश नहीं होते, वे नित्य हैं तथा परमात्मा के स्वरूप से सम्बन्ध रखने वाले हैं, परमात्मस्वरूप सदा रहता है, इसलिए वे भी सदा रहते हैं। छान्दोग्य श्रुति कहती है कि परमात्मा में रहने वाले ये गुण नित्य हैं-**त इमे सत्याः कामाः।**(छां.उ.8.3.1)।

अनवधिकत्व

भगवान् के गुणों की कोई अवधि(सीमा, इयत्ता या अन्त) नहीं है, उनका प्रत्येक गुण अवधि से रहित है। मन के सहित वाणी जिस ब्रह्मानन्द की अवधि को न पाकर जहाँ से लौट आती है, उस ब्रह्मानन्द को जानने वाला व्यक्ति कभी भी संसारभय को प्राप्त नहीं होता-**यतो वाचो निवर्तन्ते**

अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचन॥(तै.उ. 2.4.1)। सौ गुना उत्तरोत्तर ब्रह्मानन्द की अवधि को कहने के लिए उद्यत होकर यह श्रुति उसकी अवधि का अभाव होने से ही अवधि को न पाकर वाणी और मन की वहाँ से निवृत्ति को कहती है। जिस प्रकार भगवान् का आनन्द गुण अवधि से रहित है, इसी प्रकार उनके सभी गुणों को अवधि से रहित जानना चाहिए।

स्वाभाविकत्व

भगवान् के ज्ञान, शक्ति आदि कल्याण गुण किसी उपाधि के अधीन नहीं हैं अपितु स्वाभाविक हैं। श्वेताश्वतर श्रुति कहती है कि परमात्मा की परा शक्ति विविध प्रकार की सुनी जाती है, वह स्वाभाविक है, उनका ज्ञान, बल और नियमन करने का सामर्थ्य भी स्वाभाविक है-**परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।**(श्वे.उ.6.8) श्रीभगवान् के गुण किसी के भी अधीन नहीं हैं। मुक्त और नित्यों के गुण ईश्वरेच्छारूप उपाधि(निमित्त) के अधीन हैं, वे स्वाभाविक(निरुपाधिक) नहीं हैं।

निर्दोषत्व

भगवान् अखिलहेयप्रत्यनीक हैं इसलिए उनके गुणों में हेय गुणों का संसर्गरूप दोष नहीं है अतः उनके गुण निर्दोष कहे जाते हैं। ईश्वर तेज, बल, ऐश्वर्य, सर्वविषयक ज्ञान, वीर्य, शक्ति आदि गुणों के आश्रय हैं और पर से पर हैं-**तेजोबलैश्वर्यमहावबोधसुवीर्यशक्त्यादिगुणैकराशिः। परः पराणां सकला न यत्र क्लेशादयस्सन्ति परावरेशे॥**(वि.पु.6.5.85)। जिस ईश्वर में सत्त्वादि प्राकृत गुण नहीं हैं, वह समस्त शुद्धों से भी शुद्ध आदि पुरुष परमात्मा मुझ पर प्रसन्न हो-**सत्त्वादयो न सन्तीशे यत्र च प्राकृता गुणाः। स शुद्धः सर्वशुद्धेभ्यः पुमानाद्यः प्रसीदतु॥**(वि.पु.1.9.44)।

समाधिकरहितत्व

एक आत्मा के गुण दूसरी आत्मा के गुणों के समान होते हैं और उन गुणों से अधिक ईश्वर के गुण होते हैं किन्तु ईश्वर के गुण के समान किसी के भी गुण नहीं होते और उनके गुणों से अधिक भी किसी के गुण नहीं होते अर्थात् भगवान् के गुण समानता और अधिकता से रहित हैं। भगवान् के समान गुणों वाला कोई नहीं है और उनसे अधिक गुणों वाला

भी कोई नहीं–**न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते**।(श्वे.उ.6.8)।

प्रस्तुत ग्रन्थ में पूर्व के दो श्लोकों में प्राप्य परब्रह्म श्रीरामचन्द्र का वर्णन किया गया और उनकी प्राप्ति गुरुदेव से सत्संगप्राप्त मुमुक्षु को होती है, ऐसा भी कहा गया। गुरुदेव से मुमुक्षु किस प्रकार ज्ञान प्राप्त करे? ऐसी जिज्ञासा होने पर अब कहा जाता है–

तथाविधं प्राप्यमथो सुवैष्णवः[1] सुचिन्तयेन्नित्यमनुक्षणं[2] प्रिय[3]।
सदा सदाचाररतं गुरुं वरं ज्ञातुं[4] भजेताखिलसंशयच्छिदम्॥182॥

अन्वय

प्रिय! सुवैष्णवः तथाविधं प्राप्यं ज्ञातुं अखिलसंशयच्छिदं सदाचाररतं गुरुं वरं सदा भजेत अथो नित्यम् अनुक्षणं सुचिन्तयेत्।

अर्थ

प्रिय–हे प्रिय सुरसुरानन्द! **सुवैष्णवः**–सदाचारपरायण वैष्णव **तथा विधम्**–वैसे **प्राप्यम्**–प्राप्य को **ज्ञातुम्**–जानने के लिए **अखिलसंशयच्छिदम्**–सभी संशयों का निवारण करने वाले **सदाचाररतम्**–सदाचारपरायण **गुरुम्**–गुरु **वरम्**–देव की **सदा**–सदा **भजेत**–सेवा करे (और उनसे ज्ञानप्राप्ति के) **अथो**–पश्चात् **नित्यम्**–प्रतिदिन **अनुक्षणम्**–निरन्तर (प्राप्य परमात्मा का) **सुचिन्तयेत्**–सम्यक् चिन्तन करता रहे।

भाष्य

गुरुशुश्रूषा से ज्ञानप्राप्ति–स्वामी रामानन्दाचार्य अपने प्रिय शिष्य सुरसुरानन्द से कहते हैं कि सदाचारनिष्ठ मुमुक्षु वैष्णव पूर्व में वर्णित प्राप्य परमात्मा को जानने के लिए सकल संशयों का निवारण करने में समर्थ, सदाचारनिष्ठ गुरुदेव की सेवा करे। वेदान्तशास्त्र का पारंगत विद्वान्, श्रोत्रिय आचार्य ही मुमुक्षु शिष्य की सभी शंकाओं का निवारण करने में समर्थ हो सकता है। आचार्य किसे कहते हैं? क्योंकि शास्त्रों के प्रतिपाद्य विषयों का निश्चय करता है, स्वयं आचरण करता है और अपने शिष्यों से भी आचरण करवाता है इसलिए उसे आचार्य कहा जाता है–**आचिनोति च शास्त्रार्थमाचारे**

1.अत्र मुमुक्षुः इति पाठान्तरम्। 2.**सुचिन्तयन्नित्थमनुक्षणम्** इति पाठान्तरः, **सुचिन्तयन्नित्यमनुक्षणम्** च इत्यपि पाठान्तरम्। 3.**सदा** इति पाठान्तरम्। 4. **ज्ञातम्** इति पाठान्तरम्।

स्थापयत्यपि। स्वयमाचरते यस्मादाचार्यस्तेन चोच्यते॥ श्रोत्रिय विद्वान् सदाचारपरायण होने पर ही ब्रह्मनिष्ठ होता है, इससे स्पष्ट है कि ब्रह्मजिज्ञासु शिष्य के द्वारा सेवनीय गुरु श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ होना चाहिए। **तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥**(मु.उ.1.2.12)। जो ब्रह्म का उपदेश करता है, वह गुरु कहलाता है-**गृणाति उपदिशति ब्रह्म इति गुरुः**। जो अज्ञान का नाश करता है, उसे गुरु कहते हैं-**गिरत्यज्ञानमिति गुरुः**। गु शब्द का अज्ञान अर्थ होता है और रु शब्द का अर्थ है-उसका निर्वतक। शिष्य के अज्ञान को दूर करने से आचार्य को गुरु कहा जाता है-**गुशब्दस्तु अन्धकारः स्यात् रुशब्दस्तु तन्निवर्तकः। अन्धकारविरोधित्वाद् गुरुरित्यभिधीयते॥** गुरु की सेवा से विद्या प्राप्त होती है-**गुरुशुश्रूषया विद्या।** जैसे मनुष्य खनित्र से खोदते हुए भूमिस्थ जल को प्राप्त का लेता है, वैसे ही सेवापरायण श्रद्धालु शिष्य सेवा करते हुए गुरु की विद्या को प्राप्त कर लेता है-**यथा खनन् खनित्रेण नरो वार्यधि गच्छति। तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति॥**(म.स्मृ.218) गुरुशुश्रूषा के द्वारा ही ब्रह्मविद्या को प्राप्त करना चाहिए, इसके विना प्राप्त हुई विद्या लक्ष्य की प्राप्ति नहीं करा सकती।

शास्त्रों में परमात्मप्राप्ति के साधन श्रवण, मनन और निदिध्यासन कहे गये हैं। आचार्य से परमात्मप्रतिपादक वेदान्त वाक्यों के अर्थ का श्रवण (समझना) ही विद्या प्राप्त करना है। सद्गुरु से ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के अनन्तर मनन और इसके पश्चात् निरन्तर परमात्मा का चिन्तन(निदिध्यासन, ध्यान, उपासना, भक्ति) करना चाहिए। दीर्घकाल तक निरन्तर आदरपूर्वक करने पर ध्यानात्मक भक्तियोग दृढ़ होता है। वह दर्शनसमानाकार होने पर परमात्मप्राप्ति का साधन बनता है।

गुरुदेव से ज्ञानप्राप्ति के अनन्तर भगवान् को प्राप्त करने के लिए भगवद्धाम जाने का इच्छुक मुमुक्षु उपासक कैसे भगवद्धाम जाता है? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं-

[1]सत्सङ्गतोऽसौ विगतस्पृहो मुहुः श्रीशं प्रपद्याऽथ गुरूपदेशतः।

1.अत्र पूर्वार्धस्य स्थाने **सत्सङ्गतः सन् हि गतस्पृहो मुहुः श्रीशं प्रपद्याथ गुरोर्मुखादसौ** इति पाठान्तरम् तथा च **सत्सङ्गतः सन् विगतस्पृहो मुहू रामं प्रपद्याऽथ गुरोर्मुखादसौ** इत्यपि पाठान्तरम्।

कर्माखिलं सम्परिभुज्य चाऽऽत्मवान् प्रारब्धमेवं प्रहतान्यकर्म्मकः॥183॥

न्यासात् स्वतन्त्रेश्वरजातसद्दयानिर्लूनमायान्वय एव दैशिकः।
हार्दोत्तमानुग्रहलब्धमध्यसन्नाडीशुभद्वारबहिर्विनिर्गतः॥184॥

मार्गं ततः सोऽर्चिरुपैति मुक्तकस्तथाऽर्चिषोऽह्नो दिनतः सुरार्चितः।
आपूर्यमाणं विविधैस्तु वासरैः पक्षं प्रभूतोत्तमशर्मविज्वरः॥1185॥

अन्वय

असौ मुहुः सत्सङ्गतः विगतस्पृहः अथ गुरूपदेशतः आत्मवान् च श्रीशं प्रपद्य प्रहतान्यकर्म्मकः अखिलं प्रारब्धं कर्म सम्परिभुज्य एवं न्यासात् एव स्वतन्त्रेश्वरजातसद्दयानिर्लूनमायान्वयः दैशिकः मुक्तकः प्रभूतोत्तमशर्मविज्वरः हार्दोत्तमानुग्रहलब्धमध्यसन्नाडीशुभद्वारबहिर्विनिर्गतः अर्चिः मार्गम् उपैति, ततः अर्चिषः अहः तथा तु दिनतः विविधैः वासरैः आपूर्यमाणं पक्षम्। सः सुरार्चितः।

अर्थ

असौ-भक्ति का अधिकारी मुमुक्षु **मुहुः**-बारम्बार **सत्सङ्गतः**-महापुरुषों के संग से **विगतस्पृहः**-स्पृहारहित होकर **अथ**-और **गुरूपदेशतः**-गुरु के उपदेश से **आत्मवान्**-परमात्मज्ञान वाला होकर **च**-तथा (भक्ति से) **श्रीशम्**-श्रीसीतापति रामचन्द्र जी का **प्रपद्य**-साक्षात्कार करके (और उससे) **प्रहतान्यकर्म्मकः**-प्रारब्ध से अतिरिक्त कर्मों का विनाश करने वाला भक्त **अखिलम्**-सम्पूर्ण **प्रारब्धम्**-प्रारब्ध **कर्म**-कर्म को **सम्परिभुज्य**-भोगकर (और) **एवम्**-इसी प्रकार (शरणागति का अधिकारी) **न्यासात्**-शरणागति से **एव**-ही **स्वतन्त्रेश्वरजातसद्दयानिर्लूनमायान्वयः**-स्वाधीन ईश्वर की अपार करुणा से प्रकृति के सम्बन्ध से होने वाले कर्म को नष्ट करने वाला (और) **दैशिकः**[1]-भगवद्धाम जाने वाला **मुक्तकः**-मुक्तात्मा **प्रभूतोत्तमशर्मविज्वरः**-परमात्मदर्शनरूप निरतिशय आनन्द से संतापरहित होकर **हार्दोत्तमानुग्रहलब्धमध्यसन्नाडीशुभद्वारबहिर्विनिर्गतः**-हृदय में स्थित परम पुरुष के अनुग्रह से ज्ञात मध्यवर्ती सुषुम्ना नाडी के अग्र भाग के द्वारा

1.देशं साकेताख्यं भगवद्धाम लब्धुं योग्यः। **तदर्हति**(अ.सू.) इति ठञि अथवा दिशति उपदिशतीति देशिकः आचार्यः, तेन संस्कृतः उपदिष्टः दैशिकः शिष्यः वैष्णवः इत्यर्थः। **कुलत्थकोपधादण्**(अ.सू.4.4.4) इति ठकोऽपवादोऽणि।

(शरीर से) बाहर निकलते हुए **अर्चिः**-अर्चि **मार्गम्**-मार्ग को **उपैति**-प्राप्त करता है। **ततः**-उसके पश्चात् **अर्चिषः**-अर्चि से **अहः**-दिवस को प्राप्त करता है **तथा**-और **तु**-तो **दिनतः**-दिवस से **विविधैः**-अनेक **वासरैः**-वासरों(दिवसों) से **आपूर्यमाणम्**-पूर्ण होने वाले **पक्षम्**-शुक्ल पक्ष को प्राप्त करता है, इस प्रकार **सः**-मुक्तात्मा (मार्ग में) **सुरार्चितः**-अधिष्ठाता देवताओं के द्वारा सम्मानित होता है।

भाष्य

संगति का प्रभाव मानवमस्तिष्क पर अवश्य पड़ता है। विषयी मनुष्यों का संग करने पर अशान्ति के जनक विषयभोग के विविध संस्कार उद्‌बुद्ध हो जाते हैं, जिससे साधक बहिर्मुख होकर अपना अधोपतन कर लेता है और विषयभोग की तृष्णा से रहित भगवत्प्राप्त महापुरुषों की संगति से साधक विषयभोग की तृष्णा से विरक्त हो जाने से अन्तर्मुख होता है, तब संसार से मुक्त होने की इच्छा होती है और परमात्मजिज्ञासा का उदय होता है। इसके पश्चात् वह मुमुक्षु गुरुदेव के समीप जाकर उनकी सेवा से परमात्मा का ज्ञान प्राप्त कर तेल की धारा के समान बीच में न टूटने वाले निरन्तर प्रीत्यात्मक स्मृतिप्रवाहरूप भक्तियोग में प्रवृत्त होता है और उससे सकल जगत् के जन्मादि के कर्ता और नियन्ता, दिव्यमंगलविग्रहविशिष्ट, अखिलहेयप्रत्यनीक, कल्याणगुणाकर परमात्मा श्रीसीतारामजी का साक्षात्कार करता है। मुण्डकश्रुति कहती है कि सर्वोत्कृष्ट परमात्मा का साक्षात्कार होने पर रागद्वेषादि नष्ट हो जाते हैं। सभी संशय निवृत्त हो जाते हैं और इस ब्रह्मदर्शी के प्रारब्ध से अतिरिक्त सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं-**भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥**(मु.उ.2.2.9)। प्रारब्ध कर्म भोग से नष्ट हो जाता है।

परावर परमात्मा का दर्शन होने पर रागादि और मोक्ष के विरोधी सभी प्रकार के संशय निवृत्त हो जाते हैं। यहाँ संशय शब्द विपर्यय का भी बोध कराता है, इससे देहात्मबुद्धिरूप तथा स्वतन्त्रात्मबुद्धिरूप अविद्या का भी ग्रहण होता है। संशय के साथ विपर्ययज्ञानरूप अविद्या भी निवृत्त हो जाती है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि स्थूल रागादि तथा संशयादि साधनकाल में पहले ही निवृत्त हो जाते हैं किन्तु सूक्ष्म वासनारूप से बने रहते हैं। प्रस्तुत मुण्डकमन्त्र में ब्रह्मसाक्षात्कार से उनकी ही निवृत्ति कही है। रागादि वृत्तियों

के रहते तो मोक्ष का साधन ही निष्पन्न नहीं हो सकता। ब्रह्म के प्रत्यक्ष ज्ञान से साधक के प्रारब्ध से भिन्न पुण्यपापात्मक सभी कर्म विनष्ट हो जाते हैं। मोक्ष के विरोधी रागादि तथा संशयादि के कारण ये ही कर्म हैं, कर्म नष्ट होने पर उनके कार्य रागादि तथा संशयादि भी नष्ट हो जाते हैं।

शंका-प्रस्तुत मन्त्र में **क्षीयन्ते चास्य कर्माणि** इस प्रकार बहुवचन के प्रयोग से ब्रह्मसाक्षात्कार से सभी कर्मों का नाश कहा जाता है किन्तु ब्रह्मवैवर्तपुराण में **नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि**।(ब्र.वै.पु.2.37. 17) इस प्रकार भोग के विना कर्मों का नाश न होना वर्णित है, अतः दोनों वचन विरुद्ध प्रतीत होते हैं।

समाधान-उक्त वचनों में कोई विरोध नहीं है क्योंकि पुराण वचन प्रारब्ध कर्म के विषय में है और श्रुति वचन प्रारब्धेतर कर्म के विषय में है। विना भोगे प्रारब्ध कर्म का अनेकों कल्पों में भी नाश नहीं होता, यह पुराणवचन का अर्थ है और ब्रह्मदर्शन से प्रारब्धेतर सभी कर्म निवृत्त हो जाते हैं, यह श्रुतिवाक्य का अर्थ है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में पूर्व में भक्ति और प्रपत्ति(शरणागति) दोनों को ही मोक्ष का साधन कहा था, उनमें भक्ति के द्वारा प्रारब्ध को छोड़कर सभी कर्मों का नाश कहा गया। अब मोक्ष के द्वितीय साधन प्रपत्ति का भी वही परिणाम कहा जाता है-

शरणागत की शरणागति से ही प्रसन्न होकर भगवान् शरीर और इन्द्रियरूप में परिणत प्रकृति के सम्बन्ध से होने वाले कर्मों को निवृत्त कर देते हैं। यह पूर्व में कहा ही गया है कि शरणागत की इच्छा के अनुसार शरणागति प्रारब्ध को भी नष्ट करने में समर्थ है अन्यथा उसका भी प्रारब्ध भोगकर निवृत्त होता है। अब प्रसंगानुसार भगवत्साक्षात्कार किये महापुरुष की जीवनकालिक अवस्था का वर्णन किया जाता है-

ब्रह्मदर्शी की जीवनकालिक अवस्था

अज्ञानी व्यक्ति ब्रह्म को नहीं देखता, जगत् को स्वतन्त्र देखता है किन्तु साक्षात्कारी पुरुष सम्पूर्ण जगत् की आत्मारूप से ब्रह्म को देखता है और घटपटादिरूप समग्र जगत् को ब्रह्मात्मक देखता है, स्वतन्त्र नहीं देखता अर्थात् भगवद्विभूतिरूप से जगत् को देखता है। इसी स्थिति का ईशावास्यमन्त्र

इस प्रकार वर्णन करता है कि जब शास्त्र से स्वतन्त्र ब्रह्म और परतन्त्र जगत् का स्वरूप जानने वाले को चराचर सम्पूर्ण जगत् से विशिष्ट परमात्मा का दर्शन होता है, तब सर्वात्मा ब्रह्म के अभेद का दर्शन करने वाले को शोक-मोह नहीं होते-**यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः। तत्र को मोहः कश्शोक एकत्वमनुपश्यतः॥**(ई.उ.7.)। ब्रह्म चक्षु आदि इन्द्रियों का विषय नहीं है, इसलिए अज्ञ व्यक्ति उसे नहीं देखता। **दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या॥**(क.उ.1.3.12) इस प्रकार कठश्रुति ब्रह्म को शुद्ध मन का विषय कहती है। ब्रह्मोपासक ध्यानावस्था में शुद्ध मन से परब्रह्म, उनके सत्यकामत्वादि गुण तथा श्रीविग्रह का भी दर्शन करता है। शुद्ध अन्तःकरण से जन्य धर्मभूतज्ञान की वृत्ति इनको विषय करती है। ध्यान से अतिरिक्त काल में परमात्मा के श्रीविग्रह का चक्षु से भी दर्शन होता है। यह भी अन्तःकरण की शुद्धि के कारण चक्षुजन्य ज्ञानका विषय होता है। ऐसे चक्षु को दिव्यचक्षु कहा जाता है। ब्रह्मदर्शी को घटादि का ज्ञान घटादिप्रकारक ब्रह्मविशेष्यक होता है। घटादि पदार्थों का चक्षु आदि इन्द्रियों से प्रत्यक्ष होता है और ब्रह्म का शुद्ध मन से प्रत्यक्ष होता है। उसकी दृष्टि में ब्रह्म से पृथक् कुछ है ही नहीं, इस विषय का **नेह नानाऽस्ति किंचन**[1]।(बृ.उ.4.4.19) यह भगवती श्रुति निरूपण करती है।

शोक-मोह का कारण अज्ञान है। परमात्मसाक्षात्कार से शोक-मोह के हेतु अज्ञान की निवृत्ति होने पर शोक-मोह हो ही नहीं सकते। विपरीत ज्ञानको मोह कहा जाता है-**मोहः विपरीतज्ञानम्**(गी.रा.भा. 14.13) देहादि को आत्मा समझना, अपने को स्वतन्त्र समझना और भगवान् से अतिरिक्त किसी भी वस्तु को अपनी समझना मोह है। शास्त्रज्ञ पुरुष को भी मोह होता है। सर्व जगत् के अन्तरात्मा ब्रह्म का अनुभव करने पर वह नहीं होता। प्रिय वस्तु के वियोग से होने वाले दुःख को शोक कहते हैं-**इष्टविश्लेषजनितं दुःखमेव शोकः**।(आ.भा.ता.)। सम्पूर्ण जगत् परमात्मा की विभूति है, अपना कुछ भी नहीं है इसलिए ब्रह्मोपासक का कहीं भी मोह नहीं होता। सर्वभूतान्तरात्मा ब्रह्म का अनुभव करने वाले को पुत्रमरण और राज्य का अपहरण आदि घटनाएँ होने पर भी कोई शोक नहीं होता।

1.**इह**=जगत् में, ब्रह्म से **नाना**=पृथक्, **किंचन**=कुछ भी, **न**=नहीं **अस्ति**-है अर्थात् सब ब्रह्मात्मक है।

महाराज जनक ने कहा कि अन्य की दृष्टि में मेरे पास अनन्त धन है किन्तु उसमें मेरा कुछ भी नहीं है। सम्पूर्ण मिथिला राज्य के जल जाने पर भी मेरा कुछ नहीं बिगड़ता-**अनन्तं बत मे वित्तं यस्य मे नास्ति किञ्चन। मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति किञ्चन।**(म.भा.शां.17.19) मुण्डकश्रुति भी **भिद्यते हृदयग्रन्थिः।**(मु.उ.2.2.9) इस प्रकार परमात्मदर्शन से हृदय की शोकमोहरूप ग्रन्थि की निवृत्ति को कहती है।

जीवनमुक्ति

सभी बन्धनों से विनिर्मुक्त होना मुक्ति है। जीवनकाल में होने वाली मुक्ति जीवनमुक्ति कही जाती है, यह कुछ विद्वानों का मत है।

समीक्षा

यह कहना उचित नहीं क्योंकि अविद्या, कर्म, देह, इन्द्रिय, मन, प्राण ये सभी दुःख के हेतु हैं। दुःख के हेतुओं की पूर्णतः निवृत्ति ही मुक्ति है। दुःख के कुछ हेतुओं की निवृत्ति मुक्ति नहीं हो सकती। कुछ हेतुओं की निवृत्ति तो प्राणियों के जीवनकाल में कभी-कभी होती ही रहती है। इतने से उस काल में उन्हें कोई मुक्त नहीं मानता। जीवनकाल में ब्रह्मज्ञ पुरुष भी प्रारब्ध के अनुसार दुःख पाता है। जीवनकाल में सुख और दुःख के हेतुओं के रहते मुक्ति कभी भी नहीं हो सकती। लेशतः कर्म शेष होने पर भी मुक्ति का प्रश्न ही नहीं उठता।

शंका-प्रकृति से पर, आदित्य के समान वर्ण वाले परमात्मा को जानने वाला मनुष्य यहाँ पर ही मुक्त हो जाता है-**तमेवं विद्वान् अमृत इह भवति।**(तै.आ.3.1.3)। ब्रह्मवेत्ता यहाँ पर ही ब्रह्म का अनुभव करता है-**अत्र ब्रह्म समश्नुते।**(क.उ.2.3.14) इन श्रुतियों से शरीर के रहते ही ब्रह्मानुभवरूप मोक्ष कहा गया है, यही जीवनमुक्ति है। विद्वान् भी इस शब्द का प्रयोग करते हैं, इसका निराकरण कैसे किया जा सकता है?

समाधान-जीवनकाल में प्राप्त होने वाली जिस अवस्था को आप मुक्ति कहते हैं, वह मुक्ति नहीं है, मुक्ति के समान अवस्था है, अतः उसके लिए जीवनमुक्ति पद का प्रयोग औपचारिक ही है। जैसे गंगा की समीपता होने से तीर के लिए गंगायां घोषः इत्यादि प्रयोग औपचारिक हैं, वैसे ही मुक्ति सन्निहित होने से अवस्थाविशेष के लिए जीवनमुक्ति पद का प्रयोग औपचारिक है।

आत्मज्ञान से प्रारब्ध से भिन्न कर्मों का नाश होता है और शरीर के आरम्भक प्रारब्ध कर्म का शरीरत्याग के समय नाश होता है-**भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः।**(श्वे.उ.1.10) इस प्रकार देहत्याग के पूर्व ज्ञानी की जीवनमुक्ति सिद्ध ही है। ऐसा जगन्मिथ्यात्ववादी नहीं कह सकते क्योंकि रज्जु के ज्ञान से रज्जुसर्पभ्रम कुछ रहता है, कुछ निवृत्त होता है, ऐसा तो उन्हें भी मान्य नहीं है। शंकाकार के द्वारा उद्धृत श्रुति के दोनों वाक्य उपासनाकालिक ब्रह्मानुभव का वर्णन करते हैं, इनसे जीवनमुक्ति सिद्ध नहीं होती।

ब्रह्मवेत्ता के पूर्वोत्तर पापों का अश्लेष एवं विनाश

भक्ति और शरणागति दोनों ही ब्रह्मविद्याएँ हैं। ब्रह्मविद्यानिष्ठ साधकों के कुछ प्राचीन पाप फल भोगने से नष्ट हो जाते हैं और कुछ प्रायश्चित्त से किन्तु प्रारब्ध कर्मों का नाश फल भोगने पर ही होता है। पुण्य भी मोक्षप्राप्ति का प्रतिबन्धक होने से मुमुक्षु के प्रकरण में पाप शब्द से कहा जाता है। जिन कर्मों का फल भोगा गया और जिन कर्मों का प्रायश्चित्त किया गया तथा जो प्रारब्ध कर्म हैं, उन्हें छोड़कर अन्य सभी कर्म ब्रह्मविद्या से उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं, जिस प्रकार अग्नि में डाली गयी सींक के अग्रभाग में स्थित शुष्क रुई जल जाती है-**तद् यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेत, एवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते।**(छां.उ.5.24.3)। ब्रह्मविद्यारम्भ से उत्तरकाल में प्रमाद से जो कर्म हो जाते हैं, उनसे साधक उसी प्रकार लिपायमान नहीं होता, जिस प्रकार जल से कमल का पत्ता लिपायमान नहीं होता-**यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्ते, एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यत इति।**(छां.उ.4.14.3)। विद्यारम्भ से पूर्व में किये जिन कर्मों ने फल देना आरम्भ नहीं किया, ऐसे अनादिकाल से संचित अनन्त पुण्यपापरूप कर्म ब्रह्मविद्या से विनष्ट हो जाते हैं तथा विद्यारम्भ से उत्तरकाल में किये गये कर्मों से संश्लेष नहीं होता। इस प्रकार ज्ञानी के पूर्व कर्मों का नाश एवं उत्तरकर्मों का अश्लेष होता है। उनमें सभी पुण्य कर्मों को ज्ञानी के सुहृद् ग्रहण करते हैं और सभी पाप कर्मों को उसके शत्रु। विद्या के प्रभाव से ज्ञानी के जितने पाप-पुण्य विनष्ट एवं अश्लिष्ट हुए हैं, उनके सजातीय पाप-पुण्य को भगवान् के द्वारा शत्रु और मित्रों में उत्पन्न करना ही शत्रु और मित्रों के द्वारा पाप-पुण्य को ग्रहण करना है। ब्रह्मवेत्ता पुण्य-पाप का

त्याग कर देता है, उसके प्रिय बन्धु पुण्य को ले लेते हैं और अप्रिय शत्रु पाप को-**तत्सुकृतदुष्कृते धूनुते, तस्य प्रिया ज्ञातयः सुकृतम् उपयन्ति अप्रिया दुष्कृतम्।**(कौ.उ.1.37)। ब्रह्मविद्या के आरम्भ होने से पूर्व तथा उत्तर में किये गए जो शुभ कर्म ब्रह्मविद्या की निष्पत्ति में उपयोगी होते हैं, वे ब्रह्मविद्या को निष्पन्न कर सफल हो जाते हैं। उपासक भोग से प्रारब्ध कर्म को क्षीण कर ब्रह्म को प्राप्त करता है-**भोगेन त्वितरे क्षपयित्वाऽथ सम्पद्यते।**(ब्र.सू.4.1.19)। कुछ प्रारब्ध कर्म एक शरीर के जनक होते हैं और कुछ प्रारब्ध कर्म अनेक शरीर के जनक होते हैं। जो शरणागत इस शरीर से ही मोक्ष की अभिलाषा करके शरणागति करता है, उसे नूतन शरीर प्राप्त नहीं होता। उपायभक्तिनिष्ठ साधक प्रारब्धजन्य अन्तिम शरीर का पतन होने पर मुक्त होता है। जिस शरीर से विद्या का आरम्भ किया गया है, वह एक ही अन्तिम शरीर हो सकता है और कभी जिस शरीर से विद्या का आरम्भ किया गया है, उसके पश्चात् प्राप्त होने वाला प्रारब्धजन्य शरीर भी अन्तिम शरीर हो सकता है। परमपुरुष के द्वारा विशिष्ट कर्मों के कारण अधिकार(कार्य) विशेष में नियुक्त किये गये जो वसिष्ठादि आधिकारिक पुरुष हैं, उनका अधिकार के समाप्त होने तक प्रारब्ध क्षीण नहीं होता इसलिए ज्ञानी होने पर भी देहपात के पश्चात् इनकी मुक्ति नहीं होती। ब्रह्मविद्या आरम्भ करने के बाद यदि साधक से बुद्धिपूर्वक कोई कर्म अनुष्ठित हो जाता है, तो प्रायश्चित्त से अथवा भोग से उसका नाश करना ही होगा। विवेकी साधक तो ब्रह्मविद्या से प्रतिकूल कुछ करता ही नहीं।

शरीरवियोगकाल

जब भगवान् का साक्षात्कार करने वाले महापुरुष का शरीरान्तकाल समुपस्थित होता है, तब उसकी वाक् इन्द्रिय मन में स्थित हो जाती है इसलिए वह सम्मुख उपस्थित जनों को देखते रहने पर भी बोलने में असमर्थ हो जाता है। तत्पश्चात् शेष नौ इन्द्रियाँ भी मन में स्थित हो जाती हैं। मन का प्राण में संयोग होने से पहले एक स्मरण होता है, यह अन्तिम स्मरण कहलाता है। जिस प्रकार दीपक के बुझने से पहले उससे एक लम्बी ज्वाला निकलती है, उस ज्वाला के बुझते ही दीपक बुझ जाता है, उसी प्रकार मरणकाल उपस्थित होने पर मन से एक स्मृति होती है, उस स्मृति के नष्ट होते ही मन प्राण में मिल जाता है। अन्तिम स्मरण काल में

जीव जिसे स्मरण करता है उसी को प्राप्त करता है इसलिए उपासक उपास्य प्रभु के अनुग्रह से अन्तिम समय में उन्हीं का स्मरण करता है। **अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्। यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥ यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥**(गीता 8.5-6)। भगवान् सभी इन्द्रियों से संयुक्त मन को प्राण से संयुक्त कर देते हैं। अब देहत्याग के समय होने वाली पीड़ा पूर्णतः निवृत्त हो जाती है। वे मन सहित एकादश इन्द्रियों से युक्त प्राण को जीव से मिला देते हैं। इन्द्रिय तथा प्राण से युक्त जीव के साथ पञ्च सूक्ष्मभूतों को मिला देते हैं। हृदय में अन्तरात्मारूप में स्थित भगवान् श्रीराम इन्द्रिय, प्राण और जीव से संयुक्त पञ्च सूक्ष्मभूतों को अपने में मिला लेते हैं। जीव चाहे स्वर्ग जाने वाला हो या नरक जाने वाला हो, यहाँ तक उल्लिखित लय क्रम समान ही है। अन्तिम स्मृति के अनुसार देह से निकलने में भेद अवश्य है।

शरीर से निर्गमन

शरीर में बहत्तर हजार नाड़ियाँ विद्यमान हैं, उन सभी के मूल हृदय में रहते हैं। कठोपनिषत् में कहा है कि **शतञ्चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्द्धानमभिनिस्सृतैका। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति॥**(क.उ.2.3.16)। उन नाड़ियों में 101 प्रधान हैं। उनमें से 100 नाड़ियाँ हृदय से इधर-उधर फैली हुई हैं। ये जीव के स्वर्ग और नरक आदि स्थानों में जाने का साधन हैं। एक प्रधान नाड़ी हृदय से मूर्धा की ओर जाती है। यह शिर के ऊपरी भाग की ओर पहुँचती है। इसे मूर्धन्य नाड़ी, सुषुम्ना नाड़ी और ब्रह्मनाड़ी भी कहते हैं। ब्रह्म का अपरोक्ष दर्शन करने वाला जीवात्मा उस नाड़ी से अर्चिरादि मार्ग के द्वारा अप्राकृत ब्रह्मलोक जाकर अपहतपाप्मत्वादि गुणों के आविर्भावपूर्वक ब्रह्मानुभवरूप मोक्ष को प्राप्त करता है। जिस प्रकार चोरी करने वाले पकड़े जाने के भय से नगर के राजमार्ग से न जाकर गलियों से गुजरते हैं। उसी प्रकार परमात्मा के परम धन अपने आत्मस्वरूप को स्वतन्त्र माननारूप चोरी करने वाले, उनके प्रति अपना समर्पण न करने वाले, सांसारिक भोग पदार्थों का संग्रह करने वाले, अहन्ता ममता से ग्रस्त अज्ञानी जीव शरीर में स्थित राजमार्ग के समान सुषुम्ना से न जाकर अन्य नाड़ियों से बाहर निकल जाते हैं। वे नाड़ियाँ

भिन्न-भिन्न शरीर ग्रहण करने के लिए भिन्न-भिन्न लोकों में जाने वाले प्राणियों के उत्क्रमण के लिए होती हैं। सुषुम्ना का हृदय में स्थित मुख भाग मोक्ष प्राप्ति का द्वार है। इन्द्रिय, प्राण और जीव से संयुक्त सूक्ष्मभूतों को अपने में मिलाने के बाद श्रीभगवान् के अनुग्रह से इस नाड़ी का अग्र भाग प्रकाशित हो जाता है, तब ब्रह्मविद्यानिष्ठ जीवात्मा मोक्षप्राप्ति के लिए सुषुम्ना के द्वारा मूर्द्धा में स्थित ब्रह्मरन्ध्ररूप द्वार से बाहर निकलता है।

अर्चिरादि मार्ग और उर्ध्वगति

पूर्व में भगवद्धाम जाकर मुक्त होने वाली आत्मा का भगवान् के अनुग्रह से सुषुम्ना के द्वारा बाहर निकलना वर्णित है। मुक्त होने वाली यह आत्मा पूर्व में ही परमात्मसाक्षात्कार से सम्पन्न होती है। परमात्मा निरतिशय आनन्दरूप हैं इसलिए उनका दर्शन भी निरतिशय आनन्दरूप होता है, इससे आत्मा त्रिविध संताप से रहित हो जाती है किन्तु भगवद्धाम जाकर अपने प्रियतम प्रभु से मिलने की उत्कट त्वरा से वह व्यथित रहती थी। अब भगवद्धाम जाने के लिए सुषुम्ना से निकलने की प्रसन्नता से उसका यह संताप भी निवृत्त हो जाता है। संतापरहित वह आत्मा अर्चिस् को प्राप्त होती है। यह पूर्व में कहा गया है कि इन्द्रिय, प्राण और जीव से संयुक्त भूतसूक्ष्म को अपने में मिलाने के बाद भगवान् सुषुम्ना नाड़ी को प्रकाशित कर देते हैं। सूर्य की किरणों का सम्बन्ध इस नाड़ी के साथ होता है। इन किरणों को ही छान्दोग्योपनिषत् के **तेऽर्चिषमभिसंभवन्ति।**(छां.उ.5.10.1) इस मन्त्र में अर्चिस् शब्द से और गीता के **अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।** (गी.8.24) इस श्लोक में अग्नि शब्द से कहा गया है। भगवान् जीव का सम्बन्ध इस किरणरूप अर्चिस् से करा देते हैं, इसके पश्चात् सूक्ष्म शरीर सहित जीव का उस नाड़ी में प्रवेश करा देते हैं, उसके द्वारा सूक्ष्म शरीर सहित जीव को ब्रह्मरन्ध्र में लाकर भगवान् उसी प्रकार शरीर से बाहर निकलते हैं, जिस प्रकार कोई महापुरुष मलमूत्र से पूर्ण नाले में प्रवहित होने वाले बच्चे को उस नाले में कूदकर साथ लेकर बाहर निकले। इस प्रकार सूक्ष्म शरीर के सहित आत्मा अर्चि को प्राप्त होकर सुषुम्ना के शुभ द्वार से शरीर से बाहर निकलती है। यह पूर्व में कहा गया था कि मोक्ष के साधन भक्तियोग अथवा शरणागति का अनुष्ठान करने वाले ब्रह्मज्ञानी के क्रियमाण और संचित कर्म ब्रह्मविद्या से नष्ट हो जाते हैं।

इस शरीर से निकलकर जाने वाले जीवात्मा के साथ इन्द्रिय, प्राणादि से युक्त सूक्ष्म शरीर नामक एक प्राकृत पदार्थ लगा रहता है। यह जीव के साथ जाता है। कर्म विनष्ट होने पर ब्रह्मविद्या के प्रभाव से जीव की ऊर्ध्व गति होती है। अर्चि के पश्चात् वह दिवस को प्राप्त होती है और तदनन्तर अनेक दिवस से पूरित होने वाले शुक्ल पक्ष को। एक पक्ष में सामान्यतः 15 दिन होते हैं इसलिए वह 15 दिन में पूर्ण माना जाता है। जब तिथियों की संख्या न्यून होती है, तब न्यून दिन से पक्ष पूर्ण होता है और जब उनकी संख्या अधिक होती है तब अधिक दिनों से पक्ष पूर्ण होता है। यहाँ अर्चिस् से अर्चिस् के अधिष्ठाता देवता का, दिवस से दिवस के अधिष्ठाता देवता का और पक्ष से शुक्ल पक्ष के अधिष्ठाता देवता का ग्रहण होता है। भगवद्धाम जाने के मार्ग में ये देवता क्रमशः मुक्तात्मा से मिलकर अत्यन्त हर्षोल्लास के साथ उसका सम्मान करते हैं, इनसे पूजित होता हुआ वह आगे बढ़ता है। इस पथ में सबसे पहले अर्चि से सम्बन्ध होता है, इसलिए इसे अर्चि पथ कहते हैं और तत्पश्चात् दिवसादि से भी सम्बन्ध होता है इसलिए इसे अर्चिरादि पथ भी कहते हैं। इसे ही ब्रह्मपथ और उत्तरायण मार्ग भी कहा जाता हैं।

पक्षादुदङ् मासमथो षडात्मकं तेभ्यश्च संवत्सरमब्दतो[1] रविम्।
चन्द्रं ततश्चन्द्रमसोऽथ विद्युतं स तत्र तत्राखिलदेवपूजितः॥186॥

अन्वय

पक्षात् उदङ् षडात्मकं मासम्, अथो तेभ्यः संवत्सरम्। अब्दतः रविम्। ततः चन्द्रं च अथ चन्द्रमसः विद्युतम्। सः तत्र तत्र अखिलदेवपूजितः।

अर्थ

पक्षात्-शुक्ल पक्ष से **उदङ्**-उत्तरायण के **षडात्मकम्**-**छः मासम्**-मास को प्राप्त करता है (और) **अथो**-इसके पश्चात् **तेभ्यः**-उत्तरायण के छः महीनों से **संवत्सरम्**-संवत्सर को प्राप्त करता है। **अब्दतः**-संवत्सर से **रविम्**-सूर्य को प्राप्त करता है। **ततः**-सूर्य से **चन्द्रम्**-चन्द्रमा को प्राप्त करता है **च**-और **अथ**-इसके पश्चात् **चन्द्रमसः**-चन्द्रमा से **विद्युतम्**-विद्युत् को प्राप्त करता है और **सः**-वह **तत्र तत्र**-उन उन (देवताओं के) लोकों में

1.**अब्दतो** इत्यस्य स्थाने **तस्माच्च** इति पाठान्तरम्।

अखिलदेवपूजितः-सभी देवताओं से सम्मानित होता है।

भाष्य

यहाँ भी पक्ष आदि शब्दों से उनके अभिमानी देवताओं का ग्रहण होता है। मुक्तात्मा शुक्ल पक्ष के अभिमानी देवता से उत्तरायण के छः महीनों के अभिमानी देवता को प्राप्त करता है, उससे संवत्सर के अभिमानी देवता को, इसके अनन्तर सूर्य(सूर्यमण्डल के अधिष्ठाता देवता) को, उससे चन्द्रमा(चन्द्रमण्डल के अधिष्ठाता देवता) को और चन्द्रमा से विद्युत् के अभिमानी देवता को प्राप्त करता है। शास्त्रों में संवत्सर और सूर्य के मध्य में वायु का भी उल्लेख प्राप्त होता है अतः संवत्सर से वायु के द्वारा सूर्य को प्राप्त करता है, ऐसा जानना चाहिए। अर्चिरादि मार्ग में मिलने वाले ये सभी देवता अपने लोक की सीमा में आकर मुक्तात्मा का स्वागत करते हैं और उसे सम्मानित करते हुए अपने लोक के दूसरे किनारे तक पहुचाते हैं।

छान्दोग्योपनिषत् में कहा है कि ब्रह्म की उपासना करने वाले तथा प्रकृति के सम्बन्ध से रहित ब्रह्मात्मक अपनी आत्मा की उपासना करने वाले जीवात्मा अर्चि के अधिष्ठाता देवता को प्राप्त होते हैं। अर्चि के अधिष्ठाता देवता से दिन के अधिष्ठाता देवता को प्राप्त होते हैं, दिन के अधिष्ठाता देवता से शुक्ल पक्ष के अधिष्ठाता देवता को प्राप्त होत हैं, शुक्ल पक्ष के अधिष्ठाता देवता से उत्तरायण के अधिष्ठाता देवता को प्राप्त होते हैं, उत्तरायण के अधिष्ठाता देवता से संवत्सर के अधिष्ठाता देवता को प्राप्त होते हैं, संवत्सर के अधिष्ठाता देवता से आदित्य को और आदित्य से चन्द्रमा को प्राप्त होते हैं। चन्द्रमा से विद्युत् को प्राप्त होते हैं। वह विद्युत् नाम वाला अमानव पुरुष है, वह इन आत्माओं को ब्रह्म के समीप ले जाता है-**तद् य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते। तेऽर्चिषमभिसंभवन्ति। अर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद् यान् षडुदङ्ङेति मासांस्तान्॥**(छां.उ.5.10.1)। **मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यमादित्याच् चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतम्। तत्पुरुषोऽमानवः, स एनान् ब्रह्म गमयति।**(छां. उ.5.10.2)।

उक्त दो श्लोकों का सार यह है कि मुक्तात्मा अर्चिस्, दिवस, शुक्लपक्ष, उत्तरायण और संवत्सर इन सभी के अभिमानी देवताओं से सम्मानित होकर इनके द्वारा अपनी-अपनी सीमा तक पहुँचाया जाता है, इसके बाद

वह आदित्य मण्डल को जाता है। आदित्य देवता उसे सम्मान देते हैं। वह आदित्यमण्डल का भेदन कर चन्द्रमण्डल में जाकर उसका भी भेदन करता है। आदित्यमण्डल और चन्द्रमण्डल के भेदन का वर्णन बृहदारण्यकोपनिषत् 5.10.1 में किया गया है। चन्द्रमण्डल के भेदन के पश्चात् विद्युत् नाम वाले देवता उसे मिलते हैं।

परं पदं सैवमुपेत्य[1] नित्यममानवो[2] ब्रह्मपथेन तेन।
सायुज्यमेव प्रतिलभ्य तत्र प्राप्यस्य सन्नन्दति तेन साकम्॥187॥

अन्वय

एवं सः अमानवः तेन ब्रह्मपथेन नित्यं परं पदं उपेत्य प्राप्यस्य सायुज्यं प्रतिलभ्य तत्र तेन साकम् एव सत् नन्दति।

अर्थ

एवम्-इस प्रकार **सः**-वह **अमानवः**-मुक्तात्मा **तेन**-उस **ब्रह्मपथेन**-ब्रह्मपथ से **नित्यम्**-अविनाशी **परम्**-श्रेष्ठ **पदम्**-साकेत धाम को **उपेत्य**-प्राप्त कर (वहाँ प्राप्य ब्रह्म श्रीसीतारामजी का दर्शन कर) **प्राप्यस्य**-प्राप्य ब्रह्म के **सायुज्यम्**-सायुज्य को **प्रतिलभ्य**-प्राप्त कर **तत्र**-साकेत धाम में **तेन**-भगवान् के **साकम्**-साथ **एव**-ही **सत्**-अत्यन्त **नन्दति**-आनन्दित होता है।

भाष्य

चन्द्र से मिलने के पश्चात् विद्युत्संज्ञक अमानवपुरुष जीव को लेने के लिए आते हैं। श्रुतियों के अनुसार उनके साथ ही यह जीवात्मा क्रमशः वरुण, इन्द्र और प्रजापति के लोकों में जाता है। प्रजापति देवता सत्यलोक में निवास करते हैं। चतुर्मुख ब्रह्मा ही प्रजापति हैं। यह पूर्व में कहा गया है कि अर्चिस् देवता से लेकर प्रजापति पर्यन्त सभी देवता अपनी सीमा के आरम्भ में आकर इस जीवात्मा का स्वागत करते हैं और अपनी सीमा की समाप्ति पर्यन्त साथ ले जाकर अपने से उच्च देवता को सौंप देते हैं। ये देवता भगवद्धाम जाने वाली आत्मा का उसी प्रकार स्वागत करते हैं, जिस प्रकार राज्य के कर्मचारी राजा का स्वागत करते हैं। यह सबके साथ सम्मानित होकर उनके साथ सम्भाषण करता हुआ प्रजापति लोक तक आ

1.अत्र **सोऽयमुपेत्य** इति पाठान्तरम्। 2.अत्र **नित्यममानवम्** इति पाठान्तरम्।

जाता है। यहाँ तक प्रकृति मण्डल है। हे अर्जुन! ब्रह्मा के सत्यलोक पर्यन्त सभी लोक विनाशी हैं किन्तु हे कौन्तेय! मुझे प्राप्त करके जीव का पुनर्जन्म नहीं होता-**आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन। मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते॥**(गी.8.16)। सकाम कर्मों से प्राप्त होने वाले ये लोक विनाशी हैं किन्तु भक्ति से प्राप्त होने वाला अप्राकृत धाम अविनाशी है। इसे साकेत, परमव्योम और दिव्य अयोध्या भी कहा जाता है। कुण्ठा(निराशा)रहित होने से इसे वैकुण्ठ भी कहते हैं। प्रकृतिमण्डल और अप्राकृत धाम के मध्य में विरजा नदी है। विरजा नदी के पार जब वैद्युत संज्ञक अमानव पुरुष इस मुक्तात्मा का स्पर्श करते हैं, तब इनके स्पर्श से मुक्तात्मा को अप्राकृत शुद्ध सत्त्वमय दिव्य शरीर की प्राप्ति हो जाती है।

द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः(ब्र.सू.4.4.12) इस ब्रह्मसूत्र के अनुसार भगवद्धाम में रहने वाले मुक्त जीव शरीरयुक्त तथा शरीररहित दोनों प्रकार के होते हैं। मुक्त जीव को प्रियतम प्रभु का दर्शन करने के लिए शरीर, इन्द्रिय की अपेक्षा नहीं होती क्योंकि उसका ज्ञान इन्द्रियनिरपेक्ष होता है। बद्ध जीव का ही ज्ञान इन्द्रिय सापेक्ष होता है। दिव्य धाम में भी भगवत्कैंकर्य देह के विना नहीं हो सकता। श्रीभगवान् को अंगराग लगाना, पुष्पहार अर्पित करना, चामर करना इत्यादि सेवाओं के लिए शरीर प्राप्त होता है।

अप्राकृत धाम की प्राप्ति

प्रजापति पर्यन्त सभी आतिवाहिक गण जीव हैं। ये कर्मों से देवता बनते हैं किन्तु अमानवरूप में साक्षात् भगवान् ही मुक्तात्मा को लेने आते हैं। प्रस्तुत अर्चिरादि पथ ब्रह्म की प्राप्ति का साधन है अतः इसे ब्रह्म पथ भी कहते हैं। अब दिव्य देह को धारण करने वाला मुक्तात्मा अतिवेग से विरजा नदी के समीपवर्ती स्थानों का अतिक्रमण कर अप्राकृत साकेत को प्राप्त कर वहाँ राजमार्ग के द्वारा सप्तावरणों से युक्त नाना प्रकार के बहुमूल्य रत्नों से सुशोभित भगवान् श्रीसीताराम जी के अलौकिक, शुभ भवन में प्रवेश करता है। वहाँ कनक भवन नामक स्वर्णमय प्रासाद है। उसके मध्य में कल्पवृक्ष के नीचे सुवर्णमय महामण्डप है। उसके मध्य में रत्नसिंहासन है। इस सिंहासन के मध्य में कमल है। उसकी मध्य कर्णिका पर सुसज्जित मणिमय आसन है। इस पर श्रीभरतादि के द्वारा सदा सेवित

पराम्बा भगवती सीताजी के सहित सर्वसुखप्रद श्रीरामचन्द्र जी विराजमान हैं। धनुष, बाण आदि दिव्य आयुधों से समलंकृत श्रीमद्राघवेन्द्र सरकार अत्यन्त प्रकाशमान किरीट, मुकुट, चूड़ामणि, मकरकुण्डल, कण्ठहार, भुजबन्ध, कंगन, श्रीवत्स, कौस्तुभमणि, मुक्तादाम, उदरबन्ध, पीताम्बर, करधनी तथा नूपुर आदि दिव्य भूषणों से सुशोभित हैं। मुक्तात्मा को यहाँ तक आने पर श्रीहनुमान् जी और श्रीसीता जी के द्वारा परात्पर प्रभु के सम्मुख उपस्थित किया जाता है। वह प्रभु के युगल चरणों में साष्टांग प्रणिपात करता है। जिस प्रकार भगवान् श्रीराम ने वनवास की अवधि पूर्ण होने के पश्चात् अयोध्या आने पर अपनी गोद में श्रीभरत को बैठाकर बड़े हर्ष के साथ आलिंगन किया था, उसी प्रकार वे मुक्तात्मा को अपनी गोद में बैठाकर उसका बड़े हर्ष के साथ आलिंगन करते हैं और तब दोनों के मध्य मधुर संवाद होते हैं।

मोक्षप्राप्ति

अपहतपाप्मत्व, विजरत्व, विमृत्युत्व, विशोकत्व, विजिघत्सत्व, अपिपासत्व, सत्यकामत्व और सत्यसंकल्पत्व ये आठ जीव और ब्रह्म दोनों के ही स्वाभाविक गुण हैं। ब्रह्म और जीव के इन गुणों का कथन छान्दोग्योपनिषत् में क्रमशः 8.1.5 और 8.7.1 में किया गया है। परमात्मा की आनन्दरूपता तथा ये गुण सदा आविर्भूत रहते हैं किन्तु बद्धावस्था में जीव की आनन्दरूपता और ये गुण तिरोहित हो जाते हैं। अप्राकृत साकेत धाम में श्रीभगवान् के कृपाकटाक्ष से मुक्तावस्था में ये सभी आविर्भूत हो जाते हैं। ये गुणाष्टक प्रियतम के कैंकर्य में उपयोगी होते हैं। धाम में आविर्भूत गुणाष्टक से युक्त और परमानन्दमय होकर प्रियतम प्रभु का दर्शन एवं कैंकर्य करते हुए रहना ही मोक्ष को प्राप्त करना है। इस प्रकार दर्शन एवं कैंकर्य करते हुए रहने वाला मुक्त कहा जाता है। सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य और सायुज्य के भेद से मोक्ष चार प्रकार का होता है। विरजा पार करके भगवान् के लोक को प्राप्त करना सालोक्य मुक्ति है। इसके बाद अपने आराध्य के समान अप्राकृत शरीर को धारण करना सारूप्य मुक्ति है, फिर भगवान् के समीप पहुँचना सामीप्य मुक्ति है। **युज्यते इति युक्** इस व्युत्पत्ति के अनुसार सम्बन्ध रखने वाले गुण युक् कहे जाते हैं और जिनके युक् समान हों, वे सयुज् कहे जाते हैं। **सयुजः भावः सायुज्यम्** अर्थात् भगवान् के समान गुण वाला होना सायुज्य है। भगवान् के सदृश आविर्भूत

हुए गुणाष्टक से युक्त होकर उनका दर्शन एवं सेवा करना सायुज्य मोक्ष है, इसके अन्तर्गत पूर्वोक्त तीनों प्रकार के मोक्ष आ जाते हैं। इस प्रकार मुक्तात्मा सदा निरतिशय आनन्दरूप प्रियतम प्रभु के साथ सदा आनन्दित होकर ही रहता है।

भगवान् श्रीरामचन्द्र सभी प्रकार के निरतिशय सौन्दर्य से सम्पन्न, अनुपम लावण्य के आधार, अनन्त प्रेमपारावाररूप, ऐश्वर्य और माधुर्यादि अनन्त गुणगणों के एकमात्र आश्रय और नित्य किशोरवयस्क हैं। भक्त उनकी नित्य नूतन, अपूर्व सुषमा का आस्वादन करते हुए प्रीतिपूर्वक प्रेममय, प्रियतम के श्रीमुख की ओर निहारते रहते हैं। कोटिसूर्यसमुज्ज्वल और कोटिचन्द्रसमसुशीतल उस अवर्णनीय, मधुर मुखकमल का निरन्तर निरीक्षण करने पर भी उन्हें तृप्ति नहीं होती। वे जितना दर्शन करते हैं, उत्तरोत्तर उतनी ही दर्शन की अभिलाषा बढ़ती है तथा रूपमाधुरी निरन्तर नूतन प्रतीत होती है।

इस शरीर से निकल कर जीवात्मा के साथ जाने वाला सूक्ष्म शरीर उसके स्वरूपाविर्भाव का प्रतिबन्धक होता है। शरीर रहते समय जीवात्मा को होने वाला ब्रह्मसाक्षात्कार प्रातःकालिक सूर्य के समान है तथा अर्चिरादि से परमपद में जाकर होने वाला ब्रह्मसाक्षात्कार मध्याह्नकालिक सूर्य के समान है।

अब प्रकृतिमण्डल और त्रिपादविभूति के मध्य में विद्यमान् विरजा नदी का भी प्रसंगानुसार वर्णन किया जाता है-

सीमान्तसिन्ध्वाप्लुत[1] एव धन्यो गत्वा परब्रह्मसुवीक्षितोऽथ।
प्राप्यं महानन्दमहाब्धिमग्नो नाऽवर्तते जातु ततः पुनः सः॥188॥

अन्वय

सीमान्तसिन्ध्वाप्लुतः धन्यः परब्रह्मसुवीक्षितः एव प्राप्यं गत्वा महानन्दमहाब्धि मग्नः। अथ सः पुनः जातु ततः न आवर्तते।

अर्थ

ब्रह्म पथ से जाने वाला मुक्तात्मा **सीमान्तसिन्ध्वाप्लुतः**-प्रकृति मण्डल

1.अत्र **शीतान्तसिन्ध्वाप्लुत** इति पाठान्तरम्।

की सीमा की समाप्ति पर विद्यमान विरजा पदी में सम्यक् अवगाहन कर **धन्यः**-धन्य होता है (और साकेत धाम में) **परब्रह्मसुवीक्षितः**-भगवान् श्रीराम के कृपा कटाक्ष से निहारे जाते हुए **एव**-ही **प्राप्यम्**-श्रीरामचन्द्र को **गत्वा**-प्राप्त कर (उत्तरोत्तर) **महानन्दमहाब्धिमग्नः**-परमानन्द का महासागररूप प्रियतम प्रभु श्रीरामचन्द्र के अनुभव में निमग्न होता है। **अथ**-इसके पश्चात् **सः**-वह **पुनः**-पुनः **जातु**-कभी **ततः**-भगवद्धाम से (इस संसार में) **न**-नहीं **आवर्तते**-आता।

भाष्य

प्रकृतिमण्डल और अप्राकृत साकेत धाम के मध्य में विरजा नदी प्रवहित होती है। प्रजापति के पास पहुँचा हुआ भक्त इस प्रकृति मण्डल का त्याग करके विरजा नदी में आता है। इसका जल शीतल, निर्मल, सुगन्धित तथा मधुर है। जीव इसमें गोता लगाकर स्नान करता है। अनादि काल से दुःखमय संसार में परिभ्रमण करने के कारण होने वाला खेद इस स्नान से निवृत्त हो जाता है। जीव के साथ विद्यमान सूक्ष्म शरीर प्रकृति का कार्य है, वह पुण्य-पापरूप कर्मों के कारण प्राप्त हुआ है। विरजा स्नान करने पर सूक्ष्म शरीर का परित्याग हो जाता है। यह पूर्व में कहा गया है कि विरजा के पार अमानव पुरुष के द्वारा मुक्तात्मा का स्पर्श होने पर उसे दिव्य शरीर की प्राप्ति होती है। इसके पश्चात् अपने स्वामी आराध्य प्रभु के समक्ष उपस्थित होने पर वे अत्यन्त करुणापूरित नेत्रों से प्रिय भक्त को निहारते हैं और दीर्घकाल से दुःखमय संसार को छोड़कर प्रियतम प्रभु को प्राप्त करने के लिए प्रयासरत जीव परम पद में उन्हें प्राप्त कर लेता है। बद्धावस्था में दुःखों के महासागर में निमग्न रहने वाला प्रत्यगात्मा अब प्रकृति के बन्धन से सर्वथा विनिर्मुक्त होकर परमानन्द का महासागररूप ब्रह्मानन्द के अनुभव में सदा निमग्न रहता है। संसारावस्था में भक्ति साधन रूप से रहती थी और अब फलरूप से रहती है। बन्धन से पूर्णतः निवृत्त होकर आनन्दस्वरूप परमात्मा का सदा अनुभव करना ही फलरूपा भक्ति है। महान् आनन्द के सागर भगवान् के अनुभव में निमग्न रहने वाला मुक्तात्मा इस संसार में नहीं आता। श्रुतियाँ कहती हैं कि अर्चिरादि से भगवद्धाम जाने वाली आत्माएँ इस संसार चक्र में नहीं आतीं-**एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवम् आवर्तं नावर्तन्ते नावर्तन्ते**।(छां.उ.4.15.6),

मुक्तात्मा का संसारचक्र में पुनः प्रवेश नहीं होता-**न च पुनरावर्तते, न च पुनरावर्तते।**(छां.उ.8.15.1), **अनावृत्तिः शब्दाद् अनावृत्तिः शब्दात्**(ब्र.सू. 4.4.22)।

शंका-भगवान् के द्वारपाल जय और विजय की उनके धाम से वापस आने की घटना प्रसिद्ध है, ऐसा होने पर उक्त शास्त्र वचनों की क्या संगति होगी?

समाधान-भगवद्धाम दो प्रकार के हैं-प्राकृत और अप्राकृत। भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, और सत्य इस प्रकार वर्णित सातवाँ सत्यलोक भी भगवान् का धाम है। यह प्राकृत है, इसकी उत्पत्ति और विनाश होते हैं। प्रकृति मण्डल से पर अप्राकृत धाम है। यह उत्पत्ति और विनाश से रहित है। अर्चिरादि से अप्राकृत त्रिपादविभूति में गया हुआ साधक कर्मफल भोगने के लिए संसार में नहीं आता। जो उपासक अभी इस लोक से अर्चिरादि के द्वारा सद्योमुक्ति प्राप्त करने के अधिकारी नहीं हैं। मरने के बाद उनमें से कुछ पृथ्वीलोक में आकर जन्मान्तर में साधना करते हैं। कुछ सत्यलोक नामक प्राकृत भगवद्धाम में जाते हैं। यहाँ भी श्रीभगवान् का सान्निध्य प्राप्त होता है। जिनकी उपासना यहाँ पूर्णता को प्राप्त होती है, वे यहाँ से अप्राकृत त्रिपादविभूति चले जाते हैं। इसके पश्चात् मुक्तात्मा इस संसार चक्र में कभी भी नहीं आता। ऊर्ध्वलोकस्थ उपासकों को अर्चिरादि के क्रम से अप्राकृत भगवद्धाम जाने का नियम नहीं है। यदि किसी को सत्यलोक में भी साक्षात्कार नहीं होता, तो वे इस पृथ्वी पर आते हैं। जय और विजय इसी प्राकृत भगवद्धाम में थे, इसलिए वापस आये। अप्राकृत धाम में किसी के प्रवेश को रोकना, क्रोध और शाप सम्भव नहीं। श्रीमद्भागवत 5.20.40 तथा 10.89.52 में लोकालोक पर्वत के पार प्रकृति मण्डल के अन्तर्गत ही एक स्वयंप्रकाश भगवद्धाम का वर्णन है। यहीं से भगवान् श्रीकृष्ण ने ब्राह्मण बालकों को लाकर उनके पिता को अर्पित किया। ब्रह्मविद्या की निष्पत्ति न होने पर यहाँ से जीवात्मा इस संसार में आता है। मुक्त की संसार में आवृत्ति का निषेध करने वाले उक्त शास्त्रवचन अप्राकृत लोक से सम्बन्धित हैं। भगवान् के अवतार लेने पर अथवा किसी विशेष प्रयोजन के लिए भगवान् के अवतार के समान मुक्तात्माओं का अवतार होता है।

रात्रि और दक्षिणायन में मरने वाले को भी मोक्षप्राप्ति

ब्रह्मोपासक पुरुष प्रारब्ध की निवृत्ति होने पर दिन में मरे या रात में, वह अर्चिरादि से ही ब्रह्मलोक जाकर ब्रह्म को प्राप्त करता है। रात्रि में भी अर्चिस् अर्थात् सूर्य की किरणों का सम्बन्ध रहता ही है, इसी कारण रात्रि में भी ऊष्मा की उपलब्धि होती है। शीतकाल में शीतता से अभिभूत होने के कारण दुर्दिन की तरह रात्रि में भी ऊष्मा की उपलब्धि नहीं होती। इस प्रकार रात्रि में भी अर्चिरादि मार्ग प्राप्त होता है। यह विषय **रश्म्यनुसारी**(ब्र.सू.4.2.17) तथा **निशि नेति चेन्न सम्बन्धस्य**(ब्र.सू.4.2.18) इन सूत्रों में कहा गया है। इसी प्रकार ब्रह्मज्ञ पुरुष दक्षिणायन में मरने पर भी ब्रह्म को प्राप्त करता है। **अथ यो दक्षिणे**(तै.ना.उ.150) यह श्रुति दक्षिणायन में मरने वाले ब्रह्मज्ञानी का चन्द्रलोक में विश्राममात्र का प्रतिपादन करती है, इसके अनन्तर उसे ब्रह्मप्राप्ति होती है। 'पिता की सेवा के द्वारा प्राप्त आशीर्वाद से इच्छामृत्यु की प्राप्ति होती है' इस बात को लोकोपकारार्थ संसार में दिखाने के लिए, युधिष्ठिर को निमित्त बनाकर धर्म के सभी रहस्यों के उपदेश से लोकोपकार करने के लिए तथा उत्तरायण में मरण की प्रशंसा के बोधक शास्त्रों में विश्वास कराने के लिए भीष्म पितामह ने उत्तरायण की प्रतीक्षा की थी। वे पूर्व में वसु देवता थे, उन्होंने उत्तरायणकाल में देहत्याग के पश्चात् वसु देवता पद को प्राप्त कर ब्रह्म को प्राप्त किया।

शंका-वेदान्त सिद्धान्त ऐसा मानता है कि इस लोक से अर्चिरादि मार्ग द्वारा जाने वाले की ही मुक्ति होती है, वह अनुचित है क्योंकि ज्ञानी के उत्क्रमण का श्रुति निषेध करती है। ज्ञानी के शरीर से प्राणों का उत्क्रमण नहीं होता- **न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति।**(बृ.उ.4.4.6), प्राणादि से युक्त सूक्ष्म शरीर के उत्क्रमण से आत्मा का उत्क्रमण कहा जाता है, ज्ञानी (की आत्मा) के सूक्ष्म शरीर के उत्क्रमण का निषेध होने से आत्मा के भी उत्क्रमण का निषेध हो जाता है।

समाधान-न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति।(बृ.उ.4.4.6) यह श्रुति भी अर्चिरादि से जाने का निषेध नहीं करती क्योंकि इसमें 'तस्य' इस सर्वनाम पद से **योऽकामो निष्काम आप्तकामः आत्मकामः।**(बृ.उ.4.4.6)। इस प्रकार पूर्व में कथित आत्मज्ञानी का ही ग्रहण होता है, शरीर का नहीं। नट से सुनता है-नटस्य शृणोति, इस प्रयोग के समान 'तस्य' यहाँ पर अपादानत्वरूप

अर्थ में सम्बन्ध की विवक्षा करके षष्ठी विभक्ति हुई है अतः यहाँ प्राणों के सम्बन्धीरूप से आत्मा कहा गया है, शरीर नहीं। उक्त श्रुति का अर्थ है-आत्मा से प्राण उत्क्रमण नहीं करते अर्थात् आत्मा से प्राण वियुक्त नहीं होते, वे आत्मा के साथ अर्चिरादि से जाने के लिए आत्मा में स्थित हो जाते हैं। इसी कारण माध्यन्दिन शाखा के इसी प्रकरणमें **न तस्मात् प्राणा उत्क्रामन्ति**।(बृ.उ.मा.पा.4.4.6) इस प्रकार स्पष्टरूप से पञ्चमी विभक्ति सुनी जाती है। इस लोक से अर्चिरादि मार्ग द्वारा जाने वाले ही मोक्ष प्राप्त करते हैं, इसलिए **अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्**।(ई.उ.18) इस प्रकार अर्चिरादि मार्ग से मोक्ष के लिए अप्राकृत भगवद्धाम को प्राप्त कराने की प्रार्थना की जा रही है।

देहावसान काल में ज्ञानी के देह का वियोग होता है। उस काल में प्राण के वियोग का निषेध किया जाता है। प्राणादि से युक्त सूक्ष्मशरीर गति के लिए रहता है। 'कामनाओं की निवृत्ति हो जाने पर मनुष्य पूर्वोत्तर पापों के अश्लेष एवं विनाशरूप अमृतत्व को प्राप्त करता है तथा जीवनकाल में ही ब्रह्मानुभव करता है'-**अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते**।(क.उ.2.3.14)। याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि आत्मा से प्राण उत्क्रमण नहीं करते, वे उत्क्रमण के लिए आत्मा में ही संयुक्त होकर रहते हैं-**नेति होवाच याज्ञवल्क्यः अत्रैव समवनीयन्ते**।(बृ.उ.3.2.11) इस प्रकार कोई भी श्रुति ज्ञानी के उत्क्रमण का निषेध नहीं करती। उत्क्रान्ति की प्रतिपादक श्रुतियाँ विद्यमान हैं, इसलिए ज्ञानी की उत्क्रान्ति और अर्चिरादि से त्रिपादविभूति में जाने पर मुक्ति श्रुतिसिद्ध है।

अर्चिरादि मार्ग से उपासकों की गति होती है। 'तत्त्वमसि' इस वाक्यजन्य अपरोक्ष ज्ञान वालों को निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति होती है, इनका कहीं जाना नहीं होता, यह कथन निःसार है क्योंकि सगुण-निर्गुण भेद श्रुतिसिद्ध नहीं है अतः सर्वत्र सगुण ब्रह्म ही उपास्य कहा गया है और उसे ही प्राप्य। निर्गुणप्रतिपादक वाक्य ब्रह्म के प्राकृत गुणों के अभाव का प्रतिपादन करते हैं तथा सगुणप्रतिपादक वाक्य उनके अलौकिक गुणों का प्रतिपादन करते हैं, इसलिए सर्वथा निर्गुण(गुणरहित) ब्रह्म का प्रतिपादक कोई वाक्य नहीं है। 'साधक प्रवृत्तिधर्म का आचरण कर देवताओं की समता प्राप्त करता है। निवृत्ति धर्म का आचरण करने वाला साधक पंचभूतों का अतिक्रमण करता

है'-**प्रवृत्तं कर्म संसेव्य देवानामेति साम्यताम्। निवृत्तं सेवमानस्तु भूतान्यत्येति पञ्च वै।**(म.स्मृ.12.90) यहाँ 'पञ्च' और 'भूतानि' पद सभी प्राकृत तत्त्वों के उपलक्षक हैं। निवृत्ति धर्म(उपासनात्मक भक्तियोग) का आचरण करने वाला मुमुक्षु साधक अर्चिरादि के द्वारा प्रकृतिमण्डल का अतिक्रमण कर ऊपर भगवद्धाम चला जाता है। यह मनुवचन सभी प्राकृत तत्त्वों के अतिक्रमण का बोधक है, उपनिषद्विरुद्ध अर्थ का बोधक नहीं है। ब्रह्मविद्यानिष्ठ मुमुक्षु प्रकृतिमण्डल का अतिक्रमण कर मोक्षप्राप्त करता है। इस लोक से अर्चिरादि के द्वारा जाकर प्राप्त होने वाली मुक्ति **सद्योमुक्ति** कही जाती है।

स्वाभाविक रूप का आविर्भाव

साधक का चरम शरीर छूटने पर उसके सभी कर्मरूप प्रतिबन्धक निवृत्त हो जाते हैं। त्रिपादविभूति में अमानव के करस्पर्श से प्रकृतिसम्बन्धरूप प्रतिबन्धक निवृत्त हो जाता है और आत्मा के स्वाभाविक अपहतपाप्मत्वादि धर्मों के तिरोधान का हेतु जो उसके कर्ममूलक श्रीभगवान् का संकल्प है, वह संकल्पात्मक प्रतिबन्धक उनकी(भगवान् की) सन्निधि में जाने पर निवृत्त हो जाता है। इस प्रकार सम्पूर्ण प्रतिबन्धक निवृत्त होने पर ही स्वाभाविक रूप का आविर्भाव होता है, अब मुक्तात्मा परब्रह्म के समान आविर्भूत हुए अपहतपाप्मत्व और सत्यसंकल्पत्व आदि अष्टगुणों से सम्पन्न होता है। यही प्रत्यगात्मा का स्वाभाविक रूप है। 'यह आत्मा कर्मकृत शरीर से निकलकर अर्चिरादि मार्ग से परमात्मा को प्राप्तकर अपने ब्राह्मरूप से आविर्भूत होती है'-**एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते।**(छां.उ.8.12.2)। आविर्भूत गुणाष्टक से युक्त होकर मुक्तात्मा का ब्रह्मानुभव करना ही मोक्ष है।

अपहतपाप्मत्व (पापरहितत्व), विजरत्व (जरारहितत्व), विमृत्युत्व (मृत्युरहितत्व), विशोकत्व (शोकरहितत्व), विजिघत्सत्व (क्षुधारहितत्व), पिपासारहितत्व, सत्यकामत्व और सत्यसंकल्पत्व ये गुणाष्टक हैं। जो कि **य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः।**(छां.उ.8.7.1) इस प्रकार प्रजापतिविद्या में आत्मा के ये आठ गुण वर्णित हैं। यही अपहतपाप्मत्वादि **एष आत्माऽपहतपाप्मा।**(छां.उ.8.1.5) इस प्रकार दहरविद्या में ब्रह्म के गुण कहे गये हैं। परमात्मा

के ये धर्म सदा आविर्भूत रहते हैं जबकि प्रकृतिसंसर्ग के कारण जीवात्मा के धर्म बद्धावस्था में तिरोहित हो जाते हैं। **परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते।**(छां.उ.8.12.2) यह श्रुति मुक्तावस्था में आत्मा के ब्राह्मरूप(स्वाभाविक अपहतपाप्मत्वादि गुणों) के आविर्भाव को कहती है।

परमात्मा से परम समता

जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय करना, उपासकों को मोक्ष प्रदान करना, मुमुक्षुओं का उपास्य होना तथा शेषी होकर रहना इत्यादि परमात्मा के असाधारण धर्म हैं। मुक्त होने पर भी ये जीव को प्राप्त नहीं होते। त्रिपादविभूति में पहुँचकर सायुज्य मोक्ष को प्राप्त करने वाला मुक्त पुरुष स्वरूपाविर्भाव को प्राप्त कर ज्ञान, आनन्द और सत्यसंकल्पत्वादि धर्मों से परमात्मा के साथ परम समता को प्राप्त होता है, यही सायुज्य मुक्ति है। आत्मा मुक्तावस्था में परमात्मा के समान गुण वाला होता है, इसलिए सयुक् कहलाता है। परमात्मा के समान गुण वाला होना ही सायुज्य[1] है। **निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति।**(मु.उ.3.1.3), **मम साधर्म्यमागताः।**(गी.14.2) इत्यादि वाक्य इसी अर्थ का प्रतिपादन करते हैं।

मुक्त का शरीरधारण

मुक्तपुरुष गुण और विभूति से विशिष्ट आनन्दमय परमात्मा का अत्यन्त अनुकूलत्वेन अनुभव करता है। इस आनन्दानुभव से मुक्त की अनुभाव्य प्रियतम में अत्यन्त प्रीति बढ़ती है, इससे प्रेरित होकर वह उनकी सर्वविध सेवा करता है। ब्रह्मानुभव के लिए शरीर अपेक्षित नहीं है किन्तु उनकी सेवा के लिए अपेक्षित है। मुक्तात्मा कभी शरीर से युक्त होता है और कभी शरीर से रहित। इसका प्रतिपादन करने वाला **द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः**(ब्र.सू.4.4.12)यह ब्रह्मसूत्र है। मुक्त पुरुष भगवत्सेवा के लिए शरीर धारण करते हैं। छान्दोग्यश्रुति कहती है कि मुक्तपुरुष कभी एक शरीर धारण करता है, कभी तीन और कभी पाँच शरीर धारण करता है-स **एकधा भवति, त्रिधा भवति, पञ्चधा।**(छां.उ.7.26.2)।

आत्मा ज्ञानस्वरूप एवं निर्मल है-**आत्मा ज्ञानमयोऽमलः।**(वि.पु.6.7.

1.युज्यत इति युक्, युक्छब्दो गुणपरः धर्मिणि हि गुणः सम्बध्यते। समानगुणकः सयुक् तस्य भावः सायुज्यम् इति।

22), परमात्मा सभी का शेषी है-**पतिं विश्वस्य।**(तै.ना.उ.92) इससे सिद्ध होता है कि ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा श्रीभगवान् का शेष है, दास है। इस प्रकार शास्त्रों से ज्ञात होता है कि मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ, श्रीभगवान् के अधीन हूँ। मैं अपने लिए नहीं हूँ, ईश्वर के लिए ही हूँ। इस रीति से जो साधक स्वातन्त्र्याभिमान को छोड़कर स्वयं को श्रीभगवान् का दास समझता है, उसके लिए भगवत्सेवा अनुकूल ही होती है। जिस प्रकार अपने शरीर को आत्मा समझना विपरीत ज्ञान है, उसी प्रकार अपने को स्वतन्त्र आत्मा समझना भी विपरीत ज्ञान है। विपरीत ज्ञान तो विरोधी कर्म के कारण होता है। कर्मबन्धन से रहित मुक्त पुरुष श्रीभगवान् की इच्छानुसार शरीर धारण करता है। ये अकर्मकृत शरीर सुख-दुःख के हेतु नहीं होते। सुख-दुःख के हेतु तो कर्मकृत शरीर ही होते हैं।

मुक्त का संचरण

मुक्त पुरुष कर्म के अधीन नहीं होता इसलिए उसका भगवद्विभूतिरूप सभी लोकों में यथेच्छ संचरण होता है-**स स्वराड् भवति, तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति।**(छां.उ.7.25.2)। मुक्त की इच्छा भगवद्-इच्छा के अधीन ही होती है। यदि मुक्तात्मा अपने पूर्वजन्मों के अनेक पितरों का दर्शन करना चाहे, तो संकल्प से ही वे उपस्थित हो जाते हैं-**स यदि पितृलोककामो भवति, संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति।**(छां.उ.8.2.1)।

मुक्त की सर्वज्ञता

मुक्तात्मा सर्वज्ञ होता है। ज्ञान के संकोच के हेतु कर्म का सर्वथा अभाव होने से उसका धर्मभूतज्ञान सदा विभु ही रहता है, वह ज्ञान इन्द्रियनिरपेक्ष होकर सबका प्रकाश करता है इसलिए मुक्त सर्वज्ञ होता है। वह चेतन तथा अचेतनरूप सर्वप्रकार वाले ब्रह्म का सर्वदा अनुभव करता है। इन्द्रियसापेक्ष ज्ञान वाला संसारी प्राणी किसी विशेषण वाले द्रव्यगुणादिरूप किसी विशेष्य का अनुभव करता है, परब्रह्म का अनुभव नहीं करता क्योंकि वह इन्द्रिय का विषय नहीं है किन्तु इन्द्रियनिरपेक्ष ज्ञानवाला मुक्त सभी विशेषणों वाले परब्रह्म का अनुभव करता है-**सर्वं ह पश्यः पश्यति।**(छां.उ.7.26.2)। सभी विशेषणों वाले परब्रह्म के अनुभव का अर्थ है कि ब्रह्मात्मक सभी का अनुभव करना और सर्वात्मा(सर्वशरीरक)रूप से ब्रह्म

का अनुभव करना अर्थात् चराचर जगत् को ब्रह्म के शरीररूप से तथा उसके आत्मारूप से ब्रह्म का अनुभव करना। अज्ञानी जीव के ज्ञान के विषय घटपटादि विविध विशेष्य होते हैं किन्तु मुक्त के ज्ञान का विषय एक ब्रह्म ही मुख्य विशेष्य होता है। मुक्त के ज्ञान में चक्षु आदि करण नहीं होते और प्रपञ्च की प्रधानता नहीं होती। वह प्रतिकूल दुःख के हेतु कर्म से सर्वथा रहित होता है इसलिए उसे कभी भी दुःखानुभव नहीं होता।

मुक्त पुरुष परब्रह्म के स्वरूप, श्रीविग्रह, गुण, विभूति और लीला का साक्षात्कार करता रहता है। मुक्त को होने वाला अनुभव परिपूर्ण होता है, उसमें कुछ भी न्यूनता नहीं होती। इस अनुभव का नाश कभी नहीं होता ब्रह्म आनन्दस्वरूप है इसलिए उसे विषय करने वाला अनुभव भी आनन्दस्वरूप होता है। यह सब ब्रह्मात्मक है-**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**।(छां.उ. 3.14.1), इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, सत्त्व, तेज, बल, धृति, प्रकृति और जीव ये सभी ब्रह्मात्मक हैं-**इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः सत्त्वं तेजो बलं धृतिः। वासुदेवा- त्मकान्याहुः क्षेत्रं क्षेत्रज्ञ एव च**।(वि.स.ना.136)। संसार दशा में कर्म से ज्ञान का संकोच होने के कारण ब्रह्मात्मक जगत् का अनुभव नहीं होता इसलिए दुःख का अनुभव होता है। मुक्तिदशा में तो कर्मों की पूर्णतः निवृत्ति होने से ब्रह्मात्मक जगत् का अनुभव होता है, इस कारण मुक्त को दुःख के लेश की भी प्रसक्ति नहीं होती। उसे भगवद्विभूतिरूप से नरक भी अनुकूल प्रतीत होता है। ब्रह्मात्मक जगत् दुःखरूप नहीं हो सकता, संसारी जीव को होने वाली प्रतिकूलता की प्रतीति तो कर्मरूप उपाधि के कारण है। **सर्वं दुःखम्** यह बौद्धमत है, वैदिक मत नहीं। **दुःखमेव सर्वं विवेकिनः**(यो.सू.2.15) इस प्रकार योगसूत्र में जगत् की दुःखरूपता संसार से वैराग्य बढ़ाने के लिए कही गयी है। परमात्मतत्त्व का साक्षात्कार होने पर ग्राह्य और त्याज्य ऐसा विभाग होता ही नहीं। जगत् की सुख-दुःख और मोहरूपता संसारी जीव की दृष्टि से है, मुक्त की दृष्टि से नहीं, उसकी दृष्टि से सब ब्रह्म ही है।

क्रममुक्ति

कुछ विद्वान् सगुण ब्रह्म की प्राप्ति के पश्चात् निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति को क्रम मुक्ति कहते हैं, वह उचित नहीं क्योंकि वैसा स्वीकार करने में कोई प्रमाण नहीं है। छान्दोग्योपनिषत् में वर्णित गुणविशिष्ट दहरोपासना सगुणोपासना

है। इसके द्वारा पर ज्योति की प्राप्ति श्रुतियों में कही है तथा पर ज्योति को प्राप्त मुक्त का वर्णन किया है। पर ज्योति की प्राप्ति से भिन्न मोक्ष नहीं है। पूर्व में सगुणोपासना से चित्तशुद्धि होने पर उत्तर काल में निर्गुण-ब्रह्मविद्या से होने वाली मुक्ति क्रम मुक्ति कही जाती है, यह कथन भी उचित नहीं क्योंकि सगुणोपासना निर्गुणविद्या की वासना से विपरीत वासना को उत्पन्न करती है, इस कारण वह निर्गुणविद्या की उत्पत्ति की विरोधी है अतः सगुणोपासना के पश्चात् निर्गुणविद्या हो ही नहीं सकती इसलिए इससे मुक्ति की कल्पना करना व्यर्थ है। यदि कहना चाहें कि सगुणोपासना अदृष्टद्वारा निर्गुणविद्या को उत्पन्न करती है, तो यह कथन भी उचित नहीं क्योंकि **आनन्दादयः प्रधानस्य**(ब्र.सू.3.3.11) इस सूत्र के अनुसार आनन्दादि गुणों की सभी विद्याओं में अनुवृत्ति है अतः कोई भी विद्या निर्गुणविद्या नहीं हो सकती। अब विशिष्टाद्वैत वेदान्तसिद्धान्त के अनुसार क्रममुक्ति का प्रतिपादन किया जाता है-

1.प्राणविद्यानिष्ठ[1] साधक को आत्मस्वरूप की अनुभूति के पश्चात् भगवदुपासना से प्राप्त होने वाली मुक्ति क्रम मुक्ति कही जाती है।

2.मधुविद्यानिष्ठ साधक को कुछ काल वसु पद की प्राप्ति के पश्चात् होने वाली भगवत्प्राप्तिरूप मुक्ति भी क्रममुक्ति कही जाती है।

3.प्राकृत-भगवद्धाम से अप्राकृत भगवद्धाम में जाने वाले की मुक्ति भी क्रममुक्ति कही जाती है।

4.महाभारत शान्तिपर्व(199.122-124) में वर्णित ब्रह्मकायनिषेवण के पश्चात् प्राप्त होने वाली मुक्ति क्रम मुक्ति है। जापक मुमुक्षु ब्रह्मलोक जाकर ब्रह्मकायनिषेवण करते हैं अर्थात् ब्रह्माजी के शरीर में प्रविष्ट होकर उनके समान उस शरीर से प्राप्त होने वाले सुखों को भोगते हैं और उससे विरक्त होने पर मोक्ष प्राप्त करते हैं। ब्रह्मकायनिषेवण सबके लिए नहीं है किन्तु जो मुमुक्षु ब्रह्मकायनिषेवण को प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त करना चाहते हैं, उनके लिए ही है। जिस प्रकार वसु आदि देव पद की प्राप्तिपूर्वक मोक्ष सब मुमुक्षुओं के लिए नहीं है किन्तु वसु आदि पदों को प्राप्त करके परब्रह्म को प्राप्त करने के इच्छुक मधुविद्यानिष्ठ मुमुक्षुओं के लिए है।

1.यहाँ भूमा विद्या के अन्तर्गत कही गयी प्राणविद्या को ग्रहण करना चाहिए।

5.पुण्डरीक के शरीर से प्राणवायु के साथ निकली ज्योति भगवान् के चरणों में लीन हो गयी–**पुण्डरीकस्य देहात्तु तेन तत्प्राणवायुना, समं ज्योतिः सुनिर्गत्य गोविन्दपदमाविशत्**।(प.पु.उ.ख.219.48), इस प्रकार भगवच्चरणों में लीन होने के पश्चात् त्रिपादविभूति में जाना भी क्रममुक्ति है।

6.श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण(7.110.19) में भगवान् श्रीमद्रामचन्द्र के साथ अयोध्यावासियों का संतानक लोक में जाना वर्णित है, संतानक लोक त्रिपादविभूति(साकेत) का ही स्थानविशेष है–**साकेते विद्यमानेषु संतानेषु लोकविशेषेषु**।(रा.टी.), वहीं पर सुग्रीवादि वानरों का सूर्यादि देवताओं में प्रविष्ट होने का वर्णन किया गया है। देवरूप में प्रविष्ट होने के पश्चात् सुग्रीव आदि की मुक्ति क्रम मुक्ति है।

सदानुसन्धेयमिमं त्रिकालं मुमुक्षुभिस्तत्परमार्थमित्थम्।
ज्ञात्वा न चैवास्ति सुवेदनीयं जिज्ञासुभिस्तैरवशिष्यमाणम्॥189॥

अन्वय

मुमुक्षुभिः इत्थं त्रिकालम् अनुसन्धेयम् इमं च सदा तत् परमार्थम् ज्ञात्वा तैः जिज्ञासुभिः सुवेदनीयम् अवशिष्यमाणम् एव न अस्ति।

अर्थ

मुमुक्षुभिः–मुमुक्षुओं के द्वारा **इत्थम्**–इस प्रकार **त्रिकालम्**–तीनों कालों में **अनुसन्धेयम्**–अनुसन्धान करने योग्य **इमम्**–अर्चिरादि मार्ग को **च**–और **सदा**–सदा अनुसन्धान करने योग्य **तत्**–प्राप्य **परमार्थम्**–परमात्मा को **ज्ञात्वा**–जानकर **तैः**–उन **जिज्ञासुभिः**–जिज्ञासुओं के द्वारा **सुवेदनीयम्**–जानने योग्य (कुछ) **अवशिष्यमाणम्**–शेष **एव**–ही **न**–नहीं **अस्ति**–रहता।

भाष्य

प्रतिपाद्य विषय की महिमा–पूर्व के श्लोकों में अर्चिरादि मार्ग का निरूपण किया गया, उसका अनुसन्धान करते रहने से साधक भगवदनुग्रह से अन्तिम काल में उस मार्ग को प्राप्त कर लेता है। अर्चिरादि मार्ग को और उसके द्वारा प्राप्य, प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रतिपादित ब्रह्म तत्त्व भगवान् श्रीराम को जानकर साक्षात्कार के इच्छुक मुमुक्षुओं के द्वारा जानने योग्य कोई भी

विषय शेष नहीं रहता। इन्हें जानने के पश्चात् साधक साक्षात्कार के साधन भक्तियोग में प्रवृत्त होता है, उसे और कुछ जानने की आवश्यकता ही नहीं रहती, इसीलिए भगवती श्रुति का आदेश है कि **तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ।**(मु.उ.2.2.5)।

> [1]**गुरुद्रुहे नो न शठाय चेदं न नास्तिकायोपदिशेत् कदाचन।**
> **नावैष्णवायापि रहस्यमुत्तमं न दीनचित्ताय सुगोपनीयम्॥190॥**

अन्वय

इदम् सुगोपनीयम् उत्तमं रहस्यम् गुरुद्रुहे कदाचन नो उपदिशेत्, शठाय न, नास्तिकाय न अवैष्णवाय न, च दीनचित्ताय अपि न।

अर्थ

इदम्-इस **सुगोपनीयम्**-अत्यन्त गोपनीय **उत्तमम्**-उत्तम **रहस्यम्**-रहस्य का **गुरुद्रुहे**-गुरुद्रोही को **कदाचन**-कभी **नो**-नहीं **उपदिशेत्**-उपदेश करना चाहिए। **शठाय**-उद्दण्ड व्यक्ति को **न**-कभी उपदेश नहीं करना चाहिए। **नास्तिकाय**-शास्त्रों में श्रद्धा न रखने वाले को **न**-कभी उपदेश नहीं करना चाहिए। **अवैष्णवाय**-अवैष्णव को **न**-कभी उपदेश नहीं करना चाहिए **च**-और (विविध वासनाओं के कारण) **दीनचित्ताय**-खिन्न मन वाले को **अपि**-भी उपदेश **न**-नहीं करना चाहिए।

भाष्य

उपदेश के अयोग्य-प्रस्तुत श्रीवैष्णवमजाब्जभास्कर ग्रन्थ अत्यन्त गोपनीय रहस्य है अतः विद्याप्रदाता आचार्य से द्रोह करने वाले को, अशिष्ट को, नास्तिक को, भगवान् से प्रेम न करने वाले को और वासनाओं के कारण खिन्न मन वाले को इसका उपदेश कभी नहीं करना चाहिए।

ग्रन्थ के उपदेश(अध्यापन) के अनधिकारी का वर्णन करके अब अधिकारी का वर्णन किया जाता है-

> **प्रशान्तचित्ताय जितेन्द्रियाय प्रहीणदोषाय यथोक्तकारिणे।**
> **गुणान्वितायानुगताय सर्वदा प्रदेयमेतत्सततं मुमुक्षवे॥191॥**

1.अस्य श्लोकस्य स्थाने गुरुद्रुहे नो न शठाय नूनं न नास्तिकायोपदिशेत् कदाचित्। नावैष्णवायापि रहस्यमेतन्न चाथ दैन्याहतवेदनाय॥ इति पाठान्तरम्।

अन्वय

यथोक्तकारिणे, प्रहीणदोषाय, गुणान्विताय, जितेन्द्रियाय, प्रशान्तचित्ताय, अनुगताय, मुमुक्षवे एतत् सर्वदा सततं प्रदेयम्।

अर्थ

यथोक्तकारिणे-वचन के अनुसार आचरण करने वाला, **प्रहीणदोषाय**-विनष्ट हुए दोषों वाला, **गुणान्विताय**-गुणों से युक्त, **जितेन्द्रियाय**-बाह्य इन्द्रियों को वश में करने वाला **प्रशान्तचित्ताय**-प्रशान्त मन वाला, **अनुगताय**-शरणागत **मुमुक्षवे**-मुमुक्षु को **एतत्**-इस गोपनीय रहस्य का **सर्वदा**-सदा **सततम्**-निरन्तर **प्रदेयम्**-उपदेश करना चाहिए।

भाष्य

उपदेश के योग्य-महापुरुषों से शिक्षित वह व्यक्ति जो सत्यप्रतिज्ञ है अर्थात् जिसकी कथनी और करनी एक है, किसी की वञ्चना नहीं करता, जिसके अहंकारादि आसुरी गुण निवृत्त हो गये हैं और जो दया आदि दैवीय गुणों से युक्त है, जिसने बाह्य इन्द्रियों को जीत लिया है और जिसका मन भी शान्त हो गया है, ऐसे शरणागत मुमुक्षु को प्रस्तुत ग्रन्थरूप रहस्य का उपदेश देश, काल के विचार के विना निरन्तर करना चाहिए। प्रस्तुत श्लोक से प्रतिपादित विशेषताओं वाला अन्तेवासी ही उपदेश के योग्य है, उसे ही उपदेश करना चाहिए अन्यथा उपदेश करना व्यर्थ होगा। केवल इतना ही नहीं अपितु अनधिकारी को उपदेश करने से उपदेशक गुरु के जीवन में अनेक दुःखद समस्याएँ उपस्थित हो सकती हैं। **तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय। येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्॥**(मु.उ.1.2.13) यह मुण्डकश्रुति योग्य शिष्य का वर्णन करती है।

[1]जितेन्द्रियः प्रपन्नस्तं बुध आत्मरतिर्हरिम्।
आप्नुयात् परमं स्थानं योऽनुतिष्ठेदिदं मतम्॥192॥

॥ इति श्रीस्वामिरामानन्दाचार्ययतिराजप्रणीतः श्रीवैष्णवमताब्जभास्करः समाप्तः॥

1.अस्य श्लोकस्य स्थाने **जितेन्द्रियः प्रपन्नः सन् बुधः श्रीजानकीपतिम्। अनुष्ठाय मतं चेदं परमं स्थानमाप्नुयात्॥** इति पाठान्तरम्।

अन्वय

यः जितेन्द्रियः प्रपन्नः बुधः इदं मतम् अनुतिष्ठेत्, आत्मरतिः परमं स्थानं तं हरिम् आप्नुयात्।

अर्थ

यः-जो **जितेन्द्रियः**-इन्द्रियों को वश में करने वाला मुमुक्षु (गुरु का) **प्रपन्नः**-शरणागत होकर (और उनके उपदेश से) **बुधः**-ज्ञानवान् होकर **इदम्**-इस ग्रन्थ में प्रोक्त **मतम्**-मत का **अनुतिष्ठेत्**-आचरण करता है, वह **आत्मरतिः**- परमात्मा में प्रीति वाला होकर (अर्चिरादि से) **परमम्**-अप्राकृत **स्थानम्**-धाम में (जाकर) **तम्**-उस **हरिम्**-परमात्मा को **आप्नुयात्**-प्राप्त करता है।

भाष्य

आचरण की महिमा-पूर्वश्लोक में प्रतिपादित जो मुमुक्षु गुरु की शरण में जाकर उनसे ज्ञान को प्राप्त कर प्रस्तुत ग्रन्थ में निरूपित विषयों का आचरण करता है, अर्थात् गुरु से मार्गदर्शन प्राप्त कर शास्त्रीय विधि-निषेध का पूर्णतः पालन करते हुए जप-ध्यान तथा एकादशी आदि व्रतों को करता है, वह भगवान् की भक्ति को सम्पन्न कर अन्तकाल में अर्चिरादि मार्ग से भगवल्लोक में जाकर भगवान् को प्राप्त करता है और वहाँ से लौटकर पुनः इस संसार में नहीं आता।

।।श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर का भाष्य समाप्त।।

अनुग्रहेण सीतायाः रामस्य च मया कृतम्।
श्रीत्रिभुवनदासेन भाष्येदं सुमनोरमम्।।1।।
कनकभवनाधीशः सीतया सह राजते।
समर्प्यते रम्यं भाष्यं तयोः पादारविन्दयोः।।2।।

।।इति।।